॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

६२

शारदातनयविरचितं

भावप्रकाशनम्

(उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

हिन्दीभाष्यानुवादकार:

डॉ० मदन मोहन अग्रवाल

एम ए , पी एच डी

प्रवक्ता संस्कृत-विभाग

बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली (राज)

प्राक्कथनलेखक.

डॉ० रसिक विहारी जोशी

एम ए., पी-एच. डी , डी लिट् (पेरिस)

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पुरोवाक्लेखक:

डॉ० राम सुरेश त्रिपाठी

एम ए., पी-एच डी., डी लिट्

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

63

BHĀVAPRAKĀŚANAM

OF

ŚĀRADATANAYA

Edited with Hindi Translation, Introduction, Preface, Indexes and Critical Notes

By

Madan Mohan Agrawal

M. A., Ph. D.

Department of Sanskrit

Banasthali Vidyapith, Banasthali (Raj.)

Foreword by

DR. RASIK VIHARI JOSHI

M A, Ph D (Banaras), D Litt (Paris)

Professor & Head of the Department of Sanskrit

University of Delhi

Introduction by

DR. RAM SURESH TRIPATHI

M A., Ph. D, D Litt.

Professor & Head of the Department of Sanskrit

Aligarh Muslim University, Aligarh

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

समर्पणम्

पितृचरणानां श्रीहरिचरणदास-अग्रवालमहोदयानां

करकमलयोः सादरम्
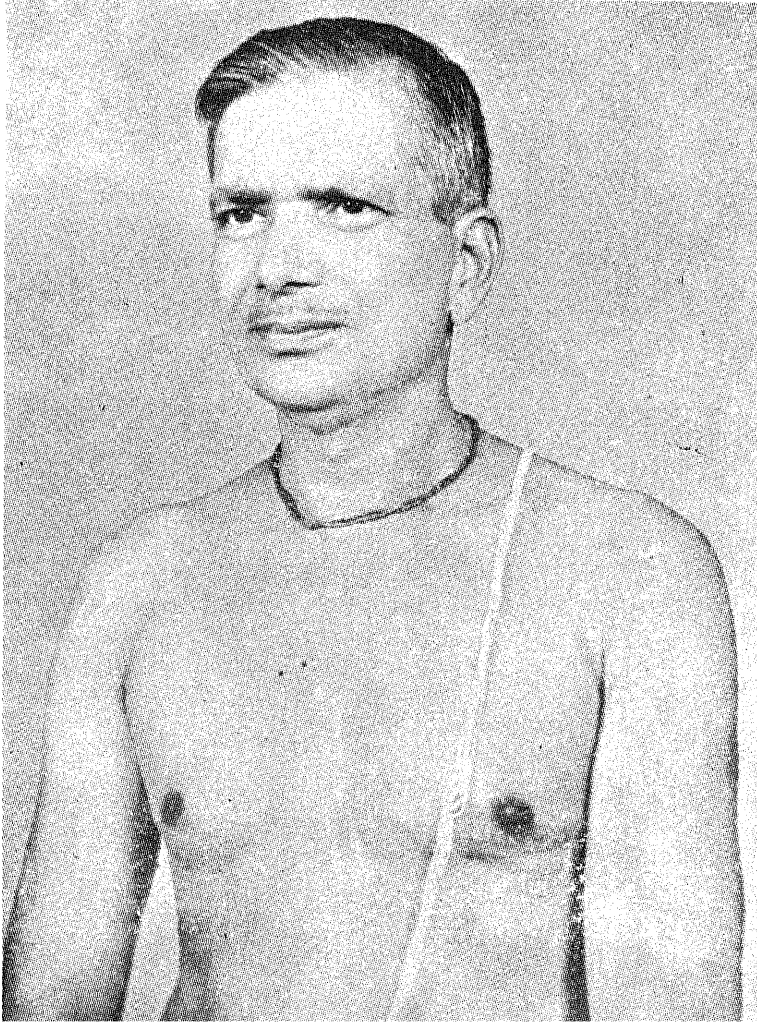
आदरणीय पिताजी श्री हरिचरणदास जी अग्रवाल
(जन्म—जुलाई, सन् १६१६)

नानाशास्त्रनदीष्णं गुरुवर्यं रसिकविहारिणं नौमि ।
येषां कृपाम्बुना हृदि भावप्रकाशनं स्फुटितम् ।।१।।
वैयाकरणधुरीणं रामसुरेशाभिधं गुरुं वन्दे ।
येषां ज्ञानलवैर्वाऽहमबोधि शारदातनयम् ।।२।।
विद्वतल्लजमहमिह नौमि श्रीमन्नामवरं सिंहम् ।
येषां शास्त्रविमर्शो ज्ञपयतीव मादृशं मूढम् ।।३।।
रागद्वेषविहीनं श्रीहरिचरणाब्जगन्धसंतृप्तम् ।
वन्दे श्रीहरिचरणं पितरं भक्तं गुरोः कृपया ।।४।।
वैराग्यपूर्णहृदयेन भजन् गृहस्थो
रामप्रतापचरणौ हृदि यो दधाति ।
यः श्रीप्रियाचरणकंजकृपाकणेन
धन्यस्तमेव पितरं शिरसा नमामि ।।५।।
श्रीशारदातनयपादसरोरुहाणां
ध्यानेन यत्किमपि सारमबोधि बालः ।
तेनैव सम्प्रति गतं मम बोधमार्गं
भावप्रकाशनमहं विशदीकरोमि ।।६।।
भावप्रकाशनमिदं यदि पण्डितेषु
साहित्यशास्त्ररसिकेषु सुबोधितं स्यात् ।
साफल्यमेष्यति ममापि परिश्रमोऽयं
कारुः प्रसीदति परीक्षित एव शिल्पे ।।७।।

प्राक्कथन

१८८५ ई मे 'विक्रमोर्वशीय' पर रगनाथ की सस्कृति टीका और १९०० ई मे 'कर्पूरमजरी' पर वासुदेव की सस्कृति टीका प्रकाशित हुई। इन दोनो टीकाओ मे नाट्य के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम शारदातनय के भावप्रकाशन से उद्धरण प्राप्त हुए। इन उद्धरणो ने सस्कृत के विद्वानो का ध्यान भावप्रकाशन के अन्वेषण की ओर आकर्षित किया। अन्वेषण करने पर नाट्यशास्त्रीय इस महत्त्वपूर्ण और अद्भुत ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियाँ स्थान-स्थान पर मिली और १९३० ई. मे श्री यदुगिरि यतिराज स्वामी और के. एस. रामास्वामी शास्त्री ने सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियो के आधार पर गायकवाड ओरियण्टल सीरीज से भावप्रकाशन का प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया। इस सस्करण की विस्तृत भूमिका ने सस्कृत काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के विद्वानो का पर्याप्त आकर्षण किया और स्थान-स्थान पर शारदातनय के भावप्रकाशन की चर्चा भी हुई। फिर भी आश्चर्य की बात है कि इसके प्रकाशन के बाद अडतालीस वर्ष के काल मे किसी भी भाषा मे इसका प्रामाणिक अनुवाद अभी तक प्रकाशित नही हुआ। प्रस्तुत सस्करण भावप्रकाशन का पहला हिन्दी अनुवाद है। इस श्रमसाध्य तथा पाण्डित्यपूर्ण सस्करण के लिए मैं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् इसके सम्पादक डॉ. मदनमोहन अग्रवाल का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

शारदातनय का भावप्रकाशन सस्कृत नाट्य-शास्त्र की परम्परा का एक अद्वितीय रत्न है। यह असदिग्ध है कि शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती वृद्धभरत, भरत, अभिनव गुप्त, भोज और मम्मट के ग्रन्थो का आमूलचूल सागोपाग अध्ययन किया था। इन सभी आचार्यों का प्रभाव भावप्रकाशन पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। शारदातनय ने नाट्योत्पत्ति के प्रसग मे व्यास के मत के, रसोत्पत्ति के प्रसग मे वासुकि के मत के और रस के प्रसग मे नारद के मत के तथा योगमाला सहिता के उद्धरण स्थान-स्थान पर दिये है। इन आचार्यों और ग्रन्थो के अस्तित्व के निर्देश अन्यत्र कही प्राप्त नही होते। इस प्रसग मे मैं प्रोफेसर वी. राघवन के मत से पूर्णतया सहमत नही हूँ कि शारदातनय द्वारा उद्धृत ये आचार्य और ग्रन्थ काल्पनिक है। १२५० ई. के आस-पास प्रणीत इस अनोखे ग्रन्थ पर सस्कृत की किसी भी टीका-टिप्पणी का प्रकाशित नही होना और इस ग्रन्थ का लोकप्रिय न होना—ये दोनो ही बातें भावप्रकाशन के महत्त्व के विषय मे सन्देह उत्पन्न करती है। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि शारदातनय ने धनजय की कारिकाएँ, भोज के शृगार-प्रकाश से विषयवस्तु और कारिकाएँ, मम्मट के काव्यप्रकाश से शब्दार्थ-सम्बन्ध की सामग्री की पंक्तिया की पक्तियाँ आनुपूर्वी के साथ अक्षरश उद्धृत कर ली थी। साथ ही साथ सस्कृत की टीका-टिप्पणी का अभाव और प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थो तथा आचार्यों के अप्रसिद्ध तथा

कठिन पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग के कारण यह ग्रन्थ कुछ अश मे सहसा बोधगम्य नही था और कुछ अश मे पुनरावृत्ति मात्र था। तथापि यह सत्य है कि शारदातनय ने अभिनवभारती को, अनेक सस्कृत नाट्याचार्यो की परम्परा को तथा सगीत और नृत्य के सिद्धान्तो को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम किया था। यह सर्वथा निश्चित है कि शारदातनय ने भरत, कोहल, अभिनवगुप्त, धनजय द्वारा सुरक्षित नाट्य-सामग्री का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था और अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के आधार पर उस काल मे प्रचलित सगीत की अन्यान्य शैलियो को भी शास्त्रीय ढग से अपने ग्रन्थ मे प्रतिष्ठित किया था। नाट्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों द्वारा पूर्णरूप से प्रभावित होने पर भी शारदातनय की अपनी एक मौलिक दृष्टि सर्वत्र प्रधान थी। उनके ग्रन्थ मे अनेक तत्त्व ऐसे भी प्राप्त होते है जिनका विवेचन करने वाले वे प्रथम आचार्य है। इस सन्दर्भ मे भाव का लक्षण, विभाव, अनुभाव के भेद और सगीत के सम्बन्ध मे सप्त-धातुओ से सप्त-स्वरो की उत्पत्ति की उद्भावना उनकी मौलिक कल्पना के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते है। शारदातनय के ग्रन्थ का साक्षात् प्रभाव सगीतरत्नाकर पर शिङ्ग-भूपाल की सुधाकरी टीका तथा रसार्णवसुधाकर, कुमारस्वामी की प्रतापरुद्रीय पर रत्नापण टीका और कल्लिनाथ की सगीतरत्नाकर पर कलानिधि टीका मे संगीत और रस के प्रसग मे प्रभूत उदाहरणो से प्रमाणित होता है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे शारदातनय ने साख्य-दर्शन के आधार पर अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है कि जब मन बाह्य वस्तुओ पर आश्रित होता है और रजोगुण मे स्थित हो जाता है अथवा रजोगुण से हीन होकर सत्त्वगुण से युक्त हो जाता है, तब अहंकार का सयोग होने से जो मन का विकार उत्पन्न होता है वही शृगार अथवा हास्य 'रस' कहलाता है। उपरूपको के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि शारदातनय ने उसके बीस भेदो की चर्चा की है जबकि शृगारप्रकाश, नाट्यदर्पण, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थो मे बीस से कम ही भेद प्राप्त होते हैं। भावप्रकाशन मे प्राचीन नाट्य-रचनाओ से संकलित उदा-हरण प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध ग्रन्थो से लिये गये है। अनेक उदाहरण ऐसे ग्रन्थो से लिये गये हैं जिनके विषय मे अभी तक कुछ भी ज्ञात नही है और ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए—कुसुमशेखरविजय, केलिरैवत आदि रखे जा सकते है। शारदा-तनय द्वारा उद्धृत ग्रन्थ यद्यपि अभी तक कही भी प्राप्त नही हुए और अभी तक यही मान्यता विद्वानो मे प्रचलित है कि ये ग्रन्थ सम्भवत. शारदातनय के कल्पित ग्रन्थ हैं, तथापि यह सम्भावना समाप्त नही की जा सकती कि ये ग्रन्थ शारदातनय के पास किसी न किसी रूप मे उपस्थित रहे है। इनका अन्वेषण काल्पनिक समझकर छोड़ देना सम्भवत उचित नही होगा।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि इस दुरूह तथा प्रौढ ग्रन्थ का प्रस्तुत सस्करण मे पहली बार हिन्दी अनुवाद किया गया है। यद्यपि इसके सम्पादक ने अन्त मे विस्तृत टिप्पणियाँ देकर भावप्रकाशन के दुरूह पारिभाषिक शब्दों को समझाकर शारदातनय के हृदय को पाठक तक पहुँचाने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है। तथापि हिन्दी अनुवाद

मे यत्र-तत्र अनेक पारिभाषिक शब्द अभी भी व्याख्या-सापेक्ष रह गये हैं। प्रस्तुत सस्करण मे भावप्रकाशन का मूल गायकवाड ओरियण्टल सीरीज मे प्रकाशित सस्करण के मूल पर ही आधारित है। विस्तृत भूमिका मे डॉ. अग्रवाल ने शारदातनय और भावप्रकाशन पर पर्याप्त उपादेय प्रकाश डाला है। मैं इस विद्वतापूर्ण संस्करण तथा हिन्दी के प्रथम अनुवाद का हार्दिक स्वागत करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सस्करण शारदातनय के मर्म को सस्कृत-नाट्य-परम्परा, सस्कृत-काव्यशास्त्र और सगीत मे रुचि रखने वाले विद्वान पाठको तक पहुँचाने मे सहायक होगा और विद्वान-सहृदय पाठको के लिए प्रिय सिद्ध होगा। इस श्रम-साध्य तथा पाण्डित्यपूर्ण सस्करण के लिए डॉ. मदनमोहन अग्रवाल बधाई के पात्र है। मैं डॉ मदनमोहन अग्रवाल को हार्दिक शुभाशीष देता हूँ।

३० अक्टूबर, १९७८
प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

—रसिक बिहारी जोशी

पुरोवाक्

शारदातनय का भावप्रकाशन अद्भुत ग्रन्थ है। शारदातनय ने शारदादेश की सम्पूर्ण सस्कृति को सहज रूप मे अपना लिया था। उन्होने अभिनवभारती का पर्याप्त मनन किया था। नाटचाचार्यों की परम्परागत विद्या का स्वय अभ्यास किया था। गीत, नृत्य, संगीत के वे पारगत थे। लोकजीवन मे बहती हुई सास्कृतिक धारा मे भी यथेष्ट अवगाहन किया था। पूर्ववर्त्ती महाकवियो के प्रबन्धो के वे मर्मज्ञ थे। देश-देशान्तर मे भ्रमणकर अपार ज्ञानराशि का सचय किया था। उन सबका समाहार भावप्रकाशन है।

भरत का नाटचशास्त्र नृत्य और सगीत प्रधान है। उनके शिष्य कोहल ने लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाली उन सभी कलाओ, गीतो और उपरूपको का विश्लेषण किया जिनके केवल बीज भरत मे मिलते है या जो बिलकुल अछूते रह गये है। सागरनन्दी, रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि ने भरत और अभिनवगुप्त के आधार पर नाट्य-विद्या को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था। अनेक कश्मीरी चिन्तको ने नाट्यविद्या की विवृत्ति की थी, जिनके अब केवल नाम यत्र-तत्र सुरक्षित है। ऐसा जान पडता है कि शारदातनय के समक्ष नाट्यशास्त्र की अद्भुत परम्परावाली व्याख्या-पद्धति अवश्य उपलब्ध रही होगी। शारदातनय ने १२वी शताब्दी तक की नाट्यशास्त्रीय कश्मीरी परम्परा को भावप्रकाशन मे बहुत कौशल के साथ उपनिबद्ध कर दिया है। १२वी शताब्दी तक आते-आते साहित्यशास्त्र मे भी कश्मीर की प्रतिभा अपनी पराकाष्ठा तक की अविच्छिन्न धारा भावप्रकाशन की लहरियो मे समाविष्ट है। नाट्यतत्त्व और काव्यतत्त्व दोनो एकत्र भावप्रकाशन मे देखे जा सकते है। किन्तु शारदातनय को इतने से सतोष नही था, वे सगीत के परम मर्मज्ञ थे, अभिनवगुप्त की परम्परा को तो वे जानते ही थे, उस समय तक सगीत की पारसीक परम्परा से भी वे परिचित हो चुके थे जिनका विकास आगे चलकर सगीत-रत्नाकर मे दिखायी देता है। साथ ही सगीत की दाक्षिणात्य शैली से भी वे अवगत थे, इनके अतिरिक्त सगीत के उन तत्त्वो से वे परिचित थे, जो केवल अभी लोकजीवन मे थे। शास्त्र की ऊँचाई तक नही पहुँच सके थे। शारदातनय ने बहुत ही उदारता के साथ भावप्रकाशन मे इन सब को एक मे गूँथ दिया है।

१२वी शताब्दी तक आते-आते साहित्य के क्षेत्र मे नायिका-भेद की चर्चा मुखरित हो चली थी, उसकी न तो नाट्यशास्त्र के विवेचक अनसुनी कर रहे थे और न काव्य-शास्त्र के अध्येता उसकी उपेक्षा कर सकते थे। शारदातनय ने भी साहित्य के इस पक्ष को भरत से आगे बढा दिया। भरत ने धीरोदात्त आदि नायक-गुणो के आधार पर, वय के आधार पर, जातिगत-शील के आधार पर, नाटको मे प्रयुक्त स्त्रीपात्रो के आधार पर

—अनेक प्रकार से नायिकाओ का—नायिका-भेदो का विवरण दिया है। अभिनवगुप्त ने दो-चार नामो की वृद्धि की है—रुद्रट आदि ने साहित्य की दृष्टि से नायिका-भेद का विवेचन किया है, किन्तु शारदातनय के अपने समय तक की नायिका-भेद सम्बन्धी सभी अध्ययनो का साहित्य और नाट्य दोनो दृष्टियो से उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ पर सस्कृत मे कोई टीका न होने से इसका विस्तार नही हो पाया। अनेक उद्धरणो मे आदिभरत जैसे नाटककारो, प्राचीनतर अनुपलब्ध नाटको और सगीत के नातिप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दो के व्यवहार के कारण यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के सहजगम्य नही था। भावप्रकाशन की सकेतात्मक शैली मर्मज्ञ विद्वानो के लिए दुरूह है, अत्यन्त सक्षेप मे दिये हुए भट्टनायक आदि के रस-सिद्धान्त अब भी मीमास्य है। अनेक वक्तव्यो का आदि अनुपलब्ध है, अनेक अप्रसिद्ध, अन्यत्र अनुपलब्ध ग्रन्थ-कारो के नाम अन्वेषण के विषय है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि ऐसे प्रौढ ग्रन्थ पर डॉ. मदन मोहन अग्रवाल का ध्यान गया है और उन्होने मनोयोगपूर्वक इसका पुन सम्पादन किया है, साथ ही हिन्दी मे अनुवाद देकर इसे सर्वसाधारण की पहुँच मे लाने की चेष्टा की है। विषम स्थलो पर उनकी टिप्पणियाँ ग्रन्थ के मर्म को समझने मे सहायक है और विस्तृत भूमिका परम उपादेय है। आशा है काव्य, नाट्य, सगीत तथा लोक-सस्कृति के अध्येता इस महत्त्वपूर्ण सस्करण से अवश्य लाभान्वित होगे।

२८ अक्टूबर, १९७८
प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग,
अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ

—**राम सुरेश त्रिपाठी**

आमुख

लगभग तीन वर्ष पहले शारदातनय के 'भावप्रकाशन' पर कार्य करनेका सुझाव और प्रेरणा मुझे आदरणीय गुरुवर डॉ० रसिक विहारी जी जोशी से प्राप्त हुई थी। जैसे-जैसे मैं इस ग्रन्थ को पढने लगा, अनेक समस्याएँ सामने आने लगी और सरलता से उसका समाधान नही मिलने के कारण मै हतोत्साहित हो जाता था। मै डॉ रसिक विहारी जी जोशी, एम ए, पी-एच डी., डी लिट्. (पेरिस), प्रोफेसर एव अध्यक्ष सस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली का अत्यन्त आभारी हूँ कि इन्होने मुझे अनेक बार हतोत्साहित होने से बचाया और 'भावप्रकाशन' के सम्बन्ध मे दुरूह तथा जटिल शास्त्रीय समस्याओ को सुलझाने मे सहायता दी। 'भावप्रकाशन' के अनेक दुरूह स्थलो को मैने आपके पास बैठकर कई बार दीर्घकाल तक समझा और आपसे विचार-विमर्श करके सदिग्ध स्थलो का समाधान तथा प्रेरणा प्राप्त की। मुझे यह लिखने मे लेशमात्र भी सकोच नही है कि प्रस्तुत कार्य सस्कृत-जगत के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा सस्कृत काव्यशास्त्र के पारगत पण्डित डॉ रसिक विहारी जी जोशी की सहायता तथा स्नेह का ही परिणाम है। दीपावली के अवसर पर अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी उन्होने मेरी प्रार्थना पर तत्काल प्राक्कथन लिखने का अनुग्रह किया है। उनके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नही है और कृतज्ञता ज्ञापन करके उनके प्रति मैं अपने हृदयस्थ आभारके भाव को कम करना नही चाहता।

इस अवसर पर मैं आदरणीय डॉ. रामसुरेश जी त्रिपाठी, एम ए., पी-एच, डी., डी, लिट्, प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ का भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होने पुरोवाक् लिखकर मुझे अपने अनुग्रह से बाँधा है और समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर मुझे लाभान्वित किया है। हिन्दी जगत् मे हिन्दी आलोचना के मूर्धन्य विद्वान एव संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ जानकार डॉ. नामवर सिंह को भी सादर धन्यवाद दिये बिना मैं अपने कर्त्तव्य को अपूर्ण समझता हूँ। अनेक बार 'भावप्रकाशन' के दुरूह स्थलो की चर्चा के सम्बन्ध मे विषय की अस्पष्टता रहने पर डॉ. जोशी, मै और डॉ. नामवर सिंह साथ-साथ विचार करने बैठे। उनके स्नेह और अनुग्रह से भी मैं अभिभूत हूँ। मेरी प्रिय पत्नी उषा, एम. ए. को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होने इस पुस्तक की प्रेस कापी तथा प्रूफ-रीडिंग मे मेरा हाथ बटाया।

प्रस्तुत सस्करण गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा मे प्रकाशित संस्करण पर आधारित है। इस सस्करण से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। नृत्तकरणो की मुद्राओ के चित्र श्री श्रीकिशन 'दक्ष' ने बनाये है। ये चित्र नाट्यशास्त्र और ताण्डवलक्षण के चौखम्बा सस्करण के आधार पर तैयार किये गये है। इस सस्करण से यदि मैं शारदातनय की बात कुछ अश मे भी विद्वान् पाठको तक पहुँचाने मे समर्थ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सार्थक मानूंगा।

—मदन मोहन अग्रवाल

विषय-सूची

प्रथम अधिकार

द्वितीय अधिकार

तृतीय अधिकार

चतुर्थ अधिकार

अष्टम अधिकार

नवम अधिकार

दशम अधिकार

भूमिका

शारदातनय

जन्मस्थान एवं जीवनवृत्त—शारदातनय के जन्मस्थान के विषय मे अधिक ज्ञात नही है। हाँ, उनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के प्रारम्भ मे मगलाचरण के पश्चात् उनकी जन्मभूमि की स्थिति का सकेत है। उनके अनुसार आर्यवर्त्त देश मे 'मेरूत्तर' नाम का एक महान जनपद था। उसके दक्षिण भाग मे 'माठरपूज्य' नाम का एक ग्राम था, जिसमे एक हजार ब्राह्मण निवास करते थे। इसी ग्राम मे काश्यप-वशोत्पन्न लक्ष्मण नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था।[1] यह लक्ष्मण ही शारदातनय का प्रपितामह था। इस प्रकार अपनी पूर्वज-परम्परा का मूल-स्थान बताते हुए शारदातनय ने 'मेरूत्तर' नामक जनपद का उल्लेख किया है।

अब प्रश्न यह है कि आर्यावर्त्त देश मे स्थित 'मेरूत्तर' जनपद की स्थिति कहाँ है? भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आर्यावर्त्त देश मे 'मेरूत्तर' जनपद को आधुनिक 'मेरठ' समझा जा सकता है।[2] चूँकि, भावप्रकाशन की समस्त पाण्डुलिपियाँ दक्षिण मे ही उपलब्ध हुई हैं, इसलिए शारदातनय ने 'मेरूत्तर' के दक्षिण भाग मे स्थित जिस 'माठरपूज्य' नामक ग्राम का उल्लेख किया है वह दक्षिण-प्रदेश का 'माटपूशि' नामक प्राचीन ग्राम हो सकता है, जिसके आधार पर 'माटपूशि' एक गोत्रसूचक उपनाम दक्षिण-भारत के कुछ ब्राह्मणो मे प्रचलित हो गया है। 'मेरूत्तर' नामक जनपद तो निस्सन्देह वर्तमान 'उत्तरमेरू' नामक ग्राम है, जो मद्रास के निकट 'चेंगलपट' जिले से लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित है, इसे 'उत्तरमेरूर' भी कहते हैं। प्राचीन 'मेरूत्तर' नाम का विपर्यास कालान्तर मे 'उत्तरमेरू' हो गया हो, तो कोई आश्चर्य नही। इस प्रकार, यह अधिक सम्भव हो सकता है कि शारदातनय का जन्म-स्थान दक्षिण-भारत मे रहा होगा।[3]

शारदातनय का जन्म काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इनकी वश-परम्परा मे प्राचीनतम नाम 'लक्ष्मण' प्राप्त होता है, जो शारदातनय का प्रपितामह था। यह 'लक्ष्मण' अत्यन्त विद्वान था। उसने तीस यज्ञो को सम्पन्न कर भगवान विष्णु को प्रसन्न किया था और 'वेदभूषण' नामक एक वैदिक भाष्य तैयार किया था। उसका पुत्र श्रीकृष्ण (शारदातनय का पितामह) भी सम्पूर्ण वेदो और समस्त शास्त्रो का अध्येता था।[4] उसने पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी मे महादेव (शकर) को प्रसन्न किया था। उनकी कृपा से श्रीकृष्ण ने भट्टगोपाल नामक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति

---

१ **भावप्रकाशन**, गा ओ सी न ४५, १९६८, पृष्ठ १, पक्ति ११-१४।

२ *Journal of the Andhra Historical Research Society*, Vol. II, p 132.

३ **भावप्रकाशन**, भूमिका, पृष्ठ १२।

४ **वही**, पृष्ठ १, पक्ति १५-१८।

की थी। भट्टगोपाल को अष्टादश विद्याओ पर समान अधिकार प्राप्त था। उसने शारदादेवी की उपासना कर अत्यन्त गुणवान पुत्र-रत्न प्राप्त किया था। जिसका नाम शारदादेवी के ही नाम पर 'शारदातनय' (सरस्वती का पुत्र) रखा गया था।[१]

कुछ विद्वानो का कहना है कि मम्मट-प्रणीत 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार भट्टगोपाल[२] और शारदातनय के पिता भट्टगोपाल—दोनो एक है। लेकिन दोनो को अभिन्न ठहराना युक्तियुक्त नही है, क्योकि मम्मट के पश्चात् किसी भी लेखक ने टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत नही किया है। कुमारस्वामी ने, जिसका समय १५वी शताब्दी[३] निश्चित है, टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत किया है।[४] इससे सिद्ध होता है कि टीकाकार भट्टगोपाल का समय १५वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।[५] जब शारदातनय १२वी शताब्दी मे ही हो गये थे तो क्या उनके पिता उनसे परवर्त्तीकाल मे हुए होगे ? अत शारदातनय के पिता भट्टगोपाल के साथ टीकाकार भट्टगोपाल के साम्य की सम्भावना एक हास्यास्पद दुराग्रह ही कही जा सकती है।

शारदातनय के गुरु का नाम 'दिवाकर' था। यह दिवाकर नाट्य-वेद का पूर्ण ज्ञाता तथा किसी नाट्यशाला (रगशाला) का प्रबन्धक था। उसने सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती), मुनि-नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत तथा उनके शिष्यो (कोहलादि) के नाट्य-विषयक मत-मतान्तरो की सम्यक् शिक्षा शारदातनय को प्रदान की थी।[६] यह दिवाकर वही दिवाकर होगा, जिसका वर्णन 'मेघसन्देश' की टीका 'विद्युल्लता' के लेखक पूर्णसरस्वती द्वारा किया गया है, क्योकि विद्युल्लता मे वर्णित दिवाकर की पक्तियो तथा 'भावप्रकाशन' मे उद्धृत पक्तियो मे साम्य दृष्टिगोचर होता है।[७] विद्युल्लता के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ मे दिवाकर का उल्लेख प्राप्त नही होता है।

समय—शारदातनय ने शृगार-प्रकाश एव काव्य-प्रकाश के अनेक उद्धरणो को अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' मे उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त दोनो ग्रन्थो के लेखक भोज एव मम्मट के पश्चात् शारदातनय हुए है। भोज का काल ११वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध[८] भाग तथा मम्मट का काल ११वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध[९] भाग स्वीकार किया जाता है। अत शारदातनय का स्थितिकाल निश्चित रूप से इसके अनन्तर ही होना चाहिए।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पक्ति १-५।

२ भट्टगोपाल कृत **काव्यप्रकाश की टीका**, प्रकाशन—त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज।

३ *History of Sanskrit Poetics* by P V Kane, Delhi, 1961, pp 416

४ **प्रतापरुद्रीय**—कुमारस्वामी-कृत रत्नापण-टीका सहित, मद्रास, १९१४, पृष्ठ २५०।

५ *History of Sanskrit Poetics* by P. V Kane, pp 417

६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पक्ति १४-१९।

७ **विद्युल्लता**, श्री वाणी विलास सस्कृत सीरीज न १५, श्रीरगम्, पृष्ठ २४, ३०, ३३, ७२, ८३, ९५, १३९ तथा **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ७३-७६।

८ *History of Sanskrit Poetics*, by P V. Kane, pp. 260-261

९ **वही**, पृष्ठ २७४।

भावप्रकाशन मे भोज के साथ-साथ सोमेश्वर नामक एक आचार्य का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है,[1] किन्तु साहित्य-क्षेत्र मे वर्णित 'सोमेश्वर' नामक चार लेखको मे से शारदातनय का परिचय किस सोमेश्वर से था—यह ज्ञात करना अत्यावश्यक है। ये चार सोमेश्वर इस प्रकार है—

(1) मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर।

(ii) सगीत-रत्नावली का लेखक सोमेश्वर।

(iii) काव्यादर्श का सोमेश्वर।

(iv) कीर्ति-कौमुदी एव सुरथोत्सव का लेखक सोमेश्वर।

उपर्युक्त चारो लेखको का काल-निर्धारण करने के पश्चात् ही इनमे से किसी एक सोमेश्वर को शारदातनय से सम्बद्ध किया जा सकता है।

(1) मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' का भी लेखक माना जाता है। मानसोल्लास की रचना ११३१ ई मे हुई थी।[2] इसके पिता चालुक्य-वशीय विक्रमादित्य चतुर्थ थे।

(ii) द्वितीय सोमेश्वर 'सङ्गीत-रत्नावली' का लेखक है। इस ग्रन्थ की पाण्डु-लिपि के विषय मे डॉ ब्ह्लर[3] ने तथा बडौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी की पत्रिका न ८ ने सूचनाएँ दी हैं।[4] इस पत्रिका की सूचना के अनुसार यह सोमेश्वर (सोमराजदेव) गुजरात के चालुक्य-वशीय राजा अजयपाल का प्रतिहारी था। इस राजा का राज्य-काल ११७४-११७७ ई था।

(iii) तृतीय सोमेश्वर द्वारा विरचित 'काव्यादर्श' मम्मट के काव्य-प्रकाश पर लिखी हुई एक टिप्पणी है। यह सोमेश्वर स्वय को भारद्वाज गोत्रीय भट्टदेवक का पुत्र कहता है। सम्वत् १२८३=१२२७ ई के काल मे रचित इसके ग्रन्थ की एक पाण्डु-लिपि जैसलमेर भण्डार के कैटलॉग (विषय-सूची) मे प्राप्त हुई है।[5] इससे प्रतीत होता है कि यह सोमेश्वर पाण्डुलिपि की तिथि से लगभग पचास वर्ष पूर्व हुआ।

(iv) 'कीर्तिकौमुदी' एव 'सुरथोत्सव' के लेखक सोमेश्वर को गुजरात के राजा भीमदेव द्वितीय, राजा वीरधवल तथा राजा वीसलदेव का राज्याश्रय प्राप्त था।[6] इन राजाओ का काल ११७९ ई से १२६२ ई तक होने से यह सोमेश्वर भी इसी काल मे हुआ था। इसके पिता का नाम कुमार था।

इस प्रकार उपर्युक्त चारो सोमेश्वर ११३१ से १२६२ ई अर्थात् लगभग १३१ वर्ष तक के काल के अन्तर्गत राज्याश्रयो मे उन्नत हुए थे। इन चारो मे से जो

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १२, पक्ति २१ तथा पृष्ठ १९४, पक्ति ६।

२ **प्रकाशन**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न० २८ की भूमिका, पृष्ठ ६।

३ A Catalogue of Sanskrit MSS in the Private Library of Gujrat Etc, pp 4, 274

४ Here Somarajdeva is mentioned as the author and he is identified as a Pratihari of the Chalukya King Ajayapal of Gujrat (1174-1177 A. D).

५ **प्रकाशन**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न २१, पृष्ठ ४८।

६ **सुरथोत्सव**, काव्यमाला सस्कृत सीरीज न ७३, बम्बई, १९०२, भूमिका, पृष्ठ ८-१६।

'सङ्गीत-रत्नावली' का प्रणेता है, वही 'सङ्गीत-रत्नाकर'[1] मे उल्लिखित सोमेश्वर होगा, ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि शार्ङ्गदेव का काल १२१०-१२४७ ई[2] है और यह सोमेश्वर ११७४-११७७ ई मे ही उन्नत हो गया था। श्री एम आर तैलग इस सोमेश्वर को सोमदेवपरमर्दी के रूप मे पदस्थ करते है।[3] किन्तु यह उचित नही है क्योकि परमर्दी नामक व्यक्ति सोमेश्वर से भिन्न था। एक परमर्दी अथवा परमल नामक चन्देलवशीय राजा का राज्यकाल ११६५-१२०३ ई तक रहा। उसके मत्री वत्सराज की कृति 'रूपकाष्टक' मे उसका वर्णन प्राप्त होता है।[4] शार्ङ्गदेव ने सोमेश्वर (सोमेश) के नाम से पहले जिस परमर्दी का उल्लेख किया है, वह सोमेश्वर से भिन्न यह दूसरा परमर्दी नामक विद्वान राजा है, ऐसा प्रतीत होता है। यही सम्भव भी होगा क्योकि परमर्दी (११६५ ई) शार्ङ्गदेव (१२१० ई) से पूर्व हो चुका था।

भावप्रकाशन मे उद्धृत सोमेश्वर के कथनोद्धरण सगीत-विषयो एव भारती आदि वृत्तियो से सम्बन्धित है। अत उपर्युक्त वर्णित चार सोमेश्वरो मे से अन्तिम दो (अर्थात् 'काव्यादर्श' के लेखक तथा 'कीर्तिकौमुदी' तथा 'सुरथोत्सव' के लेखक) को इस विचार-क्षेत्र से निष्कासित किया जा सकता है। क्योकि काव्यादर्श, कीर्तिकौमुदी एव सुरथोत्सव मे सगीत-विषयक विवेचन उपलब्ध नही होता है। काव्यादर्श मे किंचित् वृत्ति-विषयक विचार तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु जहाँ तक सगीत-विषयक तत्त्वो का प्रश्न है, कोई भी सामग्री प्राप्त नही होती है क्योकि 'काव्यादर्श' 'काव्यप्रकाश' की टिप्पणी है और सर्वविदित है कि काव्य-प्रकाश सगीत-विषयक ग्रन्थ नही है, अपितु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। अब शारदातनय द्वारा सन्दर्भित सोमेश्वर शेष दो मे से कौन-सा सोमेश्वर अभिप्रेत हो सकता है, यह निर्धारित करना है।

भावप्रकाशन मे जब-जब सोमेश्वर का नाम उद्धृत किया गया है, तब-तब राजा भोज के साथ ही हुआ है।[5] अत अधिक सम्भव है कि उपर्युक्त चार मे से प्रथम दो सोमेश्वर भी राजा रहे होगे। किन्तु इन दोनो मे 'मानसोल्लास' का लेखक भी शारदातनय को अभीष्ट नही हो सकता, क्योकि 'मानसोल्लास' मे सगीत-विषयक सामग्री होते हुए भी भारती आदि वृत्तियो का कोई विवेचन नही है। अत 'सगीत-रत्नाकर' मे उल्लिखित 'सगीत-रत्नावली' का रचयिता सोमेश्वर, जिसका काल ११७४-११७७ ई निर्धारित हो चुका है, शारदातनय द्वारा उद्धृत उद्धरणो से सम्बद्ध माना जा सकता है, क्योकि सगीत-विषयक ग्रन्थो मे सगीत-परक सामग्री के साथ-साथ भारती आदि वृत्तियो का विवेचन भी सामान्यत उपलब्ध होता है, जैसा कि सगीत-

---

१ रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
परमर्दी च सोमेशो जगदेकमहीपति ॥
—**संगीतरत्नाकर**, अड्यार सस्करण, वा. १, १।१८।

२ **वही**, भूमिका, पृष्ठ १० ।

३ द्रष्टव्य—**'संगीतमकरन्द'** मे सगीत-लेखको की सूची, गा ओ. सी, न १६, पृष्ठ ५६।

४ **रूपकाष्टक**, गा. ओ. सी. न ८, भूमिका, पृष्ठ ९।

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १२, पक्ति २१, पृष्ठ १९४, पक्ति ६।

रत्नाकर मे उपलब्ध होता है। इस आधार पर शारदातनय १२०० से १२५० ई तक उत्पन्न हो गये होगे।

शिगभूपाल, कुमारस्वामी तथा कल्लिनाथ आदि के ग्रन्थो मे अधिकाश स्थलो पर सगीत एव रस के सम्बन्ध मे भावप्रकाशन से उद्धरण उद्धृत किये गये है। शिग-भूपाल का काल १३३० ई[1] तथा कल्लिनाथ[2] एव कुमारस्वामी का काल १५वी शताब्दी स्वीकार किया गया है। अत इन परवर्त्ती ग्रन्थकारो के काल की निम्नतर सामान्य सीमा १३०० ई स्वीकार की जा सकती है। इससे स्वत सिद्ध हो जाता है कि इनके पूर्ववर्त्ती शारदातनय १३०० ई से पूर्व ही अर्थात् १२००-१२५० ई तक अवश्य उन्नत हो गये होगे।

इस काल के विषय मे शका उठ सकती है कि शारदातनय अपनी विषय-सामग्री के लिए यत्र-तत्र कल्पलता (कल्पवल्ली)[3] नामक एक ग्रन्थ का आश्रय ग्रहण करते है और कल्पलता का काल १२वी शताब्दी से पश्चात् का है, अत इस आधार पर भावप्रकाशन का प्रणयन कल्पलता से भी पश्चात् अर्थात् १२वी शताब्दी से अत्यन्त परवर्त्ती काल मे हुआ होगा। किन्तु ध्यातव्य रहे कि 'कल्पलता' नामक दो ग्रन्थ उप-लब्ध है। एक के लेखक है अरिसिह और दूसरे के देवेश्वर[4]। परन्तु क्या यह सम्भव नही हो सकता कि शारदातनय द्वारा उद्धृत 'कल्पलता' इन दोनो के अतिरिक्त कोई अन्य ही रही हो, जिसकी रचना १२वी शताब्दी के पूर्व ही हो चुकी थी। क्योकि 'कल्पलता' के सन्दर्भों द्वारा रस, भाव आदि कतिपय विषयो का जैसा प्रतिपादन शारदातनय ने किया है, वह अरिसिह तथा देवेश्वर द्वारा प्रणीत 'कल्पलता' मे अभि-लक्षित नही होता है। अरिसिह की 'कल्पलता' मे शब्द एव अर्थ तीन प्रकार के वर्णित है, जबकि 'शारदातनय' द्वारा सकेतित 'कल्पलता' मे चार प्रकार के शब्द-अर्थ कहे गये है। इस विषय मे शारदातनय कहते है कि 'कल्पलता' मे वर्णित चार प्रकार के शब्दार्थों को मम्मट तथा स्वय (शारदातनय) ने प्रदर्शित किया है।[5] इस कथन से 'कल्पलता' का काल मम्मट से भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध होता है और मम्मट तो शारदातनय के पूर्ववर्त्ती हैं ही।

'रस-रत्न-दीपिका' के रचयिता अल्लराज द्वारा उद्धृत भावप्रकाशन के उल्लेखो के आधार पर भी शारदातनय का स्थितिकाल १२५० ई ही निर्धारित होता है। अल्लराज ने स्वय को हम्मीर का पुत्र बताया है। यह हम्मीर मेवाड का चौहान राजा हम्मीर प्रतीत होता है, जिसके विषय मे जयचन्द्र सूरी द्वारा 'हम्मीर महाकाव्य' की रचना की गई है। इसके अनुसार हम्मीर का काल सम्वत् १३३९ अथवा १२८३ ई था। अत हम्मीर के पुत्र अल्लराज का स्थितिकाल १४वी शताब्दी के आरम्भ मे निर्धारित किया जा सकता है। अल्लराज ने 'रस-रत्न-दीपिका' मे अपने पूर्ववर्त्ती

---

१ *History of Sanskrit Poetics*, by P V Kane, pp. 430.

२ **संगीत-रत्नाकर**, भूमिका, पृष्ठ २०।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १३१, पक्ति ४, पृष्ठ १७५, पक्ति १८।

४ *History of Sanskrit Poetics*, S K De, Calcutta, 1960. Vol. I, pp 259-260

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १७५, पक्ति १८-२०।

ग्रन्थकारो के स्मरण के साथ-साथ भावप्रकाशन को भी समादृत किया है ।[1] अत स्पष्ट है कि शारदातनय अल्लराज से पूर्ववर्त्ती रहे है । अल्लराज की 'रस-रत्न-दीपिका' का सन्दर्भ 'रस-तरगिणी' मे प्राप्त होता है । इसके रचयिता भानुदत्त का काल १३०० से १३५० ई के लगभग स्वीकार किया जा सकता है, तब अल्लराज का स्थितिकाल भानुदत्त से किंचित् पूर्व तथा शारदातनय का स्थितिकाल अल्लराज से किचित् पूर्व स्वीकार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'भावप्रकाशन' की रचना ११५० अथवा ११७५ ई से १२५० ई तक के अवान्तर काल मे अवश्य हो गई होगी। अतएव शारदातनय को उपर्युक्त अनेकानेक प्रमाणो के आधार पर निस्सन्देह रूप से १२५० ई का आचार्य कहा जा सकता है ।[2]

व्यक्तित्व—शारदातनय के ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' का सिंहावलोकन करने पर उनके व्यक्तित्व का एक अपूर्व प्रतिरूप दृष्टिमार्ग के सामने सजीव हो उठता है । पूर्व-प्रचलित ग्रहणीय परम्पराओ को आत्मसात् कर लेने तथा अपने मौलिक विचारो से उन्हे अनुप्राणित कर देने की अपूर्व क्षमता के दर्शन उनके व्यक्तित्व मे किये जा सकते हैं । उनका व्यक्तित्व ऐसा पारदर्शी भी था जिसका सहज प्रतिबिम्ब उनकी परवर्ती प्रतिभाओ को अक्षुण्ण रूप से आवेष्टित एव प्रतिभासित कर सका । और फिर क्यो न करता ? था तो वह शारदातनय (सरस्वती का पुत्र) । बाल्यावस्था मे ही शारदातनय ने पितृगृह मे समस्त वेद-वेदागो का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । कदाचित् वे शारदादेवी की उपासना मे लग गये और देवी के चैत्रयात्रा-महोत्सव पर यज्ञ कर, प्रेक्षको के साथ नृत्यशाला मे बैठी हुई देवी को प्रणाम कर, उन प्रेक्षको के कहने पर वे उस देवी के पास बैठ गये । वहाँ भावाभिनयविज्ञ नटो के द्वारा पृथक्-पृथक् तीस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपको का प्रयोग होते हुए देखकर उन्होने देवी से नाट्य-वेद की ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की ।[3] वही उनके हृदय मे तीस रूपको की रूपरेखा स्थापित हो गई । ऐसे सरल साधक के व्यक्तित्व की भव्यता एव गौरव का अनुमान लगाना दुःसाध्य नही है ।

शारदातनय कट्टर सम्प्रदायवादी नही थे । उनके पूर्वजो मे से भी प्रपितामह लक्ष्मण 'विष्णु' के उपासक, पितामह श्रीकृष्ण शिव के भक्त, पिता भट्टगोपाल माँ सरस्वती के साधक थे । किसी एक देवी या देवता को इष्ट मानने से पूर्व शारदातनय की तर्क-बुद्धि इस सृष्टि का मूल-अन्वेषण करती हुई साख्य-दर्शन तक पहुँच जाती है ।[4] इसी दर्शन के सिद्धान्तो का अनुसरण करते हुए उन्होने सहृदयो द्वारा किये जाने वाले नाट्य-रसो के आस्वादन-हेतु अत्यन्त रोचक उपमा को अपने ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया है तथा इसी सम्बन्ध मे शिवागम के कुछ प्रारम्भिक कार्यो का भी उल्लेख किया है ।[5] नाट्य-रस का यह आस्वादन अथवा मनोरजन उसी प्रकार का है, जिस प्रकार जीवात्मा

---

१ द्रष्टव्य—**'रस-रत्न-दीपिका'** की पाण्डुलिपि प्रति न ११३३०—बडौदा ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट के पुस्तकालय में सुरक्षित ।

२ **भावप्रकाशन**, भूमिका, पृष्ठ ७२-७७ ।

३ **वही**, पृष्ठ २, पक्ति ६-१३ ।

४ **वही**, पृष्ठ १८१, पक्ति १६ ।

५ **वही**, पृष्ठ ५३, पक्ति ३-६ ।

सामारिक भोगो का मनोरजन करता है। इस विषय मे अपने तर्को को प्रस्तुत करते हुए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्त्वो, यथा—राग, विद्या एव कला आदि की भी व्याख्या शारदातनय प्रस्तुत करते है।[1] अत उन्हे प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का अनुयायी कहा जा सकता है। उन्होने रस-भाव आदि नाट्य-विषयक तत्त्वो को दार्शनिक पृष्ठभूमि पर रखकर अपनी मौलिक दृष्टि से परखा है। इसीलिए उनके माध्यम से एक नाट्यविद्-दार्शनिक-व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही मे किये जा सकते है।

रचनाएँ—भावप्रकाशन के अतिरिक्त शारदातनय द्वारा रचित 'शारदीय' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी प्रमाण प्राप्त होता है।[2] 'भावप्रकाशन' नाट्य-परक है तथा 'शारदीय' सगीत-परक। यह सम्भव है कि 'शारदीय' उनकी प्रथम रचना हो, जिसका नाम उन्होने अपने नाम 'शारदातनय' से ही रखा होगा। 'शारदीय' मे सगीत के समस्त अगो-उपागो का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया था।[3] किन्तु आज यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

भावप्रकाशन मे 'शब्द-शक्ति-विवेचन'[4] के प्रसग मे शारदातनय काव्यप्रकाशकार (मम्मट) की शैली से अत्यधिक प्रभावित हुए है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत उन्होने काव्यप्रकाश पर कोई टीका भी लिखी होगी, जो 'शारदीय' की ही भाँति आज उपलब्ध नही है।

'भावप्रकाशन' अपने ढग की एक अपूर्व अमर कृति है। नाट्य-शास्त्र एव दशरूपक की वर्णन-शैली से प्रभावित होते हुए भी इस ग्रन्थ की आबद्ध शब्द-रचना मे वैदिक शैली के दर्शन होते है। इस ग्रन्थ मे व्याकरण सम्बन्धी नियमो का पूर्णत पालन करने के लिए शारदातनय बाध्य नही हुए है। उन्होने भाषा के प्रवाह एव शैली की प्रभावोत्पादकता पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है जिसके कारण उनकी शब्द-रचना मे भले ही पुनरुक्ति-दोष आ गया हो किन्तु इसे दोष कहना भी अन्याय ही होगा। उन्होने सम्पूर्ण ग्रन्थ मे अधिकाशत उन विभिन्न विचारो का आकलन एव मौलिक समन्वय किया है जो भरत के नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होकर भरत-शिष्य-परम्परा, दशरूपक, शृगार-प्रकाश एव काव्य-प्रकाश का प्रभाव लेते हुए उन (शारदातनय) तक पहुँचे। अत भरत से लेकर शारदातनय तक एक शृङ्खला आबद्ध है। इस शृङ्खला की कडियाँ तो स्वयमेव परस्पर समान बाह्याकार की है फिर उन सब का समवेत प्रस्तुतीकरण जब भावप्रकाशन के रूप मे किया गया तो यत्र-तत्र पुनरावृत्ति के दर्शन कोई आश्चर्य नही है। शारदातनय ने ग्रन्थ के अन्त मे पुनरुक्ति-दोष का निवारण भी कर दिया है।[5] यह पुनरावर्त्तन की शैली धीरे-धीरे कुछ इस प्रकार से प्राकृतिक सी हो जाती है कि फिर वह सरल, सुबोध एव सहज-ग्राह्य हो उठती है। व्याकरण-सम्बन्धी नियमो के पालन का जहाँ तक प्रश्न है, शारदातनय अपनी त्रुटियो के प्रति सचेत रहते हुए क्षमा-याचना करना नही भूले है।[6]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८१, पंक्ति २०-२२, पृष्ठ १८२।
२ **वही**, पृष्ठ १९४, पक्ति ८।
३ **वही**, पृष्ठ १९४, पक्ति ९।
४ **वही**, षष्ठोध्याय।
५ **वही**, पृष्ठ ३१३, पक्ति ६-१०।
६ **वही**, पृष्ठ २५५, पक्ति १-४।

भावप्रकाशन का अस्तित्व विद्वानो को उस समय ज्ञात हुआ जब सन् १८८५ ई मे 'विक्रमोर्वशीय'[1] पर रगनाथ की तथा सन् १९०० ई मे 'कर्पूरमजरी'[2] पर वासुदेव की टीकाएँ प्रकाशित हुई। सन् १८९३ ई मे मद्रास मे[3] इस ग्रन्थ के आधार-सूत्रो की एक अक्षरानुकूल सूची परिलक्षित हुई, उसी समय 'भावप्रकाशन' की पाण्डुलिपि की खोज की घोषणा हुई। मेलकोट के हिज होलीनेस यदुगिरि यतिराज स्वामी को इसकी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इस पाण्डुलिपि मे से ग्रन्थ के कुछ भाग मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी के एक कैटलॉग मे सन् १९१८ ई मे प्रकाशित हुए।[4] कालान्तर मे मद्रास-अनुसन्धान-सघ को इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियाँ हस्तगत हुई। चीड-पत्रो पर लिखी हुई एक प्राचीन पाण्डुलिपि जीर्णावस्था मे दक्षिण मे ही प्राप्त हुई जो बडौदा पुस्तकालय[5] मे सुरक्षित है।

कल्लिनाथ के 'कलानिधि' एव कुमारस्वामी के 'रत्नापण' के प्रकाशन द्वारा भावप्रकाशन तथा शारदातनय के विषय मे अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्व जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुए। शिगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' एव गोपेन्द्रतिप्पभूपाल के 'कामधेनु' मे उद्धृत किये गये भावप्रकाशन के उद्धरणो के माध्यम से शारदातनय साहित्य-क्षेत्र मे उत्तरोत्तर लोकप्रियता को प्राप्त होते रहे।[6] उनके भावप्रकाशन मे रगशाला की समस्त विद्याओ का सुबोध-निरूपण किया गया है। विविध विषयो का विस्तृत विवेचन व्यवस्था की अवहेलना नही करने पाया है। यही इस ग्रन्थ तथा उसके प्रणेता की सहज स्वाभाविक विशेषता रही है।

भावप्रकाशन का प्रतिपाद्य विषय

'भावप्रकाशन' आकार मे नाट्यशास्त्र जैसा विशाल ग्रन्थ है। सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती), नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत एव आञ्जनेय इत्यादि अनेक नाट्यवेत्ताओ के सिद्धान्तो का सार ग्रहण करके शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' का प्रणयन किया है।[7] सम्पूर्ण प्रतिपाद्य सामग्री दस अधिकारो मे विभक्त की गई है, जिसमे श्लोकबद्ध शैली के दर्शन होते है।

प्रथम-अधिकार मे मगलाचरण एव आत्मपरिचय-कथन के पश्चात् नाट्य के सर्वप्रमुख तत्त्व 'भाव' का निरूपण किया गया है। शारदातनय की दृष्टि से भावो का महत्त्व रस से भी पूर्व है। 'रस' काव्य की आत्मा है तब भाव तो उस रस का भी जीवनाधायक तत्त्व हुआ। रस रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए भाव रूपी साधन सर्वथा अपेक्षित है। इसीलिए शारदातनय ने भावो को रस-प्रक्रिया के पूर्व ही वर्णित किया है। भले ही भरत ने रस-व्याख्या के पश्चात् भावो को रखा है। भाव की सत्ता के बिना रस की अभिव्यक्ति सम्भव नही है। अत नाट्य का मूल तत्त्व 'भाव' ही है।

---

१ **विक्रमोर्वशीय**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५।
२ **कर्पूरमंजरी**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९००।
३ Government Oriental MSS Library, Madras
४ Vol XXII, p 8737.
५ MSS No 7978 in the Library of the Oriental Research Institute of Baroda
६ **भावप्रकाशन**, प्राक्कथन एव भूमिका, पृष्ठ ६-९।
७ **वही**, पृष्ठ २, पक्ति १६-२२।

'भाव' की इसी महत्ता के कारण शारदातनय ने ग्रन्थ का नाम भी 'भावप्रकाशन' रखा है जो सार्थक है। प्रथम-अधिकार मे भावो के विभिन्न भेद, यथा—विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव एव सात्त्विकभाव आदि तथा पुन इन सभी के अवान्तर भेदो का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय-अधिकार मे भाव के पश्चात् नाट्य के सर्वाधिक विशेष तत्त्व 'रस' का प्रतिपादन किया गया है जिसमे भरत के रससूत्र पर आधृत विभिन्न मतो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भरत के अनुसार ही शारदातनय ने भी आठ रसो को स्वीकार किया है। शान्त-रस के विषय मे शारदातनय धनञ्जय के मत को स्वीकार करते हुए यह तो कहते है कि 'शम' के द्वारा कोई भी विभाव, अनुभाव एव सात्त्विकभाव उत्पन्न न होने के कारण शान्त-रस का अभिनय रगमच पर नही हो सकता[1] किन्तु फिर भी शारदातनय शान्त-रस के प्रति उतने कठोर नही है। धनञ्जय के विपरीत वे यह सोचने मे उदारता प्रदर्शित करते है कि शान्त-रस नाट्य मे नही प्रत्युत् काव्य मे स्थान प्राप्त कर सकता है।[2] द्वितीय-अधिकार मे ही प्रसगवश नाट्य, नृत्त एव नृत्य का निर्वचन करते हुए वे लास्य एव ताण्डव का भी निरूपण करते है।[3] रस-विवेचन के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शृङ्गार-रस के विषय मे शारदातनय भोज से प्रभावित हुए है। काव्य एव रस के बीच वे व्यग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध को स्वीकार न कर भाव्य-भावक भाव और प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध को स्वीकार करते है तथा रस एव सामाजिक के बीच भोक्तृ-भोग्य भाव सम्बन्ध को स्वीकार करते है।

तृतीय-अधिकार मे रस की उत्पत्ति तथा वाचिकादि भेद से शृ गारादि रसों के भेदो का निरूपण किया गया है। शृङ्गारादि रसो के विष्णु आदि देवताओ के देवत्व का कारण-निर्वचन किया गया है। समस्त रसो के स्थायीभाव, अनुभाव, विभाव आदि का भी विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

चतुर्थ-अधिकार मे नायक-नायिका आदि का स्वरूप निरूपित है। शृङ्गार के स्थायीभाव रति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए रति के वृद्धिकारक प्रेम आदि षड्गुणो का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है। शृङ्गारोचित देश-काल-गुण-चेष्टा आदि का रोचक निरूपण भी प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् शृङ्गारोचित पात्रो के वर्णन-प्रसग मे नायक के भेद एव उनके लक्षणो को प्रस्तुत किया है। नायिकाभेद-प्रसग के अवसर पर रुद्रट के मतानुसार ३८४ नायिका-भेदो का उल्लेख भी किया है।[4]

पचम-अधिकार मे स्त्री के यौवन, कोप, चेष्टा आदि, वैशिक नायक, उनकी प्रकृति, व्यवहार एव अवस्था आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। नायिकाओ का सत्त्व-भेद-कथन करते हुए उनके देवशीला, दैत्यशीला इत्यादि २२ भेदो का उल्लेख किया गया है।

षष्ठ-अधिकार मे शब्द-शक्ति-विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो विस्तृत होते हुए भी व्यवस्थित है। रस की सिद्धि के लिए व्यञ्जना-शक्ति अत्यन्त अपेक्षित है, अत.

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४७, पक्ति ५-६।

२ **वही**, पृष्ठ १३५-१३६।

३ **वही**, पृष्ठ ४५, पक्ति १६ से पृष्ठ ४६, पक्ति २० तक।

४ **वही**, पृष्ठ ६५, पक्ति ८-६।

व्यञ्जना तथा उसके साथ ही साथ अभिधा, लक्षणा एव तात्पर्या शक्तियो का निर्वचन भी प्रसग से प्राप्त हो गया है। शक्तियो के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम एव अधम त्रिविध रूपो का प्रतिपादन भी शारदातनय ने किया है। इस अधिकार मे प्रसग-वश रस, रसाभास इत्यादि का भी कथन किया गया है।

सप्तम-अधिकार मे सगीत-विषय का सगोपाग वर्णन हुआ है, जो कि रगशाला का एक मुख्य एव आवश्यक तत्व है। सगीत के विस्तृत क्षेत्र मे गायन, वादन, नृत्य, नाद, वर्ण, स्थान, श्रुति, धातु, गीति, रीति एव छन्द आदि अनेकानेक विषयो का समावेश किया गया है। त्वक् आदि सप्त-धातुओ से स्वर-उत्पत्ति के वर्णन-प्रसग मे शरीर की धमनी-सख्या के आधार पर श्रुतियो की सख्या चौबीस मानी गई है।[१] इससे ज्ञात होता है कि शारदातनय आयुर्वेद के भी पूर्ण ज्ञाता थे।[२] इसके अतिरिक्त राग, मति, गति, लय, ताल, काल, अलकार, गमक एव आयाम आदि सगीत के विविध विषयो का पारिभाषिक निर्वचन भी उन्होने प्रस्तुत किया है। इसी अधिकार मे नाट्य-शरीर का रचना-विधान प्रस्तुत करते हुए कथावस्तु, अर्थ-प्रकृतियाँ, अवस्थाएँ, सन्धियाँ, सन्ध्यग एव अर्थोपक्षेपक इत्यादि भी शारदातनय ने विस्तार से निरूपित किये है।

अष्टम-अधिकार मे तीस रूपको का नामोल्लेख करके नाटक, प्रकरण आदि दशरूपको का लक्षण एव स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इस सन्दर्भ मे मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु, कोहल तथा भोज इत्यादि प्रसिद्ध आचार्यो का मतोल्लेख भी शारदातनय ने किया है। नाटक आदि दशरूपको के उदाहरण-स्वरूप जिन विभिन्न रूपको के नाम शारदातनय ने उद्धृत किये है उनमे से अधिकाश आज अप्राप्य भी है।

नवम-अधिकार मे नृत्य के बीस भेदो का वर्णन है। यह बीस नृत्य-भेद ही 'उपरूपक' कहे गये है। इसी अधिकार मे नाटक के पात्रो के लिए उचित भाषा-नियमो का निर्देश किया गया है। इसके अनन्तर आख्यायिका, सर्गबन्ध, आश्वासबन्ध, सहिता, कोश एव चम्पू इत्यादि के स्वरूप का निर्वचन किया गया है।

दशम-अधिकार मे नाट्य-प्रयोग की विधि एव भेद इत्यादि का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु इससे पूर्व शारदातनय ने इस अधिकार के प्रारम्भ मे ही नाट्य की वैदिक उत्पत्ति का विस्तृत कथन किया है, जो भरत-नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति की कथा से भिन्न है।[३] तत्पश्चात् विभिन्न नाट्यप्रयोक्ताओ का स्वरूप-निर्वचन किया है। शुद्ध एव देशी प्रयोगो के उल्लेख प्रसग मे पुन लास्य, ताण्डव नृत्तो का स्वरूप एव विभागादि का निरूपण हुआ है। मार्गी प्रयोग मे ध्रुवा के स्वरूप, उपयोग एव विभागो का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। इसके अनन्तर भारतवर्ष का स्वरूप एव स्थिति निर्दिष्ट करते हुए यहाँ प्रचलित विभिन्न भाषा-भाषियो एव उनकी नाट्योपयोगिता को प्रदर्शित किया गया है। अन्त मे पुनरुक्ति-दोष का विवरण करते हुए शारदातनय ने अभिनवगुप्त की अनुयायिता स्वीकार की है।[४]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८६, पक्ति ५ से पृष्ठ १८७, पक्ति ११ तक।

२ **वही**, पृष्ठ १८६, पक्ति १४।

३ **(क) भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८४, पक्ति ५ से पृष्ठ २८७, पक्ति ६ तक।
(ख) नाट्यशास्त्र, प्रथमोऽध्याय।

४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७, पक्ति १६ से पृष्ठ २९४, पक्ति १९ तक, पृष्ठ २९५,

शारदातनय उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय-सामग्री का समवेत रूप से कथन ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कर देते है। जहाँ ग्रन्थ के दस अधिकारो मे विभक्त नाट्यशास्त्र-विषयक सम्पूर्ण तत्त्वो की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की गई है तथा प्रसग से प्राप्त काव्यशास्त्र विषयक सामग्री का भी समावेश किया गया है। ग्रन्थ की यह प्रतिपाद्य विषय-सामग्री नाट्य-विषय की अभूतपूर्व विशद व्याख्या करने मे सर्वथा सक्षम है।

नाट्यशास्त्र की परम्परा मे शारदातनय का योगदान

नाट्यशास्त्र की परम्परा मे शारदातनय का विशेष योगदान रहा है। इनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के अध्ययन के पश्चात् उनके अनेक मौलिक तत्त्वो का उद्घाटन होता है। नाट्यशास्त्र मे भावप्रकाशन का कितना व्यापक महत्त्व है, विषय की दृष्टि से उसकी कितनी उपादेयता है, नाट्यशास्त्र मे उसका क्या स्थान है, इत्यादि विविध विषयो के स्वरूप के दर्शन प्राप्त होते है। प्रामाणिकता एव उपादेयता की दृष्टि से यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र से किसी प्रकार भी कम नहीं है। नाट्यकला के विषय मे यहाँ जो विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है, वह अद्भुत ही है। इस ग्रन्थ मे नाट्यकला के अतिरिक्त सगीत आदि अन्य ललित-कलाओ का भी वैविध्यपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। भरत से लेकर शारदातनय तक के बीच के समय मे नाट्य, काव्य, सगीत, नृत्य आदि विषयो पर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ, लेकिन किसी भी ग्रन्थ मे नाट्यशास्त्र पचमवेद जैसी चिन्तनधारा नही था, उपर्युक्त नाट्य आदि सभी कलाओ का समष्टि रूप एक ही स्थान पर नही था। यदि इन सभी का विलक्षण सामजस्य कही सम्पादित हुआ तो वह है 'भावप्रकाशन' जिसकी सुनियोजित शैली वेदो का स्मरण कराती है। अत भावप्रकाशन को ही पचमवेद का उत्तराधिकारी मान लिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

शारदातनय का सर्वप्रथम योगदान 'नाट्योत्पत्ति' के विषय मे रहा है। इसके लिए भावप्रकाशन मे जो सुनियोजित परम्परा स्वीकार की गयी है, उसका अपना विशिष्ट महत्व है। चारो वेदो से क्रमश सम्वाद, अभिनय, गीत एव रस को ग्रहण करके नाट्योत्पत्ति की मान्यता तो भरत ने प्रतिपादित की थी। उसे समादृत करते हुए भी शारदातनय ने 'शिव' से नाट्य का आविष्कार स्वीकार किया है।[1] जबकि भरत एव अनेक परवर्त्ती आचार्यो ने नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से स्वीकार की है। इस विषय मे शारदातनय ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनाशक्ति का सुन्दर परिचय दिया है। ब्रह्मा से नाट्योत्पत्ति स्वीकार करने का सिद्धान्त तो केवल वैदिक पृष्ठभूमि पर ही आधृत है, लेकिन इसे शिव से सम्बद्ध स्वीकार करने से तो वैदिक एव लौकिक दोनो ही भाव-भूमियो का अलकरण हो उठता है। शिव-पार्वती का ताण्डव, लास्य नाट्य का पूर्वप्रचलित स्वरूप है। शिव के नटराज रूप से नाट्योत्पत्ति जितनी तार्किक एव शाश्वत सत्य सिद्ध है उतनी ब्रह्मा के रूप से नही।

भरत के अनुसार नहुष की प्रेरणा से भरत-पुत्र नाट्य प्रयोग को स्वर्ग से

पक्ति २१ से पृष्ठ २९७, पक्ति १६ तक, पृष्ठ ३०२, पक्ति २ से पृष्ठ ३०३, पक्ति १७ तक, पृष्ठ ३०९, पक्ति ५ से पृष्ठ ३१२, पक्ति १५ तक, पृष्ठ ३१३, पक्ति ११-१४।

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।

पृथ्वी पर लाये। लेकिन भावप्रकाशन मे भूमि पर नाट्यावतरण कराने का श्रेय 'मनु' को है[1] नहुष को नही। यह उचित भी प्रतीत होता है, क्योकि इस सृष्टि का आदि जन्मदाता 'मनु' को ही स्वीकार किया जाता है। यदि अपनी सृष्टि के लिए मनु ने नाट्य को भूलोक पर अवतरित करने का उद्योग किया हो, तो क्या आश्चर्य है ?

नाट्य एव दर्शन को गुम्फित करने मे शारदातनय का एक विशेष योगदान है। उन्होने नाट्य-विपयक विभिन्न तत्त्वो को दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य मे रखकर अपनी सजग दृष्टि के परखा है। नाट्य-प्रयोग आनन्द का प्रतीक होता है क्योकि उसमे अभिनय, सगीत आदि अनेक सर्वलोकानुरजिनी कलाओ का प्रयोग होता है जिनका अवलोकन एव अवगाहन करके सहृदय आत्मदर्शन मे लीन होकर सच्चिदानन्द से अनुप्राणित हो उठता है। इसी चिन्तनधारा मे डूबकर शारदातनय ने राग, विद्या एव कला आदि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्त्वो को अपने ग्रथ मे प्रतिष्ठित किया है। नाट्य सम्बन्धी ऐसे गहन चिन्तन को अपने ग्रन्थ मे महत्वपूर्ण स्थान देने लिए शारदातनय निस्सन्देह प्रशसा के पात्र है। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण उनके विलक्षण एव अपूर्व व्यक्तित्व को मूर्तिमान कर देता है।

नाट्य-परक सामग्री के साथ काव्य-शास्त्रीय विषयो का सम्मिश्रण करना शारदातनय की एक अन्य विशेषता है। उनकी सचेत दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्त्वो को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है। उन्होने शब्दशक्तियो का विशद सयोजन अपने ग्रथ मे प्रस्तुत किया है।[2] यहाँ पर उन्होने प्राचीन आचार्यों की मान्यताओ का उपवृहण मात्र किया है। इस विषय मे उनका दृष्टिकोण प्राय समन्वयात्मक रहा है। उन पर अधिकतर मम्मट का प्रभाव जान पडता है। पुन उन्होने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय मे एक नवीन तथ्य प्रकट किया है,[3] उनके मत मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'साहित्य' कहलाता है और यह 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' बारह प्रकार का होता है जो कि चार-चार भेदो के साथ तीन भागो मे विभाजित होता है, यथा—

(१) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य तथा प्रविभाग।

(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा एकार्थीभाव।

(३) दोषहान, गुणोपादान, अलकारयोग तथा रसावियोग।

यह प्रकरण शारदातनय ने आचार्यभोज के 'शृ गार-प्रकाश' से ज्यो का त्यो ग्रहण किया लगता है। नाट्यशास्त्र एव काव्यशास्त्र विषयक सामग्री का ऐसा सजग-सयोग अन्यत्र मुखरित नही हुआ है।

भावप्रकाशन का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए एक और नवीन तथ्य दृष्टि-गोचर होता है कि शारदातनय ने 'भाव-तत्त्व' को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया, जो उसे अब तक उपलब्ध नही हुआ था। यद्यपि 'रस' नाट्य का प्राण है तथापि उस रस की प्राप्ति का साधन 'भाव' है अत साध्य 'रस' का कारणीभूत भाव ही है। भाव के बिना रसाभिव्यक्ति की कल्पना ही नही की जा सकती है। इसीलिए शारदातनय ने भावो को रस-प्रक्रिया से पूर्व रखा है। जबकि भरत ने रस को भाव से

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७, पक्ति ८।

२ **वही**, षष्ठोऽधिकार।

३ **वही**।

पूर्व वर्णित किया है। किन्तु भाव की स्थिति हृदय मे शाश्वत रूप से रहती है, अत उसी के माध्यम से रसानुभूति सम्भव हो पाती है। इस तथ्य को नकारा नही जा सकता। कवि की जो मानसिक अवस्थाएँ नटो के माध्यम से सहृदय सामाजिक के अन्त करण को अभिभूत कर देती है। वे 'भाव' कहलाती है। भरत ने भाव का विश्लेषण 'सवेदना' के आधार पर प्रस्तुत किया है। जबकि शारदातनय का भाव-विवेचन सुख-दु ख की सवेदना के साथ-साथ साख्योपचित दार्शनिक-धारा मे भी प्रवाहमान हुआ है। केवल सवेदन आधार के द्वारा तो मनोवैज्ञानिक तत्त्व का दिग्दर्शन हो पाता है, किन्तु उसमे दार्शनिक चेतना का आस्वादन भारतीय आदर्श के गौरव को मण्डित कर देता है। सम्भवत इसीलिए शारदातनय ने दार्शनिक दर्पण मे भाव का प्रतिबिम्ब देखा होगा।

यह निर्विवाद है कि 'भाव' की जितनी अधिक प्रधानता एव महत्ता शारदातनय ने प्रतिपादित की है, उतनी भरत एव उनके परवर्त्ती आचार्यो मे से किसी ने नही की। नाट्य का प्रमुख तत्त्व 'रस' और उसका भी मूल 'भाव' है। अत उसे नाट्य-तत्त्वो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार करना अतिशयोक्ति नही है। सम्भवत इसी कारण शारदातनय भाव-वर्णन मे इतने अधिक तत्पर हुए होगे। यह तत्परता इतनी अधिक तीव्र हो उठी होगी कि उन्होने अपने ग्रथ का नामकरण भी 'भाव' के ही आधार पर करना अभीष्ट समझा होगा। यहाँ तक कि उन्होने भाव को ही सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व स्वीकार करने के कारण ग्रथ का प्रथम अधिकार 'भाव-निर्णय' के रूप मे आरम्भ करना उचित समझा है। यदि भाव न हो तो वह स्थायी-भाव ही नही होता, जो रसत्व के पद पर प्रतिष्ठित होता है। वे विभावादि भी नही होते जो स्थायी-भाव को रस के प्रकर्ष तक पहुँचाने मे सहायक बनकर उपस्थित रहते है। भरत से पूर्व तथा परवर्त्ती विचारको ने कभी भी भाव को रस, वस्तु, नेता आदि तत्त्वो से बढकर नही माना था। किन्तु शारदातनय को तो 'भाव' को लेकर ही ग्रथ का शुभारम्भ करना अभिप्रेय है। अत नाट्य-परम्परा मे उनकी यह भाव-विषयक सूक्ष्मावगाहिनी चिन्तनधारा सर्वथा मौलिक एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मान्य है। उन्होने भाव, अनुभावादि के सम्बन्ध मे अनेक नवीन तथ्य प्रकट किये है, जैसे—उद्दीपन विभाव के आठ भेदो का वर्णन—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रुक्ष, खर, निन्दित तथा विकृत। इनमे से शृगार एव हास्य के ललित एव ललिताभास, वीर और अद्भुत के स्थिर एव चित्र, रौद्र और करुण के खर और रुक्ष तथा भयानक का विकृत एव वीभत्स का निन्दित उद्दीपन विभाव है।[1] अनुभाव के उन्होने चार विभाग किये है—मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव।[2]

नाट्य मे रस-पेशलता का सम्बन्ध भावात्मकता एव अभिनयात्मकता से होता है। नाट्य-प्रयोग का प्रयोजन सहृदय को रसास्वादन कराना ही होता है। नाट्य-रस का यह आस्वादन अथवा मनोरजन उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार जीवात्मा सासारिक भोगो का मनोरजन करता है। रसास्वादन के विषय मे शारदातनय ने एक मौलिक चिन्तन-धारा को प्रस्तुत किया है कि नाट्य-रस का आस्वादन भिन्न-भिन्न

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४-५।

२ **वही**, पृष्ठ ६।

रुचियो एव प्रवृत्तियो के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से ही करते है । युवक व्यक्ति नाट्य-रस मे काम-भावना का अन्वेषण करता है । धनाभिलाषी अर्थ-लाभ को खोजता है । नीति-कुशल समीक्षा मे, शौर्यशाली शूरता मे, विद्वान पुरुष तात्त्विक एव सात्त्विक बातो मे सन्तोष प्राप्त करता है। इसी प्रकार वृद्ध धर्म के विवेचन मे, मूर्ख, बाला एव नारियाँ हास्य एव वेश-विन्यास आदि विषयो मे रस प्राप्त करते है ।[1]

रस के सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय है कि भरत की रस-दृष्टि नाट्योन्मुखी रही है । लेकिन परवर्त्ती आचार्यो की दृष्टि रस के प्रति धीरे-धीरे काव्योन्मुखी होती चली गई है । किन्तु शारदातनय ने दोनो दृष्टियो के महत्त्व को समझा है । इसीलिए उनकी सूक्ष्म-दृष्टि ने इन दोनो धाराओ का समन्वय करके रस को सुसज्जित किया है । उनके इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण से उनके परवर्त्ती विद्वान प्रभावित हुए बिना नही रह सकते है ।

भरत के रस-निष्पत्ति सिद्धान्त के जो व्याख्याता भट्टलोल्लट, श्री शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि हुए है, उन सभी के दृष्टिकोण का शास्त्रीय विवेचन शारदातनय ने प्रस्तुत किया है । जिसमे यद्यपि मौलिकता तो नही है तथापि एक व्यवस्था है । विषय का विस्तार होने पर भी व्यवस्था का विद्यमान रहना एक महान गुण है । जो 'भाव-प्रकाशन' के अतिरिक्त अन्यत्र अधिक दृष्टिगोचर नही होता । यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात और है कि उन्होने रस का सर्वथा स्वतन्त्र रूप से वर्णन एव महत्त्व स्थापित किया है । उसे किसी अन्य तत्त्व मे अन्तर्भूत करने की आवश्यकता उन्होने नही समझी, उनके काव्य की प्रत्येक विधा मे रस का उत्कर्ष आवश्यक रूप से होना चाहिए । रस ही तो काव्य का जीवन है ।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ मे रस के उस सिद्धान्त को ही प्रतिपादित किया है जो कि भरत एव कोहल आदि के द्वारा स्वीकार किया गया था तथा आनन्द-वर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोज एव धनजय के द्वारा जिसका सशोधन किया गया था । शारदातनय की ही भाँति उनके परवर्त्ती आलोचक भी रस-सिद्धान्त के समर्थक थे । शारदातनय ने रस का सम्पूर्ण विवेचन नाट्य को दृष्टिपथ मे रखकर तो किया ही है । साथ ही सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि का रस-सिक्त पर्यालोचन भी किया है । उनके कथनो का महत्त्व परवर्त्ती साहित्य मे इसलिए और भी बढ गया प्रतीत होता है कि उन्होने रस-सम्बन्धी मान्यताओ को प्रस्तुत करते समय वृद्ध-भरत, वासुकि, पद्मभू, नारद आदि अनेक आद्याचार्यों के मतो को उद्धृत किया है । जैसे—

(१) शारदातनय के कथनानुसार 'रस-सूत्र' मे व्यवस्थित 'रस-सिद्धान्त' आचार्य भरत के पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के नाट्यवेद से उदधृत किया गया है । इस सन्दर्भ मे वे कहते है—

'एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रस ।'[2]

यहाँ पर 'अस्मिन्' का अर्थ उपलब्ध नाट्यशास्त्र से ही है। अत सिद्ध होता है कि आचार्य भरत से पूर्व ही रस-सिद्धान्त पल्लवित हो चुका था । इसी सन्दर्भ मे

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २७७-२७८ ।

२ **वही**, पृष्ठ ३६, पक्ति १३ ।

शारदातनय पुन 'वृद्ध-भरत'[1] का रस-सिद्धान्त उद्धृत करते है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि 'भरत से पूर्ववर्त्ती 'वृद्ध-भरत' तथा वृद्ध-भरत से पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य ने 'रस' की उद्भावना प्रकट की है। हाँ, शारदातनय के अनुसार भरत व वृद्ध-भरत के पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के द्वारा ही रस-सिद्धान्त पल्लवित हुआ है। वह आचार्य 'वासुकि' है क्योकि इसी सन्दर्भ मे एक प्रश्न उठता है कि 'क्या रस भावो से उत्पन्न होता है ?' इस प्रश्न के उत्तर मे शारदातनय 'वासुकि'[2] को उद्धृत करते है। पुन ,

"उत्पत्तिस्तु रसाना या पुरा वासुकिनोदिता ।"[3]

(२) शारदातनय ने 'पद्मभू' की रस-सम्बन्धी मान्यता को शान्त-रस के प्रसग मे उद्धृत किया है। वे कहते है कि 'पद्मभू' 'शान्त-रस' को नवा-रस स्वीकार नही करते है, वे केवल आठ रस ही स्वीकार करते है,[4] क्योकि उनके मत मे 'शान्त-रस' मन की एक शान्त अवस्था है जो कि 'अहकार' से नितान्त परे है, जबकि रसानुभूति 'अभिमानवृत्ति' से ही होती है तथा अभिनेता (नट) भी मन की शान्त अवस्था को रगमच पर प्रदर्शित नही कर सकता क्योकि यह विभाव और अनुभाव से रहित होती है और सभी विकारो से शून्य होती है।

(३) शारदातनय कहते है कि 'नारद' के अनुसार रस मनोविकार उपस्थित करते हैं और अहकार तथा गुण विकारो की प्राप्ति के लिए मन की सहायता करते है तथा रसानुभूति कराते है। जब मन सत्त्व आदि गुणो के साथ सासारिक वस्तुओ के सम्पर्क मे आता है तो एक विशेष प्रकार की अनुभूति कराता है, जो 'रस' कहलाती है। नारद 'शान्त-रस' को स्वीकार करते है, उनके अनुसार 'शान्त-रस' सासारिक सभी बाह्य-वस्तुओ से परे होकर सत्त्वोद्रेकता में अनुमति के योग्य होता है।[5]

इसी प्रकार, शारदातनय ने शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, आदि रसो के अनेक विभाग करके रसास्वाद एव रसाभास सम्बन्धी मतो की स्थापना मे भी नवीनता दिग्दर्शित की है।

नाट्य मे रस का पोषण करने के लिए नाटकीय पात्रो की योजना की जाती है। शारदातनय ने पात्रो का वैविध्यपूर्ण चित्रण किया है। यद्यपि उन्होने भी अभिनवगुप्त की भाँति सहृदय प्रेक्षक को रस का आश्रय माना है, नट (पात्र) को नही तथापि पात्रो की उपेक्षा नही की जा सकती क्योकि किसी भी रस को सामाजिक के अन्त करण तक पहुँचाने के लिए पात्रो की परमावश्यकता है। भरत की भाँति शारदातनय ने भी पात्रो के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत किया है। उन्होने नायक-नायिका, उपनायक, विदूषक, विट, सखी, दूती आदि विभिन्न पात्रो को मानवप्रकृति की विविधता के आधार पर गति दी है। इस विषय मे वे भरत से प्रभावित हुए है। साथ ही अपनी मौलिक विचार-शक्ति का भी परिचय दिया है। जो परवर्त्ती आचार्यो को सदियो तक प्रभावित करती रही है। नायिका-वर्णन के प्रसग मे उन्होने गणिका के

---

१ तथा भरतवृद्धेन कथित गद्यमीदृशम् ।—**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६, पक्ति १४ ।

२ इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भव ।—**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३७, पक्ति १ ।

३ **वही**, पृष्ठ ४७, पक्ति ११ ।

४ **वही**, पृष्ठ ४७ ।

५ **वही**, पृष्ठ ४७-४८ ।

प्रति विशेष सहानुभुति रखी है।[1] जो आज के समाज के लिए एक चुनौती है तथा उनकी उदार विचारधारा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अभी तक अधिकतर आचार्यो ने 'गणिका' की गणना कुछ हेय दृष्टि से की थी। किन्तु शारदातनय ने तो एक प्रकार से 'वेश्या' (अन्या) मे 'स्वीया' से अधिक विशेषताओ का कथन किया है क्योकि 'स्वीया' केवल भोग की अभिलाषिणी ही होती है जबकि अन्या भोग के साथ-साथ धन की भी वाछा करती है। अन्या की इस अवस्था के लिए समाज ही तो दोषी है। वह भी नारी-सुलभ-अभिलाषाएँ लेकर ही इस ससार मे जन्म लेती है। सम्भवत यही दृष्टिकोण ध्यान मे रखते हुए शारदातनय ने तीन अवस्थाये—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका एव विप्रलब्धा वर्णित की है। यह उनका सर्वथा मौलिक प्रयोग है, जो निस्सन्देह उपादेय एव ग्राह्य है।

नाटकीय-पात्रो मे 'अभिनय' तत्त्व पुष्प मे सुगन्ध की भाँति स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। पात्रो की जो विभिन्न चेष्टाएँ होती है उनसे अभिनय को एक शक्ति प्राप्त होती है। आगिक, वाचिक आदि अभिनयो के स्वरूप के विषय मे शारदातनय भरत से पूर्णत सहमत दिखाई पडते है। पात्र अपने शील एव स्वभाव के अनुसार विविध अभिनयो का प्रदर्शन करते हुए भाव एव रस को पुष्ट करते है, साथ ही ब्रह्मानन्दसदृश आनन्दमय अनुभूति कराते हुए जीवन के बाह्याभ्यन्तर जगत् को शाश्वत सत्य से भर देते है।

पात्र योजना का विवेचन करते हुए ज्ञात होता है कि भरत की पात्र-योजना सर्वथा नाट्योन्मुखी थी। किन्तु धीरे-धीरे यह नाट्योन्मुखी दृष्टि रसोन्मेषी होती गई। शारदातनय ने अपने पूर्वकाल की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियाँ को सूक्ष्म-निरीक्षण द्वारा समझा है। फलस्वरूप उन्होने अपने पात्र-विधान की कल्पना मे रसोत्कर्ष का विशेष ध्यान रखा है क्योकि रस ही नाट्य है एव नाट्य ही रस है। अत नाट्य के प्रत्येक तत्त्व का परम उद्देश्य रस की चरम चर्वणा ही होना चाहिए। शारदातनय की इस विचारधारा के महत्त्व को शिगभूपाल, भानुदत्तमिश्र, रूपगोस्वामी आदि अनेक विद्वानो ने समझा है।

इतिवृत्त-विवेचन के समय भी शारदातनय की गम्भीर प्रतिभा के दर्शन किये जाते है। पात्रो का अभिनय नाट्य के इतिवृत्त के आधार पर अभिनीत होता है। इतिवृत्त नाट्य का शरीर कहा जाता है। आत्मा के निवास के लिए शरीर की आवश्यता की भाँति नाट्य की आत्मा 'रस' को विद्यमान रहने के लिए इतिवृत्तरूपी नाट्य-शरीर की अपेक्षा रहती है। अत इतिवृत्त की रचना भी नाट्य मे 'रस' की ही भाँति महत्त्वपूर्ण होती है। शारदातनय इस तथ्य से भलीभाँति परिचित दिखाई पडते है, तभी तो उन्होने नाट्य-वस्तु का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। फल-प्राप्ति के औचित्य को ध्यान मे रखते हुए शारदातनय ने आधिकारिक एवं प्रासगिक कथावस्तु का निर्देश किया है। इसी प्रसग मे उन्होने भरत के मतानुसार ही पच अर्थ-प्रकृतियो, पच अवस्थाओ एव पच सन्धियो का विस्तृत विवेचन निरूपित किया है। फल-प्राप्ति के हेतु किया गया नायक का पुरुषार्थ इन्ही अर्थप्रकृतियो, अवस्थाओ, एव सन्धियो द्वारा प्रस्तुत होता चलता है अत नाट्य-प्रयोग मे इन तत्त्वो का विधान

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ९५, पक्ति २१, पृष्ठ ९६, पक्ति १०।

अत्यन्त सुनियोजित होना चाहिए। शारदातनय ने चौसठ सन्ध्यगो एव इक्कीस सन्ध्यन्तरो का विशद वर्णन किया है, साथ ही नाट्य मे उनकी उपादेयता भी स्वीकार की है। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भी रहा है कि इनमे से जो अग कथावस्तु एव रस के पोषक हो उनकी उसी अनुपात से नाट्य मे सुयोजना कर लेनी चाहिए, शेष का अनावश्यक प्रवेश कर देने से कोई लाभ नही होता। इसी विचारधारा का अनु-मोदन करने के कारण ही शारदातनयकृत वस्तु-विवेचन सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है।

शारदातनय द्वारा किये गये विविध निरूपणो की समीक्षा करते हुए उनकी एक पारदर्शिता की अनुभूति होती है और उसी से ज्ञात होता है कि शारदातनय रग-शाला की विद्याओ के धुरन्धर ज्ञाता थे। उन्होने नाट्य की उपरजक अन्य ललित कलाओ, यथा—सगीत, नृत्य, नृत्त आदि का भी भव्य विधान अपने ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया है। सगीत का नाट्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है। गीत-वाद्य आदि की योजना के बिना नाट्य सर्वाग सुन्दर स्वीकार नही किया जा सकता। गीत तो नाट्य का प्राणाधायक तत्त्व है तथा बिना वाद्य-वृन्द के गीत भी रस है। अत ये सभी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते है। सगीत ही वह तत्त्व है जो नाट्य के अनुकूल रस की भाव-भीनी सृष्टि को सम्पूर्ण वातावरण मे व्याप्त कर देता है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि शारदातनय ने सगीत जैसे सरस, सुकोमल, विषय को भी दार्शनिक दृष्टि से देखा है। यह उनका मौलिक एव सफल प्रयास है। उनसे पूर्ववर्त्ती एव परवर्त्ती ग्रन्थो मे सगीत को किसी ने भी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि मे नही देखा था। केवल सगीत एव केवल नाट्य विषय पर अनेक ग्रन्थो का उपनयन होता रहा किन्तु नाट्य एव सगीत का ऐसा सुखद सयोग कही भी दिग्दर्शित नही होता है। अत निस्सन्देह शारदातनय की सराहना होनी चाहिए।

नाट्य मे गीत-वाद्य आदि के अतिरिक्त नृत्य एव नृत्त का भी अपना अपूर्व महत्त्व है। इसीलिए शारदातनय ने नाट्य के उपकारक के रूप मे नृत्य एव नृत्त को स्वीकार किया है। उन्होने ताण्डव एव लास्य का सर्वागीण निर्वचन किया है। ताण्डव एव लास्य नाट्य के पूर्वरूप रहे हैं। शारदातनय ने नाट्य की उत्पत्ति भी शिव से स्वीकार की है।[१] अत यह स्वाभाविक ही है कि उन्होने ताण्डव एव लास्य का भेद-प्रभेदो सहित व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है।

सगीत-तत्त्व की इस चर्चा के सन्दर्भ मे एक और बात कहना भी अभीष्ट है कि यद्यपि भरत एव उनके परवर्त्ती अनेक नाट्शास्त्रियो एव सगीत-ग्रन्थकारो ने सगीत मे स्वरो की स्थापना के लिए बाईस श्रुतियाँ स्वीकार की है, तथापि शारदातनय ने शरीर की चौबीस धमनियो के आधार पर श्रुतियो की सख्या भी चौबीस ही स्वीकार की है। उनके मत मे त्वक् आदि[२] सप्त धातुओ से सप्त स्वर उत्पन्न होते है जो सभी नाभि से प्रारम्भ होकर २४ (चौबीस) धमनियो से सम्बन्धित होते है। जब प्राणादि पचवायु को मन से सयमित किया जाता है तो धमनियो के ससर्ग से धातुओ मे अग्नि प्रज्वलित होती है और अग्नि एव धातु के सम्मिश्रण से 'नाद' उत्पन्न होता है।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।

२ त्वगसृङमासभेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातव। —**वही**, पृष्ठ १८६, पक्ति ८।

यही 'नाद' 'स्वर' कहलाता है। स्वरो के स्थान धातुओ के आधार पर स्थापित होत हैं। धमनियो के अनेक होने से 'ध्वनियाँ' अनेक होती है, यही 'ध्वनियाँ' 'श्रुति' कहलाती है और श्रुतियो की सख्या धमनियो की सख्या के आधार पर निर्धारित होती है।[1] इस प्रकार शारदातनय ने अपनी मौलिक परिकल्पना का परिचय तो दिया ही है, साथ ही इससे उनके आयुर्वेद-विषयक ज्ञान का भी दिग्दर्शन स्वत ही हो गया है।

विभिन्न विषयो को लेकर उन्हे वर्णन करने की विधि जो शारदातनय ने अपनाई है, वह भी ध्यातव्य है। किसी भी विषय को लेकर उसका निरूपण करते समय शारदातनय पूर्व-परम्परा के आलोचको के मतो को भी प्रस्तुत करने के लिए सदैव सजग रहते है। ऐसा करते हुए उन्होने बहुत ध्यानपूर्वक उन समस्त मतो के सूक्ष्म अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है। ऐसी उदार शैली को अपनाने के लिए शारदातनय प्रशसा के पात्र है।

शारदातनय ने भरत-निर्दिष्ट नाटक, प्रकरण आदि दस रूपको एव नाटिका का तो प्रतिपादन किया ही है, साथ ही बीस उपरूपको का भी निरूपण किया हे। उपरूपको के वर्णन मे शारदातनय ही सबसे अधिक सचेत प्रतीत हुए है। उनके द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपको की सख्या सर्वाधिक है। उन्होने इन उपरूपको को ही 'नृत्य-भेद' कहा है। ये उप-रूपक निम्नवत् है·

(१) **तोटक**—जहाँ देवता और मनुष्यो का सयोग रहता है तथा जिसके प्रत्येक अक मे विदूषक नही रहता है, वही 'तोटक' कहलाता है—यह 'हर्ष' का मत है। लेकिन अन्य विद्वान उक्त तोटक के अव्यापक लक्षण से सहमत नही है। नौ, आठ, सात या पाँच अको से युक्त, देवता और मनुष्यो के सयोग वाला 'तोटक' कहलाता है, ऐसा किसी एक आचार्य का मत है। कोई ऐसा कहते है कि दिव्य (देवता) और मनुष्य के सयोग वाला नाटकानुगामी 'तोटक' कहा जाता है। तोटक के उदाहरण है—'मेनका-नहुष' (जिसमे नौ अक हैं), 'मदलेखा' (जिसमे आठ अक है) 'स्तम्भितरम्भकम' (जिसमे सात अक हैं) तथा 'विक्रमोर्वशीय' (जिसमे पाँच अक है)।[2] आचार्य भोज ने 'तोटक' को अपने द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपको की सख्या (१४) मे समाविष्ट नही किया है।

(२) **नाटिका**—'नाटिका' नाटक तथा प्रकरण दोनो का सकीर्ण-रूप हे। नाटिका का नायक प्रख्यात तथा धीरललित होता है। इसका अगीरस 'शृगार'-रस होता है और इसका वृत्त कवि-कल्पित होता है। इसमे कैशिकी-वृत्ति पाई जाती है जो अपने नर्म, स्फुञ्ज आदि से युक्त होती है। प्रधान-रूप से नायक की नायिका देवी होती है, इसी की भाँति नृपवशजा दूसरी नायिका भी होती है, किन्तु वह मुग्धा होती हे। दोनो के प्रति नायक का मिश्रित प्रेम रहता है, प्रारम्भ मे यह प्रेम नवीन होता हे, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है। लेकिन मुग्धा के समागम के विषय मे नायक सदा महारानी के भय से शकित रहता है—(फलत· उसकी राग-चेष्टा छिप-छिपकर चला करती है)। इसमे चार सन्धियाँ होती है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा उपसहृति। अवमर्श सन्धि का इसमे लोप होगा। इसमे विट और पीठमर्द सहायक नही होते है।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८६-१८७।

२ **वही**, पृष्ठ २३८।

इसमे नायक का नर्म-सचिव विरूप या विदूषक होता है। यह नाटिका किसी नाटक-धर्म और उसके अविरोधी धर्म के आश्रित होती है। इसमे प्राय स्त्री पात्रो की प्रधानता रहती है। यह देश, ऋतु-वर्णन आदि से सुशोभित होती है। इसमे चार अक होते है। इसके विशेष उदाहरण 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' है।[1]

(३) **गोष्ठी**—गोष्ठी मे कल्पित कथा होती है, एक अक होता है, शिथिल श्रृगार होता है और रूप-सौन्दर्य तथा लावण्य से युक्त पाँच, छ नायिकाये होती है। यह नौ या दस प्राकृत पुरुषो से अलकृत (युक्त) होती है। इसमे गर्भ और विमर्श सन्धि नही होती है। यह उदात्त वचनो से रहित होती है। इसमे मृदुल कैशिकी वृत्ति पाई जाती है। श्रृगार के अतिरिक्त यह अन्य रसो के आश्रित नही होती है, क्योकि कन्दली (केली) हाथियो के समूह की आघात-पात्र नही होती है। गोपपति अर्थात् कृष्ण की विहार करती हुई बाल-गोष्ठी की यमलार्जुन आदि दानवो की वध-कृत जो चेष्टाएँ हैं, वह 'गोष्ठी' कहलाती है।[2]

(४) **सल्लापक**—सल्लापक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध, कवि-कल्पित या मिश्र होती है। इसमे श्रृगार और हास्य रस नही होते है। इसके वीर तथा रौद्र-रस अगीरस होते हैं तथा अन्य-रस अग-रस होते है। इसका नायक प्राय शान्त-शत्रु और क्रोधी, पाखण्डी होता है। इसमे दैव तथा शत्रुजन्य कपट, युद्ध, नगरनिरोध और विद्रव होते है तथा सात्वती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमे तीन अक होते है—द्वितीय अक मे ताल-प्रचुरता होती है, तृतीय-अक मे कपट होता है और प्रथम अक विद्रव-युक्त होता है। सल्लाप मे प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती हैं।[3]

(५) **शिल्पक**—शिल्पक मे चार अक होते है और चारो वृत्तियाँ होती हैं। यह हास्य-वर्जित रसो मे युक्त होता है, इसका नायक ब्राह्मण होता है। हीनपुरुष उपनायक होता है। इसमे श्मशानादि का वर्णन होता है। इसमे (नायिका) पुनर्विवाहित कन्या या सचिव और ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या होनी चाहिए, जैसे—माधव की मालती और कमल की कलावती। इसके सत्ताईस अग होते है—उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रयत्न, आशसा, तर्क, सशय, ताप, उद्वेग, मूढता, आलस्य, कम्पानुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्वास, आतक, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, सन्तोप, अतिशय, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्रलोचना और प्रशस्ति।[4]

(६) **डोम्बी**—डोम्बी की भाणिका की तरह उदात्त नायिका होती है, इसमे एक अक होता है। इसमे प्राय कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती है। इसके वीर और श्रृगार-रस होते है। इसमे सुन्दर नेपथ्य होता है। भाणिका के समान मन्दोत्साही-पुरुष नायिका होती है। इसके सात अक होते है। विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, सहार तथा समर्पण। डोम्बी मे दस लास्यागो का यथायोग प्रयोग होता है। इसका उदाहरण 'कामदत्ता' है।[5]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४३-२४४।
२ **वही**, पृष्ठ २५६।
३ **वही**, पृष्ठ २५६।
४ **वही**, पृष्ठ २५७।
५ **वही**, पृष्ठ २५७-२५८।

विश्वनाथ ने शारदातनय के द्वारा कहे गये 'डोम्बी' के लक्षण एव उदाहरण को 'भाणिका' नामक उपरूपक मे उद्धृत किया है।[1] वे 'डोम्बी' उपरूपक को स्वीकार नही करते है, इसके स्थान पर 'विलासिका' नामक एक और अन्य उपरूपक को अपने द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपको की सख्या (१८) मे जोडते है। फलत विश्वनाथ शारदातनय और आचार्य भोज के द्वारा कहे गये 'भाणिका' के लक्षण एव उदाहरण के विषय मे भी भिन्न हो जाते है।

(७) **श्रीगदित**—श्रीगदित मे विद्या के कारण प्रसिद्ध उदात्त नायक होता है। इसमे भारती-वृत्ति की अधिकता होती है और यह उदात्त वचनो से युक्त होता है। गर्भ और विमर्श सन्धियो से शून्य होता है। इसमे एक अक होता है और कही-कही इसमे विप्रलम्भ नामक (शृगार) रस होता है। इसमे कुलागना सखियो के आगे अपने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणो का बखान करती है या फिर-फिर उसके गुणो की उलाहना करती है। इसमे विप्रलब्धा प्रिय-समागम की आशा से प्रिय के साथ भोग के उपयुक्त शृगार से सज्जित होकर चित्रलिखित-सी बैठी रहती है तथा इसमे उत्कण्ठिता या तो पाठ पढे या गीत गाये। इस प्रकार के श्रीगदित का उदाहरण है—'रामानन्द'।[2]

(८) **भाण**—भाण विष्णु, शकर, सूर्य, भवानी (पार्वती), कार्त्तिकेय तथा प्रमथाधिप (शिव) की स्तुति से निबद्ध होता है। यह प्राय उद्धतकरणो से युक्त, स्त्री-पात्रो से रहित होता है तथा शुद्ध वर्णनायुक्त होता है। गुणकीर्त्तन, गुण-प्रकाशन, गाथाओ से युक्त राजाओ की स्तुति से निबद्ध होता है। प्राय गायन के साथ उदात्त उक्ति से युक्त तथा सहोक्ति से युक्त होता है। भाण कही-कही तीन, चार, पाँच विताल, सात परिच्छिन्न विश्राम तथा अर्थोद्ग्राहनिवारण सख्या से युक्त होता है। यह छै प्रकार का होता है—शुद्ध, सकीर्ण, चित्र, उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत। शारदातनय ने 'नन्दिमाली' नामक भाण की चर्चा की है। जिसका कि अन्तर्भाव 'भाण' के अन्तर्गत ही कर दिया गया है।[3] विश्वनाथ भाण को उपरूपक स्वीकार नही करते है। वे 'सट्टक' को उपरूपक स्वीकार करते है।

(९) **भाणिका**—प्राय विष्णु के चरित से युक्त तथा स्वीकृत गाथा (छन्द), वर्ण और मात्राओ वाला भाण भी सुकुमारता के प्रयोग को दिखाने के कारण 'भाणिका' कहलाता है। यह (भाणिका) दिव्य चारीयो से रहित तथा ललित करणो से युक्त होती है। कही-कही इसमे बीच-बीच मे ताल-सहित नृत्त होता है। यह रथ्या (गली) आदि से युक्त होती है। यह अर्थोद्ग्राह-निवारण, गायन, वसन्तोन्मत्त पालियो से युक्त, विश्रामो से रहित होती है। इसमे स्त्री-पात्र रहते है तथा ताल (सगीत) नही होता है। भाणिका मे नौ या दस वस्तुएँ नियम से होती है। पचम स्थानो पर नवम आदि भग्न-ताल होता है। अन्य स्थानो पर उसका लय और ताल स्वेच्छा से किया जाता है। यह विविधवाक्य-विन्यास से युक्त होता है तथा सभ्यजन के उत्साह से युक्त

---

१ तुलना कीजिए—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ, ३०८-३१२ तथा **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५७-२५८।

२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५९।

३ **वही**, पृष्ठ २५८-२६०।

होता है। भाणिका मे भाण की तरह ही लास्याग तथा सन्धियाँ रहती है। भाणिका मे शृगार-रस अगी-रस होता है, सुन्दर नेपथ्य होता है तथा सुन्दर नायिका होती है। इसमे गर्भ तथा अवमर्श के अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण—ये तीन सन्धियाँ पाई जाती है। यह अल्पवृत्त वाली होती है तथा इसमे विदूषक सहित पीठमर्द तथा विट पात्र होते है। यह पाचाली रीति से युक्त होती है। उदाहरणार्थ—'वीणावती'।[1]

(१०) **प्रस्थान**—प्रस्थान मे कैशिकी वृत्ति होती है तथा हीन उपनायक होता है। यह सुरापान की केलिक्रीडा से युक्त होता है तथा इसमे लय, ताल आदि कलाएँ खूब होती है। इसमे दास आदि प्रकृति का नायक होता है तथा दो अक होते है। इसमे विट, चेट आदि नायक होते है। यह मुख तथा निर्वहण सन्धियो से युक्त होता है। उदाहरणार्थ—'शृगार-तिलक'।[2]

(११) **काव्य**—काव्य मे हास्य तथा शृगार-रस होता है तथा सभी वृत्तियाँ पायी जाती है। यह भग्न ताल, द्विपदिका तथा खण्डमात्रा नामक गीतो से पूर्ण होता है। इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नही रहती है अन्य तीन सन्धियाँ रहती है। यह एक अक-वाला होता है। इसमे कही-कही लास्य (नृत्य) पाया जाता है। यह विट, चेटी से युक्त होता है। इसकी नायिका कुलागना होती है तथा नायक ललित और उदात्त प्रकृति का होता है। उदाहरणार्थ —'गौडविजय'। पुन, काव्य मे विप्र, अमात्य तथा वणिक्-उत्पन्न पुत्र व पुत्री नायक नायिका होते है। बीच-बीच मे यह काव्य मुदित प्रमदा की भाषा व चेष्टाओ से युक्त होता है। या विट, चेट आदि की देश तथा भाषा से युक्त होता है। उदाहरणार्थ—'सुग्रीव-केलनम्'[3]। इस प्रकार काव्य दो प्रकार का होता है।

(१२) **प्रेक्षणक**—आचार्य भोज ने 'प्रेक्षणक' के दो भेद किये है—प्रेक्षणक और नर्तनक। लेकिन शारदातनय के अनुसार ये दोनो एक ही है। उन्होने शीर्षक मे 'प्रेक्षणक' और लक्षण मे 'नर्तनक' शब्द का प्रयोग किया है। उनके मत मे—जब नर्तकी सुन्दर लय के साथ जिसके पदार्थ का अभिनय करती है, उसे 'नर्तनक' कहते है। पुन नर्तनक उसे कहते है, जहाँ छलिक और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमश सुताल तथा चतुरश्र ताल का प्रवर्तन होता है। इसमे गर्भ और अवमर्श सन्धियो के अतिरिक्त अन्य तीन सन्धियाँ रहती है, तथा इसमे सभी वृत्तियाँ पाई जाती है। इसमे मागधी और शौरसेनी भाषा का प्रयोग होता है तथा यह रस और भाव से युक्त होता है। इसका नायक उत्तम तथा अधम प्रकृति का होता है। इसमे दो सन्धियाँ होती है। इसमे आरभटी और भारती वृत्तियाँ पाई जाती है कही-कही सात्त्वती वृत्ति भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ—वालिवध और नृसिंह-विजय। पुन, इसमे पूर्ण नेपथ्य पाठ या नान्दी का विधान किया जाता है। कही-कही इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ रहती हैं, कही-कही चारो वृत्तियाँ पाई जाती है। कही नेपथ्य-वाक्य का प्रयोग होता है, इसमे सूत्रधार नही रहता। उदाहरणार्थ—त्रिपुरमर्दन।[4] साहित्य-दर्पणकार 'प्रेक्षणक' को 'प्रेखण' कहते हैं।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२।
२ **वही**।
३ **वही**, पृष्ठ २६२-२६३।
४ **वही**, पृष्ठ २६३।

(१३, १४) **नाट्य-रासक और रासक**—वसन्त ऋतु को देखकर रागादि से स्त्रियो द्वारा राजाओं की चेष्टा का नृत्य किया जाता है, उसे 'नाट्य-रासक' कहते है ।[१] जिसमे सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ पिण्डी बन्ध आदि की रचना द्वारा नृत्य करती है, उसको 'रासक' कहा जाता है । इसका नायक एक होता है, जैसे—गोपस्त्रियो के नायक हरि (श्रीकृष्ण)[२] ।

(१५) **उल्लोप्यक**—जिसमे एक अक हो, जो अवमर्श-सन्धि से रहित हो और जिसमे निष्प्रवृत्ति-विधान हो तथा जिसमे शिल्पक (उपरूपक) के अग हो और हास्य, श्रृगार तथा करुण रस हो । उसे 'उल्लोप्यक' कहते है । यहाँ उज्ज्वल वेप की तरह चार उज्ज्वल नायक और नायिकाएँ होती है । उदाहरण के लिए—'देवी-महादेव' तथा 'उदात्तकुजर' ।[३] आचार्य भोज ने इस उपरूपक की चर्चा नही की है ।

(१६) **हल्लीसक**—हल्लीसक मे सात, आठ, नौ या दस स्त्रियाँ रहती है । यह अनुदात्त उक्ति से युक्त होता है, इसमे एक अक होता है तथा कैशिकी-वृत्ति पाई जाती है । इसमे मुख और विमर्श सन्धियाँ रहती है । इसमे गाने के साथ लास्य (नृत्य) यति, खण्ड, ताल, लय तथा विश्राम होते हैं । जैसे—'केलिरैवत' ।[४] पुन , इसमे एक या दो अक होते है—प्रथम अक गर्भ-सन्धि-रहित होता है तथा द्वितीय अक मे मुख और अवमर्श सन्धियाँ रहती है और इसमे विप्र, क्षत्रिय या वेश्य-पुत्र, सचिव, सिद्ध, ललित, दक्षिण, प्रसिद्ध पाँच-छ नायक होते है ।

(१७) **दुर्मल्लिका**—दुर्मल्लिका की प्रौढ व चतुर नायिका होती है । इसमे चार अक होते है । गर्भ-सन्धि के अतिरिक्त चार सन्धियाँ होती है । प्रथम अक तीन नाली (६ घडी) का और विट की क्रीडा से पूर्ण होता है । द्वितीय अक पाँच नाली (१० घडी) का और विदूषक की क्रीडा से युक्त होता है । तृतीय अक सात नाली (१४ घडी) का और पीठमर्द के विलास से युक्त होता है । चतुर्थ अक दस नाली (२० घडी) का होता है । इसमे विटादि की तिगुनी क्रीडा होती है । जिसमे कोई दूती एकान्त मे ग्राम्य (अश्लील) कथाओ द्वारा युवक तथा युवतियो के प्रेम का वर्णन और उनके चौर्यरत का प्रकाशन करती है । उसके विषय मे सलाह करती है, नीच जाति की होने से धन माँगती है । धन के मिल जाने पर भी और अधिक धन चाहती है, उसको 'दुर्मल्लिका' नाम से जाना जाता है । इसी 'दुर्मल्लिका' को दूसरे कोई 'मत्त-ल्लिका' कहते हैं ।[५]

(१८) **मल्लिका**—मल्लिका का सम्भोग-श्रृगार अगीरस होता है, इसमे कैशिकी वृत्ति पायी जाती है । यह एक या दो अक वाली होती है तथा विदूषक और विट की क्रिया से युक्त होती है । यह गाथा (छन्द), द्विपदी (सगीत) तथा रथ्यावासक ताल से युक्त होती है । इसमे पहले अलक्ष्य कथा रहती है बाद मे सलक्ष्य कथा । इसमे गर्भ और अवमर्श के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ रहती है । जिसमे मणि-

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६४ ।
२ **वही**, पृष्ठ २६३-२६६ ।
३ **वही**, पृष्ठ २६६ ।
४ **वही**, पृष्ठ २६६-२६७ ।
५ **वही**, पृष्ठ २६७ ।

कुल्या (मणिनदी) मे रहने वाले जल की तरह पूर्व वस्तु दिखाई नही पडती है, बाद मे दिखाई पडती है, उस मणिकुल्या को 'मल्लिका' जानना चाहिए ।[1] विश्वनाथ इस उपरूपक को स्वीकार नही करते है । वे 'प्रकरणिका' नामक उपरूपक की कल्पना करते है ।

(१९) **कल्पवल्ली**—'कल्पवल्ली' हास्य तथा शृगार-रस और भाव से युक्त होती है । इसका उदात्त नायक होता है और पीठमर्द उपनायक होता है । इसमे वासकसज्जा (नायिका) तथा अभिसारिका नायिका होती है । यह द्विपदी, खण्ड-गीत, रथ्यावासकताल, तीन प्रकार के लय तथा दस प्रकार के लास्य (नृत्य) से युक्त होती है । इसमे मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियाँ पाई जाती है । यह उदात्त वर्णन से उत्कृष्ट होती है । उदाहरण के लिए—'माणिक्यवल्लिका' ।[2] विश्वनाथ ने इस उपरूपक की कोई चर्चा नही की है ।

(२०) **पारिजातक**—पारिजात-लता एक अक वाली होती है, तथा मुख और निर्वहण सन्धियो से युक्त होती है । यह वर्ण, मात्रा, खण्ड, ताल और गाथा (छन्द) से युक्त होती है । इसके वीर तथा शृगार-रस होते है तथा देवता और क्षत्रिय नायक होते है । इसकी कलहान्तरिता नायिका, उदात्तनायिका अथवा भोगिनी स्वीया-गणिका-नायिका होती है । यह तीन अपसार सहित चित्रकथा तथा गेय से युक्त होती है । कही-कही विदूषक की क्रीडा और मनोहर हास से युक्त होती है । जैसे—'गगातरगिका' ।[3] विश्वनाथ ने इस उपरूपक की कोई भी चर्चा नही की है ।

शारदातनय द्वारा किया गया नाट्य-प्रयोग के विविध प्रकारो का विवेचन परवर्ती युग के लिए सर्वथा स्पष्ट एव ग्राह्य है। नाट्य-प्रयोग मे अनेक नाट्य-प्रयोक्ताओ, यथा—सूत्रधार, नान्दी—पाठक, नट, शैलूष, पारि-पार्श्विक, कुशीलव आदि की आवश्यकता होती है । इन सभी का विस्तृत विवेचन जैसा भावप्रकाशन मे हुआ है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है । नाट्य-प्रयोग के लिए विविध नाट्य-मण्डपो की आवश्यकता होती है । शारदातनय ने चतुरस्र आदि जिन नाट्य-मण्डपो का उल्लेख किया है, वह सब तो भरत के मतानुसार ही है लेकिन इनके अतिरिक्त शारदातनय ने 'वृत्त' नामक जिस नाट्य-मण्डप के विधान का निर्देश किया है वह नूतन कल्पना का द्योतक है ।

इस प्रकार शारदातनय का सम्पूर्ण नाट्य-विधान अनेक नवीनताओ से ओत-प्रोत है, जो भारतीय नाट्यशास्त्र के लिए अपूर्व देन सिद्ध हो सकता है। नाट्य-सम्बन्धी कोई भी ऐसा विषय शेष नही रहा है जिसका प्रतिपादन करना शारदातनय से रह गया हो। अपितु उन्होने तो नाट्यपरक सामग्री के अतिरिक्त प्रसगवश काव्यशास्त्र, सगीतशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र एव दर्शनशास्त्र विषयक सामग्री का भी आकलन एव विवेचन प्रस्तुत किया है । उनका 'भावप्रकाशन' एक ऐसा ग्रन्थ है जो नाट्य के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक पक्ष का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है और इसीलिए वह आज के वैज्ञानिक युग मे नाट्यशास्त्रियो को सहज उपादेयता का सन्देश देता है ।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६७-२६८ ।

२ **वही**, पृष्ठ २६८ ।

३ **वही**, पृष्ठ २६८ ।

इस प्रकार आचार्य शारदातनय एव उनके ग्रन्थ भावप्रकाशन मे भरत जैसी व्यापकता एव गरिमा के सुभगदर्शन होते है। भावप्रकाशन मे पूर्वकथित वस्तुओ का भी परिष्कृत रूप से प्रतिपादन हुआ है फिर मौलिक उद्भावनाओ का तो कहना ही क्या ? शारदातनय ने अपनी परिनिष्ठित भाषा शैली मे एक गम्भीर वातावरण की सर्जना की है जिसमे आनन्दात्मक कवित्व के भी दर्शन होते चलते है। महान् से महान् आचार्यो की मान्यताओ का समावेश उन्होने अपने ग्रन्थ मे सहज ही मे कर लिया है। इससे उनके अपने व्यक्तित्व पर कोई आघात नही हुआ है, अपितु इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमे साम्प्रदायिक पक्षपात लेशमात्र भी नही था। जहाँ जिसकी जो बात रुचे, उसे अपने ढग से कह देना आपत्तिजनक नही होता और फिर उसको व्यवस्थित रूप देते हुए अपने मौलिक निर्णयो का प्रतिपादन करना तो और भी सुन्दर है। ऐसी ही अपूर्व सुन्दरता के दर्शन 'भावप्रकाशन' मे किये जाते है जिससे शारदातनय 'आचार्यत्व' की प्रतिष्ठित पदवी पर सुशोभित हो उठने है।

भावप्रकाशन के विवेचनात्मक अध्ययन मे शारदातनय की जिन अभूतपूर्व विशेषताओ का परिचय प्राप्त हुआ है, उनमे से प्रमुख है—वक्तव्य की अद्भुत गरिमा, सुस्पष्टता, विषयावगाहिता, गम्भीरता, प्रवाहात्मकता, समन्वयात्मकता, चेतना की नवीनता, सूक्ष्मरूपात्मकता, उपलब्धियो की प्रचुरता, दार्शनिक-शालीनता, गौरवान्वित प्रगल्भता, सर्वांगीणता, परिनिष्ठता एव मौलिकता आदि। शारदातनय को वह युग प्राप्त था, जब विभिन्न सम्प्रदायो की विविध मान्यताएँ अव्यवस्थित सी हो रही थी। उपर्युक्त वर्णित अपनी समस्त विशिष्टताओ के बल पर ही शारदातनय ने उन समस्त मान्यताओ की परिमार्जना अपने ग्रन्थ मे व्यवस्थित की, जिसने नाट्यशास्त्रीय परम्परा मे 'भावप्रकाशन' के लिए अक्षुण्ण महत्त्व का सृजन किया। इस ग्रन्थ का विवेचन करते हुए शारदातनय के पारदर्शी व्यक्तित्व मे से उनके विविध रूपो के दर्शन किये जाते है, यथा— उनका प्रगल्भ आचार्यत्व, उनका सरस कवि-हृदय तथा उनका अद्भुत दार्शनिक रूप आदि।

भावप्रकाशन मे उद्धृत नाट्याचार्य

सदाशिव—भारतीय पौराणिक परम्परा मे 'सदाशिव' का नाम सभी विद्याओ और सभी कलाओ के उद्गम-स्रोत के रूप मे जाना जाता है। अत शारदातनय[1] और शार्ङ्गदेव[2] ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियो मे 'सदाशिव' का निर्देश सर्वप्रथम किया है। शारदातनय ने रस के स्वरूप एव उत्पत्ति के प्रसग मे सदाशिव के मत का भी उल्लेख किया है।[3] दशरूपककार धनजय ने 'सदाशिव' के मत की चर्चा की है।[4] अभिनव-भारती मे ब्रह्मा, भरत के साथ सदाशिव के मत की भी चर्चा है।[5] अस्तु प्रतीत होता है कि सदाशिव ने कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा।

ब्रह्मा, पद्मभू—नाट्यशास्त्र के अनुसार ये सर्वपितामह ब्रह्मा है, जिन्होने

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पक्ति १६।

२ **सगीतरत्नाकर**, अ स, पृष्ठ १२, १-१५।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १५२, पक्ति १७।

४ **दशरूपक**—४, ३७-३८।

५ **अभिनवभारती**, पृष्ठ ६, गा ओ. सी. न ३६।

देवासुर सग्राम मे थके हुए देवताओ के लिए नाट्य-वेद का आविष्कार मनोरजनार्थ किया।[1] शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्य-वेद भगवान शकर के शिष्य नन्दिकेश्वर से पढा था।[2] शार्ङ्गदेव के अनुसार सप्तगीतो के प्रवर्त्तक[3] तथा शुष्काक्षरो के नियोजक ब्रह्मा[4] ही है। अत ब्रह्मा भी किसी नाट्य-ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते है।

शारदातनय ने शान्त-रस के प्रसग मे 'पद्मभू' के मत को उद्धृत किया है।[5] साथ ही इनका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती मे भी किया है। 'पद्मभू' सम्भवत ब्रह्मा का ही पर्यायवाची है।

वाग्देवी—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियो मे 'वाग्देवी' का नामोल्लेख किया है।[6] भावप्रकाशन मे इनका कोई उद्धरण नही मिलता। अस्तु इनके द्वारा नाट्य-ग्रन्थ लिखे जाने का अनुमान का कोई पुष्ट आधार नही प्राप्त होता।

शिव, शकर—शारदातनय के अनुसार नाट्य वेद के आविष्कारक 'शिव' है, जिन्होने नन्दिकेश्वर को नाट्य-वेद पढाया।[7] उन्होने अपने 'भावप्रकाशन' मे एक स्थान पर 'शकर' के मत का भी उल्लेख किया है।[8] सम्भव है, शारदातनय द्वारा प्रयुक्त 'शकर' शब्द शिववाची हो। नाट्यशास्त्र के अनुसार भगवान शकर ने अगहारो की रचना की और तण्डु को शिक्षित किया। ब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत नाट्य के पूर्वरग को सुशोभित करने के लिए भगवान शकर ने भरत को तण्डु के द्वारा नृत्य की शिक्षा दिलायी।[9] कहा जाता है कि 'शिव-पार्वती-सवाद' नामक कोई ग्रन्थ शिव-मत का प्रतिपादक था, जो आज अनुपलब्ध है। इससे प्रतीत होता है कि शिव ने नाट्य पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा।

गौरी, पार्वती—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियो मे 'गौरी' और 'पार्वती' का नामोल्लेख किया है।[10] भावप्रकाशन मे इनका कोई उद्धरण नही मिलता। 'गौरी' सम्भवत 'पार्वती' का ही पर्यायवाची है। शार्ङ्गदेव के अनुसार पार्वती ने लास्य का आविष्कार किया और बाणसुर की पुत्री उषा को सिखाया। उषा से यह लास्य द्वारिका की स्त्रियो तक पहुँचा और तत्पश्चात लोक मे प्रचलित हुआ।[11] नन्दिकेश्वर के 'भरतार्णव' मे पार्वती-मत का ग्रन्थ 'भरतार्थ-चन्द्रिका' बताया गया है।[12] अत हो सकता है कि पार्वती ने भी किसी नाट्य-ग्रन्थ की रचना की हो।

---

१ **नाट्यशास्त्र**, प्रथम अध्याय।
२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५, २८४-२८५।
३ **सगीतरत्नाकर**, अ स, तालाध्याय, पृष्ठ २९।
४ **वही**, पृष्ठ १२९।
५ **भाव-प्रकाशन**, पृष्ठ ४७, पक्ति १०।
६ **वही**, पृष्ठ २।
७ **वही**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।
८ **वही**, पृष्ठ ५७, पक्ति १०।
९ **नाट्यशास्त्र**, चतुर्थाध्याय।
१० **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २।
११ **संगीतरत्नाकर**, अ. स, नर्तनाध्याय, पृष्ठ ३।
१२ **भरतार्णव**, दशम अध्याय।

नन्दिकेश्वर—नन्दिकेश्वर का उल्लेख सगीत के ग्रन्थो मे नन्दिन्, नन्दीश तथा नन्दिभरत के नाम से पाया जाता है। नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत' नामक कृति मैसूर तथा कुर्ग की हस्तलिखित सूची मे है। सगीत-सुधाकार रघुनाथ ने 'नन्दीश्वर-सहिता' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। मद्रास स्थित ग्रन्थ-सूची मे नन्दिभरत के नाम से भरतार्थचन्द्रिका नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तण्डु' शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर का ही नाम या पर्याय माना है। इससे स्पप्ट है कि नन्दी ही तण्डु थे, जिसने भरत को उस ताण्डव नृत्य का शिक्षण दिया था। जो उन्हे शिव से साक्षात् प्राप्त हुआ था।[1] अभिनवभारती मे अभिनय[2] तथा पुष्कर-वाद्य[3] के सम्बन्ध मे 'नन्दिमत' का उल्लेख हुआ है। अभिनव का कथन है कि नन्दिमत का ग्रहण उन्होने आचार्य कीर्त्तिधर के अनुसरण पर किया है—

"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमात्रागमित्वेन दर्शित तदस्माभि साक्षान्न दृष्ट तत्प्रत्ययात्त लिख्यते सक्षेपत ।"[4]

शारदातनय ने नाट्य-वेद के निर्माण मे नन्दिकेश्वर-ब्रह्मा-भरत—इस परम्परा का उल्लेख किया है।[5] सगीत-रत्नाकर मे वाद्याध्याय मे नन्दिकेश्वर द्वारा प्रोक्त ४ हस्तपाटो का विवरण उपलब्ध है।[6] यह भी कल्पना की गयी है कि अभिनयदर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर से इनका व्यक्तित्व अभिन्न होगा। विद्वानो के अनुसार नन्दि का उपलब्ध ग्रन्थ 'अभिनयदर्पण' भरतार्णव नामक बृहत-ग्रन्थ का सक्षिप्त रूपान्तर है। नन्दिकेश्वर के अन्य ग्रन्थो मे' नन्दिभरतोक्त सकरहस्ताध्याय' नामक ग्रन्थ हस्तलिखित रूप मे अपूर्ण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के का मा सस्करण के अनुसार 'नाट्य-शास्त्र' नन्दि तथा भरत की संयुक्त रचना है।[7] मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित सस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची मे नन्दिकेश्वर के नाम से 'ताल-लक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। इन आधारो पर स्पष्ट है कि आचार्य नन्दिकेश्वर अनेक विषयो के ज्ञाता थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की थी।

वासुकि—शारदातनय ने रसोत्पत्ति के प्रसग मे 'वासुकि' के मत को उद्धृत किया है।[8] इनके बारे मे अन्यत्र कही कोई उल्लेख प्राप्त नही होता। 'सगीत-मकरन्द' मे प्रयुक्त 'व्याल' सम्भवत: 'वासुकि' का पर्यायवाची हो क्योकि 'वासुकि' एक प्रसिद्ध नाग है। अस्तु प्रतीत होता है कि वासुकि ने कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा।

नारद—भरत के नाट्यशास्त्र मे 'गान्धर्व' का विवेचन नारद-मत के अनुसार हुआ है।[9] महाभारत के शान्ति-पर्व मे नारद को गान्धर्व-वेद का प्रवर्त्तक बताया गया

---

१ **अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ ८८, गा ओ सी, ३६।
२ **वही**, पृष्ठ १६६।
३ **वही**, भाग ४, पृष्ठ ४१४, गा ओ सी न १४५।
४ **वही**, पृष्ठ १२०।
५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८४-२८५।
६ **संगीतरत्नाकर**, अ. स, वाद्याध्याय, पृष्ठ ४०३।
७ **पुष्पिका**, ३६वाँ अध्याय।
८ **भावप्रकाशन**,, पृष्ठ ३७, ४७।
९ **नाट्यशास्त्र** ३१, ४८४।

है ।[1] रामायण, हरिवश-पुराण आदि मे नारद का उल्लेख गान्धर्व-विशारद के रूप मे हुआ है । शारदातनय के भावप्रकाशन मे 'रस' के प्रसग मे 'नारद' के मत को उद्धृत किया गया है ।[2] इस प्रकार भरतादि प्राचीन ग्रन्थकारो के प्रामाण्य पर यह प्रबल अनुमान किया जा सकता है कि उनके समक्ष नारद का गान्धर्व-विषयक लक्षण-ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा है ।

व्यास—शारदातनय ने नाट्योत्पत्ति के प्रसग मे 'व्यास' के मत को उद्धृत किया है ।[3] दशरूपककार धनजय ने 'व्यास' से मत की चर्चा की है । अत व्यास किसी नाट्य के भी रचयिता प्रतीत होते है ।

कुम्भोद्भव (अगस्त्य)—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियो मे 'कुम्भोद्भव' का नामाल्लेख किया है ।[4] भावप्रकाशन मे इनका कोई उद्धरण नही मिलता । नाट्यशास्त्र काशी-सस्करण के अनुसार 'अगस्त्य' ने आचार्य भरत से नाट्य-शास्त्र का श्रवण किया था । द्रविड-भाषा का 'ताल-समुद्र' नामक एक ग्रन्थ अगस्त्य की रचना कहा जाता है । ताल के सम्बन्ध मे इतना विस्तृत विवेचन और कही नही प्राप्त होता । अस्तु, अगस्त्य किसी नाट्य-ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते है ।

द्रौहिणि—शारदातनय के भावप्रकाशन मे द्रौहिणि का नाट्य-सम्बन्धी उद्धरण प्राप्त होता है ।[5] दशरूपककार धनजय ने द्रौहिणि-मत का उल्लेख किया है । अत प्रतीत होता है कि द्रौहिणि ने भी कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा ।

आञ्जनेय (मारुति)—शारदातनय ने भावप्रकाशन मे 'आञ्जनेय' के नाट्य सम्बन्धी विचार को उद्धृत किया है ।[6] पुन उन्होने 'मारुति' के नाम से नाट्य-सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया है।[7] सम्भव है, शारदातनय द्वारा प्रयुक्त 'मारुति' शब्द आञ्जनेय-वाची हो । सगीत-रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने 'आञ्जनेय-मत' की चर्चा की है । सगीत-सुधाकार रघुनाथ ने आञ्जनेय-मत का उल्लेख किया है । मध्ययुगीन दामोदर पडित के 'सगीत-दर्पण' मे रागरागिनी-वर्गीकरण के लिए आञ्जनेय-मत का 'हनुमान' के जन्म से उल्लेख हुआ है । आञ्जनेय के सिद्धान्तो का प्रति-पादक ग्रन्थ 'आञ्जनेय-सहिता' कहा जाता है, इसे ही कुछ लेखको ने 'हनुमत्सहिता' कहा है । इसी का एक नाम 'भरत-रत्नाकर' भी कहा जाता है । इन आधारो पर स्पष्ट है कि आञ्जनेय ने किसी नाट्य-ग्रन्थ की रचना की थी ।

वृद्ध-भरत—शारदातनय ने रस-सम्बन्धी मान्यताओ को प्रस्तुत करते समय 'वृद्ध-भरत' के मत को उद्धृत किया है ।[8] उनके अनुसार नाट्यशास्त्र के दो सस्करण है—नाट्यवेद एव नाट्यशास्त्र । नाट्य-वेद मे बारह-हजार श्लोक है और नाट्य-

---

१ **महाभारत**, शान्तिपर्व, १६८, ५८ ।
२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४७-४८ ।
३ **वही**, पृष्ठ ५५, २५१ ।
४ **वही**, पृष्ठ २ ।
५ **वही**, पृष्ठ २३९ ।
६ **वही**, पृष्ठ २५१ ।
७ **वही**, पृष्ठ ११४ ।
८ तथा भरतवृद्धेन कथित गद्यमीदृशम् ।—**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६ ।

शास्त्र मे छ हजार श्लोक हैं ।[1] शारदातनय का अभिप्राय है कि 'नाट्य-वेद' 'वृद्ध-भरत' की रचना है तथा नाट्यशास्त्र 'भरत' की रचना है। म म रामकृष्ण कवि का भी कथन है कि 'द्वादश-साहस्री-सहिता' जिसका कि नाम नाट्य-वेद था, 'वृद्ध-भरत' की रचना है और 'षट्-साहस्री-सहिता' आचार्य 'भरत' की रचना है ।[2] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वृद्ध-भरत ने नाट्य-वेद की रचना की थी ।

भरत—आचार्य भरत का व्यक्तित्व साहित्य मे सर्वत्र व्याप्त है। नाट्य-शास्त्र के निर्माता के रूप मे उनका नाम विश्व-साहित्य मे अमर हो चुका है, लेकिन प्रश्न यह है कि 'भरत' एक थे या अनेक ? इस सम्बन्ध मे प्राचीन भारतीय साहित्य मे अनेक सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती है ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा से नाट्य-वेद की उपलब्धि की तथा अपने एक सौ पुत्रो को नाट्य-वेद की शिक्षा दी, जिसमे से अनेक ने नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो की रचनाएँ की थी। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शब्द इसी के समर्थक है। नाट्यशास्त्र के ३६वे अध्याय मे 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) अभिनेता, सूत्राधार आदि के लिए भी हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग से ही सभवत परवर्त्ती आचार्यों मे इस विचार का प्रसार हुआ हो कि भरत एक नही अनेक थे।

भावप्रकाशन मे 'भरत' एक व्यक्ति की अपेक्षा 'भरतादि' अर्थात् 'भरत' जाति का सकेत प्राप्त होता है। इस ग्रथ मे 'भरत' तथा उसके लिए प्रयुक्त सर्वनाम शब्द प्राय बहुवचनान्त हैं। तृतीय एव दशम अधिकारो मे 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग कम से कम पच्चीस बार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यो के बीच ऐसी परम्परा विद्यमान थी, जो नाट्यशास्त्र के प्रणयन का श्रेय एक भरत को न देकर व्यास की तरह एक 'भरतादि' परम्परा को देना उचित समझती थी,[3] जिसका प्रभाव शारदातनय पर पडा है।

आचार्य अभिनवगुप्त के समय मे भी यही भावना व्याप्त थी कि नाट्यशास्त्र भरतादि-प्रणीत है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस भावना का खण्डन किया कि नाट्य-शास्त्र का प्रथम प्रणयन सदा-शिव, फिर ब्रह्मा तथा अन्त मे 'भरत-मुनि' ने किया था। अत इसके प्रणेता क्रमश आचार्य सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत थे।[4]

अस्तु ! नाट्यशास्त्र मे 'भरत' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे हुआ है, अत यह प्रश्न अनिर्णीत सा ही रह जाता है कि नाट्यशास्त्रकार 'भरत' एक विशिष्ट व्यक्ति थे या उसके प्रणयन का श्रेय अनेक भरतो को दिया जा सकता है। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि इस सभी भरतो के मध्य 'भरत' एक विशिष्ट व्यक्ति की सत्ता है, जिसे ही नाट्यशास्त्र के प्रणयन का श्रेय प्राप्त है।

---

१ एव द्वादशसाहस्रै श्लोकैरेक तदर्थत ।
षड्भि श्लोकसहस्रैर्यो नाट्य-वेदस्य सग्रह ।
भरतैर्नमितस्तेषा प्रख्यातो भरताह्वय । —**भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७ ।

२ **नाट्यशास्त्र**, भूमिका, पृष्ठ १६, गा. ओ. सी न. ३६वाँ ।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०६, पक्ति ५, २५५ पक्ति १ ।

४ **अभिनवभारती**, पृष्ठ ६ ।

कोहल—नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय मे भरत के शत-पुत्रो मे कोहल का मूर्धन्य स्थान है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय मे कोहल को स्वय भरत ने यह सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध मे शेष विचारो का वह कथन करेगे।[1] कोहल ने सम्भवत सगीत, नृत्य तथा अभिनय के सम्बन्ध मे शास्त्र की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने कोहल का प्राय उल्लेख किया है और कोहल को उद्धृत भी किया है। इसके अतिरिक्त कोहल के विचारो का उल्लेख 'भावप्रकाशन'[2] और 'नाट्य-दर्पण'[3] मे रूपको की सख्या एव अन्य प्रसगो मे किया गया है। 'रसार्णवसुधाकर'[4] मे कोहल का उल्लेख भरत तथा दत्तिल के साथ नाट्य-शास्त्रकार के रूप मे पाया जाता है। प्राय समकालीन 'रसरत्न प्रदीपिका' मे उनका निर्देश 'सगीत-शास्त्रकार' के रूप मे हुआ है 'सगीत-रत्नाकर'[5] मे कोहल का नामोल्लेख प्राचीन सगीताचार्यो मे हुआ है। 'कुट्टनीमत'[6] मे भरत के साथ ही कोहल का उल्लेख हुआ है। मतग के 'बृहद्देशी' मे कोहल के सगीत विषयक उद्धरण अवतरित है। 'बाल-रामायण'[7] मे कोहल नाट्याचार्य के रूप मे प्रस्तुत हो नाट्य की प्रस्तावना प्रस्तुत करते है। इन सभी विवरणो से स्पष्ट है कि कोहल भरत मुनि की परम्परा के सर्वाधिक प्रशसित आचार्य एव नाट्य-प्रयोक्ता रहे होगे।

ऊपर जिन आचार्यो की चर्चा की गयी है, उनमे पौर्वापर्य्य सम्बन्ध किसी सीमा तक भले ही स्थापित किया जा सके, परन्तु उनके काल-निर्णय का कोई वैज्ञानिक उपाय अभी तक उपलब्ध नही है।

हर्ष—हर्ष नाट्यशास्त्र के वार्तिककार थे। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव-भारती मे नाट्य-मडप,[8] नाट्य और नृत्त का पारस्परिक भेद[9] और पूर्वरग[10] आदि के सम्बन्ध मे वार्तिककार हर्ष के मतो का विवरण उनके पद्यमय वार्तिको के साथ प्रस्तुत किया है, यद्यपि इनमे बहुत से वार्तिक खण्डित और अस्पष्ट है। म म रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र भाग २ की भूमिका मे अगहारो पर खण्डित वार्तिक के अश के प्राप्त हो जाने की सूचना भी दी है।[11] डा राघवन का मत है

१ शेपमुत्तरतन्त्रेण कोहल कथयिष्यति। —**नाट्यशास्त्र**, ३६। ६५।

२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०४, २१०, २३६, २४५, २५१।

३ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २३ (गा ओ सी)।

४ **रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ १।५१।

५ **संगीतरत्नाकर**, पृष्ठ १२।

६ **कुट्टनीमत**, ८३।

७ **बाल-रामायण**, अक ३।१२।

८ वार्तिककृतु—अन्तर्नेपथ्यगृह स्तम्भौ द्वौ पीठकाश्च चत्वार।—**अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ ६७।

९ **अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ १७२।

१० श्रीहर्षस्तु रगशब्देन तौर्यत्रिक ब्रुवन—**अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ २०९।

११ A large fragment of Vartıka on Angaharas of about 2000 granthas recently acquıred wıll be publıshed as appendıx-N S G O S, Vol II, Intro, pp. XXIII

कि वार्तिककार हर्ष ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर भाष्य नही किया, छठे अध्याय के बाद इस वार्तिक का काई अश उपलब्ध नही है।[1] लेकिन डा राघवन की यह कल्पना स्वीकार्य नही है क्योकि एक तो समग्र वार्तिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है, दूसरे भावप्रकाशन[2] मे त्रोटक के प्रसग मे तथा नाटकलक्षण-रत्नकोश[3] मे श्री हर्ष का नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप मे विवरण मिलता है। डा शकरन के मत मे वार्तिककार हर्ष और कन्नौज के बौद्ध-सम्राट-हर्षवर्धन एक ही व्यक्ति थे।[4] 'राजतरगिणी' मे हर्ष विक्रमादित्य के साथ मातृगुप्त का नाम लिखा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत यह हर्ष विक्रमादित्य ही नाट्य-वार्तिककार हो। मातृगुप्त के समकालीन होने पर इसका समय भी चतुर्थ शती का अन्त तथा पाँचवी शती का प्रारम्भ माना जा सकता है।

मातृगुप्त—भारतीय साहित्य ग्रन्थो एव टीकाओ मे मातृगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसगो मे प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती मे मातृगुप्त का मत वीणा-वादन के पुष्पनामक भेद के व्याख्यान प्रसग मे उद्धृत किया हे। शारदातनय ने भावप्रकाशन मे नाटक की कथावस्तु मे उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए 'मातृगुप्त' का मत प्रस्तुत किया है।[5] सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश' मे अनेक प्रसगो मे मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है।[6] अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने अपनी 'अर्थद्योतनिका' टीका मे सूत्रधार, नाटक-लक्षण, पताकास्थानक, कचुकी आदि पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के प्रसग मे मातृगुप्त के मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये है।[7] जिनसे उनको स्वतन्त्र नाट्य-ग्रन्थकार के रूप मे महत्ता प्रतिपादित होती है। आचार्य कुन्तक ने मातृगुप्त के काव्य की सुकुमारता तथा विचित्रता का उल्लेख किया है।[8] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मातृगुप्त उच्चकोटि के कवि भी थे। सुन्दरमिश्र ने अपने नाट्य-प्रदीप मे मातृगुप्त का 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार के रूप मे उल्लेख किया है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मातृगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के मत की स्थान-स्थान पर गद्य मे व्याख्या की हो जिससे सुन्दरमिश्र ने इन्हे 'नाट्य-

---

१ *Journal of Oriental Research*, Madras, Vol 6, 205

२ तथैवत्रोटक भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। —**भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८।

३ श्री हर्ष—विक्रमनराधिप ··। **नाटक-लक्षण-रत्न-कोश**, पृष्ठ ३०६, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७२।

४ *'Some Aspect of Literary Criticism in Sanskrit'*, A Sankaran, p 13, Delhi, 1973

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३४।

६ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ७, १२, ३२, ४५, ४७, १७२।

७ **अ शा की टीका अर्थद्योतनिका**—तदुक्तमातृगुप्ताचार्यै—रसास्तु त्रिविध, पृष्ठ ६, उक्त च मातृगुप्ताचार्यै—प्राक्प्रतीचीभुवो—पृष्ठ ६, तल्लक्षणमुक्त मातृगुप्ताचार्यै—प्रख्यातवस्तुविषय—पृष्ठ ७ आदि। दिल्ली सस्करण, १९६९।

८ यथा—मातृगुप्त-मायुराज-मजीरप्रभृतीना सौकुमार्यवैचित्र्यसवलित—परिष्पन्दस्यन्दीनिकाव्यानि सभवति—**वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ १५४, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७।

शास्त्र का व्याख्याकार समझ लिया होगा। इन तथ्यो के आधार पर यह स्पष्टत कहा जा सकता है कि मातृगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था और उनका समय ५वी शती के आसपास माना जा सकता है।

सुबन्धु—शारदातनय ने भावप्रकाशन मे नाटको के स्वरूप के प्रसग मे सुबन्धु के मत को उद्धृत किया है।[1] अत कहा जा सकता है कि सुबन्धु भी एक नाट्याचार्य थे। ये सुबन्धु कौन है, इसका पता नही चलता। यदि ये सुबन्धु 'वासवदत्ता' के रचयिता होगे, तो इनका काल पाँचवी शताब्दी मे ठहरता है।

रुद्रट—रुद्रट साहित्यशात्र के इतिहास मे एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए है। नाम से प्रतीत होता है कि ये कश्मीरी थे। इनके मत का उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज और राजशेखर आदि अनेक आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे किया है। शारदातनय ने नायिका-भेद के प्रसग मे रुद्रट के मत का उल्लेख किया है।[2] इनका काल नवी शताब्दी माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ कहे जाते है—काव्यालकार तथा शृगारतिलक।

शकुक—श्री शकुक 'रसशास्त्र' के व्याख्यान मे अनुमितिवादी आचार्य माने जाते है। शारदातनय ने 'रस-निष्पत्ति' के प्रसग मे शकुक के मत का उल्लेख किया है।[3] अभिनवभारती मे अध्याय ३ से २६ अध्याय तक शकुक की टीका उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गई है। अत यह स्पष्ट है कि शकुक ने समग्र नाटयशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी। कल्हण की 'राजतरगिणी' मे कश्मीर के राजा अजितापीड के प्रसग मे एक श्लोक मिलता है, जिसमे कहा गया है कि इस राजा के लिए शकुक नामक विद्वान ने 'भुवनाम्युदय' नामक एक काव्य की रचना की थी। यदि ये शकुक यही है, तो इनका काल अजितापीड का ही काल अर्थात् नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

भट्टनायक—भट्टनायक 'रसशास्त्र' के व्याख्यान मे 'भुक्तिवादी' आचार्य माने जाते है। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त के उदभावक भट्टनायक ही हैं। शारदातनय ने 'रस-निष्पत्ति' के प्रसग मे इनके मत का उल्लेख किया है।[4] अभिनवभारती मे भट्टनायक का नाम लगभग छ स्थानो पर आया है। अत यह स्पष्ट है कि भट्टनायक ने नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी। कुछ परवर्त्ती आचार्यों ने भट्टनायक का उल्लेख करते हुए यह भी कहा है कि इन्होने 'हृदय-दर्पण' नामक एक स्वतत्र ग्रन्थ का निर्माण भी किया था। विद्वानो का अनुमान है कि ये आनन्दवर्धन के समकालीन तथा उन्ही के आश्रयदाता कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के ही यहाँ थे, जिसका काल नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

अभिनवगुप्त—आचार्य अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए है। इन्होने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक' पर 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक टीकाएँ लिखी है। इन्होने और भी

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पक्ति १५।

२ **वही**, पृष्ठ ६५।

३ **वही**, पृष्ठ ५०-५१।

४ **वही**, पृष्ठ ५२।

अनेक ग्रन्थ लिखे है । रस के सम्बन्ध मे लोल्लट, शकुक आदि के मतो का निराकरण करके इन्होने 'रस' पर अपने मत की स्थापना सप्रमाण एव युक्तियुक्त रूप मे की है । जो आज भी प्रमाण है । ये कश्मीर निवासी थे । इनका जीवन-काल उनके ग्रन्थो के आधार पर ९५० ई० से १०२५ ई० तक माना जाता है । शारदातनय ने भाव प्रकाशन मे नाट्यशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय अनेक प्रसगो मे इनके मत को उद्धृत किया है ।[1]

भोज—प्रसिद्ध विद्याव्यसनी धारानरेश भोज का समय ९९८ ई से १०६२ ई तक माना जाता है । इनका अलकार-शास्त्र-विषयक विशालग्रन्थ 'शृगार-प्रकाश' है, जिसमे छत्तीस प्रकाश है । 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भी इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है । व्याकरण एव सगीत पर इनकी रचनाओ की चर्चा मिलती है । शार्ङ्गदेव ने इनका स्मरण किया है ।[2] शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन मे अनेक प्रसगो मे इनके मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं ।[3]

मम्मट—आचार्य मम्मट अलकार-शास्त्र के क्षेत्र मे 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते है । इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' है, जिस पर अब तक लगभग ७५ टीकाएँ लिखी जा चुकी है । इनका समय ११वी शताब्दी का मध्य-भाग माना जाता है । शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन मे 'शब्द-शक्ति-विवेचन' मे इनके मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये है ।[4]

सोमेश्वर[5]

गान्धर्व-निर्णय[6]—यह सगीत-विषयक ग्रन्थ है । इसके लेखक कौन है, इसका पता नही चलता ।

इस प्रकार, भावप्रकाशन मे उद्धृत ज्ञाताज्ञात नाट्याचार्यो के उपर्युक्त विवरण से विशाल नाट्य-शास्त्रीय वाङ्मय का पता लगता है, साथ ही, भावप्रकाशन के क्षेत्र की व्यापकता ज्ञात होती है ।

भावप्रकाशन मे उद्धृत नाट्य-रचनाएँ

भावप्रकाशन मे नाट्य-रचनाओ से सकलित उदाहरणो का क्षेत्र अतिव्यापक है । इसमे भास का स्वप्नवासवदत्त, शूद्रक का मृच्छकटिक, कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र, हर्ष के रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द, भवभूति के महावीरचरित तथा मालतीमाधव, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, भट्टनारायण का वेणीसहार, मुरारि का अनर्घराघव, राजशेखर के कर्पूर-मजरी तथा बालरामायण तथा दिङ्नाग की कुन्दमाला, ये सभी प्रसिद्ध तथा उपलब्ध रचनाएँ है किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी नाट्य-रचनाओ से भी भावप्रकाशन मे उदाहरण सकलित किये गये हैं जो अज्ञात, अप्रसिद्ध तथा अनुपलब्ध है । जैसे—

(१) **अमृतमन्थनम्**—(समवकार) शारदातनय के द्वारा 'अमृत-मन्थन' का

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ८२, १६०, १९४, ३१३ ।
२ **सगीत-रत्नाकर**, अ स , प्रथम अध्याय पृष्ठ १३ ।
३ **वही**, पृष्ठ १२, १५२, १९४, २१३, २१६, २१९, २४२, २४५ ।
४ **वही**, पृष्ठ १६०-१७५ ।
५ देखिये इसी भूमिका में दिया हुआ शारदातनय का समय ।
६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६ ।

समवकार के रूप मे उल्लेख किया गया है ।[1] आचार्य भरत ने भी 'नाट्यशास्त्र' मे इसका समवकार के रूप मे उल्लेख किया है । इसके लिए ब्रह्मा ने स्वय कहा कि यह मेरे द्वारा पहले रचा हुआ समवकार है जो धर्म और अर्थ को सिद्ध करने वाला है ।[2] सम्प्रति यह अनुपलब्ध है ।

(२) **इन्दुलेखा**—(वीथी) शारदातनय ने इसे 'वीथी' के उदाहरण मे उद्‌धृत किया है ।[3] साथ ही इन्होने 'वीथी' के चतुर्थ अग 'त्रिगत' के निरूपण के प्रसग मे—

"त्रिगत त्विन्दुलेखाया वीथ्या राज्ञाऽभिधीयते ।
किन्नु कलहसनादो मधुरो मधुपायिना नु झकार ।
हृदयगतवेदनायास्तस्या नु सनूपुरश्चरण ।।"

यह एक श्लोक उद्‌धृत किया है ।[4] भोज के 'शृगार-प्रकाश'[5] तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण'[6] मे भी यही श्लोक इसी नाम से उद्‌धृत किया गया है । किन्तु 'शृगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' मे 'हृदयगतवेदनाया' के स्थान पर 'हृदयगत-देवताया' पाठ दिया गया है । इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है ।

(३) **उदात्तकुजरम्**—(उल्लोप्यक) भावप्रकाशन मे 'उदात्तकुजरम्' का उल्लोप्यक के रूप मे उल्लेख किया गया है ।[7] इसके रचयिता आदि का नाम ज्ञात नही है ।

(४) **कलिकेलि**—(प्रहसन) शारदातनय ने इसको 'प्रहसन' के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है ।[8] इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय मे अधिक बात कहना सम्भव नही है ।

(५) **कामदत्ता**—(डोम्बी) शारदातनय ने इसे 'डोम्बी' के उदाहरण मे उद्‌धृत किया है ।[9] लेकिन सागरनन्दी[10] तथा अमृतानन्दयोगिन्[11] ने इसे 'भणिका' के उदाहरण मे निर्दिष्ट किया है । सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्त है ।

(६) **कुलपत्यक**—शारदातनय ने 'प्रकरी' तथा 'विस्मय' नामक शिल्पक के अग के उदाहरण-प्रसग मे इस अक के उदाहरण दिये है।[12] यह 'उदात्त-राघव' नामक नाटक का द्वितीय अक है । दशरूपकावलोककार धनिक ने तृतीय-प्रकाश की २५वी

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५०, पक्ति ६ ।
२ **नाट्यशास्त्र**, चतुर्थाध्याय, २, ३ ।
३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५१, पक्ति ६ ।
४ **वही**, पृष्ठ २३१, पक्ति १३ ।
५ **शृंगार-प्रकाश**, द्वादश-प्रकाश, पृष्ठ ४६४, जोशियार द्वारा सम्पादित, १६६३ ।
६ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २५७, दिल्ली, १६६१ ।
७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६ पक्ति २० ।
८ **वही**, पृष्ठ २४७, पक्ति १४ ।
६ **वही**, पृष्ठ २५७, पक्ति २० ।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०० ।
११ **अलकार-सग्रह**, ६वाँ, १२८-१३४, अड्यार सस्करण, १६४६ ।
१२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०२ पक्ति १, पृष्ठ २७६, पक्ति १० ।

कारिका की व्याख्या मे—'यथा छद्‌मना वालिवधो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्त'[1] इस रूप मे उदात्त-राघव का उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बताया है। वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने भी 'यथा उदात्त-राघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीच-मृग-मारणाय प्रयातस्य लक्ष्मणस्य परित्राणार्थ सीतया कातरत्वेन राम प्रेरित इत्युपनिबद्धम्'[2] इस रूप मे 'उदात्त-राघव' का उल्लेख किया है। इन दोनो उल्लेखो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस 'उदात्त-राघव' के कवि ने रामचरित को उदात्त बनाने के लिए उसकी कथावस्तु मे नये परिवर्तन किये हैं। इसीलिए कुन्तक ने लिखा भी है कि—

"यथा-रामाभ्युदय–उदात्तराघव-वीरचरित–बालरामायण–कृत्यारावण–माया-पुष्पकप्रभृतय । तेहि प्रबन्धप्रवरास्तेनैवकथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसम्पदा प्रतिपद प्रतिवाक्य प्रतिप्रकरण च प्रकाशमानाभिनव-मगीप्राया रमणीयताभ्राजिष्णवो नवनवो-न्मीलितनायकगुणोत्कर्षास्तेषा हर्षातिरेकमनेकशोऽप्यास्वाद्यमाना समुत्पादयन्ति सहृदयानाम् ।"[3]

सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश' मे इस नाटक का अनेक बार उल्लेख किया है।[4] भोज के 'शृगार-प्रकाश'[5] तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[6] मे, हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन'[7] की स्वोपज्ञवृत्ति मे, रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण'[8] मे, अमृता नन्दयोगिन् के 'अलकार-सग्रह'[9] मे तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[10] मे भी इसके उद्धरण सकलित किये गये है। इससे यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है लेकिन सम्प्रति यह अनुपलब्ध है। राजखेशर के अनुसार मायुराज कलचुरिवश के कवि थे। ऐसा जल्हण-सग्रहीत 'सूक्ति-मुक्तावली' के निम्न लेख से प्रतीत होता है

"राजशेखर—

मायुराज समो जातो नान्य कलचुरि कवि ।
उदन्वत समुत्तस्थु कति वा तुहिनाशव ॥

—**जल्हण-संग्रहीत-सूक्तिमुक्तावली**, ४५।

इस प्रकार राजशेखर के इस उल्लेख से 'मायुराज' का समय ८वी शती माना जा सकता है। मायुराज ने 'तापसवत्सराज' नामक नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक सम्प्रति उपलब्ध होता है।

(७) **कुसुमशेखर**—(ईहामृग) शारदातनय ने इसे 'ईहामृग' के उदाहरण मे

---

१ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १६४, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२।
२ **वक्रोक्तिजीवित**, पृष्ठ ८९।
३ **वही**, पृष्ठ ४४८।
४ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ९,२१,३०,३३,९३,९४,१७८,२९२ आदि।
५ **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ५८९-५९०।
६ **सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ १२६, गोहाटी, १९६९।
७ **काव्यानुशासन**, पृष्ठ १८२, काव्यमाला सस्करण न० ७०, १९०१।
८ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ, ११९, १९८, ३६०।
९ **अलकार-संग्रह**, ९·३४।
१० **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ २८१, २९१-२९२, ३२७, निर्णयसागर, बम्बई, १९२२।

उद्धृत किया है।[1] सागरनन्दी ने इसका नाम 'कुन्दशेखरविजय' लिखा है[2]—हो सकता है सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश की भविष्य मे प्राप्त होने वाली किसी प्रति मे 'कुसुमशेखरविजय' नाम प्राप्त हो जाये। इसके स्वरूप तथा रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी अधिक ज्ञात नही है।

(८) **कृत्यारावणम्**—(नाटक) शारदातनय के 'भावप्रकाशन' मे 'कृत्यारावणम्' का 'पूर्ण-नाटक' के रूप मे उल्लेख मिलता है।[3] इसके अतिरिक्त 'नाट्यदर्पण'[4] मे चौदह स्थान पर, 'अभिनवभारती'[5] मे ८ स्थान पर, 'शृंगार-प्रकाश'[6] में तीन स्थान पर, 'काव्यानुशासन'[7] मे एक स्थान पर, 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश'[8] मे एक स्थान पर और 'साहित्यदर्पण'[9] मे भी एक स्थान पर इस नाटक का उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित'[10] मे इसकी समीक्षा मिलती है। लेकिन आश्चर्य है, इतना प्रसिद्ध यह नाटक आज उपलब्ध नही हो रहा है।

(९) **केलिरैवतम्**—(हल्लीसक) शारदातनय ने इसे 'हलसीसक' का उदाहरण बतलाया है।[11] सागरनन्दी[12], अमृतानन्दयोगिन्[13] तथा विश्वाथ[14] ने भी इसे 'हल्लीसक' का उदाहरण माना है। सम्प्रति यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

(१०) **गगातरगिका**—(पारिजातक) शारदातनय ने इसे 'पारिजातक' नामक उपरूपक के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[15] इसके विषय मे अन्य बाते ज्ञात नही है।

(११) **गगाभगीरथम्**—(उत्सृष्टिकाक) भावप्रकाशन मे इस ग्रन्थ का रूपको के अन्तर्गत 'उत्सृष्टिकाक' प्रभेद मे उल्लेख किया गया है।[16] इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय मे अधिक ज्ञात नही है।

---

१ **भाव-प्रकाशश**, पृष्ठ २५३ पक्ति २१।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २७०।
३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पक्ति १९।
४ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ १४२, १४३, १४७, १५०, १५४, १६७, १६८, १६९, १७३, १७४, १९३, १९५, २४७, २६७।
५ **अभिनवभारती**, अ १८, पृष्ठ ४१०, अ ५०, पृष्ठ १०४-१०५, अ २२, पृष्ठ १७६, खण्ड २, पृष्ठ ४४४, ५२३, ५२४, खण्ड ३ पृष्ठ १३, ४०।
६ **शृ गार-प्रकाश**, द्वादशप्रकाश, पृष्ठ ४९३, ५०१, ५०३।
७ **काव्यानुशासन**, पृष्ठ २७९।
८ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९४।
९ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३२९।
१० **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४७, ४४८।
११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६०, पक्ति ४।
१२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९९।
१३ **अलकार-संग्रह**, ९ १४६, १४८।
१४ **साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ ३७०।
१५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६८, पक्ति २४।
१६ **वही**, पृष्ठ २५२, पक्ति १५।

(१२) **गौडविजय**—(काव्य)—शारदातनय ने इस ग्रन्थ का उपरूपकों के अन्तर्गत काव्य 'प्रभेद' मे उल्लेख किया है।[१] इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है।

(१३) **तरगदत्ता**—(प्रकरण) भावप्रकाशन मे 'प्रकरण' के निरूपण प्रसग मे 'तरग-दत्ता' प्रकरण का उल्लेख किया गया है।[२] धनिक के 'दशरूपकावलोक'[३] रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण'[४] और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[५] मे भी इसका उल्लेख पाया जाता है, लेकिन इसका कर्त्ता कौन है, इस विषय मे कोई पता नही चलता है और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(१४) **तारकोद्धरणम्**—(डिम) शारदातनय के द्वारा उद्धृत इस रूपक का केवल नाम मात्र शेष है।[६] 'डिम' के प्रकार होने से इसका प्राचीन काल मे अस्तित्व रहा होगा ऐसी प्रतीति दृढ होती है।

(१५) **त्रिपुरदाह**—(डिम) शारदातनय ने इसे 'डिम' के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[७] अमृतानन्दयोगिन्[८] ने भी इसे 'डिम' बतलाया है। इसके लिए शारदातनय ने कहा है कि 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक को ब्रह्मा ने भरतो को पढाया था और इसी रूपक का अभिनय करने के लिए आदेश दिया था, तत्पश्चात् भरतो ने ब्रह्मा के समक्ष इस रूपक का अभिनय प्रस्तुत किया था।[९] इससे प्रतीत होता है कि यह ब्रह्मा की रचना है। अस्तु, इसके विषय मे और अधिक ज्ञात नही है।

(१६) **त्रिपुरमर्दनम्**—(प्रेक्षणक) शारदातनय ने 'त्रिपुरमर्दनम्' को प्रेक्षणक के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है।[१०] इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय मे अधिक बात कहना सम्भव नही है।

(१७) **देवीपरिणय**—(नाटक) भावप्रकाशन मे इस कृति को 'नाटक का उदाहरण बतलाया है।[११] अमृतानन्दयोगिन् ने भी इसे 'नाटक' कहा है।[१२] इसमे नौ अक है, यह अवश्य ज्ञात है, लेकिन इसका निर्माण किसने और कब किया इसका परिचय प्राप्त होना सम्भव नही है। ग्रन्थ के अलभ्य होने से उसकी कथावस्तु का भी पता नही चल सकता है।

(१८) **देवीमहादेवम्**—(उल्लोप्यक) शारदातनय ने इसे 'उल्लोप्यक' के उदा-

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पक्ति ४।
२ **वही**, पृष्ठ २४३, पक्ति १५।
३ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १७०।
४ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २०९, २१२।
५ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३५४।
६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४८, पक्ति ५।
७ **वही**, पृष्ठ २४८, पक्ति ३।
८ **अलंकार-सग्रह**, खण्ड ९, पृष्ठ ७३-७७।
९ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६।
१० **वही**, पृष्ठ २६३, पक्ति २१।
११ **वही**, पृष्ठ २३७, पक्ति २०।
१२ **अलकार-संग्रह**, ९ ५०।

हरण मे उद्धृत किया है।[1] नाटक-लक्षण-रत्नकोश[2] तथा साहित्यदर्पण[3] मे भी इसे उल्लोप्यक का उदाहरण बताया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कृति भोज से लेकर विश्वनाथ के समय तक प्राप्य रही होगी।

(१६) **नलविक्रमम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' मे इसे 'नाटक' के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है।[4] इसमे आठ अक है। यह अवश्य ज्ञात है, अन्य कुछ ज्ञात नही है।

(२०) **नृसिंहविजय**—(प्रेक्षणक) यह 'प्रेक्षणक' का उदाहरण है।[5] रचना सम्प्रति अनुपलब्ध है और रचयिता का नाम अज्ञात।

(२१) **पद्मावतीपरिणय**—(प्रकरण) शारदातनय ने 'प्रकरण' के पाँच विभाग करते हुए इस रचना को उदाहरण रूप मे सकेतित किया है।[6] 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश[7] मे भी इसका 'प्रकरण' के रूप मे उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता आदि के विषय मे किसी प्रकार की जानकारी नही है।

(२२) **पाण्डवानन्दम्**—भावप्रकाशन मे 'वीथी' के 'उद्घात्यक' नामक प्रथम अग के उदाहरण मे पाण्डवानन्द का 'का भूषा बलिना क्षमा' इत्यादि एक श्लोक उद्धृत किया गया है।[8] 'वीथी' के प्रसग मे निर्दिष्ट होने से यह 'वीथी' है ऐसा अनुमान होता है। 'दशरूपकावलोक' मे 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप मे थोडे से पाठ-भेद के साथ यही श्लोक उद्धत किया गया है।[9] 'अभिनवभारती' मे भी यह श्लोक उद्धृत हुआ है।[10] नाट्यदर्पण मे भी 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप मे यह श्लोक उद्धृत किया गया है।[11] किन्तु इसका कर्त्ता कौन है। इस विषय मे कोई पता नही चलता है और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(२३) **पुंसवनांक**—भावप्रकाशन मे 'शत्रु-कृत-कपट' के उदाहरण प्रसग मे इस अक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[12] यह 'छलितराम' नामक नाटक का अक है। कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित' मे भी 'छलितराम' का उल्लेख पाया जाता है।[13] धनिक के 'दशरूपकावलोक'[14] मे तीन जगह पर, भोज के 'श्रृगार-प्रकाश'[15] तथा

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६, पक्ति २०।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०५-३०६।
३ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६।
४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २२३, २३७।
५ **वही**, पृष्ठ २६३ पक्ति १७।
६ **वही**, पृष्ठ २४३, पक्ति १२।
७ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६३, २६४, २७३।
८ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३०, पक्ति १०-१४।
६ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १५४।
१० **अभिनवभारती**, अ १८, पृष्ठ ४५४।
११ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २६७।
१२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५०, पक्ति २०।
१३ **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४७।
१४ **दशरूपकावलोक**, पृ० १४६, १५२, १५४।
१५ **श्रृ गार-प्रकाश**, ११वाँ प्रकाश।

सरस्वती-कण्ठाभरण[1] मे, सागरनन्दी के 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश' मे[2] रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण'[3] मे पाँच जगह पर तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[4] मे भी इसका उल्लेख पाया जाता है। लेकिन इसका कर्त्ता कौन था। इसका कुछ भी पता नही चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

(२४) **मदलेखा**—(तोटक) शारदातनय ने इसे 'तोटक' के उदाहरण प्रसग मे उद्धृत किया है।[5] अमृतानन्दयोगिन् ने भी इसका 'तोटक' के रूप मे उल्लेख किया है।[6] इसमे आठ अक है, इतना अवश्य ज्ञात है, इसके विषय मे और अधिक विवरण ज्ञात नही है।

(२५) **माणिक्यवल्लिका**—(कल्पवल्ली) शारदातनय ने इस रचना की 'कल्पवल्ली' के निदर्शन मे उद्धृत किया है।[7] यह रचना अप्राप्त होने के कारण इसके रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

(२६) **मारीचवंचितम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'प्रवेशक' तथा 'नाटक' के उदाहरण प्रसग मे इस नाटक का उदाहरण दिया है।[8] अमृतानन्दयोगिन् ने इसे 'नाटक' रूप मे उद्धृत किया है।[9] सागरनन्दी ने निर्वहण-सन्धि के उदाहरण प्रसग मे इस नाटक का उदाहरण दिया है।[10] यह पाँच अक का नाटक है। इसके रचयिता आदि के विषय मे किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त नही है।

(२७) **मेनकानहुषम्**—(तोटक) शारदातनय[11] तथा अमृतानन्दयोगिन्[12] इसे नौ अक वाला 'तोटक' मानते है। सागरनन्दी[13] ने इसे 'तोटक' का उदाहरण बतलाया है। लेकिन इस तोटक का कर्त्ता कौन है इसके विषय मे कोई पता नही चलता है और न यह तोटक अब तक प्रकाशित ही हुआ है।

(२८) **रामानन्दम्**—(श्रीगदित) शारदातनय ने इस ग्रन्थ का उपरूपको के अन्तर्गत 'श्रीगदित' प्रभेद मे उल्लेख किया है।[14] पुन इन्होने उत्पाद्य-कथावस्तु के उदाहरण प्रसग मे इस नाटक का उदाहरण दिया है।[15] सागरनन्दी ने 'नाटक-लक्षण-

---

१ **सरस्वती-कण्ठाभरण**, पृष्ठ ३७७, ६४५।

२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश** पृष्ठ ७०, ६७, १७६, २८७, २६७।

३ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ १६, ६, १७६, २६८, २६६, २८२।

४ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६१।

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पक्ति १६२।

६ **अलंकार-संग्रह**, ६ १२१।

७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६८, पक्ति १२।

८ **वही**, पृष्ठ २१७, २२३।

६ **अलंकार-सग्रह**, ६-४८।

१० **नाटकलक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ८६।

११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पक्ति ११।

१२ **अलंकार-सग्रह**, ६-१२१।

१३ **नाटकलक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६२।

१४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५८, पक्ति १७।

१५ **वही**, पृष्ठ २३५, पक्ति २।

रत्नकोश' मे इसे दो स्थानो पर उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख सिंह-भूपाल[2] तथा विश्वनाथ[3] ने भी किया है। इसके विषय मे अन्य विवरण अनुपलब्ध है।

(२९) **(शक्ति) रामानुजम्**—(उत्सृष्टिकाक) शारदातनय ने इसे 'उत्सृष्टि-काक' का उदाहरण बतलाया है।[4] पर आज तक इस ग्रन्थ की प्राप्ति नही हुई, न ही इसके रचयिता के बारे मे कुछ ज्ञात हुआ।

(३०) **रामाभ्युदयम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'निर्वहण-सन्धि', असत्प्रलाप' नामक वीथ्यंग तथा नाटक के उदाहरण प्रसग मे इस नाटक को उद्धृत किया है।[5] ध्वन्यालोक,[6] वक्रोक्तिजीवित,[7] ध्वन्यालोकलोचन,[8] शृंगार-प्रकाश,[9] नाटक-लक्षण-रत्न-कोश[10], नाट्यदर्पण,[11] साहित्यदर्पण[12] आदि मे भी इस नाटक का उल्लेख पाया जाता है। ध्वन्यालोक-लोचन के उल्लेख से ही यह ज्ञात होता है कि इस नाटक के रचयिता 'यशोवर्मा' है।[13] क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक' [14] तथा वल्लभदेव सगृहीत 'सुभाषिता-वली'[15] मे रामाभ्युदय के उद्धरण देकर इनके रचयिता का नाम यशोवर्मा बतलाया गया है। यशोवर्मा नाम के एक राजा कन्नौज मे हुए है। उनका कश्मीरराज ललिता-दित्य से युद्ध हुआ था, और उस युद्ध मे यशोवर्मा को पराजय का दुख देखना पडा। उनके इस युद्ध का वर्णन 'राज-तरगिणी' मे किया गया है—

'कविवाक्पतिराजभवभूत्यादिसेवित ।
जितो ययौ यशोवर्मा तदगुणस्तुतिवन्दिताम् ॥[16]

इस युद्ध मे 'यशोवर्मा' को पराजित करने के बाद कश्मीर नरेश बडे सम्मान के साथ यशोवर्मा को अपने राज्य मे बुला ले गये थे। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'तत्रालोक' मे इस घटना का वर्णन किया है।[17] इन यशोवर्मा के यहाँ विद्वानो का

---

१ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३९, ४०४।
२ **रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ १४९, १५४, १५९, **सागरिका**, खण्ड ८, १९६९।
३ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ २९३।
४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५२, पक्ति ७।
५ **वही**, पृष्ठ २१२, २३२, २३७।
६ **ध्वन्यालोक**, पृष्ठ ३३३, चौखम्बा प्र वाराणसी, १९६५।
७ **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४८।
८ **ध्वन्यालोक-लोचन**, पृष्ठ ३६७।
९ **शृंगार-प्रकाश**, द्वादशप्रकाश।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९६, २९७।
११ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ ७८, ८३, ९०, ९२, १०९, ११३, १८२।
१२ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३३०।
१३ **ध्वन्यालोकलोचन**, पृष्ठ ३६७।
१४ **सुवृत्ततिलक**, २ ३९, ३ २१।
१५ **सुभाषितावली**, पृष्ठ ६०४।
१६ **राजतरगिणी**, त० ४, १४४।
१७ **तत्रालोक**, अ २७।

समूह था। कवि वाक्पतिराज भवभूति आदि इन्ही की राजसभा मे रहते थे। सम्भव है इन्ही यशोवर्मा ने इस 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की है। इस नाटक मे ६ अङ्क है। सम्प्रति यह अनुपलब्ध है।

(३१) **वकुलवीथी**—(वीथी) भावप्रकाशन[1] के अतिरिक्त नाटक-लक्षण-रत्न-कोश[2] मे इसको 'वीथी' के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यह रचना अप्राप्य होने के कारण इसके रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

(३२) **वालि-वध**—(प्रेक्षणक) शारदातनय ने इसे 'प्रेक्षणक' कहा है।[3] सागर-नन्दी[4], अमृतानन्दयोगिन्[5] तथा विश्वनाथ[6] ने भी इस कृति को 'प्रेक्षणक' का उदाहरण बतलाया है। इसके अतिरिक्त इसके विषय मे अधिक ज्ञात नही है।

(३३) **वीणावती**—(भाणिका) भावप्रकाशन मे इस कृति को 'भाणिका' के उदाहरण रूप मे उद्धृत किया गया है।[7] सागरनन्दी ने भी इसे 'भाणिका' बतलाया है।[8] इसके रचयिता तथा ग्रन्थ के विषय मे अन्य बाते अज्ञात है।

(३४) **वृत्रोद्धरणम्**—(डिम) शारदातनय[9] ने तथा सागरनन्दी[10] ने इसका निदर्शन 'डिम' के उदाहरण-रूप मे किया है। लेकिन इसके कर्त्ता कौन थे इसका कुछ भी पता नही चलता है और न यह ग्रथ ही उपलब्ध होता है।

(३५) **शृंगारतिलक**—(प्रस्थान) शारदातनय ने इसे 'प्रस्थान' के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[11] नाटक-लक्षण-रत्नकोश[12], अलकार-सग्रह[13] तथा साहित्य-दर्पण[14] मे भी इसे 'प्रस्थान' का उदाहरण बताया गया है। इसका रचयिता कौन है, यह अज्ञात है।

(३६) **सागरकौमुदी**—(प्रहसन) शारदातनय के द्वारा 'सागर-कौमुदी' का 'प्रहसन' के रूप मे उल्लेख किया गया है।[15] सम्पत्ति यह रचना भी नही मिलती।

(३७) **सुग्रीवकेलनम्**—(काव्य) शारदातनय ने इस ग्रथ का उपरूपको के

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५१, पक्ति ६।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २७७।
३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पक्ति १७।
४ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०३।
५ **अलकार-संग्रह**, ६ १२५।
६ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६७।
७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२, पक्ति १७।
८ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०२।
९ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४८ पंक्ति ४।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६६।
११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२, पक्ति २२।
१२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६८।
१३ **अलंकार-सग्रह**, ६ १४३।
१४ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६।
१५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४७, पक्ति १३।

अन्तर्गत 'काव्य' प्रभेद मे उल्लेख किया है।[1] इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय मे अधिक ज्ञात नही है।

(३८) **सैरन्ध्रिका**—(प्रहसन) शारदातनय के द्वारा 'सैरन्ध्रिका' का 'प्रहसन' के रूप मे उल्लेख किया गया है।[2] सम्पत्ति यह कृति भी अनुपलब्ध है।

(३९) **स्तम्भितरम्भकम्**—(तोटक) शारदातनय ने इसे 'तोटक' के उदाहरण रूप मे उद्धृत किया है।[3] अलकार-सग्रह[4] तथा 'साहित्य-दर्पण'[5] मे भी इसका 'तोटक' के उदाहरण रूप मे उल्लेख किया गया है। इसमे सात अक है। यह अवश्य ज्ञात है, अन्य विवरण अज्ञात है।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पक्ति ८।

२ **वही**, पृष्ठ २४७, पक्ति १३।

३ **वही**, पृष्ठ २३८, पक्ति १२।

४ **अलंकार-संग्रह**,—९·१२१।

५ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६५।

शारदातनयविरचितम्

भावप्रकाशनम्

[मूल और हिन्दी-अनुवाद]

श्रीः

शारदातनयविरचितम्

भावप्रकाशनम्

प्रथमोऽधिकारः

१ प्रश्च्योतन्मदमन्थरभ्रमरिकाझङ्कारगीतं मुहुः
हेलाबृंहितवादनव्यतिकरं भावोल्लसत्प्रक्रियम् ।
नृत्यन्नस्तु सुखाय वः करिमुखः पुण्योपहारैश्चिरा—
दानन्दी नटभावितैरिव यथाभावैः स सामाजिकः ॥

२ वन्दे वृन्दावनचरं गोविन्दं गोपिकापतिम् ।
गाः पालयन्तं गायन्तं वेणुना षड्जवादिना ॥

३ अम्बिकारसिकापाङ्गमाविस्स्मितमुखाम्बुजम् ।
भजे भुजङ्गललितं महो वैयाघ्रचर्मिणम् ॥

४ नमामि मानसोल्लासभावनाफलदायिनीम् ।
शारदां शारदाम्भोजविशदामभयप्रदाम् ॥

---

१ चूते हुए मद से अलसायी हुई भ्रमरियो के झकार-गीत[1] तथा बार-बार हेला[2]-भाव से पूर्ण गजनाद-वादन के व्याज से, अनेक प्रकार के भावो से उल्लसित क्रिया से युक्त नृत्यपरायण तथा नट[3] के द्वारा भावित[4] यथायोग्य भावो[5] से आनन्दित सामाजिक[6] की भॉति पवित्र उपहारो से चिरकाल तक आनन्दित गणेश आप लोगो को सुख दे ।

२ गौओ का पालन करते हुए, षड्ज[7]-स्वर से वशी बजाते हुए, वृन्दावन मे विचरण करने वाले, गोपिकापति (राधापति) गोविन्द[8] की मै वन्दना करता हूॅ ।

३ पार्वती के रसिक-अपाग वाले, प्रफुल्लित मुख-कमल वाले, व्याघ्र-चर्म धारण किये हुए, सर्पो से सुशोभित पूज्य (शकर)[9] को मै भजता हूँ ।

४ मन मे उल्लास की भावना के अनुकूल फल देने वाली, शरद ऋतु के कमल की भॉति स्वच्छ, अभय प्रदान करने वाली शारदा[10] को मै नमस्कार करता हूँ ।

५ आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान् ।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः ॥
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः ।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः ॥
६ त्रिंशता क्रतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ।
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम् ॥
तस्य श्रीकृष्णनामासीत्पुत्रः कृष्ण इवापरः ।
वेदानधीत्य निखिलान् शास्त्राण्यप्यखिलानि च ॥
स पुत्रार्थी महादेवं वाराणस्यामतोषयत् ।
तस्यासीद्भट्टगोपालनामा सूनुः सुलोचनः ॥
७ अष्टादशसु विद्यासु बहुशः स कृतश्रमः ।
उपास्य शारदां देवीं पुत्रं लेभे गुणोत्तरम् ॥
तमाह्वयत्पिता प्रीतः शारदातनयाख्यया ।
८ अधीतवेदवेदाङ्गो वर्धमानः पितुर्गृहे ॥
कदाचिच्छारदां देवीमुपासितुमुपाययौ ।
उपास्य सवनं तस्याश्चैत्रयात्रामहोत्सवे ॥
आसीनां नर्तनागारे तां देवीं प्रेक्षकैः सह ।
प्रणम्य तैरनुज्ञातस्तस्याः पार्श्वे उपाविशत् ॥

---

५ आर्यावर्त देश मे 'मेरुत्तर' नाम का एक महान् जनपद था, उसके दक्षिण भाग मे 'माठरपूज्य' नाम का एक ग्राम था, जिसमे एक हजार ब्राह्मण निवास करते थे। वही काश्यपवशोत्पन्न 'लक्ष्मण' नाम का ब्राह्मण निवास करता था।

६ उस वेदविद् ब्राह्मण ने तीस यज्ञो को सम्पन्न कर भगवान विष्णु को प्रसन्न किया था और वेदो का भाष्य तैयार किया था, जिससे उनका नाम 'वेदभूषण' पडा था। उसके पुत्र का नाम श्रीकृष्ण था जो मानो दूसरा कृष्ण ही हो ऐसा प्रतीत होता था। उसने सम्पूर्ण वेदो तथा सभी शास्त्रो को पढकर, तदनन्तर पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी मे 'महादेव' (शकर) को प्रसन्न किया था। फलत उसका सुन्दर नेत्रो वाला 'भट्टगोपाल' नाम का पुत्र था।

७ उस भट्टगोपाल ने अठारह विद्याओ मे खूब श्रम किया था तथा शारदा देवी की उपासना कर गुणोत्तर पुत्र को प्राप्त किया था। उस पुत्र का नाम पिता ने स्नेह से 'शारदातनय' रखा था।

८ शारदातनय ने वेद-वेदाग का अध्ययन किया। पिता के घर मे बढते हुए कदाचित् वह शारदा देवी की उपासना मे लग गया और शारदा के चैत्र-यात्रा-महोत्सव पर यज्ञ कर, प्रेक्षको के साथ नृत्यशाला मे बैठी हुई उस

त्रिंशत्प्रकारभिन्नानि रूपकाणि पृथक्पृथक् ।
नटैः प्रयुज्यमानानि भावाभिनयकोविदैः ।।
दृष्ट्वा स देवीं वरदां नाट्यवेदमयाचत ।
नाट्यशालापतिः कश्चिद्दिवाकर इति द्विजः ।।
तयैव नाट्यवेदस्य नियुक्तोऽध्यापने तदा ।।
९ प्रीतस्सोऽपि सदाशिवस्य शिवयोगौर्या मतं वासुके-
र्वाग्देव्या अपि नारदस्य च मुनेः कुम्भोद्भवव्यासयोः ।
शिष्याणां भरतस्य यानि च मतान्यध्याप्य तान्यञ्जना—
सूनोरप्यथ नाट्यवेदमखिलं सम्यक्तमध्यापयत् ।।
शारदातनयो देव्यास्तान्यधीत्य च सन्निधौ ।
आदाय सारमेतेभ्यो हितार्थं नाट्यवेदिनाम् ।।
भावप्रकाशनं नाम प्रबन्धमकरोत्तदा ।
१० एतस्मिन्प्रथमं भावस्तस्य भेदास्ततः परम् ।।
तदवान्तरभेदाश्च तत्तत्कार्येषु कौशलम् ।।
तत्साध्योऽर्थस्तथा तेषामुपकार्योपकारिता ।।
रसोपादानता तेषां चरस्थिरविभागतः ।
तद्दर्शनानि तद्दृष्टिः दृष्टिधर्माः पृथग्विधाः ।।

(शारदा) देवी को प्रणाम कर, उन प्रेक्षको के कहने पर वह (शारदातनय) उस देवी के पास बैठ गया । भावाभिनयविज्ञ नटो के द्वारा पृथक्-पृथक् तीस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपको का प्रयोग होते हुए देखकर उस (शारदातनय) ने देवी सरस्वती से नाट्यवेद[११] की ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की । तब सरस्वती ने ही किसी नाट्यशाला[१२] के स्वामी दिवाकर नाम के द्विज को नाट्य-वेद के अध्यापन के लिए नियुक्त कर दिया ।

९ उस दिवाकर ने भी प्रेमपूर्वक सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती) मुनि नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत के शिष्यो (कोहलादि) व आञ्जनेय के जो-जो मत थे उन-उन सभी मतो को पढाकर सम्पूर्ण नाट्यवेद उस (शारदातनय) को भलीभाँति पढाया और तब शारदातनय ने देवी सरस्वती की सन्निधि मे उन मतो को पढकर, उनमे सार को ग्रहण कर नाट्यविदो के हित के लिए, 'भाव-प्रकाशन' नाम का ग्रन्थ तैयार किया ।

(ग्रन्थ का विषय-विवेचन)

१० इस ग्रन्थ मे सर्वप्रथम 'भाव' का विवेचन किया गया है, तदनन्तर इसके भेद, अवान्तर भेद, उन-उन के कार्यो मे कुशलता, उनके साध्य-अर्थ तथा उनकी उपकार्योपकारिता, चर, स्थिर विभाग से उनकी रसोपादानता, उनके दर्शन, उनकी

परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात्क्वचित्क्वचित् ।
इतिभागलया भावा द्वादशैते ततो रसः ॥
तद्भेदा भेदभेदाश्च तेषां जन्म च नाम च ।
जनकत्वं च जन्यत्वं तेषामन्योन्यतः पृथक् ॥
प्रधानेतरभावश्च तेषामन्योन्यसङ्करः ।
तन्मेलनं च तत्सिद्धिर्विशेषः सङ्करोद्भवः ॥
तद्व्यङ्ग्यता वाच्यता च तन्मैत्री तद्विरोधिता ।
तत्कालनियमस्तत्तद्वर्णास्तद्दैवतानि च ॥
स्थायिसञ्चारिभेदाश्च तेषां तद्दृष्टयोऽपि च ।
इति विंशतिरुद्दिष्टाः प्रकारा रसगामिनः ॥
ततः शब्दार्थसम्बन्धस्तत्प्रकाराः पृथग्विधाः ।
तद्वृत्तयो रूपकाणि तद्भेदास्त्रिंशदात्मकाः ॥
११ एतैरर्थैः प्रबन्धोऽयं यथावत्कथ्यतेऽधुना ।
कथ्यन्ते येऽन्तरा भावास्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ॥
तत्र तत्रैव विज्ञेयास्ते सूक्ष्मेक्षिकया बुधैः ।
उद्दिष्टानामिहार्थानां लक्षणप्रतिपादनम् ॥
यथाक्रमं भवेत्क्वापि यथौचित्यं क्वचिद्भवेत् ।

दृष्टि, पृथक्-पृथक् दृष्टिधर्म, कही-कही साहचर्य के कारण परस्पर की सामर्थ्य, इस विभाजन से ये १२ (बारह) भाव आदि कहे गये है। तदनन्तर रस, उनके भेद, भेदोपभेद, उनका जन्म और नाम, एक-दूसरे से पृथक् उनका जनकत्व और जन्यत्व भाव, प्रधान और गौण भाव, उनका अन्योन्य सकर-भाव, उनका मिश्रण, उनकी विशेष सिद्धि, सकरभाव का उद्भव, उनकी व्यग्यता और वाच्यता, उनकी मैत्री और विरोधिता, उनका काल, नियम उन-उन के वर्ण और उनके देवता, उनके स्थायीभाव तथा सचारीभाव और उनकी दृष्टियाँ आदि रसानुगामियो ने बीस प्रकार से निर्दिष्ट की है। तत्पश्चात् शब्दार्थ-सम्बन्ध, उनके भिन्न-भिन्न प्रकार, उनकी वृत्तियाँ, रूपक, उनके तीस भेद आदि कहे गये हैं।

११ इन विषयो से सम्बन्धित यह ग्रन्थ अब यथावत् कहा जा रहा है। उन-उन विषयो के अनुकूल जो भाव यहाँ-वहाँ कहे जा रहे है, वे भाव विद्वानो को वही-वही सूक्ष्म दृष्टि से जान लेने चाहिए। इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट-विषयो (अर्थो) के लक्षण कही यथाक्रम और कही यथौचित्य से प्रतिपादित किये गये है।

१२ भावः स्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा ॥

१३ पदार्थो वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा ।
विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः ॥
सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा ।

१४ अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः ॥
विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः ।
अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ॥
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।
अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ॥
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।
सत्त्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयास्वीयविभागतः ॥
त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते ।

(भाव का सामान्य लक्षण)

१२ अनुकार्य राम आदि के सुख-दुख आदि भावो के द्वारा सामाजिक के हृदयस्थ भावो के भावन[13] को 'भाव' कहते है। पुन भाव की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गयी है—'भूति भावयतीति वा' अर्थात् 'भवनमिति भूति (भू+क्तिन्)', 'भावयतीति वा'—तात्पर्य यह हुआ कि जो होता है वह भाव है अथवा जो भावित करता है वह भाव है।[14] पहले मे व्युत्पत्ति होती है भू धातु से 'होने' के अर्थ मे—आशय होता है स्थिति—सत्ता, दूसरे मे व्युत्पत्ति होती है भू धातु से ही 'करने' के अर्थ मे और आशय होता है व्याप्त करने वाला।[15]

(भाव के भेद)

१३ पदार्थ, क्रिया, सत्ता, विकार और मानस क्रमश विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारभाव तथा सात्त्विक-भाव कहे जाते है और ये पाँच भाव के भेद कहलाते है।

(विभावादि भावो का सामान्य लक्षण)

१४ जो पदार्थो का ज्ञान कराते है उन्हे 'विभाव'[16] कहते है। विभावित अर्थो की अनुभूति 'अनुभाव'[17] कही जाती है। जो चित्त मे चिरकाल तक अवस्थित रहते हैं, जो रसानुबन्धो (विभावानुभावसचारी-भावो) के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते है अर्थात् अभिव्यक्त हो उठते है, तथा जो रस-रूप है वे विद्वानो द्वारा 'स्थायी-भाव'[18] कहे जाते है। जिनका स्वभावत बार-बार अस्थायी जन्म होता है, जो स्थायीभाव के साथ रस-निष्पत्ति मे विचरण करते है, वे 'व्यभिचारी-भाव'[19] कहे जाते है। स्वीय और अस्वीय भेद से जो सत्त्व गुण से उत्पन्न विकार है, वे ही विद्वानो द्वारा 'सात्त्विक-भाव'[20] कहे जाते है।

१५ ललिता ललिताभासाःस्थिराश्चित्राः खरा इति ॥
रूक्षाश्च निन्दिताश्चैव विकृताश्चेति च क्रमात् ।
शृङ्गारादिरसानां ते विभावा नामभिः कृताः ॥

१६ ललिता ललिताभासा भावाः शृङ्गारहास्ययोः ।
स्थिराश्चित्रा विभावा ये ते वीराद्भुतयोः क्रमात् ॥
खरा रूक्षा विभावाः स्यू रौद्रस्य करुणस्य च ।
भयानकस्य विकृता बीभत्सस्य च निन्दिताः ॥

१७ एकेन वाऽथ द्वाभ्यां वा त्रिभिर्भावान्तरैरपि ।
संसृष्टाश्चेद्रसोत्कर्षे त एवोद्दीपनाः स्मृताः ॥

१८ ये मनोह्लादजननास्तत्तदिन्द्रियगोचराः ।
ललितास्ते विभावाः स्युः शृङ्गारोत्कर्षहेतवः ॥

१९ संसूचिताः श्रुता दृष्टाः स्मृता ये हासकारिणः ।
ते भावा ललिताभासा हास्यसम्पत्प्रकाशकाः ॥

२० श्रुता दृष्टाः स्मृता ध्याता भवन्ति स्थैर्यहेतवः ।
ते स्थिरा इति विज्ञेयाः वीराख्यरसपोषकाः ॥

२१ सदानुभूयमाना ये हृदि वैचित्र्यकारिणः ।
भावाश्चित्रा इति ज्ञेयास्तेऽद्भुतैश्वर्यभावकाः ॥

(शृगारादि रसो के विभाव)

१५ शृगारादि रसो के क्रमश ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, खर, रूक्ष, निन्दित तथा विकृत नाम वाले विभाव कहलाते है।

१६ ललित और ललिताभास भाव क्रमश शृगार और हास्य-रस के विभाव है। स्थिर और चित्र-भाव क्रमश वीर और अद्भुत-रस के विभाव है। खर और रूक्ष विभाव रौद्र और करुण-रस के है। भयानक-रस का विकृत तथा बीभत्स-रस का निन्दित-विभाव है।

१७ रस के उत्कर्ष मे एक या दो या तीन भिन्न-भिन्न भावो से मिले हुए (ससृष्ट) वे ही (उपर्युक्त) भाव 'उद्दीपन-भाव'[२१] कहे जाते है।

(विभावो के क्रमशः लक्षण)

१८ शृगार-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव मन मे प्रसन्नता उत्पन्न करते है और जो तद्तद् इन्द्रियगोचर है, वे भाव 'ललित'[२२] विभाव कहलाते है।

१९ हास्य-रस के प्रकाशक जो हास्यकारी सूचित, श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत भाव है, वे 'ललिताभास'[२३] विभाव कहलाते है।

२० वीर-रस के पोषक, स्थिरताधायक जो भाव श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्याता है, वे 'स्थिर'[२४] विभाव समझने चाहिए।

२१ अद्भुत-रस के ऐश्वर्याधायक जो भाव हृदय मे सदा विचित्रता के अनुभावक है, वे भाव 'चित्र'[२५] विभाव समझने चाहिए।

२२ स्वगोचरैश्च विषयैः क्लिश्यन्तेऽक्षाणि तत्क्षणात् ।
ते रूक्षा इति कथ्यन्ते करुणोत्पत्तिकारकाः ॥

२३ गृहीतमात्रा मनसः कातरोत्पादनक्षमाः ।
ये भावास्ते खराः ख्याता रौद्रोत्कर्षविवर्धनाः ॥

२४ अक्षीणि द्राङ्निमीलन्ति येभ्यो न स्पृहयन्ति च ।
ते भावा निन्दिताख्याः स्युर्बीभत्सोल्लासकारकाः ॥

२५ विषयास्त्विन्द्रियैः स्पृष्टा विकृतिं जनयन्ति ये ।
ते भावा विकृताः ख्याता भयानकविभावकाः ॥

२६ अत्रैवालम्बना भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः ।
अनुद्दिष्टा अपि यथा रसानुभवसिद्धये ॥

२७ मधुरा सुकुमाराश्च रूपयौवनशालिनः ।
शृङ्गारालम्बना भावास्तन्वङ्ग्यस्तरुणादयः ॥

२८ व्यङ्गाश्च विकृताकाराः परचेष्टानुकारिणः ।
हास्यस्यालम्बना भावाः प्रायेण कुहकादयः ॥

२९ त्यागिनः सत्त्वसम्पन्नाः शूरा वीराः सविक्रमाः ।
वीरस्यालम्बना भावाः शस्त्रास्त्रक्षतिशोभिनः ।

---

२२ करुण-रस को उत्पन्न करने वाले जो भाव स्वगोचर-विषयो के द्वारा तत्काल आँखो को कष्ट पहुँचाते है, वे भाव 'रुक्ष'[२६] विभाव कहलाते है ।

२३ रौद्र-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव ग्रहण करने मात्र से मन की कातरता उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं । वे भाव 'खर'[२७] विभाव कहलाते है ।

२४ बीभत्स-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव आँखो को शीघ्र ही बन्द कर देते है तथा जिन भावो की स्पृहा नही होती, वे भाव 'निन्दित'[२८] कहे जाते है।

२५ भयानक-रस के विभावक जो भाव इन्द्रियो के द्वारा विषय के स्पर्श किये जाने से विकार उत्पन्न करते है, वे भाव 'विकृत'[२९] कहे जाते है ।

(आलम्बन-भाव)

२६ रसानुभूति की सिद्धि के लिए नही कहे गये रस-भूमि 'आलम्बन-भाव'[३०] यही कहे जा रहे है ।

२७ मधुर, सुकुमार तथा रूपवान व यौवनशाली तन्वगी तथा तरुणादि 'शृगार-रस' के आलम्बन-भाव है ।

२८ व्यग्य तथा विकृत आकार वाले तथा दूसरो की चेष्टाओ का अनुकरण करने वाले प्राय धूर्त तथा शठादि 'हास्य-रस' के आलम्बन-भाव हैं ।

२९ त्यागी, सतोगुणी, शूर, वीर, पराक्रमी तथा अस्त्र-शस्त्र के आघातो से सुशोभित-जन 'वीर-रस' के आलम्बन-भाव हैं ।

३० विचित्राकृतिवेषाश्च विचित्राचारविभ्रमाः ।
अद्भुतालम्बना भावा मायालीलाविलासिनः ॥

३१ बहुबाहा बहुमुखा भीमदंष्ट्राः सिताङ्गकाः ।
रौद्रस्यालम्बना भावाः क्रूरोद्वृत्तशठादयः ॥

३२ कृशा विषण्णा मलिना रोगिणो दुःखिनस्तथा ।
करुणालम्बना भावा दारिद्र्योपहताश्च ये ॥

३३ निन्दिताकृतिवेषाश्च निन्द्याचाराङ्गरोगिणः ।
वीभत्सालम्बना भावास्ते पिशाचादयोऽपि च ॥

३४ महारण्यप्रविष्टाश्च महासङ्ग्रामचारिणः ।
भयानकालम्बनाः स्युर्गुरुराजापराधिनः ॥

३५ ललिताद्या विभावास्ते भावेष्वालम्बनेष्वमी ।
पुष्णन्ति स्थायिनो भावान्यथायोगं रसात्मना ॥

३६ अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः ।
मन आरम्भानुभावा भावाद्या दश योषिताम् ॥
वागारम्भानुभावाश्च द्वादशालापपूर्वकाः ।
गात्रारम्भानुभावाश्च लीलाद्या दश योषिताम् ॥

---

३० विचित्र-आकृति, विचित्र-वेष, विचित्र-आचार, विचित्र-विलास तथा मायावी लीलाओ को करने वाले 'अद्भुत-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३१ बहु-भुजा वाले, बहुमुख वाले, भयानक दाँत वाले, श्वेताग वाले, क्रूर, दुष्ट (अशिष्ट) शठादि 'रौद्र-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३२ जो कमजोर, उदास, मलिन, रोगी, दु खी तथा गरीबी के मारे है, वे 'करुण-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३३ निन्दित-आकृति, निन्दित-वेष, निन्दित-आचार, निन्दित-अग-रोगी तथा पिशाचादि 'बीभत्स-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३४ महारण्य मे प्रविष्ट, महान सग्राम मे गये हुए, अथवा गुरु तथा राजा के अपराधी लोग 'भयानक-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३५ ललितादि वे विभाव, आलम्बन-भावो मे ये (उपर्युक्त) भाव स्थायी-भावो को यथासभव रस-रूप मे पुष्ट करते है ।

(अनुभाव के भेद)

३६ मन, वाणी, शरीर तथा बुद्धि के भेद से अनुभाव चार प्रकार के होते है ।[११] युवतियो के दस भावादि 'मन-आरम्भानुभाव' है । बारह आलापादि 'वागारम्भा-नुभाव' हैं । युवतियो के दस लीलादि 'गात्रारम्भानुभाव' है । रीति, वृत्ति तथा

बुद्धचारम्भानुभावाश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
अष्टौ तु सात्त्विका भावास्तेऽपि स्तम्भादयः स्मृताः ॥
निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद्भावास्ते व्यभिचारिणः ।

३७ यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः ॥
तत्र लीलादयो भावा यद्यपि स्युर्न सात्त्विकाः ।
छत्रिणां गतिवत्तेऽपि तल्लिङ्गत्वेन सात्त्विकाः ॥

३८ यत्सत्त्वपरिणामि स्याद्द्रव्यं तन्मन उच्यते ।
ईश्वरस्य च मुक्तानां तत्सङ्कल्पो भविष्यति ॥
संसारिणां मनस्त्वेन परिणम्य प्रवर्तते ।
तत्सत्त्वपरिणामित्वात्सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ॥

३९ यद्रजःपरिणामि स्याद्द्रव्यं स प्राण उच्यते ।
ईश्वरस्य च मुक्तानां क्रियाहेतुः स ईरितः ॥
संसारिणां पुनरसौ प्राणाकारेण तिष्ठति ।

४० यत्तमःपरिणामि स्याद्द्रव्यं सा वागुदाहृता ॥
ईश्वरस्य च मुक्तानां सा वाग्भवति शोभना ।
संसारिणां परिणमेच्छब्दाकारेण सा पुनः ॥

प्रवृत्ति 'बुद्धचारम्भानुभाव' है । स्तम्भादि आठ सात्त्विक-भाव कहलाते है। निर्वेदादि तैंतीस व्यभिचारी भाव है ।

३७ यौवनावस्था मे स्त्रियो के बीस सत्त्वज (स्वाभाविक) अलकार माने जाते है। जिनमे लीलादि भाव यद्यपि सात्त्विक नही है लेकिन उस (सत्त्व) लिग के होने से वे सात्त्विक है, जैसे—'छतरीधारी लोग जा रहे है' इस प्रयोग मे केवल एक व्यक्ति के पास छतरी है लेकिन छतरीधारी मे जो बहुवचन है उसकी सगति के लिए व्यक्ति को छोडकर समुदाय को छतरीधारी के रूप मे अपनाना पडता है। अत लीलादि भाव भी सात्त्विक है।

३८ पुन सत्त्व-परिणामी जो द्रव्य है वह 'मन' कहलाता है । ईश्वर और मुक्त जीवो का वह 'सकल्प' होगा । सासारिको का (सत्त्व) मन के रूप मे परिणत होकर प्रवृत्त होता है । वह सत्त्व-परिणामी होने से विद्वानो द्वारा सत्त्व कहलाता है ।

३९ रज-परिणामी जो द्रव्य है वह 'प्राण' कहलाता है । ईश्वर और मुक्त जीवो का वह क्रियाओ का कारण कहा गया है और सासारिको मे यह 'प्राण-रूप' मे स्थित रहता है ।

४० तम-परिणामी जो द्रव्य है वह 'वाक्' कहा गया है । ईश्वर और मुक्त जीवो की वह सुन्दर वाणी होती है और वह सासारिको की वह (वाणी) शब्द के रूप मे परिणत होती है । क्रोधादि भावों के द्वारा जो कही जाती है वह अव्यभिचारी-

उक्ता क्रोधादिभिर्भावैस्तत्फलाव्यभिचारिणी ।
या मुक्तेश्वरवागुत्था सा वाणीत्युच्यते बुधैः ॥

४१　रविः सोमश्च वह्निश्च तस्य-तस्य यथाक्रमम् ।
अधिष्ठातार इत्येषा व्यवस्था योगिभिः कृता ॥
तत्तद्रूपमधिष्ठाय तिष्ठन्नात्मा च तन्मयः ।
एते मनःप्राणवाचो मुक्तानामीश्वरस्य च ॥
कार्योपकरणात्मत्वाद्देवा इत्येव कीर्तिताः ।
अन्तर्यामी स एव स्याद्यः प्राणमय उच्यते ।
जीवः शरीराधिष्ठाता तन्नियच्छन् स्वकर्मभिः ।
कर्ता भवति सर्वस्य शरीरेण सह स्वयम् ॥

४२　करणानि च जीवं च पृथिव्याद्याश्च देवताः ।
नियच्छन्नप्यधिष्ठाय कर्ता प्राणमयो भवेत् ॥
अयं नान्तर्गतस्तस्य कर्तुर्जीवस्य न कचित् ।
मनोमयस्तु जीवानां कर्मकारयिता भवेत् ॥
बुद्धिचित्ताहङ्कृतयः तस्य त्रिगुणसंभवाः ।
सर्वेषामपि जीवानां सर्वव्यापारहेतवः ॥
एतेभ्यः सर्वभावानां प्रभवः समुदाहृतः ।
आदित्यः सर्वसाक्षित्वान्मनो यत्तदधिष्ठितम् ॥

फल वाली होती है, जो ईश्वर और मुक्त जीवो से उत्पन्न है उसे विद्वान 'वाणी' कहते है ।

४१　रवि, सोम तथा वह्नि यथाक्रम मन, प्राण तथा वाक् के अधिष्ठाता है, ऐसी योगीजन व्यवस्था करते है । उस-उस रूप का आश्रय लेकर, स्थिर होते हुए आत्मा उस रूप से युक्त हो जाती है, ये मन, प्राण तथा वाक् मुक्त जीवो तथा ईश्वर के कार्यो के उपकरण (साधन) रूप होने से देवता कहे जाते है । अन्त-र्यामी वही है जो प्राणमय कहलाता हे, जीव शरीर का अधिष्ठाता है, वह अपने कर्मो से उस (शरीर) को नियन्त्रित करता हुआ सभी के शरीर के साथ स्वय कर्ता होता है ।

४२　इन्द्रियो, जीव, पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) और देव-ताओ को नियत्रित करता हुआ भी अधिष्ठित होकर वह कर्ता 'प्राणमय' होता है । यह (प्राणमय) न तो उस कर्ता के अन्तर्गत होता है न कही जीव के अन्त-र्गत होता है । मनोमय जो होता है वह जीवो का कर्म कराने वाला होता है अर्थात् वह जीवो का प्रेरक होता है । उसके त्रिगुणात्मक बुद्धि, चित्त और

यत्संस्कारवशाद्वेत्ति सर्वं तत्तेन निर्मलम् ।
तादृगेव मनः सत्त्वं गुणैरस्पृष्टमुच्यते ॥

४३ तस्मादविकृतादाद्यः स्पन्दो भाव उदाहृतः ।
चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति ॥
ततोऽल्पा विकृतिर्भावो बीजस्यादिविकारवत् ।
अतो मनोविकारस्य भावत्वं प्रकटीकृतम् ॥

४४ वाग्भिरङ्गैर्मुखरसैर्यस्सत्त्वाभिनयेन च ।
भावयन्बहिरन्तस्स्थानर्थान्भाव उदाहृतः ॥

४५ हेलाहेतुः स शृङ्गारो भावात्किञ्चित्प्रकर्षवान् ।
सग्रीवारेचको हावो नासाक्षिभ्रूविलासकृत् ॥

४६ स एव हावो हेला स्याल्ललिताभिनयात्मिका ।
नानाप्रकाराभिव्यक्तश्शृङ्गाराकारसूचिका ॥

४७ रूपोपभोगतारुण्यैर्योऽलङ्कारोऽङ्गसंश्रयः ।
सा शोभा सैव कांतिः स्यान्मन्मथाप्यायिता च्छविः ॥

अहकार सभी जीवो के सभी व्यापारो के हेतु है। इन्ही से सभी भावों की उत्पत्ति कही गयी है। सूर्य के सर्वसाक्षी होने से मन सूर्य के द्वारा अधिष्ठित है। वह (मन) सस्कारवश जो कुछ जानता है वह सब उस (सस्कार) से निर्मल होता है। वैसा ही मन गुणो से रहित सत्त्व कहा जाता है।

(मन-आरम्भानुभाव के लक्षण)

४३ उस निर्विकारात्मक सत्त्व से होने वाला प्रथम स्पन्दन 'भाव'[३२] कहलाता हे। विकृति के कारण के रहते हुए भी चित्त की अविकृति सत्त्व कहलाती है। तदनन्तर विकृति थोडी होती है और भाव बीज के प्रथम विकार की तरह होता है। अत मन के विकार का भावरूप (भावत्व) प्रकट हो जाता है।

४४ (भरतमुनि के अनुसार) वाक् अग तथा मुखराग से एव सात्त्विक अभिनय से अन्तर्बाह्य स्थानीय अर्थो को भावित करना 'भाव' कहलाता है।

४५ 'हेला' का कारण तथा 'भाव' से कुछ श्रेष्ठ, नायिका मे शृगार का होना 'हाव'[३३] कहलाता है। यह 'हाव' ग्रीवारेचक सहित नासिका, नेत्र, भौह आदि मे विकार उत्पन्न करता है।

४६ वही 'हाव' जब सुन्दर अभिनय से युक्त हो तथा शृगार-रस को प्रकट रूप मे विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति करने लगे तो 'हेला'[३४] नामक भाव बन जायेगा।

४७ रूप, विलास तथा यौवन के कारण जब नायिका के अग सुशोभित हो उठने हे तो उस अलकार को 'शोभा'[३५] कहते है।

४८ कान्तिरेवोपभोगेन देशकालगुणादिभिः ।
उद्दीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता ॥

४९ सर्वावस्थासु चेष्टानां माधुर्यं मृदुकारिता ।

५० निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यं प्रयोगेषु च सर्वतः ॥

५१ मानग्रहो दृढो यस्तु तद्धैर्यमिति कथ्यते ।

५२ औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सत्त्वावस्थानुगो बुधैः ॥
भावो हावश्च हेला च शोभा कान्तिः सदीप्तिका ।
प्रागल्भ्यं धैर्यमौदार्यं माधुर्यमिति सात्त्विकाः ॥

५३ लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलिकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्वोको ललितं तथा ॥
विहृतं चेति विज्ञेयाः शारीरा दश योषिताम् ।

५४ मनोमधुरवागङ्गचेष्टितैः प्रीतियोजितैः ॥
प्रियानुकरणं लीला सा स्यात्पुंसः स्त्रिया अपि ।

५५ प्रियसङ्गमकाले तु नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणाम् ॥
विशेषो यस्स विज्ञेयो विलासोऽङ्गक्रियादिषु ।

---

४८ काम-विलास से बढी हुई 'शोभा' को ही 'कान्ति'[३६] कहते है । कान्ति जब उपभोग से, देश, काल तथा गुणो के द्वारा उद्दीप्त होती हुई विस्तार को प्राप्त होती हे तो वही 'दीप्ति' कही जाती है अर्थात् अतिविस्तीर्ण्य कान्ति को ही 'दीप्ति'[३७] कहते है ।

४९ सभी अवस्थाओ मे नायिका की चेष्टाओ मे मृदुलता का होना 'माधुर्य'[३८] नामक भाव कहलाता है ।

५० सभी ओर से प्रयोगो मे निर्भयता का नाम 'प्रागल्भ्य'[३९] है ।

५१ मान-ग्रहण तथा दृढता को 'धैर्य'[४०] कहा जाता है ।

५२ सत्त्वावस्था का अनुगमन करने वाला प्रेम विद्वानो के द्वारा 'औदार्य'[४१] कहा गया है । इस प्रकार भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, प्रागल्भ्य, धैर्य, औदार्य तथा माधुर्य ये स्त्रियो के दस सात्त्विक अलकार हैं। जो 'मन-आरम्भानुभाव' कहलाते है।

(स्त्रियो के गात्रारम्भानुभाव के लक्षण)

५३ लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलिकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत स्त्रियो के ये दस 'शारीरिक-अनुभाव' है ।

५४ नायक का नायिका के साथ अनुरागातिशय होने के कारण नायिका के मन, मधुरवाणी तथा अगो की चेष्टाओ के द्वारा प्रिय (नायक) के वाग्वेषचेष्टादि का शृगारिक अनुकरण करना 'लीला'[४२] नामक भाव कहलाता है ।

५५ प्रिय के समागम के समय नायिका की अग चेष्टाओ मे नेत्र, भ्रकुटी तथा मुख के व्यापारो की जो विशेषता पायी जाती है, वह 'विलास'[४३] है ।

५६ स्वल्पोऽप्यनादरन्यासो माल्यादीनां स्वमण्डने ॥
यः परां जनयेत् शोभां सा विच्छित्तिरुदाहृता ।

५७ वागङ्गसत्त्वाभिनयभूषास्थानविपर्ययः ॥
त्वरया कल्पितोऽभीष्टदर्शने यः स विभ्रमः ।

५८ क्रोधाभिलाषहर्षादेः सङ्करः किलिकिञ्चितम् ॥

५९ प्रियस्तुतिकथालापलीलाहेलादिदर्शने ।
तद्भावभावनं मोट्टायितमित्युच्यते बुधैः ॥

६० सौख्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः ।
दुःखोपचारवत्कुप्येद्बहिः कुट्टमितं तु तत् ॥

६१ इष्टभावोपगमने तथाऽभीष्टस्य दर्शने ।
गर्वादथाभिमानाद्वा बिब्बोकोऽनादरक्रिया ॥

६२ सुकुमारोऽङ्गविन्यासः सभ्रूनेत्राधरक्रियः ।
अनुल्बणश्च मसृणः स्त्रीणां ललितमीरितम् ॥

---

५६ आभूषण धारण करते समय माला आदि का न्यून-मात्रा मे प्रयोग जो दूसरी ही शोभा को उत्पन्न करे अर्थात् सौन्दर्य-वृद्धि करे, वह 'विच्छित्ति'[४४] कही गयी है ।

५७ कल्पित तथा अभीष्ट दर्शन के समय (हर्ष और अनुरागादि के कारण) जो शीघ्रतावश वाचिक आगिक तथा सात्त्विक अभिनय एव वेषभूषा के स्थान की विपरीतता होती है वह 'विभ्रम'[४५] है अर्थात् शीघ्रतावश भूषणादि का और की और जगह लगा देना 'विभ्रम' है ।

५८ नायिका मे एक साथ क्रोध, अभिलाषा तथा हर्षादि का साकर्य पाया जाना 'किलकिञ्चित'[४६] कहलाता है ।

५९ प्रियतम की स्तुति, कथा, आलाप (सवाद), लीला, हेलादि के दर्शन के समय उस ही भाव से भावित होना अर्थात् प्रियतम के भाव तथा कामिनी के भाव की एकतानता विद्वानो द्वारा 'मोट्टायित'[४७] कहलाती है ।

६० रतिक्रीडा मे नायक के द्वारा अधर तथा केशग्रहणादि करने पर सुख मिलने तथा प्रसन्न होने पर भी जब नायिका दु ख मिलने के समान बाहर से क्रोध करे तो वह 'कुट्टमित'[४८] भाव कहलाता है ।

६१ जब नायिका गर्व तथा अभिमान के कारण इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अभीष्ट के दर्शन के प्रति अनादर दिखाती है तो उसे 'बिब्बोक'[४९] भाव कहते है ।

६२ भौह, नेत्र तथा अधर की चेष्टाओ के साथ अगो का सुकुमारता, रमणीयता तथा कोमलता से रखना स्त्रियो का 'ललित'[५०] भाव कहा गया है ।

६३ स्वभावाद् व्रीडया वाऽपि प्राप्तकालमनुत्तरम् ।
विहृतं तदिति प्राहुर्मानेर्ष्याभ्यामथापि वा ॥
गात्रारम्भानुभावांस्तानिमान्पश्यन्ति सूरयः ।

६४ शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्य धैर्यमेव च ॥
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ।

६५ दक्षता शौर्यमुत्साहो नीचे कुत्साऽधिके मुहुः ॥
स्पर्धाऽधिक्रियते यत्र सा शोभेति प्रकीर्तिता ।

६६ वृषयानं स्मितालापो विलास इति कथ्यते ॥

६७ माधुर्यं चेष्टितालापस्पर्शानां स्पृहणीयता ।

६८ शुभेऽशुभेऽर्थे तद्धैर्यं व्यवसायादचालनम् ॥

६९ अविज्ञातेङ्गिताकारो भावो गाम्भीर्यमुच्यते ।
चेष्टितं यस्य शृङ्गारमयं तल्ललितं भवेत् ॥

७० प्रियालापस्मितोदारं दानमौदार्यमुच्यते ।

---

६३ जहाँ नायिका स्वभाव, लज्जा, मान तथा ईर्ष्या के कारण समय आने पर भी तदनुकूल वाक्य का प्रयोग नही कर पाती, वह 'विहृत'[५१] नामक भाव कहा जाता है। इन सभी गात्रारम्भानुभावो को विद्वान देखते है।

(पुरुषों के गात्रारम्भानुभाव के लक्षण)

६४ शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, ललित, औदार्य तथा तेज—ये आठ पुरुष (नायक) के सात्त्विक गुण है।

६५ जहाँ नायक मे दक्षता, शूरता तथा उत्साह पाया जावे तथा नीच व्यक्ति के प्रति घृणा एवं उच्च व्यक्ति के प्रति बार-बार स्पर्द्धा पायी जाती हो, वह 'शोभा'[५२] कहलाती है।

६६ जहाँ नायक की गति वृष के समान होती हो और वचन मुस्कराहट के साथ कहे जाते हो, उसको 'विलास'[५३] कहा जाता है।

६७ नायक की चेष्टा, आलाप (सवाद) तथा स्पर्श की चाहना करना 'माधुर्य'[५४] नामक भाव है।

६८ जब नायक शुभ तथा अशुभ सभी अर्थो मे अर्थात् अच्छे या बुरे सभी कार्यों मे अपने व्यवसाय (मार्ग) से विचलित नही होता हो तो उसे 'धैर्य'[५५] कहते है।

६९ नायक के अन्तर्बाह्य सभी हर्ष-शोकादि भावो का ज्ञान न होना 'गाम्भीर्य'[५६] कहा जाता है। शृगारपरक चेष्टाओ का नायक मे पाया जाना 'ललित'[५७] नामक भाव कहलाता है।

७० जहाँ नायक प्रिय वचनो के द्वारा तथा प्रसन्नता और उदारता के साथ दान देने को प्रस्तुत हो उसे 'औदार्य'[५८] कहा जाता है।

७१ अवमानासहत्वं यत्तत्तेजस्समुदाहृतम् ।।

७२ एते साधारणाः सत्त्वगात्रारम्भानुभावयोः ।
स्थैर्य गाम्भीर्यमाचार्यैः चित्तारम्भावुदाहृतौ ।।
प्राचुर्यमेषां शृङ्गारे वीराद्भुतसमागमे ।
अन्यत्र तेषां संसर्गवशात्कार्यवशादपि ।।
भावास्तु विंशतिस्स्त्रैणाः शृङ्गारे क्वचिदद्भुते ।
क्रीडितं केलिरित्येतौ गात्रारम्भावुदाहृतौ ।।

७३ बाल्ययौवनकौमारसाधारणविहारभाक् ।
विशेषः क्रीडित केलिः तदेव दयिताश्रयम् ।।

७४ गात्रारम्भानुभावत्वे द्वितयं कथ्यते बुधैः ।

७५ वागारम्भा इमे तेषामालापः प्रथमो भवेत् ।।
प्रलापश्च विलापोऽनुलापः संलाप एव च ।
अपलापश्च सन्देशोऽतिदेशश्चाष्टमस्स्मृतः ।।
निर्देश उपदेशश्चापदेशो व्यपदेशकः ।

७६ इदं वो भाग्यमित्यादि वाक्यमालाप इष्यते ।।

---

७१ जब नायक अपमान को सहन नही करे तो 'तेज'[५९] नामक भाव कहा जाता है।

७२ इस प्रकार सात्त्विक (मन-आरम्भानुभाव) तथा गात्रारम्भानुभाव के ये साधारण भेद हैं। आचार्य (भोज) ने चित्तारम्भानुभावो के अन्तर्गत स्थैर्य तथा गाम्भीर्य भावो को कहा है। इन (मन-आरम्भानुभाव तथा गात्रारम्भानुभाव) भावो की शृगार-रस मे, और वीर-रस तथा अद्भुत-रस के मिश्रण मे प्रचुरता पायी जाती है, अन्यत्र इन भावो की कार्यवश तथा ससर्गवश भी प्रचुरता पायी जाती है। इस प्रकार शृगार-रस मे, कही अद्भुत-रस मे स्त्रियो के बीस भाव है। पुन (आचार्य भोज ने) गात्रारम्भानुभावो के अन्तर्गत 'क्रीडित' तथा 'केलि' भावो को कहा है।

७३ बाल्य, यौवन तथा कौमार-अवस्था की साधारण विहार वाली विशेष क्रीडाएँ 'क्रीडित' कहलाती है। वे ही क्रीडाएँ जब प्रिय के आश्रित होती है तो 'केलि' कहलाती है।

७४ इन दोनो भावो को विद्वान् (भोज) गात्रारम्भानुभाव कहते है।

(वागारम्भानुभाव)

७५ ये बारह वागारम्भानुभाव है—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, सलाप, अपलाप, सदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश।

७६ 'यह तुम्हारा भाग्य है' इत्यादि वाक्य 'आलाप'[६०] कहे जाते है।

७७ प्रलापः स्यात्क्व यास्यामि गतिः केत्यादि यद्वचः ।
७८ विलापः स्यादात्मदुःखोद्भावनातत्परं वचः ॥
७९ बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलापो भवेदिह ।
८० उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं सल्लाप इति कथ्यते ॥
पूर्वोक्तस्यान्यथावादो ह्यपलाप इतीरितः ।
सन्देशः स्यात्स्ववार्ताभिप्रेषणं विषयान्तरे ॥
अतिदेशस्तदुक्तं यत्तन्मदुक्तमितीरितम् ।
८१ एते वयं क्व वः कार्यमिति निर्देश इष्यते ॥
८२ उपदेशो गृहाण त्वं गच्छेत्यादिपरं वचः ।
अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इति स्मृतः ॥
८३ व्याजादात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीरितः ।
वागारम्भानुभावास्ते क्रमाद्द्वादश कीर्तिताः ॥
८४ बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते ।
रीतिर्वचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा ॥
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः ।
सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ॥

---

७७ 'कहाँ जाऊँ', 'क्या करूँ' इत्यादि जो वचन है, 'प्रलाप'[६१] है।

७८ आत्म-दुखो को प्रकट करने वाले वचन 'विलाप'[६२] है।

७९ बार-बार कहा गया वाक्य 'अनुलाप'[६३] है।

८० उक्ति-प्रत्युक्ति वाले वाक्य अर्थात् 'कहना फिर उसका उत्तर देना' 'सलाप'[६४] कहा जाता है। पूर्वोक्त का अन्यथा कथन ही 'अपलाप'[६५] है। किसी भी विषय मे अपना समाचार भेजना 'सन्देश'[६६] है। 'जो उसने कहा है वह मैंने कहा है' इस प्रकार का वचन 'अतिदेश'[६७] कहलाता है।

८१ 'ये हम, कहाँ तुम्हारा कार्य'—इस प्रकार के वचन 'निर्देश'[६८] कहे जाते है।

८२ 'लो तुम जाओ' इत्यादि दूसरो के वचन 'उपदेश'[६९] रूप मे ग्रहण करने चाहिए। जो अन्यार्थ कथन है अर्थात् अन्य अर्थ को द्योतित करता हुआ जो कथन होता है वह 'अपदेश'[७०] कहलाता है।

८३ किसी बहाने से अपनी इच्छा को प्रकट कर देना ही 'व्यपदेश'[७१] कहा गया है। ये बारह वागारम्भानुभाव क्रमश कहे गये।

(बुद्ध्यारम्भानुभाव)

८४ बुद्ध्यारम्भानुभावो मे 'रीति' प्रथम कही जाती है। वचन-विन्यास की पद्धति 'रीति'[७२] है। वह वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी तथा गौडी विभाग से चार प्रकार की होती है। दो और रीति कही गयी है—'सौराष्ट्री' तथा 'द्राविडी'।

८५ तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक् ।
समाससौकुमार्यादितारतम्यात्क्वचित्क्वचित् ॥
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ।
तथा सौराष्ट्रिकाभेदाद्द्राविडीभेदतोऽपि च ॥
प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात्संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ॥
तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।
ग्रन्थविस्तरभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते ॥
त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पदपङ्क्तयः ।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥
तस्माच्चतुर्धा बोद्धव्या रीतिभेदप्रकल्पना ।
८६ वृत्तिश्चतुर्विधा ऋग्यजुस्सामाथर्वसम्भवा ॥
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ।
औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ॥
अर्थवृत्तेरभावात्तु विश्रान्तां पञ्चमीं परे ।

---

८५ उस-उस देश की रचना-रीति, उस-उस देश के नाम से जानी जाती है। कही-कही समास, सुकुमारता आदि के तारतम्य से भी जानी जाती है। कही-कही उपचार-विशेष से, प्रास और अनुप्रास के भेद से तथा सौराष्ट्रीका व द्राविडी भेद से भी जानी जाती है और कही-कही प्रतिवचन से, प्रतिपुरुष से, उसके अवान्तर जाति-भेद से तथा प्रीति से भी 'रीति' जानी जाती है। इस प्रकार अनन्त भेद हो जाने से कविजनो द्वारा सक्षेप मे ये चार ही 'रीतियाँ' कही गयी है। विद्वानो द्वारा १०५ प्रकार की 'रीतियॉ' भी कही गयी है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से मै उनसे रुक जाता हूँ। वे ही अक्षर-विन्यास, वे ही पद-पक्तियाँ लेकिन प्रतिपुरुष मे विशेषता सें भिन्न-भिन्न रूप मे सरस्वती (वाणी) प्रस्फुटित होती है। इसलिए रीति-भेद की कल्पना चार प्रकार से ही जाननी चाहिए।

८६ ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व से उत्पन्न 'वृत्ति'[७३] चार प्रकार की कही गयी है। भारती[७४], सात्त्वती[७५], कैशिकी[७६] तथा आरभटी[७७]—ये चार वृत्तियॉ है। उद्भटाचार्य के मत मे पॉचवी 'अर्थवृत्ति' और स्वीकार की जाती है। लेकिन अन्य (भोज) अर्थवृत्ति के स्थान पर पॉचवी 'विश्रान्ता'[७८] वृत्ति को स्वीकार करते हैं।

८७ मधुकैटभासुराभ्यां नियुद्धमार्गेण युध्यतो विष्णोः ॥
८८ वृत्तित्रयं प्रसूतं भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे ।
८९ अपरे तु नाट्यदर्शनसमये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः ॥
शृङ्गारादिचतुष्टयसहिता वृत्तीः समाचख्युः ।
९० दाक्षिणात्या तथाऽऽवन्त्या पौरस्त्या चौढ्रमागधी ॥
प्रवृत्तयश्चतस्रोऽपि वागारम्भाः स्युरेकदा ।
तद्व्यापारात्मिकाः प्रोक्ता वृत्तयश्च चतुर्विधाः ॥
९१ वाचिकं सात्त्विकं नृत्तमाहार्यं च तथाङ्गिकम् ।
यथाक्रमं नियमितं भारत्याद्यासु वृत्तिषु ॥
९२ शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥
९३ देशभाषाक्रियाभेदलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥

---

८७ (नाट्यशास्त्र मे प्राप्त प्राचीन कथा के अनुसार) विष्णु और मधु-कैटभ मे द्वन्द्व-युद्ध हुआ और उसमे वाणी, अग और मन के विभिन्न व्यापारो का जैसा प्रदर्शन हुआ उनसे ही चारो वृत्तियो का उद्भव हुआ।[७९])

८८ (पुन नाट्यशास्त्र मे प्राप्त परम्परा के अनुसार नाट्यशास्त्र मे प्राप्त वाक्-प्रधान पुरुष-प्रयोज्य सस्कृत पाठ्य-युक्त) भरतो ने अपने नाम से 'भारती' वृत्ति प्रचलित की। (नाट्योत्पत्ति की कथा के प्रसग मे यह भी उल्लेख मिलता है कि) भरत ने तीन वृत्तियो का प्रयोग तो स्वय किया लेकिन कैशिकी के प्रयोग की प्रेरणा शिव के नृत्य से मिली।

८९ अन्य ऐसा भी स्वीकार करते है कि नाट्य-दर्शन के समय (अर्थात् शिव-पार्वती का नृत्य देखते हुए) ब्रह्मा के चारो मुखो से शृगारादि चतुष्टय (शृगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र) सहित चारो वृत्तियाँ कही गयी।

९० दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या तथा औड्रमागधी चारो प्रवृत्तियाँ[८०] भी एक ही काल मे वागारम्भ कही गयी हैं। उनकी व्यापारात्मिका वृत्तियाँ चार प्रकार की कही गयी हे।

९१ भारती आदि वृत्तियो मे वाचिक, सात्त्विक, नृत्त, आहार्य तथा आगिक व्यापार यथाक्रम निश्चित किये गये है।

९२ कैशिकी का प्रयोग शृगार-रस मे, सात्त्वती का वीर-रस मे आरभटी का रौद्र तथा बीभत्स-रस मे किया जाता है। भारती वृत्ति का सभी रसो मे प्रयोग होता है।

९३ देश तथा काल के अनुसार नायक की भिन्न-भिन्न भाषा, भिन्न-भिन्न वेष, भिन्न-भिन्न क्रिया 'प्रवृत्ति' कहलाती है।[८१] इनका ज्ञान लोक से ही प्राप्त हो सकता है कि किस देश मे कैसी भाषा, कैसा वेष, कैसी क्रिया पायी जाती है। इसका ज्ञान प्राप्त कर (कवि) उनका तदनुरूप प्रयोग करे।

९४ उक्तास्ता वृत्तयः साङ्गा भोजसोमेश्वरादिभिः ।
तस्मादासां स्वरूपं तु दिङ्मात्रं समुदाहृतम् ॥

९५ देश्याः प्रवृत्तयस्तत्तद्देश्यैर्ज्ञेया विचक्षणैः ।
क्रियाभेदा न शक्यन्ते ज्ञातुं वक्तुं च केनचित् ॥
तस्माद्यतः प्रवृत्तिर्वा क्रिया वा यत्र दृश्यते ।
तत्र तज्ज्ञैः सह ज्ञेयास्सर्वैः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
भाषा स्यात्सप्तधा देश्या विभाषाऽपिच सप्तधा ।
मागध्यवन्तिका प्राच्या शौरसेन्याच [न्यर्घ]मागधी ॥
पैशाची दाक्षिणात्या च तत्तद्देशेषु भाष्यते ।
शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिडान्ध्रजाः ॥
हीना वनेचराणां च तत्तज्जातिषु दृश्यते ।
देशभेदक्रियाभेदांस्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥

९६ एतेऽनुभावाः कविभिर्निबन्धे योग्यकल्पिताः ।
अभिनेया नटैर्नाट्ये तत्तदर्थानुकूलतः ॥

९७ विभावः कारणं कार्यमनुभावः प्रकीर्तितः ।
हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥

---

९४ भोज-सोमेश्वर आदि के द्वारा अग सहित इन वृत्तियो को कह दिया गया है इसलिए इनका स्वरूप यहाँ दिङ्मात्र ही कहा गया है ।

९५ उन-उन देशो की प्रवृत्तियाँ उन-उन देशो के विद्वानो से जाननी चाहिए लेकिन क्रिया-भेदो को न कोई जान सकता है और न कोई बता सकता है । इसलिए जहाँ जो प्रवृत्ति या क्रिया (चेष्टा) दिखायी जाती है वहाँ उनके ज्ञाताओ के साथ सभी (कविजनो) को सभी प्रवृत्तियाँ जाननी चाहिए । देश की भाषा सात प्रकार की होती है, विभाषा भी सात प्रकार की होती है । मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची और दाक्षिणात्या उन-उन देशो मे बोली जाती है । शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविडी, आन्ध्रजा तथा वनेचरो की हीन-भाषा उन-उन जातियो मे देखी जाती है । देश के अनुसार क्रियाओ के भेदो को वहाँ-वहाँ देखना चाहिए ।

९६ ये अनुभाव (मन-आरम्भ, गात्रारम्भ, वागारम्भ तथा बुद्धयारम्भ) कविजनो द्वारा निबन्ध मे यथायोग्य कल्पित किये गये है । नाट्य मे नटो को उस-उस अर्थ की अनुकूलता से अभिनय करना चाहिए ।

९७ विभाग को कारण तथा अनुभाव को कार्य कहा जाता है । ये विभावानुभाव लौकिक रस के कारण तथा कार्य है तथा लोक-व्यवहार मे इनका प्रत्यक्ष रूप देखने के कारण ये व्यवहार-सिद्ध है ।[८२]

९८　ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
भावो हृदि स्थितो येनव्यज्यते चानुभाव्यते ।।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिर्विभावो हृदयं श्रितः ।
भावान् व्यनक्ति यः सोयमनुभाव इतीरितः ।।
रामाद्याश्रयदुःखादेरनुभूतेस्तदात्मता ।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृतः ।

९९　एव विभावानुभावभावाः प्रोक्ताः स्वरूपतः ।
अनुभावास्तु दृश्यन्ते बहवोऽन्ये रसोदये ।।
तत्र तत्राभिधीयन्ते तद्रसोत्कर्षहेतवः ।

१००　मनस्सत्त्वमधिष्ठाय तत्तदिन्द्रियगोचरान् ।
बुद्धिमाश्लिष्य विषयाननुभुङ्क्ते स्वभावतः ।
त्रिधा सत्त्वं भवेद्बुद्धिज्ञानानन्दविभेदतः ।।
तद्भावभावनात्मा स्यात्परदुःखादिसेवया ।
परस्य सुखदुःखादेरनुभावेन चेतसः ।
तद्भावभावनं येन भवेत्तदनुकूलतः ।
तत्सत्त्वं तेन निर्वृत्तास्सात्त्विका इत्युदीरिताः ।।

९८　'विभाव'[८३] वह है जिसका ज्ञान हो सके । यह विभाव भाव (स्थायीभाव) को पुष्ट करने वाला है । जिससे हृदय मे स्थित-भाव (स्थायी-भाव) चर्वित होता है और अनुभावित होता है । भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि विभाव हृदय के आश्रित होते है । जो भावो को व्यक्त करता है वह अनुभाव कहा जाता है । रामादि आश्रय के दु खादि की अनुभूति के प्रति सामाजिक के मन की जो एकतानता है वह 'भाव'[८४] कही जाती है ।

९९　इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा भाव स्वरूपत कहे गये । रसोदय के समय अन्य बहुत से अनुभाव देखे जाते है, वे सभी (अनुभाव) वहाँ-वहाँ उन रसो के उत्कर्ष के हेतु कहे जाते है ।

१००　मन सत्त्व का आश्रय लेकर, बुद्धि को आश्लिष्ट कर प्रत्येक इन्द्रियगोचर विषयो का स्वभावत अनुभव करता है । सत्त्व बुद्धि, ज्ञान तथा आनन्द भेद से तीन प्रकार का होता है । दूसरे लोगो के दु ख आदि के सेवन से भावक के चित्त का परगत दु खादि भाव से भावित होना 'सत्त्व' कहलाता है । अर्थात् दूसरे लोगो के सुख-दुख आदि के अनुभाव से जब सामाजिक का अन्त करण उस ही भाव मे भावित हो जाय तथा अनुकूल व एकतान हो जाय उसे सत्त्व कहते है । मन का सत्त्व यही है कि जब वह दु खी या हर्षित होता है तो अश्रु, रोमाञ्च आदि निकल पडते है । ये अश्रु-रोमाञ्चादि सत्त्व से निर्वृत्त

अनुभावत्वसामान्ये सत्यप्येषां पृथक्तया ।
लक्षणं सत्त्वजत्वाद्धि तेऽपि स्तम्भादयः स्मृताः ।।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ।।

१०१ स्तम्भो मदगदक्रोधभयविस्मयगर्वजः ।
तथा हर्षविषादादेर्जायते नीचमध्ययोः ।
सचेतनोऽपि निश्चेष्टो निष्प्रकम्पो जडाकृतिः ।
स्तब्धगात्रश्च शून्यश्च स्तम्भवानिति कथ्यते ।।

१०२ स्वेदः सम्पीडनक्रोधश्रमव्यायामभीतिभिः ।।
घर्महर्षज्वरग्लानिसुखलज्जादिभिर्भवेत् ।।
स्वेदापनयनेनैव व्यजनग्रहणेन च ।
तथा वाताभिलाषेण ह्यनुभावः प्रकाश्यते ।।

१०३ रोमाञ्चः क्रोधरुग्भीतिहर्षशीतादिभिर्भवेत् ।
तं चोत्सुकासकृद्गात्रसंस्पर्शैः पुलकैर्वदेत् ।।

१०४ स्वरभेदो गदमदक्रोधहर्षभयज्वरैः ।
तस्यानुभवाः कविभिर्वर्ण्यन्ते गद्गदादिभिः ।।
स्थानभ्रष्टैः स्वरैर्भूयः स्खलितैर्गद्गदैरपि ।

होते हैं। अत सात्त्विक[८५] भाव कहलाते है। यद्यपि सात्त्विक भावो मे सामान्यत अनुभावत्व है, फिर भी सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन सात्त्विक भावो के पृथक्-रूप से लक्षण किये गये है। स्तम्भादि ये सात्त्विक भाव है। ये सात्त्विक भाव आठ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-भेद, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय।

(सात्त्विक-भाव)

१०१ 'स्तम्भ' मद, रोग, क्रोध, भय, विस्मय, गर्व तथा हर्ष-विषाद आदि से नीच एव मध्यम मे उत्पन्न होता है। सचेतन भी निष्क्रिय, निष्कम्प, जड-आकृति, शून्य तथा शरीर के कठोर हो जाने से 'स्तम्भ' लाभ वाला कहाता है।

१०२ 'स्वेद' सपीडन, क्रोध, श्रम, व्यायाम, भय, गर्मी, हर्ष, ज्वर, ग्लानि, सुख तथा लज्जा आदि से होता है। स्वेद के हटाने से, पखा झलने से तथा वायु की अभिलाषा से स्वोदानुभाव प्रकाशित होता है।

१०३ 'रोमाञ्च' क्रोध, रोग, भय, हर्ष तथा शीत आदि से होता है। बार-बार शरीर के स्पर्श से तथा पुलकित होने से रोमाञ्च को जानना चाहिए।

१०४ 'स्वर-भेद' रोग, मद, क्रोध, हर्ष, भय तथा ज्वर से होता है। स्वरो के स्थान भ्रष्ट होने से, बार-बार स्वरो के स्खलित होने से, स्वरो के गद्-गद होने से तथा गद्-गद होने आदि से कविलोग 'स्वर-भेद' का अनुभव वर्णित करते है।

बाष्पो जृम्भाभयक्रोधशीतैरनिमिषेक्षणैः ।
जायते रोगशोकाभ्यां धूमाञ्जनविजृम्भणैः ।
वर्ण्यतेऽसौ मुहुर्बाष्पमोक्षणैर्नेत्रमार्जनैः ॥

१०६ वैवर्ण्यमातपक्रोधव्याधिशीतभयक्लमैः ।
अङ्गकार्श्याङ्गसौन्दर्यविप्लवाद्यैः स वर्ण्यते ॥

१०७ कम्पो गदभयस्पर्शहर्षरोषजरादिभिः ।
वेपनैः स्फुरणैः कम्पैस्स वर्ण्यः कविपुङ्गवैः ॥

१०८ प्रलयो मदनिद्रारुक्प्रहारैरुपजायते ।
स च दुःखाभिषङ्गाच्च निश्चेतनतयोच्यते ॥

१०९ एते विशेषतः काव्यबन्धास्तु रसपोषकाः ।
निर्वेदः प्रथमं ग्लानिः शङ्काऽसूया मदः श्रमः ॥
आलस्यदैन्यचिन्ताश्च व्रीडा मोहः स्मृतिर्धृतिः ।
हर्षश्चपलताऽऽवेगजाड्यौत्सुक्यविषादिताः ।
गर्वोऽमर्षोऽवहित्थश्च मतिर्निद्राप्यपस्मृतिः ।
सुप्तिः प्रबोधश्चोग्रत्वं व्याधिर्मरणमेव च ॥
त्रासोन्मादवितर्काश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

---

१०५ 'बाष्प' जभाँई, भय, क्रोध, शीत, निर्निमेष देखने, रोग, शोक, धूम (धूआँ), अञ्जन तथा विजृम्भण से उत्पन्न होता है। बार-बार आँसूओ के गिरने से तथा आँखो को पोछने से 'बाष्प' का अभिनय होता है।

१०६ 'वैवर्ण्य' गर्मी, क्रोध, व्याधि, शीत, भय तथा थकान से उत्पन्न होता है। शरीर को कृश करके, शरीर के सौन्दर्य को फीका करके वह वैवर्ण्य, वर्णित किया जाता है।

१०७ 'कम्प' रोग, भय, स्पर्श, हर्ष, रोप तथा वृद्धावस्था से उत्पन्न होता है। काँपने, स्फुरित होने तथा थरथराहट से कविलोगो को उस 'कम्प' का वर्णन करना चाहिए।

१०८ 'प्रलय' मद, निद्रा, रोग, प्रहार से उत्पन्न होता है। दुख के प्रसग से तथा निश्चेष्टता से प्रलय का अभिनय होता है।

ये (सात्त्विक भाव) विशेषत काव्य के अनुबन्ध हैं और रस के पोषक भी है।

(व्यभिचारी-भाव)

१०९ निर्वेद, ग्लानि, शका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, व्रीडा, मोह, स्मृति, धृति, हर्ष, चपलता, आवेग, जडता, औत्सुक्य, विपाद, गर्व, अमर्ष, अवहित्था, मति, निद्रा, अपस्मृति, सुप्ति, प्रबोध, औग्रय, व्याधि, मरण, त्रास, उन्माद तथा वितर्क—ये 33 (तैतीस) व्यभिचारी-भाव है।

११० दारिद्रचव्याधिदुःखेष्टवियोगपरवृद्धिभिः ॥
ईर्ष्यातत्त्वावबोधाभ्यां निर्वेदो नाम जायते ।
अन्तर्बाष्पोद्गमध्याननिश्वासाश्च मुहुर्मुहुः ॥
स्वात्मावमाननं दैन्यं गद्गदत्वं विवर्णता ।
अनुभावास्तु गदिता निर्वेदस्यैवमादयः ॥
स्त्रीनीचादिषु वर्ण्योऽयं रुदितश्वसितादिभिः ।
तत्त्वावबोधजो योगिष्वनुपादेयतां व्रजेत् ॥
१११ ग्लानिर्विरेकवमनजागरातिरताध्वभिः ।
उपवासमनस्तापक्षुत्पिपासादिभिर्भवेत् ॥
कम्पानुत्साहवैवर्ण्यस्वेदमन्दपदक्रमैः ।
क्षामवाक्याक्षिसञ्चारकार्श्याङ्गश्वसनादिभिः ॥
ग्लानिजाह्यनुभावास्ते कथिता ह्येवमादयः ।
११२ चौर्यादिग्रहपापादिकर्मक्ष्मापापराधजा ॥
शङ्का सन्देहरूपा स्यात्स्त्रीनीचप्रकृतिश्रिता ।
स्वात्मोत्था च परोत्थेति सा पुनर्द्विविधा भवेत् ॥

(निर्वेद)

११० 'निर्वेद, नामक व्यभिचारी-भाव दरिद्रता, व्याधि (रोग) दु ख,प्रियजन के वियोग, दूसरे की वृद्धि, ईर्ष्या तथा तत्त्वज्ञान आदि विभावो से उत्पन्न होता है। बार-बार अन्दर-अन्दर ही आँसुओ का निकलना, ध्यान, नि श्वास, अपने को धिक्कारना, दीनता, गद्-गद होना तथा विवर्णता आदि निर्वेद के अनुभाव कहे गये है। यह भाव स्त्री एव नीच प्रकृति के लोगो के रुदन, लम्बी श्वाँस से अभिनेय है। योगियो मे 'तत्त्व-ज्ञान-जन्य' (निर्वेद) अनुपादेय है।

(ग्लानि)

१११ 'ग्लानि' नामक व्यभिचारी-भाव रेचन, वमन, जागरण, अतिशय कामभाव, मार्ग से थकावट, उपवास, मन का सताप, क्षुधा तथा पिपासा आदि विभावो से उत्पन्न होता है। कम्पन, उत्साह, वैवर्ण्य, स्वेद, पद-विक्षेप की मन्दता, वचन मे दुर्बलता, नेत्र-सचार, अगो की तनुता तथा श्वास लेना आदि अनुभावो से अभिनेय है। इस प्रकार ये ग्लानि से उत्पन्न अनुभाव कहे जाते है।

(शका)

११२ 'शका' नामक व्यभिचारी-भाव चोरी आदि मे पकडाने, पापाचरण तथा राजा के अपराध आदि विभावो से उत्पन्न होता है। स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रो के आश्रित रहने वाला यह भाव सन्देह-रूप अर्थात् 'सन्देहात्मक' होता है। यह भाव दो प्रकार का होता है—स्वात्मोत्था तथा परोत्था। स्वर-भेद, अश्रु,

स्वरभेदोऽश्रु वैवर्ण्यमास्यशोषोऽवकुण्ठनम् ।
पार्श्वावलोकनं जिह्वालेहनं चोरुकम्पनम् ।।
आकारसंवृतिरिति भावाः शङ्कानुभावकाः ।
आत्मोत्था तुपरिज्ञेया दीनदृष्टिविलोकनैः ।।
परोत्थात्वङ्गचेष्टाभिर्विज्ञेया भावकोविदैः ।
तारापुटभ्रूदृष्टीनां विकारानिङ्गितं विदुः ।।
आकाराः सत्त्वजा भावा इति विद्वद्भिरीरिताः ।
चेष्टाः स्युरङ्गप्रत्यङ्गजनितास्त्वनिमित्ततः ।।
११३ परस्य सौभाग्यैश्वर्यमेधालीलासमुच्छ्रयैः ।
असूया नाम सा दूरापराधान्वेषणादिभिः ।।
दोषप्रख्यापनमधोमुखता भ्रुकुटीकृतिः ।
अप्रदानं दृशोरीर्ष्यापरिवर्तितवक्त्रता ।।
अवज्ञेत्यनुभावाः स्युरसूयायामुदाहृताः ।
११४ मद्योपयोगादैश्वर्याद्विद्यया चापि जन्मत ।।
उत्तमस्त्रीपरिष्वङ्गान्मदः सम्पद्यते नृणाम् ।
मद्योपयोगजस्त्रेधा तरुणो मध्यमस्तथा ।।
अपकृष्टश्च तस्यैव करणं पञ्चधा भवेत् ।
ज्येष्ठा मध्या कनिष्ठेति तस्यैव प्रकृतिस्त्रिधा ।।

वैवर्ण्य, मुँह सूखना, सकुचित होना, बगल मे देखना, जिह्वा चाटना, उरु-कम्पन तथा आकृति को ढँकना आदि शका के अनुभाव है। दीन दृष्टि से देखने से 'आत्मोथा' शका-भाव को जानना चाहिए। सहृदयो को अग-चेष्टाओ से 'परोत्था' शकाभाव को जानना चाहिए। पलके, भ्रकुटी तथा दृष्टि के विकार को 'इगिन' जानना चाहिए। सत्त्व से उत्पन्न सात्त्विक-भावो को विद्वान 'आकार' कहते है। अग-प्रत्यग से अकारण किया गया व्यापार 'चेष्टा' है।

(असूया)

११३ 'असूया' नामक व्यभिचारी-भाव दूसरो के सौभाग्य, ऐश्वर्य, मेधा, लीला, उत्कर्ष तथा दूर के अपराधो के अन्वेषण आदि विभावो से उत्पन्न होता है। दोष-कथन, नीचे मुँह करना, भौहे चढाना, दृष्टि नही देना, ईर्ष्या के कारण मुँह फेर लेना तथा अवहेलना करना आदि 'असूया' के अनुभाव है।

(मद)

११४ मद्य के उपयोग, ऐश्वर्य, विद्या, जन्म तथा उत्तम स्त्री के आलिंगन से मनुष्यो मे मद नामक व्यभिचारी-भाव सम्पादित होता है। मद्य के उपयोग से उत्पन्न 'मद' व्यभिचारी-भाव तरुण, मध्य और अपकृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता

अन्यदारभते वाक्यमन्यां वाचं ब्रवीति च ।
वीक्षते कंचिदेकं च भुजाभ्यामवलम्बते ।।
पुरश्चालयते पादौ तिर्यक्तौ निदधाति च ।
आविर्भूतस्वेदलेशं हर्षादुत्फुल्लमाननम् ।।
अव्यक्तवर्णं वचनं मदे तरुणनामनि ।
११५ स्खलद्विलम्बिगमनं व्याविद्धपदसञ्चरम् ।।
श्लथमानभुजाक्षेपः शून्यालम्बनमीक्षणम् ।
अविभक्तपदालापो विस्मृतिश्च पदे पदे ।।
आकाशलक्ष्यं वचनं तथाकाशावलम्बनम् ।
इत्थं मध्यमदे प्रोक्तमेवमादिविचेष्टितम् ।।
११६ न संज्ञां लभते गन्तुं न शक्नोति पदात्पदम् ।
पर्दते छर्दते निष्ठीवति श्वसिति हिक्कते ।।
गुरुकण्ठध्वनिर्नष्टस्मृतिर्जर्झरभाषणम् ।
एवमादिविकाराः स्युरपकृष्टमदे मुहुः ।।
केचित्स्वपन्ति गायन्ति केचित्केऽपि हसन्ति च ।
केचिद्रुदन्ति केचित्तु परुषं ब्रुवते मुहुः ।।

है । इसके पाँच कारण (विभाग) होते है । ज्येष्ठा (उत्तम), मध्या (मध्यम) तथा कनिष्ठा (अधम)—इनकी तीन प्रकार की प्रकृति होती है। 'तरुण' नामक मद मे उत्तम प्रकृति के पात्र मत्त हो हर्ष के कारण पसीने की बूँदो से लथपथ हो जाता है, प्रफुल्लित वदन वाला हो जाता है तथा अस्पष्ट पदावली से युक्त वचनो का प्रयोग करता है, अन्यथा वाक्य प्रारम्भ करता है, अन्य वाणी बोलता है, किसी एक को देखता है, भुजाओ से सहारा लेता है, दीवाल का सहारा लेता है और टेढे पैर रखता है ।

११५ 'मध्य-मद' मे ऐसा कहा जाता है कि मध्यम प्रकृति का पात्र मत्त हो लडखडाती हुई तथा अविलम्बि-गति, अस्थिर—पद-सचरण अर्थात् अस्थिर-चाल, शिथिल बाहुओ का विक्षेप, शून्य का सहारा लेती हुई दृष्टि, सयुक्त पदो का बोलना, पद-पद पर विस्मृति, आकाश को लक्षित करते हुए वचन तथा आकाश का अवलम्बन (सहारा) आदि चेष्टाएँ करता है ।

११६ 'अपकृष्ट' मद मे अधम प्रकृति का पात्र जब मत्त होता है तो कण्ठ-ध्वनि का भारीपन, स्मृति का नाश, टूटा-टूटा भाषण आदि विकारो का प्रदर्शन करता है तथा चेतना नही रखता है, एक कदम से दूसरे कदम चल नही सकता है, अपान वायु छोड़ता है, छीकता है, थूकता है, साँस लेता है, हिचकी लेता है । कोई बार-बार सोते हैं, कोई बार-बार गाते है, कोई बार-बार हँसते है, कोई बार-बार रोते है तथा कोई बार-बार कठोर वचन बोलते है ।

११७ उत्तमप्रकृतिः शेते नृत्यन् गायति मध्यमः ।
अधमो रोदिति हसत्येवं प्रकृतिजा गुणाः ।।

११८ विद्याऽऽभिजात्यसम्पत्तिमदेऽनुत्तरभाषणम् ।
अवज्ञागर्भितं वाक्यं सुहृदामप्यनादरः ।।
एवमादिविकाराः स्युर्विद्यादिजनिते मदे ।

११९ उत्तमस्त्रीरतिमदे हर्षो रागश्च चक्षुषोः ।।
सौरभ्यमङ्गलावण्यमहंमतिरनादरः ।
एवमादिविकाराश्च कथिताः पूर्वसूरिभिः ।।

१२० व्याघूर्णमानतारं यत्क्षामोपान्तविचोलनम् ।
चक्षुर्विकसितापाङ्गं तरुणे मदिरामदे ।।

१२१ आकुञ्चितोभयपुटमनवस्थिततारकम् ।
आकम्पमानपक्ष्माग्रं चक्षुर्मध्यमदे भवेत् ।

१२२ निमेषोन्मेषविकृतमन्तर्दर्शिततारकम् ।
अधोऽवलोकनं चक्षुरधमे तु मदे भवेत् ।।

१२३ एवं मदविकाराश्च कथिताः पूर्वसूरिभिः ।

१२४ श्रमो व्यायामनृत्ताध्वमैथुनादिनिषेवणैः ।।
अङ्गमर्दननिश्वासपादसंवाहजृम्भणैः ।

---

११७ उत्तम प्रकृति का पात्र सोता है । मध्यम प्रकृति का पात्र नाचता हुआ गाता है । अधम प्रकृति का पात्र रोता और हँसता है । इस प्रकार ये प्रकृति-जन्य गुण हैं ।

११८ विद्या, कुलीन (अभिजात्य), सम्पत्ति-जन्य मद मे अनुत्तर भाषण, अवज्ञा (अनादर), गर्हित वाक्य, मित्रो का भी अनादर आदि इस प्रकार के विकारो का प्रदर्शन होता है ।

११९ उत्तम-स्त्री-रति-जन्य मद मे आँखो मे हर्ष और राग, सौरभ्य, अग-लावण्य, अह-बुद्धि तथा अनादर आदि इस प्रकार के विकारो को पूर्व-आचार्य बताते है ।

१२० मदिरापान से उत्पन्न 'तरुण' मद मे नेत्र चचल तारो वाले, पतली कनीनिका वाले तथा विकसित अपाग वाले हो जाते है ।

१२१ 'मध्य-मद' मे नेत्र सिकुडे हुए, भय से ढँके हुए, चचल तारो वाले, काँपती हुई अर्धवरौनी वाले हो जाते है ।

१२२ 'अधम-मद' मे नेत्र बन्द होते है, खुलते है, बिगडी हुई (टूटी हुई) तथा बीच-बीच मे टूटी हुई दृष्टि वाले हो जाते है तथा नीचे दृष्टि डाले हुए रहते हैं ।

१२३ इस प्रकार पूर्वाचार्यो ने 'मद' के विकार कहे है ।

(श्रम)

१२४ 'श्रम' नामक व्यभिचारी-भाव व्यायाम, नृत्य, दूर की यात्रा तथा सुरतसेवन आदि

मन्दयानेन सीत्कारमुखनेत्रविकूणनैः ॥
एतैः श्रमस्यानुभावः कथ्यते काव्यसूरिभिः ।
१२५ स्वभावखेदसौहित्यव्याधिगर्भादिभिर्भवेत् ॥
आलस्यं तच्छिरश्शूलजृम्भणाक्षिविमर्दनैः ।
स्तम्भेन गात्रमनसो स्त्रीनीचादिषु वर्ण्यते ॥
सर्वत्र कार्यप्रद्वेषान्निद्रातन्द्रीनिषेवणात् ।
शयनासनरागेण वर्ण्योऽसावितरेषु तु ॥
१२६ दैन्यमौत्सुक्यदौर्गत्यचिन्ताहृत्तापसम्भवम् ।
अनुभावः शिरश्शूलशिरोव्यावृत्तिधूननैः ॥
देहोपस्करणत्यागात् गात्रगौरवतो भवेत् ।
१२७ ऐश्वर्यभ्रंशदारिद्र्यादिष्टद्रव्यापहारतः ॥
वितर्कात्मा भवेच्चिन्ता स्मृतेरन्या प्रतीयते ।
निश्वासैश्चापि सोच्छ्वासैरधोमुखविचिन्तनैः ॥
सन्तापशून्यचित्तत्वकार्श्याकाशावलोकनैः ।
एवं चिन्तानुभावास्तु कथ्यन्ते काव्यकोविदैः ॥

विभावो से उत्पन्न होता है। शरीर दबाने, निश्वास, पैर मालिश करने, जँभाई, मन्द गति, सीत्कार तथा आँख-मुँह सिकोडने आदि अनुभावो से अभिनेय है। इस प्रकार ये 'श्रम' के अनुभाव कविजनो द्वारा कहे गये है।

(आलस्य)

१२५ 'आलस्य' नामक व्यभिचारी-भाव स्वभाव, खेद, अघाने, रोग तथा गर्भ आदि विभावो से उत्पन्न होता है। शिर-दर्द, जँभाई, आँख रगडने तथा शरीर और मन के रोकने आदि अनुभावो द्वारा यह भाव स्त्रियो तथा नीच प्रकृति के पात्रो मे वर्णित होता है तथा सभी कार्यो मे अरुचि, निन्द्रा और तन्द्रा मे रहने, शयन, आसन तथा राग आदि अनुभावो के द्वारा यह भाव स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रो से भिन्न अन्य पात्रो मे वर्णित होता है।

(दैन्य)

१२६ 'दैन्य' नामक व्यभिचारी-भाव, औत्सुक्य, दुर्गति, चिन्ता तथा मनस्ताप आदि विभावो से उत्पन्न होता है। शिर-दर्द, शिर फटना, व्याकुलता, शरीर की पीडा, शरीर का त्याग तथा शरीर की गुरुता आदि अनुभावो से अभिनेय होता है।

(चिन्ता)

१२७ ऐश्वर्यनाश, दारिद्र्य तथा इष्ट द्रव्य के अपहरण आदि विभावो से सशयस्वरूप (वितर्कात्मा) 'चिन्ता' नामक व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होता है, तथा स्मरण से अन्य प्रतीत होता है। निश्वास उच्छ्वास, नीचे मुँह कर चिन्तन, सन्ताप, चित्त के शून्य होने, कृशता तथा आकाश की ओर देखने आदि अनुभावो से यह अभिनेय होता है। इस प्रकार ये 'चिन्ता' के अनुभाव काव्यज्ञो द्वारा कहे गये है।

१२८ अकार्यकरणाज्ञानगुर्वाज्ञादिव्यतिक्रमात् ।
अनिर्वाहात्प्रतिज्ञायास्त्यागे भूयोऽनुतापतः ॥
व्रीडा तदनुभावाः स्युरुर्वीलेखनचिन्तनम् ।
मुखावनम्रताऽव्यक्तवचनं नखकर्तनम् ॥
वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शो दूरादेवावकुण्ठनम् ।
अनिर्गमो बहिः क्वापि सर्वत्राप्यनवस्थितिः ॥

१२९ मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं पूर्ववैरस्मृतेर्मदात् ।
दैवोपघातान्मात्सर्यात् भयाच्चापि प्रहारतः ॥
आवेगात्तत्प्रतीकारविहतेरेवमुद्भवेत् ।
निश्चेष्टता प्रपतनं वैवर्ण्यं देहघूर्णनम् ॥
सर्वेन्द्रियप्रमोहश्च निश्वासो नष्टसंज्ञता ।
मोहस्य कथिताः सद्भिरनुभावाः स्वरूपतः ।

१३० देशकालोपयुक्तानां सुखदुःखानुषङ्गिणाम् ।
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते ॥
दौस्स्थ्यान्निद्राक्षयाद्रात्र्याः प्रहरात्पश्चिमादपि ।
चिन्ताया मुहुरभ्यासात्समानश्रुतिदर्शनात् ॥

(व्रीडा)

१२८ 'व्रीडा' नामक व्यभिचारी-भाव अनुचित कार्य करने, अज्ञान, गुरुजनो की आज्ञादि का उल्लघन, प्रतिज्ञा के निर्वाह न होने तथा त्याग मे बार-बार दु ख करने आदि विभावो से उत्पन्न होता है। पृथ्वी पर लिखना, चिन्तन, मुँह नीचा करना, अस्पष्ट वाक्य बोलना, नाखून कतरना, वस्त्र तथा अँगूठी का स्पर्श करना, दूर से ही घूँघट करना, कही भी बाहर न निकलना तथा सभी जगह न रुकना आदि व्रीडा के अनुभाव है।

(मोह)

१२९ 'मोह' नामक व्यभिचारी-भाव चित्त की शून्यता, पुराने वैर के स्मरण, मद, दैवीय विपत्ति, मत्सर, भय, प्रहार, आवेग तथा उसके बदले मे विरोध आदि विभावो से उत्पन्न होता है। निश्चेष्टता, पतन, वैवर्ण्य (मुँह का फीका पडना) शरीर का चकराना, सभी इन्द्रियो के प्रति मोह, निश्वास तथा निश्चेतता आदि विद्वानो ने 'मोह' के स्वरूपत अनुभाव कहे है।

(स्मृति)

१३० देश तथा काल के उपयुक्त, सुख तथा दु ख से सम्बन्धित, बहुत पूर्व समय मे भूली हुई वस्तुओ का स्मरण ही 'स्मृति' भाव कहलाता है। अस्वस्थता, रात्रि के पिछले प्रहर मे निद्रा-भग होना, चिन्ता, बार-बार अभ्यास, समान श्रवण

भवेत्तदनुभावस्तु भ्रूसमुन्नमनं मुहुः ।
उद्वाहनं च शिरसः सदृशस्यावलोकनम् ॥
हर्षश्च शिरसः कम्पः कथितो रसकोविदैः ।

१३१ शौर्याद्विज्ञानतः शौचाचाराच्च गुरुभक्तितः ॥
श्रुतप्रभावतो क्रीडान्नानार्थाप्तेर्भवेद्धृतिः ।
प्रियाप्रियाविकारित्वं तदात्वोचितकारिता ॥
अप्राप्तातीतनष्टानामलाभेऽनभिशोचनम् ।

१३२ हर्षो मनःप्रसादः स्यादीप्सितार्थोपसङ्गमात् ॥
इष्टसङ्गमनाद्देवगुरुभर्तृप्रसादतः ।
अभिरूपोपभोगाच्च बन्धुतृप्तेः सुभोजनात् ॥
अचिन्त्येष्टार्थसम्पत्तेर्जायते सर्वदा नृणाम् ।
रोमाञ्चालिङ्गनस्वेदैः ललितैःकरताडनैः ॥
नेत्रवक्त्रप्रसादैश्च भाषितैर्मधुरैरपि ।
त्यागदानप्रबन्धैः स्युरनुभावास्तु हर्षजाः ॥

१३३ चापलं प्रातिकूल्येर्ष्यामत्सरद्वेषरागजम् ।

तथा दर्शन आदि विभावो से 'स्मृति' नामक व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होता है। बार-बार भौहो का चढना, शिर का घूमना, समान वस्तु का अवलोकन, हर्ष तथा शिर का कम्पन आदि रसज्ञो ने 'स्मृति' के अनुभाव कहे है।

(धृति)

१३१ 'धृति' नामक व्यभिचारी-भाव शूरता, विज्ञान, पवित्र-आचार, गुरु-भक्ति, श्रुति-प्रभाव, क्रीडा तथा नानार्थ की प्राप्ति आदि विभावो से उत्पन्न होता है। प्रिय-अप्रिय मे विकार न होना, तत्कालीन उचित कर्म करना, अप्राप्त, अतीत, नष्ट विषयो का लाभ न होने पर शोक न करना आदि 'धृति' के अनुभाव है।

(हर्ष)

१३२ मन की प्रसन्नता 'हर्ष' है। यह 'हर्ष' नामक व्यभिचारी-भाव अभीष्ट वस्तु के ममागम, प्रियजन-समागम, देवता, गुरु तथा स्वामी की प्रसन्नता, अनुकूल-उपभोग, मित्र की प्रसन्नता, सुन्दर भोजन, अचिन्त्य तथा अभीष्ट अर्थ-प्राप्ति आदि विभावो से मनुष्यो मे सर्वदा उत्पन्न होता है। रोमाच, आलिंगन, खेद, ललित-कर-ताडन, नयन-वदन की प्रसन्नता, मधुर-भाषण, त्याग तथा दान की कहानी आदि 'हर्ष' से उत्पन्न अनुभव है।

(चंचलता)

१३३ 'चचलता' नामक व्यभिचारी-भाव प्रतिकूलता, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष तथा राग

अनुभावोऽबिमृश्यैव ताडनं बन्धनं वधः ।।
भर्त्सनं दण्डपारुष्यमवमानादि कथ्यते ।

१३४ आवेगस्तु महोत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरात् ।।
प्रियाप्रियश्रुतेश्चापि व्यसनाभिहतैरपि ।

१३५ उल्काशनिप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागतः ।।
केतुदर्शनभूकम्पादिभिरुत्पात उच्यते ।
स वर्णनीयो वैवर्ण्यभयविस्मयसम्भ्रमैः ।
विषादाद्वैमनस्येन सर्वाङ्गोत्कम्पनैरपि ।

१३६ त्वरितैर्गमनैर्वस्त्राच्छादनैरवकुण्ठनैः ।।
नेत्रावमर्दनैर्वातजनितं वर्णयेद् बुधः ।

१३७ छत्रादिग्रहणाच्छन्नाश्रयसर्वाङ्गपीडनैः ।।
आपीडधावनैर्बाहुस्वस्तिकोत्कटिकासनैः ।
शिरोऽवनमनैः शीघ्रगतैर्वर्ण्येत वर्षजम् ।

१३८ अतिक्रान्तपदैरङ्गधूननैर्व्यजनग्रहैः ।
बाष्पजृम्भणनिश्वासैरभिनेयोऽग्निसंभवः ।।

आदि विभावो से उत्पन्न होता है । असावधानी, ताडन, बन्धन, वध भर्त्सना दण्ड, कठोरता तथा अपमान आदि 'चचलता' के अनुभाव कहे जाते है ।

(आवेग)

१३४ 'आवेग' नामक व्यभिचारी-भाव महान् उत्पत्ति, आँधी, वर्षा, अग्नि-प्रकोप, हाथी का इधर-उधर भागना, प्रिय या अप्रिय समाचार के श्रवण तथा विपत्ति-ग्रस्त आदि विभावो से उत्पन्न होता है ।

१३५ (१) तारो के टूटने, शनि नक्षत्र के गिरने, चन्द्र-ग्रहण तथा सूर्य-ग्रहण, पुच्छल तारे के दीखने तथा भूकम्प आदि से 'उत्पात-जन्य-आवेग' कहलाता है । यह 'आवेग' भाव मुख की विवर्णता, भय, आश्चर्य, घबराहट, विपाद, वैमनस्य तथा सर्वांग-कम्पन आदि अनुभावो से वर्णनीय है ।

१३६ (२) शीघ्र-गमन, वस्त्र-आच्छादन, घूँघट तथा आँखो के रगडने आदि अनुभावो से 'वात-जन्य-आवेग' कविजनो द्वारा उपस्थित होना चाहिए ।

१३७ (३) छतरी आदि के ग्रहण करने, पटाव का आश्रय, सर्वांग मे पीडा, पीडा-युक्त दौडना, बाहु, स्वस्तिक तथा उत्कटित आसन, शिर को झुकाना तथा शीघ्र-गति आदि अनुभावो से 'वर्षा-जन्य-आवेग' को उपस्थित करना चाहिए ।

१३८ पैरो को फेकना, शरीर की व्याकुलता, पखा झलने, आँसू, जँभाई तथा नि श्वास आदि अनुभावो से 'अग्नि-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१३९ पश्चाद्विलोकनस्तम्भभयवेपथुविस्मयैः ।
कुञ्जरभ्रमजो भाव्यस्त्वरितैरपसर्पणैः ।।

१४० वस्त्राभरणदानाश्रुपुलकालिङ्गनादिभिः ।
अभ्युत्थानेन वर्ण्योऽयं प्रियश्रवणजो बुधैः ।।

१४१ विलापाक्रन्दभूपातपरिदेवितधावितैः ।
अप्रियश्रुतिजो वर्ण्यो विषमैः परिवर्तनैः ।।

१४२ गजवाजिरथारोहशस्त्रास्त्रग्रहधारणैः ।
शत्रुव्यसनजो वर्ण्यः सहसाऽपक्रमादिभिः ।।

१४३ एवमष्टविधो ज्ञेय आवेगः सम्भ्रमात्मकः ।

१४४ जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा ।।
प्रियाप्रियश्रुतैस्तत्तद्दर्शनैर्व्याधिभिर्भवेत् ।
सुखदुःखाविवेकित्वमिष्टानिष्टानभिज्ञता ।।
तूष्णीमप्रतिभा चाक्ष्णोरनिमेषोऽनवेक्षणम् ।
अभाषणं पारवश्यमेतैर्जाड्यं निरूप्यते ।।

१४५ औत्सुक्यमिष्टविरहात्तदनुस्मृतिदर्शनात् ।

---

१३९ (५) पीछे देखना, स्तम्भ, भय, कम्पन, आश्चर्य तथा शीघ्रता से पीछे हटना आदि अनुभावो से 'कुञ्जर-भ्रमण-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४० (६) वस्त्राभूषण के दान, अश्रु, रोमाच, आलिगन तथा अभ्युत्थान आदि अनुभावो से 'प्रिय-श्रवण-जन्य-आवेग', विद्वानो द्वारा वर्णित होना चाहिए ।

१४१ (७) विलाप, आक्रन्द, भूमि पर गिरने, रोने, दौडने तथा विषम-परिवर्तन आदि अनुभावो से 'अप्रिय-श्रवण-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४२ (८) हाथी, घोडे तथा रथ पर चढने, अस्त्र-शस्त्र-ग्रह धारण करने तथा अकस्मात् पीछे हटने आदि अनुभावो से 'शत्रु-व्यसन-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४३ इस प्रकार आठ प्रकार के सम्भ्रमात्मक (घबराहट से युक्त) आवेग को जानना चाहिए ।

(जडता)

१४४ 'जडता' नामक व्यभिचारी भाव हमेशा सभी प्रकार के कार्यो मे प्रवृत्त न होने पर होता है । इष्टानिष्ट के श्रवण और दर्शन, तथा व्याधि (रोग) आदि विभावो से उत्पन्न होता है । सुख-दु ख के प्रति अविवेक, प्रियाप्रिय कार्यों मे अनभिज्ञता, मौन रहने, अप्रतिभ रह जाने, एकटक देखने, न देखने, न बोलने तथा परवश होने आदि अनुभावो से 'जडता' निरूपित होती है ।

(उत्सुकता)

१४५ 'उत्सुकता' नामक व्यभिचारी—भाव प्रिय के वियोग, वियोग के अनुस्मरण तथा दर्शन आदि विभावो से उत्पन्न होता है । चिन्ता, निद्रा, शय्या की अभिलाषा (सोने

चिन्तया निद्रया शय्याऽभिलाषाद्गात्रगौरवैः ।।
वर्ण्यते सम्यगौत्सुक्यं त्वरानिश्वसितादिभिः ।
१४६ कार्यानिस्तरणाद्दैवात् व्यापत्तेराजदोषतः ।।
चौर्यादिग्रहणाद्विघ्नाद्विषादो नाम जायते ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठेषु स त्रिधा कथ्यते बुधैः ।।
सहायान्वेषणोपायचिन्तादि ज्येष्ठतो भवेत् ।
वैमनस्यमनुत्साहो विघ्नैः शय्या च मध्यमे ।।
ध्यानश्वसितमूर्च्छादिः कनिष्ठानां निरूप्यते ।
१४७ गर्वो विद्याबलैश्वर्यवयोरूपधनादिभिः ।।
तमनुत्तरदानेन शून्यालोकैरभाषणैः ।
आश्रितेष्वप्यवज्ञानाद्दोर्द्वयाङ्गावलोकनात् ।।
असूयाऽमर्षपारुष्यापहासगुरुलङ्घनैः ।
अकारणादधिक्षेपाद्गात्राणां विकृतैर्वदेत् ।।
१४८ प्रतिक्रियेच्छाऽमर्षः स्याद्विद्यैश्वर्यबलाधिकैः ।
आक्षिप्तस्य सभामध्येऽवमानं गमितस्य वा ।।

की इच्छा), शरीर की गुरुता तथा शीघ्र नि श्वास आदि अनुभावो से 'उत्सुकता' अभिनेय है ।

(विषाद)

१४६ 'विषाद' नामक व्यभिचारी-भाव कार्य न करने, देवी-विपत्ति, राजदोष. चोरादि के पकडने तथा विघ्न आदि विभावो से उत्पन्न होता है । ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ पात्रो मे रहने से 'विषाद' विद्वानो द्वारा तीन प्रकार का कहा जाता है । सहायक के ढूँढने तथा उपाय की चिन्ता करने आदि अनुभावो से 'ज्येष्ठ' का विषाद अभिनेय है । वैमनस्य, उत्साहनाश तथा विघ्न से सोने आदि अनुभावो से 'मध्यम' का विषाद अभिनेय है । ध्यान तथा साँस लेते हुए, मूर्च्छा आदि अनुभावो से 'नीचो' का विषाद निरूपित होता है ।

(गर्व)

१४७ 'गर्व' नामक व्यभिचारी-भाव विद्या, बल, ऐश्वर्य, अवस्था (वय), रूप तथा धन आदि विभावो से उत्पन्न होता है । उत्तर न देने, शून्य दृष्टि, न बोलने, आश्रितो के प्रति भी अनादर, दोनो भुजा तथा अग देखने, असूया. अमर्ष, कठोरता, उपहास, गुरुजनो की अवहेलना, अकारण तिरस्कार तथा शरीर की विकृति आदि अनुभावो से अभिनेय है ।

(अमर्ष)

१४८ प्रतीकार करने की इच्छा का नाम 'अमर्ष' है । यह भाव विद्या, ऐश्वर्य तथा बल मे अधिक समर्थ पुरुषो द्वारा सभा के मध्य में अपमानित तथा अनादर

शिरःप्रकंपनस्वेदध्यानोपायगवेषणैः ।
उत्साहव्यवसायाद्यैर्वर्ण्योऽसौ रसकोविदैः ।।

१४९ अवहित्थं भयव्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यसंभवम् ।
शून्यस्मितं कथाभङ्गो मिथ्याधैर्यं तदीक्षणम् ।।
अन्तर्व्यथा बहिर्गर्वभावनेत्यवहित्थजाः ।

१५० नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिःस्याच्छ्रुतधारिणी ।।
संशयच्छेदनैः शिष्यहिताधानार्थदर्शनैः ।
वर्ण्यते चित्तसन्तोषाद्विदग्धव्यवहारतः ।।

१५१ निद्रा मदश्रमग्लानिदौर्बल्यालस्यचिन्तनैः ।
अत्याहारादनशनदुःखशोकादिभिर्भवेत् ।।
तां गात्रगौरवैरक्ष्णोर्निमीलनविघूर्णनैः ।
निश्वासजाड्यजृम्भाक्षिविमर्दैर्वर्णयेत्कविः ।।

१५२ अपस्मारो महाभूतपिशाचब्रह्मरक्षसाम् ।
ग्रहणानुस्मृतेः शून्यश्मशानागारसेवनैः ।।

या न्यून किये हुए व्यक्ति मे उत्पन्न होता है। शिर मे कम्पन, स्वेद, ध्यान, उपाय-अन्वेषण, उत्साह तथा प्रयत्न (व्यवसाय) आदि अनुभावो से वह 'अमर्ष' रसज्ञो द्वारा अभिनेय है।

(अवहित्था)

१४९ 'अवहित्था' नामक व्यभिचारी-भाव भय, लज्जा, धृष्टता तथा कुटिलता आदि विभावो से उत्पन्न होता है। शून्य मुस्कराहट, कथा-भग, मिथ्या-धैर्य, उसका अवलोकन, अन्तर्दु ख तथा बाह्य गर्व-भावना आदि अवहित्थाजन्य अनुभाव है।

(मति)

१५० अनेक शास्त्रार्थो से पूर्ण तथा श्रुतियो को धारण करने वाली 'मति' है। यह भाव-शास्त्र सम्बन्धी सशय को दूर करने, शिष्यो के हित की शिक्षा देने, अर्थ-दर्शन, चित्त-सन्तोष तथा कुशल-व्यवहार आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(निद्रा)

१५१ 'निद्रा' नामक व्यभिचारी-भाव मद, श्रम, ग्लानि, दुर्बलता, आलस्य, चिन्तन, अधिक-भोजन, अनशन, दु ख तथा शोक आदि विभावो से उत्पन्न होता है। शरीर की गुरुता, आँखो के मलने, नयनो के घूमने, नि श्वास, जडता, जँभाई तथा आँखो के दबाने आदि अनुभावो से यह 'निद्रा' भाव कवि द्वारा वर्णित होना चाहिए।

(अपस्मार)

१५२ 'अपस्मार' नामक व्यभिचारी-भाव महाभूत, पिशाच, ब्रह्म-राक्षस द्वारा पकडने, उनके अनुस्मरण, शून्य-शमशान, शून्यागार-सेवन, समय का अतिक्रमण,

कालातिक्रमणाद्धातुवैषम्यादशुचित्वतः ।
जायते स तु निश्वासस्तम्भस्फुरितकम्पितैः ॥
फेनवक्त्रत्वपतनजिह्वालेहनधावनैः ।
स्वेदकण्ठोद्धतारावविकटाक्षैर्निरूप्यते ॥

१५३ विबोधः शब्दसंस्पर्शभीषणस्वप्नदर्शनैः ।
निद्राच्छेदात्तथाहारापरिणामादिभिर्भवेत् ॥
भुजाक्षेपाङ्गविस्फोटजृम्भणाक्ष्यवमर्शनैः ।
शय्यात्यागेन वर्ण्योऽयं ग्रीवाऽङ्गवलनादिभिः ॥

१५४ सुप्तिर्निद्रासमुत्था स्यात्तां मन्दाक्षिनिमीलनैः ।
स्वप्नैरुच्छ्वासनिश्वासैरिन्द्रियास्पन्दनैरपि ॥
स्पर्शानभिज्ञताचेष्टावैधुर्याद्यैश्च वर्णयेत् ।

१५५ पुत्रमित्रकलत्रादिद्रोहादेवोग्रता भवेत् ॥
तत्रानुभावोऽतिक्रूरवधबन्धनताडनैः ।

१५६ व्याधिः स्याद्देशकालादिदोषवैषम्यसम्भवा ॥
व्याधिर्ज्वरात्मा द्वेधा स्यादुष्णशीतविभागतः ।

धातु-विषमता तथा अपवित्रता आदि विभावो से उत्पन्न होता है। नि श्वास, स्तम्भ, स्फुरण (हृदय के धडकने), कम्पन, मुँह से फेन निकलने, जिह्वा के चाटने, दौडने, स्वेद, कण्ठ से उठी हुई ध्वनि तथा विकट नेत्र आदि अनुभावो से यह भाव निरूपित होता है।

(विबोध)

१५३ 'विबोध' नामक व्यभिचारी-भाव शब्द-स्पर्श, भीषण-स्वप्न-दर्शन, निद्रा-भग तथा भोजन के परिणाम आदि विभावो से उत्पन्न होता है। यह भुजा चलाने, अग फडकने, जँभाई लेने, आँखो को बार-बार खोलने व बन्द करने, शय्या त्याग तथा गर्दन और अग चलाने (बल लेने) आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(सुप्ति)

१५४ नीद मे उठने वाला भाव 'सुप्ति' है। यह भाव आँखो के मूँदने, स्वप्न, उच्छ्वास (गहरी साँस लेने), नि श्वास, इन्द्रियो के स्पन्दन, स्पर्श की अनभिज्ञता तथा चेष्टाओ से विछोह होने आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(उग्रता)

१५५ 'उग्रता' नामक व्यभिचारी-भाव, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के द्रोह से ही उत्पन्न होता है। अतिक्रूर-बध, बन्धन तथा ताडन आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(व्याधि)

१५६ 'व्याधि' नामक व्यभिचारी-भाव देश तथा काल आदि के अनुसार वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न होता है। यह 'व्याधि' भाव

शिरःकम्पाङ्गसङ्कोचमुखशोषास्यकुणनैः ॥
परिदेवितरोमाञ्चहनुसञ्चलनादिभिः ।
वर्ण्यतेऽत्र सदाहस्तु भूशय्यापरिदेवितैः ॥
विक्षिप्तबाहुचरणवस्त्रैः शीताभिलाषतः ।
शीतानुलेपनोत्क्रोशरक्तेक्षणतयोच्यते ॥
वर्ण्यते व्याधिसामान्यं गात्रस्तम्भास्यकूणनैः ।
श्वासश्लथाङ्गतोत्क्रोशस्रस्ताक्षस्तनितादिभिः ॥
१५७ मरणेऽभिनयो नास्तीत्येतत्काव्ये न बध्यते ।
मरणं तद्द्विधा व्याधेरभिघाताच्च जायते ॥
आयुराम्नायकथितो ज्वरादिर्व्याधिरुच्यते ।
अभिघातस्तु शस्त्रास्त्राशनिपातादिरीरितः ॥
विवर्णगात्रताश्वासवेदनाक्षिनिमीलनैः ।
अव्यक्तवर्णकथनव्यायताङ्गविचेष्टितैः ॥
हिक्कापरिजनोपेक्षादिभिर्व्याधिजमुन्नयेत् ।
अनुभावास्तु बहुधा कथ्यन्ते ह्यभिघातजे ॥
भूमौ विवेष्टनारावविलापभ्रमणादिभिः ।

ज्वर-स्वरूप है, दाह तथा शीत भेद से दो प्रकार का होता है। 'शीत-ज्वर-स्वरूप' शिर-कम्पन, अग-सकोच, मुँह सूखने, मुँह के सिकुडने, विलाप करने, रोमाञ्च, ठुड्डी के हिलाने आदि अनुभावो से वर्णित होता है। 'दाह-ज्वर-स्वरूप' भूमि पर सोने, विलाप करने, हाथ, पैर तथा वस्त्रो के फेंकने, शीत की अभिलाषा, शीत-अनुलेपन, चिल्लाहट तथा रक्त-दृष्टि से देखने आदि अनुभावो से अभिनेय है। सामान्य व्याधि शरीर के कठोर होने, मुँह के सिकुडने, श्वास, शरीर की शिथिलता, चिल्लाहट, झुकी हुई आँखे तथा कृशता आदि अनुभावो से वर्णित होती है।

(मरण)

१५७ 'मरण' मे अभिनय नही होता है—ऐसा नियम है लेकिन यह काव्य मे नही बँधता है। वह 'मरण' नामक व्यभिचारी-भाव दो प्रकार से रोग तथा चोट से उत्पन्न होता है। आयु 'वेद' कहलाती है, ज्वरादि 'व्याधि' कहलाते है। अस्त्र-शस्त्र तथा तलवार आदि का प्रहार 'अभिघात' कहलाते है। गात्रो की विवर्णता, श्वास, वेदना, आँखो को मूँदने, अस्पष्ट वर्णावली का कथन, पुष्ट अगो की चेष्टाएँ, हिचकी लेने तथा सेवको की उपेक्षा करने आदि अनुभावो से 'व्याधि-जन्य-मरण' अभिनेय है। 'अभिघात-मरण' मे अनुभाव अनेक प्रकार के कहे जाते है। यह भूमि पर लेटना, शब्द करना, विलाप तथा भ्रमण आदि अनुभावो से अभिनेय है।

१५८ त्रासो भवेन्निपतनाच्छिलोल्काऽशनिविद्विषाम् ॥
रक्षःस्थूलपशूद्घातनिर्घाताम्बुधरस्वनैः ।
रोमाञ्चगद्गदस्वेदकम्पमोहादिभिर्वदेत् ॥

१५९ ज्येष्ठस्याभीष्टविरहान्मध्यस्येष्टविघातनात् ।
नीचानां धननाशाद्यैरुन्मादो नाम जायते ।
अनिमित्तस्मितोत्क्रोशगीतनृत्तविधावनैः ।
कुचेलतृणनिर्माल्यशरावादिविभूषणैः ।
अनवस्थितिशय्यान्तोपवेशोत्थितरोदनैः ।
असत्प्रलापस्खलितविकाराद्यैः स वर्ण्यते ॥

१६० वितर्कः संशयाद्दूरदृष्टार्थापरिनिश्चयात् ।
विमर्शाद्विस्मृतार्थस्य स्मृतेरित्यादिभिर्भवेत् ॥
ग्रहमोक्षशिरःकम्पव्यवहारादिभिर्वदेत् ।

१६१ द्रष्टव्यं तत्र तत्रैव सात्त्विकव्यभिचारिणाम् ॥
परस्परविभावानुभावत्वे रसकोविदैः ।
अन्येऽपि यदि भावाः स्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः ॥

(त्रास)

१५८ 'त्रास' नामक व्यभिचारी-भाव चट्टानो के गिरने, तारो के टूटने, शत्रुओ के वज्र गिराने, राक्षस तथा भयानक पशुओ का उपद्रव तथा मेघ के गरजने की आवाज आदि विभावो से उत्पन्न होता है। रोमाच, गद्गद होने, स्वेद, कम्पन तथा मोह आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(उन्माद)

१५९ 'उन्माद' नामक व्यभिचारी-भाव ज्येष्ठ पात्र मे प्रिय-जन के वियोग, मध्यम पात्रो मे प्रिय के नाश तथा नीच पात्र मे धन के नाश आदि विभावो से उत्पन्न होता है। अकारण मुस्कराहट, चिल्लाहट, गीत, नृत्य, दौडने, मैले-चिथडे कपडे, तिनके, निर्माल्य तथा मृत्पात्रादि को धारण करने, अस्थिर तथा शय्या के किनारो पर बैठने-उठने, रोने, असम्बद्ध-प्रलाप तथा स्खलित विकारादि अनुभावो से वर्णित होता है।

(वितर्क)

१६० वितर्क, नामक व्यभिचारी-भाव सशय, दूर-दृष्ट-पदार्थ का अनिश्चय, विमर्श तथा विस्मृत पदार्थों की स्मृति आदि विभावो से उत्पन्न होता है। ग्रह-मोक्ष, शिर-कम्पन तथा व्यवहार आदि अनुभावो द्वारा अभिनेय है।[८७]

१६१ सात्त्विक और व्यभिचारी-भावो का परस्पर विभावानुभावत्व रसज्ञो को यथा-स्थान ही देख लेना चाहिए। यदि चित्त-वृत्ति की विशेषता से अन्य भाव भी

अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ।
ये भावास्तेषु भावेषु प्रत्यासन्नाः परस्परम् ॥
विभावतोऽनुभावाच्च स्फुटभेदा इहोदिताः ।
स्थायिष्वपीयमन्योन्यं प्रक्रिया ज्ञायतां बुधैः ॥
सभ्यान्नसयितुमभिनयचातुर्यार्थं रसं च पोषयितुम् ।
कविभिर्निबन्धनीयास्ते [च] विभावादयो नियताः ॥
स्थायिषु भावेषु यदा ये च विभावादयः प्रतिनियताः ।
तैरेव सति निबन्धे भावविशेषः प्रतीयते तत्र ॥
यद्यन्यथा निबन्धे साधारण्येन संशयोत्पत्तेः ।
दोषो विभाव्यते वा युक्तविभावादिवैधुर्यात् ॥

१६२ यथाऽभिधीयमानास्ते रसमाहर्तुमीशते ।
तथैवाक्षिप्यमाणास्तु रसं पुष्णन्ति नित्यशः ॥

१६३ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥

१६४ उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः कल्लोलाश्च यथाऽर्णवे ।
तस्योत्कर्षं वितन्वन्ति यान्ति तद्रूपतामपि ॥

हो तो उन सभी भावो का अन्तर्भाव व्यभिचारी-भावो मे देखना चाहिए। जो भाव उन भावो के परस्पर निकटवर्ती है, विभाव तथा अनुभाव भेद से यहाँ कहे गये है। स्थायी-भावो मे भी भावो की इस परस्पर सम्बन्ध की प्रक्रिया को विद्वान-लोग जाने। सामाजिक के हृदय का स्पर्श करने के लिए, अभिनय के चातुर्य के लिए तथा रस के पोषण के लिए कविजनो को वे निश्चित विभावादि कहने चाहिए। स्थायी-भावा मे जब जो विभावादि निश्चित किये जाते है उन्ही विभावादि द्वारा निबन्ध मे रहने वाला भाव-विशेष प्रतीत होता है। यदि ऐसा नही होता है तो निबन्ध मे साधारणतया सशय की उत्पत्ति तथा उपयुक्त विभावादि के अभाव का दोष जाना जाता है।

१६२ जैसे कि कहे गये वे विभावादि रस को ग्रहण करने के लिए शासित है। उसी प्रकार आक्षिप्त होते हुए विभावादि रस को नित्य ही पुष्ट करते है।

१६३ जो भाव विशेष-रूप से अर्थात् आभिमुख्य से, स्थायी-भाव के अन्तर्गत कभी गिरते-डूबते-उतराते दिखायी देते हैं वे व्यभिचारी-भाव होते हैं। ये भाव स्थायी-भाव मे इसी प्रकार उठते-गिरते है जैसे समुद्र मे तरगे उठती है व गिरती है।"

१६४ जिस प्रकार सागर मे उठती हुई व गिरती व डूबती हुई तरगे सागर की शोभा को बढाती हैं तथा उसी के रूप को भी प्राप्त करती हैं उसी प्रकार स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-डूबते-उतराते व्यभिचारी-भाव अपने

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्तथैव व्यभिचारिणः ।
पुष्णन्ति स्थायिनं स्वांश्च तत्र यान्ति रसात्मताम् ।।
यद्यपि स्याद्रसात्मत्वं तेषां क्वापि कदाचन ।
अस्थिरत्वादथैते स्युर्नाट्याद्यनुपयोगिनः ।।
तस्मादष्टाविति मतं स्थायिनो नाट्यवेदिनाम् ।
विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः ।।
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत् ।
तस्माद्वृद्धप्रयोगेण रसपोषो न जायते ।।
ततोऽष्टौ स्थायिनो भावा नाट्यस्यैवोपयोगिनः ।
यतः स्वरूपारोपेण भावानन्यानुपस्थितान् ।।
स्वात्मन्यैक्येन गृह्णाति स स्थायी लवणोदवत् ।
१६५ भावसाधारणत्वेऽपि निर्वेदाद्यैर्न शक्यते ।।
स्थायित्वमात्मनो नेतुमताद्रूप्यस्वभावतः ।
यत्र क्वचित्स्यात्तत्पोषो वैरस्यायैव कल्पते ।।

स्थायीभावो को पुष्ट करते है तथा रस-रूप को प्राप्त हो जाते है। यद्यपि कही कभी उन व्यभिचारी-भावो की रसात्मता सिद्ध होती है लेकिन ये व्यभिचारी-भाव अस्थायी होने से नाट्यादि के उपयोग के योग्य नही है। इसलिए नाट्यविदो ने आठ प्रकार के स्थायी-भाव कहे है। क्योकि 'शम' नामक स्थायी-भाव मे सभी व्यापार विलीन हो जाते है। अत अनुभाव रहित होने से नाट्य मे 'शम' स्थायी-भाव का अभिनय नही होता है। इसलिए वृद्ध (भरत) के अनुसार 'शम' स्थायी-भाव के प्रयोग से रस पुष्टता को प्राप्त नही होता। अत आठ स्थायी-भाव ही नाट्य मे उपयोगी है। 'स्थायी-भाव'[८१] वह है जो अन्य उपस्थित भावो (विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भावो) को अपने स्वरूप के आरोप से आत्म-रूप बना लेता है। जैसे समुद्र के अन्तर्गत कोई भी खारा या मीठा पानी मिलकर तद्रूप अर्थात् खारा हो जाता है।

१६५ पूर्वपक्षी को स्थायी-भावो की इस सख्या (आठ) के निर्धारण पर आपत्ति है। वह कहता है कि " 'निर्वेद' आदि भावो को भी 'रस' मानना चाहिए। नाटकादि मे निर्वेदादि भावो का स्थायी-भावो की तरह अस्वाद किया जाता है। आस्वाद्य होने के कारण मधुर, अम्ल आदि रस कहलाते है क्योकि उसका रसन प्राप्त किया जाता है। यह रसन निर्वेदादि भावो मे भी पूरी तरह मौजूद है, इसलिए ये भी रस है। इनको रस मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।" इस कथन के अनुसार कई विद्वानो ने दूसरे रसो को भी स्वीकार किया है और इस तरह उन रसो के दूसरे स्थायी-भाव की भी कल्पना हो जाती है। अत वृद्ध-भरत के अनुसार केवल आठ ही स्थायी-भाव गिनना ठीक नही बैठता।

इसी पूर्वपक्ष रूप शका का समाधान करते हुए शारदातनय ने आगे कहा

१६६ अतो नाट्यविदामष्टावेवात्र स्थायिनो मताः ।
प्रकृष्यमाणो यो भावो रसतां प्रतिपद्यते ।।
स एव भावः स्थायीति भरतादिभिरुच्यते ।
केचिदन्येऽपि भावाश्चेत्पोषं यान्ति रसात्मना ।।
तेषां विशेषो विज्ञेयः स्थायिष्वेव न चान्यथा ।
भावानां कार्यनिष्पत्तिरनुभूतिफलात्मिका ।।
तत्कार्यकौशलं तत्र प्रकर्षारोपणं विदुः ।
तत्साध्योऽर्थो रसस्तेषां तदात्मापत्तिरेव सः ।।

१६७ विभावोऽप्यनुभावः स्यादनुभावो विभाववत् ।
तौ पुनश्चारिणः स्यातां ते च तौ स्युः परस्परम् ।।
रसभेदवशादेवमुपकार्योपकारिता ।
चरस्थिरविभागत्वमानुषङ्गिकमीरितम् ।।
रसोपादानता तेषां परस्तादेव वक्ष्यते ।

है कि भाव की साधारणता होने पर भी अर्थात् रत्यादि स्थायी-भावो की तरह निर्वेदादि के आस्वाद्य होने पर भी निर्वेदादि भाव स्थायी-भाव नही हो सकते क्योकि जैसा कि कहा है कि स्थायी भाव वह है जो अन्य उपस्थित भावो (विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भावो) को समुद्र की तरह अपने स्वरूप के आरोप से आत्म-रूप बना लेता है। वैसा यह ताद्रूप्य (इस तरह से विरुद्ध या अविरुद्ध भावो का विच्छिन्न न होने का गुण) निर्वेदादि मे स्वभावत नही पाया जाता। अत ये अपने को स्थायी नही बना सकते। यदि निर्वेदादि की काव्य-नाटकादि मे पुष्टि होगी भी तो वह रस के स्थान पर वैरस्य (रस-विकार) उत्पन्न करेगी।[१०]

१६६ अत नाट्यविदो के मत मे आठ ही स्थायी-भाव होते है। प्रकृष्यमाण जो भाव रसता को प्रतिपादित करता है वह भाव 'स्थायी-भाव' कहलाता है—ऐसा भरतादि आचार्य कहते है। कुछ अन्य भाव भी है जो रस-रूप मे पोषण को प्राप्त होते है—उनका सन्निवेश स्थायी-भावो मे ही जानना चाहिए, अन्यत्र नही। भावो के कार्य की निष्पत्ति अनुभूति-फल-स्वरूपा है, उन भावो की कार्य-कुशलता उनके उत्कर्ष का आरोपण जाननी चाहिए और उनका जो साध्य अर्थ है वह रस है, वही उनकी आत्मा है।

१६७ विभाव भी अनुभाव हैं, अनुभाव विभाव की तरह है। दोनो (विभावानुभाव) व्यभिचारी-भाव हैं वे व्यभिचारी-भाव विभावानुभाव है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है। रसो के भेद के कारण ही इस प्रकार की उपकार्योपकारिता है।

तद्दर्शनानि तद्दृष्टिः दृष्टिधर्माः पृथग्विधाः ।
परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात्क्वचित्क्वचित् ।
रसोदयानुकूल्येन तत्र तत्रैव वक्ष्यते ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने भावनिर्णयो-
नाम प्रथमोऽधिकारः ।

चर तथा स्थिर का भेद प्रसगवश कहा गया है। उन भावो की रसोपादानत आगे ही कहेगे, उन भावो के दर्शन, उनकी दृष्टि, दृष्टि-धर्मो के पृथक् भेद कही-कही साहचर्य के कारण परस्पर का सामर्थ्य—रसोदय की अनुकूलता से यथास्थान कहेगे।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे भावनिर्णय नामक प्रथम
अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

अथ द्वितीयोऽधिकारः

१ निर्वाहः कथ्यतेऽस्माभिर्भावानां व्यभिचारिणाम् ।
निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात् ।।
वाङ्मनःकायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत् ।
असुर्याति ययाऽसूया[न्या]यापयेत्सूयतेऽन्यथा ।।
साऽसूयेति समाख्याता सर्वत्र रसकोविदः ।
असूया सा यया याति प्राणिनामसुरुत्थितः ।।
शं सुखं कुत्सयति या सा शङ्क्रेत्यभिधीयते ।
शृणाति हन्ति योऽङ्गानि स श्रमः परिकीर्तितः ।।
मशब्दार्थो मतिर्मानस्तद्दानात्खण्डनान्मदः ।
यया चित्तायतेऽर्थेषु सा चिन्तेत्यभिधीयते ।।
मनसो विविधः सादो विषाद इति कीर्तितः ।
बृणोति चित्तं लातीति व्रीडेति परिभाष्यते ।।
वित्तेर्विलीय जातत्वाल्लज्जेति परिभाष्यते ।

---

१ अब हम व्यभिचारी-भावो की निरुक्ति कहते है। ज्ञान-शक्ति के निकल जाने से शून्य चित्तवृत्ति को 'निर्वेद' कहते है। 'ग्लानि' वह है जो वाचिक, मानसिक तथा कायिक सभी कर्मो से खिन्नता कराती है। जिसके द्वारा प्राण (वायु) ऊपर को उठने लगे और अन्य प्रकार से निकलने लगे, तो रसकोविद उसे सर्वत्र 'असूया' कहते है, जिसके द्वारा प्राण (वायु) ऊपर को उठकर जाती है तो 'असूया' कहते है। 'शका' उसे कहते है जो सुख को नष्ट करती है। 'श्रम' वह है जो अगो को शिथिल करता है या क्षीण करता है। 'मद' के 'म' शब्द का अर्थ है मति अर्थात् बुद्धि या 'मान' अर्थात् अभिमान तो 'म मतिम् मान वा द्यति खण्डयति वा मद' अर्थात् मति या बुद्धि या अभिमान को नष्ट करने से 'मद' शब्द निष्पन्न होता है। 'चिन्ता' उसे कहते है जिससे विषयो मे मन लगता है। मन के विभिन्न सन्ताप 'विषाद' कहलाते है। जो चित्त को चुनती है या प्राप्त करती है वह 'व्रीडा' कहलाती है। धन मे विलीन होकर जो उत्पन्न होता है उसे 'लज्जा' कहते है।

२ ह्रियन्ते वाङ्मनःकाया इति ह्रीः परिपठ्यते ॥
मन्दमक्षाणिवार्यन्ते तानि वारयतीति वा ।
मन्दानीति यदक्षाणि तन्मन्दाक्षमुदाहृतम् ॥
भूतं भवद्भविष्यच्च त्रयं पातीति सा त्रपा ।
अपकृत्या यया जन्तुस्त्राय्यते साह्यपत्रपा ॥
विलक्षं चेष्टते चित्तं यत्तद्वैलक्षमुच्यते ।
या शोकहर्षयोरेकरूपा सैव धृतिर्भवेत् ॥
स्मृतिः संस्कारसहिता सत्त्वस्था बुद्धिरुच्यते ।
स्वं ह्यपीत इति स्वप्नः स्वं प्राप्नोतीति वा भवेत् ॥
३ इन्द्रियाणि निमीलन्ति द्रागेव युगपद्यतः ।
तस्मान्निद्रेति कविभिः कथ्यते भावकोविदैः ॥
स प्रबोधो मनो येन सर्वानर्थान्प्रबुध्यते ।
अहेतुकश्च दण्डो यः तदौग्र्यं परिचक्षते ॥
उदञ्चति मनो यस्मादुन्मादश्चित्तविप्लवः ।
कालातिपातासहत्वमौत्सुक्यं परिचक्षते ॥
हृदि दोग्धि यदिष्टार्थं तद्दौहृदमुदाहृतम् ।

---

२ जिससे मन, वाणी तथा शरीर लज्जित होता है, उसे 'ह्री' कहते है। जिससे आँखो को धीरे-धीरे हटाया जाता है या जो धीरे-धीरे आँखो को हटाता है, या फिर जो आँखो को मन्द कर देता है, उसे 'मन्दाक्ष' कहा गया है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनो की जो रक्षा करता है, उसे 'त्रपा' कहते है। 'अपत्रपा' उसे कहते है जिस अपकार से जन्तु (प्राणी) की रक्षा की जाती है। 'वैलक्ष' उसे कहते है जिसमे चित्त विलक्षण चेष्टा करता है। 'धृति' वह है जो शोक तथा हर्ष मे एकसी होती है। सत्वावस्था मे रहने वाली सस्कार सहित स्मृति 'बुद्धि' कहलाती है। 'स्वप्न' उसे कहते है जो अपने मे प्रवेश करता है या फिर जो अपने को प्राप्त करता है।

३ 'निन्द्रा' मे इन्द्रियाँ एक साथ शीघ्र ही उन-उन विषयो से हट जाती है अर्थात् 'निन्द्रा' इन्द्रियो को एक साथ शीघ्रता के साथ उन-उन विषयो से हटाती है इसलिए कविजन उसे 'निन्द्रा' कहते है। 'प्रबोध' वह है जिससे मन सभी अर्थो को जगा देता है अर्थात् सभी वस्तुओ का ज्ञान करा देता है। अहेतुक दण्ड अर्थात् बिना किसी कारण के दिया हुआ जो दण्ड है, वह 'उग्रता' कहलाती है। चित्त की शून्यता 'उन्माद' है जिससे मन ऊपर की ओर उठता है। कालातिरेक को सहन न करना ही 'औत्सुक्य' कहलाता है। 'दौहृद' वह है जो हृदय की अभोष्ट वस्तुओ का दोहन करता है।

४ अभीष्टाननुभूतार्थाभिलाषः कौतुकं भवेत् ॥
कुतुकं सौख्यसंभेदः स्पृहेति परिपठ्यते ।
ऐकाग्र्यं याऽश्नुतेऽर्थेषु सैवाशेति विभाव्यते ॥
आत्मोपभोगकरणं स्पृशतीन्द्रियवर्त्मना ।
या जहातीतरान् भोगान् सा स्पृहेत्यभिधीयते ॥
सैव कांक्षेति विज्ञेया सोपायार्थागमाश्रया ।
मत्तः सरत्ययं मत्तः सरतीत्येष मत्सरः ॥
परापकर्षस्वोत्कर्षव्यापारो मत्सरो द्वयोः ।

५ परस्परस्य स्वोत्कर्षो घृष्यते गुणगौरवैः ॥
सम्यक्तया स सङ्घर्ष इति विद्वद्भिरुच्यते ।
सद्रूपोद्भावना माया स्वत एवासतः पुरा ॥
अथवाऽन्यपदार्थानामन्यथाकृतिरेव वा ।
देशकालापरोक्ष्यं यत्परोक्षस्यैव वस्तुनः ॥
मन्त्रौषधादिभिः सोऽयमिन्द्रजाल इतीरितः ।
दिङ्निर्णयानभिज्ञत्वं दिङ्मोहः परिकीर्तितः ॥
दिशो यस्यान्यथा जाताः कान्दिशीकस्स उच्यते ।

---

४ अभीष्ट तथा अननभूत वस्तु की अभिलाषा "कौतुक" कहलाती है। सुख मिश्रित उत्सुकता 'स्पृहा' कहलाती है। 'आशा' वह कहलाती है जो विषयो मे एकाग्रता प्राप्त कराती है। जो इन्द्रियो द्वारा अपने उपभोग के कारण का स्पर्श करती है और तद्-भिन्न भोगो को छोडती है, वह 'स्पृहा' कहलाती है। 'काक्षा' वह जाननी चाहिए जो उपाय के साथ आय (आमदनी) के आश्रित रहती है। 'यह मुझसे आगे जा रहा है, यह मुझसे आगे जा रहा है अर्थात् मुझसे बढ रहा है'—यह 'मत्सर' है। दूसरे के अपकर्ष तथा अपने उत्कर्ष का चिन्तन 'मत्सर' है।

५ किन्ही दो मे पारस्परिक अपने-अपने उत्कर्ष के लिए गुण तथा गौरव से भली-भाँति स्पर्धा कराना ही विद्वानो द्वारा 'सघर्ष' कहलाता है अर्थात् जहाँ किन्ही दो मे पारस्परिक अपने-अपने उत्कर्ष के लिए गुण तथा गौरव से भलीभाँति स्पर्धा करायी जाती है, उसे विद्वान लोग 'सघर्ष' कहते है। स्वत ही असत् से सत् रूप की उत्पत्ति 'माया' है। या फिर अन्य वस्तुओ को अन्यथा बना देना ही 'माया' है। 'इन्द्रजाल' वह है जो मन्त्र या औषधि आदि से परोक्ष (अप्रत्यक्ष) वस्तुओ का देश तथा काल के अनुसार प्रत्यक्ष करा दे। दिशा के निर्णय मे अनभिज्ञता 'दिड्मोह' कहा जाता है। जिसकी दिशा अन्यथा हो जाती है वह 'कान्दिशीक' कहा जाता है।

६ परस्य व्यसनोत्कम्पाननु या कम्पते भृशम् ।।
सा चित्तवृत्तिर्विद्वद्भिरनुकम्पेति कथ्यते ।
आनृशंस्यं तदेवाहुर्यदेवाश्रितरक्षणम् ।।
परस्य दोषान्नृभ्यो यच्छंसतीति नृशंसता ।
व्यसनैः क्रोशतां पुंसां यस्य क्रोशोऽनुजायते ।।
सोऽनुक्रोश इति ज्ञेयः सुखदुःखसमत्वता ।
गुणः परोपकारित्वं हितकारित्वमेववा ।।
सर्वशास्त्राधिगमनं श्रुतमित्यभिधीयते ।
समानि खानि येन स्युः सुखदुःखानुभूतिषु ।।
तत्सख्यमिति स स्नेहः तेन यत्त्रायते परम् ।
तन्मित्रं तत्सुहृत्त्वं च हृदयं यत्र शोभनम् ।।
दूयन्ते खानि येनैतद्दुःखमित्यभिधीयते ।
शुभानि खानि येनैतत्सुखमित्युच्यते बुधैः ।।
७ भावेभ्यः प्रकृतेभ्योऽन्ये यतः केचिन्मयेरिताः ।
भावत्वादथवा लोके गच्छतः स्खलनं भवेत् ।।
यदिन्द्रियाणि हृष्यन्ति हर्षयन्ति परानपि ।
तस्माद्धर्ष इति ज्ञेयः प्रसादो मनसः स हि ।।

---

६ विद्वान उस चित्त-वृत्ति को 'अनुकम्पा' कहते है जो दूसरे के दुख से अधिक द्रवित हो जाती है। जिसके आश्रित रक्षा होती है वही 'आनृशसता' कही जाती है। दूसरो के दोषो को मनुष्य से कहना 'नृशसता' है। क्रोशित पुरुषो के व्यसनो से जिसका क्रोश उत्पन्न होता है, उसे 'अनुक्रोश' समझना चाहिए अर्थात् दुखी पुरुषो के दुख से जिसे क्रोश उत्पन्न हो, उसे 'अनुकोश' कहते है। इसमे सुख-दुख की समता पायी जाती है। परोपकार करना या हित करना ही 'गुण' है। सभी शास्त्रो का ज्ञान 'श्रुत' कहलाता है। वह 'सख्यम्' कहलाता है जिससे दुख-सुख की सभी अनुभूतियो मे समान भाव हो। जहाँ दूसरो की रक्षा की जाती है, वह 'स्नेह' है। वह 'मित्र' है और वह 'सुहृद' है जिसका हृदय सुन्दर हो। 'दुख' वह कहलाता है जिससे इन्द्रियाँ दुखी हो। विद्वान लोग सुख उसे कहते है जिससे इन्द्रियाँ प्रसन्न रहे।

७ भाव-रूप होने के कारण मैंने प्रकृत भावो के अलावा कुछ अन्य भावो को कह दिया है अन्यथा ससार मे जाते हुए त्रुटि होती। जिससे इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं तथा दूसरो को हँसाती है या प्रसन्न कराती है, उसको 'हर्ष' जानना चाहिए। वही मन का प्रसाद है। देशान्तर तथा कालान्तर मे अनुभूत उस विशेष देश तथा काल से सम्बन्धित विशेष अनुभव को पुन देखना ही 'स्मृति' कहलाता

देशान्तरेऽनुभूतस्य तथा कालान्तरेऽपि च ।
तद्देशादिविशिष्टस्य पुनरालोचनं स्मृतिः ॥
स्मरति स्मर्यते स्मारयतीत्यस्यास्तु निर्वहः ।
वितर्कमनुभूतेऽर्थे धीविशेषः स्मृतिर्भवेत् ॥
सदसन्निश्चयकरी मननात्मा मतिर्भवेत् ।
अङ्गानां यदनुल्लासस्तदालस्यमुदाहृतम् ॥
८ अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते ।
वेगो विगानं जनयद्विग्नं येन मनो भवेत् ॥
आत्मनो यो गरीयस्त्वभावो गर्वः स ईरितः ।
मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं मनो येनैव मुह्यति ॥
अयोग्ये चापदार्थे च दुस्स्पृहा चपलं भवेत् ।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापलं भवेत् ।
अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथा स्मृतिः ।
अयथा स्मृतिरेव स्यात्पदार्थास्मृतिरेव वा ॥
तर्क्यते तर्कते तर्को विचारः स्यात्सहेतुकः ।
९ विक्रिया त्ववहित्थं स्यादिङ्गिताकारगूहनम् ॥
मरणं प्रकृतिप्राणवियोग इति कथ्यते ।

है। 'स्मृ' धातु से 'स्मृति' शब्द निष्पन्न होता है। 'स्मरति स्मर्यते स्मारयतीति वा स्मृति'—अर्थात् 'जो स्मरण करती है, जिससे स्मरण किया जाता है, या जो स्मरण कराती है'—वह 'स्मृति' है। अनुभूत अर्थ मे तर्कपूर्ण बुद्धि—विशेष 'स्मृति' कहलाती है। सत् और असत् का निश्चय करने वाली मनन-रूप 'बुद्धि' कहलाती है। अगो की जो अप्रसन्नता है, वही 'आलस्य' है।

८ बिना देश तथा काल के किया हुआ वेग 'आवेग' कहा जाता है। 'वेग' उसे कहते हैं जिससे मन निन्दा को उत्पन्न करता हुआ उद्विग्न हो उठे। जो आत्मा की श्रेष्ठता का अभाव है, उसे 'गर्व' कहते है। चित्त की शून्यता 'मोह' है जिससे मन को मोहा जाता है। अयोग्य और अपदाथ मे बुरी स्पृहा करना 'चपल' कहलाता है। 'चापल' उसे कहते है जिससे मन का अपदार्थ से पलायन कराया जाता है। अनुभूत पदार्थो मे अन्यथा स्मृति 'अपस्मार' कहलाती है। अन्यथा स्मृति या पदार्थ का अस्मरण ही 'अस्मार' है। 'तर्क्यते तर्कते इति वा तर्क' अर्थात् 'जिससे तर्क किया जाता है या जो तर्क करता है'—वह 'तर्क' है। पुन सहेतु विचार करना ही 'तर्क' कहलाता है।

९ आन्तरिक तथा बाह्य रहस्य की विक्रिया 'अवहित्था' है। प्रकृति व प्राण का वियोग 'मरण' कहलाता है। आयुर्वेद मे जो व्याधियाँ कही गयी है, वे

आयुर्वेदोपदिष्टा ये व्याधयस्ते रुजः स्मृताः ॥
चेष्टाविघातः स्तम्भः स्याद्रोमाञ्चो रोमनिर्गमः ।
यः स्वरो भिद्यते स्थानात्स्वरभेदः स कथ्यते ॥
वेपथुर्हृदयोत्कम्पो वैवर्ण्यं भिन्नवर्णता ।
श्रुशब्दो मङ्गलार्थः स्यात्प्रयुक्तः शीतवारिणि ॥
उष्णाम्भसि प्रयुक्तश्चेदश्रु तत्स्यादमङ्गलम् ।
वाक्कायमनसां प्रायः प्रलयो नष्टचेष्टता ।
एवमुक्ताश्च निर्वाहाः सात्त्विकव्यभिचारिणाम् ।
निरुक्ता योगतः केचिदुक्ताः केचिच्च रूढितः ॥
१० उपकार्योपकारित्वमेतेषां कथ्यतेऽधुना ।
स्तम्भे वेपथुरोमाञ्चस्वेदगद्गदभाषणम् ॥
बाष्पश्च यान्ति शोभान्ते सममेकैकशोऽपि वा ।
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च स्वेदो वेपथुरेव च ॥
क्वचित्कदाचित्संभूय विभावोत्कर्षतो भवेत् ।
रोमाञ्चे वेपथुस्तम्भौ प्रायः प्रविशतो मुहुः ॥
स्वरभेदो भवेत्स्तम्भे बाष्पोऽपि स्यात्कदाचन ।
वेपथौ स्वेदरोमाञ्चबाष्पाश्च स्युः स्वभावतः ॥
वैवर्ण्येऽश्रु भवेन्नित्यं स्तम्भकम्पौ कदाचन ।
प्रलयस्तम्भकम्पाश्रुस्वेदरोमोद्गमादयः ॥

'रूज' है। चेष्टा को रोकना 'स्तम्भ' तथा रोगटो का निकलना या खडे होना 'रोमाच' कहलाता है। जो स्वर स्थान विशेष से भिन्न उच्चारित होता है, वह 'स्वर-भेद' कहलाता है। हृदय का कम्पन 'वेपथु' तथा वर्ण का भिन्न हो जाना 'वैवर्ण्य' कहलाता है। 'श्रु' शब्द मगलसूचक है अत शीतल जल के लिए प्रयुक्त होता है, 'अश्रु' अमगल सूचक है यह उष्णोदक के लिए प्रयुक्त होता है। प्राय वाचिक, शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओ का नष्ट होना 'प्रलय' है। इस प्रकार सात्त्विक तथा व्यभिचारी-भावो की निरुक्तियाँ कही गयी, कुछ योग से (व्याकरण से) कही गयी है तथा कुछ रूढि से कही गयी है।
१० अब इन भावो की 'उपकार्योपकारिता' कहते है। स्तम्भ मे वेपथु (कम्पन), रोमाच, स्वेद, गद्-गद भाषण तथा वाष्प होते है और वे सभी एक साथ या एक-एक करके सुशोभित होते हैं। रोमाच, स्वर-भेद, स्वेद तथा वेपथु ही कही कभी मिलकर विभाव के उत्कर्ष से होते है। 'रोमाच' मे वेपथु और स्तम्भ प्राय. बहुश. प्रवेश करते है। 'स्तम्भ' मे स्वर-भेद होता है और

पुष्यन्त्यनुभवोत्कर्षं विभावैरपि दीपिताः ।
कार्श्यजागरणालस्यसन्तापाः स्युस्ततस्ततः ।।
आविर्भावो रसानां स्यात्सात्त्विकैस्तु यथोदितैः ।
ज्ञापका जायमानानामेते स्युर्व्यभिचारिणः ।।
लक्षयन्त्यनुभावास्तु वर्तमानं तदा रसम् ।
एवमेवोह्नीयाः स्युर्विभावा व्यभिचारिणः ।।
एषु केचित्स्वसामर्थ्यं पुष्यन्त्यन्याश्रिता अपि ।
गुणीभूताः कदाचित्तु सामर्थ्यं प्रापयन्त्यमी ।।
एवमन्योन्यसामर्थ्यं दर्शयन्ति रसोदये ।
११ एतेषां स्थायिभावेषु कथ्यतेऽन्योन्यवर्तनम् ।।
मदः श्रमोऽवहित्थं च हर्षो गर्वः स्मृतिर्धृतिः ।
असूयाग्लानिशङ्काश्च वितर्कोऽपत्रपाऽपि च ।।
रोमाञ्चवेपथुस्वेदाः शृङ्गारे भोगनामनि ।
१२ मोहावेगविषादाश्च जडताव्याधिदीनताः ।।
चिन्तावितर्कनिद्राश्च कार्श्यश्वासादयः परे ।
स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यगद्गदाद्या वियोगजे ।।

कभी वाष्प भी होता है। 'वेपथु' मे स्वेद, रोमाच तथा वाष्प स्वभाव मे होते है। 'वैवर्ण्य' मे अश्रु नित्य होता है। कभी स्तम्भ तथा कम्प होते है। प्रलय, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, स्वेद, रोमोद्गम आदि विभावो से उद्दीप्त होकर अनुभव के उत्कर्ष को पुष्ट करते है, तब कार्श्य (कृशता), जागरण, आलस्य और सताप होते है। यथोक्त सात्त्विक भावो से रसो का आविर्भाव होता है। ये व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होने वाले (रसो) के ज्ञापक होते है। तब अनुभाव उपस्थित रस को लक्षित करते है। इसी प्रकार विभाव, व्यभिचारी-भाव जानने योग्य है। इनमे से कुछ अन्याश्रित होते हुए भी अपनी सामर्थ्य को पुष्ट करते है तथा कभी ये गुणीभूत होकर सामर्थ्य को प्राप्त करते है। इस प्रकार रसोदय मे ये भाव अन्योन्य (परस्पर) सामर्थ्य दिखाते है।

११ स्थायी-भावो मे इन भावो की अन्योन्य-वृत्ति को कहते है। 'सम्भोग'—श्रगार मे मद, श्रम, अवहित्था, हर्ष, गर्व, स्मृति, धृति, असूया, ग्लानि, शका, वितर्क अपत्रपा, रोमाञ्च, वेपथु, स्वेदभावो का सहयोग है।

१२ 'विप्रलम्भ-श्रगार' मे मोह, आवेग, विषाद, जडता, व्याधि, दीनता, चिन्ता, वितर्क, निन्द्रा, कार्श्य, श्वासादि, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, गद-गद आदि भाव होते हैं।

१३ शङ्का त्रपा चपलता श्रमो ग्लानिरपत्रपा ।
हर्षप्रबोधावहित्थस्वेदाश्रुपुलका अपि ॥
हास्येऽमी वीरगा भावा आवेगो हर्ष एव च ।

१४ गर्वासूयोग्रता स्तर्को धृतिर्बोधः स्मृतिर्मतिः ॥
मदः स्वेदश्च रोमाञ्चो दृश्यन्ते ते क्वचित्क्वचित् ।

१५ आवेगो जडतोन्मादो वितर्को मोह एव च ॥
आलस्यापस्मृती व्याधिः कार्श्यश्वासविवर्णताः ।
स्तम्भादयोऽष्टौ भावाः स्युः प्रायेण करुणे रसे ॥

१६ हर्षावेगोग्रतोन्मादा मदगर्वौ च चापलम् ।
ईर्ष्याऽसूया श्रमोऽमर्षावहित्थापत्रपा अपि ॥
निश्वासस्तम्भरोमाञ्चस्वेदा रौद्रे रसे हिताः ।

१७ हर्षगर्वस्मृतिमतिश्रमा धृतिमदावपि ।
तर्को विबोधश्चिन्ता च रोमाञ्चः स्तम्भवेपथू ।
स्वेदश्चेत्यद्भुते भावाः कथिता नाट्यकोविदैः ॥

१८ शङ्कानिर्वेदचिन्ताश्च जाड्यं ग्लानिश्च दीनता ।
आवेगो मद उन्मादो विषादो व्याधिरेव च ॥
चिन्ता मोहोऽपस्मृतिश्च त्रासश्चालस्यमेव च ।

---

१३ 'हास्य-रस' मे शका, त्रपा, चपलता, श्रम, ग्लानि, अपत्रपा, हर्ष, प्रबोध, अवहित्था, स्वेद, अश्रु, पुलक भाव होते है ।

१४ 'वीर-रस' मे आवेग तथा हर्ष ही है लेकिन कही-कही गर्व, असूया, उग्रता, तर्क, धृति, बोध, स्मृति, मति, मद, स्वेद, रोमाच—ये भाव दिखाये जाते है।

१५ 'करुण-रस' मे प्राय आवेग, जडता, उन्माद, वितर्क, मोह, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि, कार्श्य, श्वास, विवर्णता, स्तम्भादि आठ सात्त्विक-भाव—ये भाव होते है ।

१६ 'रौद्र-रस' मे हर्ष, आवेग, उग्रता, उन्माद, मद, गर्व, चपलता, ईर्ष्या, असूया, श्रम, अमर्ष, अवहित्था, अपत्रपा, निश्वास, स्तम्भ, रोमाच, स्वेदभाव हितकारी है ।

१७ 'अद्भुत-रस' मे हर्ष, गर्व, स्मृति, मति, श्रम, धृति, मद, तर्क, विबोध, चिन्ता, रोमाच, स्तम्भ, वेपथु, स्वेदभाव नाट्यविदो ने कहे है ।

१८ 'भयानक-रस' मे शका, निर्वेद, चिन्ता, जडता, ग्लानि, दीनता, आवेग, मद, उन्माद, विषाद, व्याधि, चिन्ता, मोह, अपस्मृति, त्रास, आलस्य और बीच-

मध्ये मध्ये स्तम्भकम्पौ रोमाञ्चः स्वेदवेपथू ॥
वैवर्ण्यमरणत्रासगद्‌गदाद्या भयानके ।

१९ मोहोऽपस्मृतिरुन्मादो विषादो भयचापले ॥
आवेगो जाड्यदैन्ये च मतिर्ग्लानिः श्रमोऽपि च ।
स्तम्भादयोऽष्टौ भावाः स्युर्बीभत्से प्रलयं विना ॥

२० साहचर्यं च सामर्थ्यं भावानां सम्यगीरितम् ।
कथ्यते स्थायिभावानां रसोपादानहेतुता ॥

२१ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका ।
इच्छा रतिः सा द्विधा स्याद्रतिप्रीतिविभागतः ॥
तयोः साधारणो भेदः सप्तधा परिकीर्तितः ।
निसर्गसंसर्गोपमाभियोगाध्यात्मस्वरूपतः ॥
अभिमानाच्च विषयात्सप्तधा साम्प्रयोगिकी ।
रतेरेव भवेत्प्रीतेरेवमाभ्यासिकी भवेत् ॥
प्रीतिः प्रियात्मा प्रायेण रतिरिच्छात्मिकैव हि ।
ज्ञानं द्विनिष्ठं तद्रूपं मनोऽधिष्ठाय वर्तते ॥
रतिः सत्त्वस्थिता सेयं विभावाद्युपबृंहिता ।
रजसाऽनुगृहीता तु स्वाद्वी सर्वत्र भासते ॥

बीच मे स्तम्भ, कम्प, रोमाच, स्वेद, वेपथु, वैवर्ण्य, मरण, त्रास, गद्‌गद आदि भाव होते है ।

१९ 'वीभत्स-रस' मे मोह, अपस्मृति, उन्माद, विषाद, भय, चपलता, आवेग, जडता, दैन्य, मति, ग्लानि और श्रम तथा प्रलय के अतिरिक्त स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव पाये जाते हैं ।[1]

२० भावो का साहचर्य तथा सामर्थ्य भलीभाँति कहा गया । अब स्थायी-भावो की 'रसोपादन-हेतुता' कहते है ।

२१ मनोनुकूल विषयो मे सुख का अनुभव करने वाली इच्छा 'रति' है ।[2] वह (रति) 'रति' तथा 'प्रीति' भेद से दो प्रकार की होती है । 'रति' तथा 'प्रीति'—इन दोनो (रति) के साधारण भेद सात प्रकार के कहे जाते है । निसर्ग[3], ससर्ग[4], उपमा[5], अभियोग[6], अध्यात्म[7], अभिमान[8] तथा विषय[9] भेद से ये सात प्रकार के होते है । 'रति' से 'साम्प्रयोगिकी'[10] होती है । 'प्रीति' से 'आभ्यासिकी'[11] होती है ।[12] प्रीति प्राय प्रिय-रूपा होती है तथा रति इच्छा-रूपा होती है । यह द्विनिष्ठ (रति और प्रीति निष्ठ) ज्ञान तद्रूप मन के आश्रित होकर प्रवृत्त होता है । 'रति' सत्त्व मे स्थित रहती है, वही यह (रति) विभावादि से उपबृहित होकर रजोगुण से अनुगृहीत होकर, किन्तु स्वाद्वी सर्वत्र भासित होती है ।

२२ प्रीतेर्विशेषश्चित्तस्य विकासो हास उच्यते ।
षोडा विकल्पमायाति परिणामे रसात्मना ॥
रजःस्थितो विभावाद्यैः बृंहितस्तामसो भवेत् ।
उत्साहः सर्वकृत्येषु सत्वरा मानसी क्रिया ॥
सहजाहार्यभेदेन स द्विधा परिकीर्तितः ।
विस्मयश्चित्तवैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः ॥
तेजसो जनकः क्रोधः स त्रिधा कथ्यते बुधैः ।
क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः ॥
सर्वेन्द्रियपरिक्लेशः शोक इत्यभिधीयते ।
सत्त्वादिपरिभेदेन स त्रिधा परिपठ्यते ॥
निन्दाऽऽत्मा चित्तसङ्कोचो जुगुप्सेत्यभिधीयते ।
द्विधा विभज्यते साऽपि परिणामे रसात्मना ॥
भयं चित्तस्य चलनं तच्च प्राहुरनेकधा ॥
स्वरूपमेवमाचार्यैः स्थायिनां कथितं पुरा ।
विगृह्य ते प्रदर्श्यन्ते प्रयोगार्थं यथोचितम् ।
२३ रम्यते रमते वेति रती रमयतीति वा ॥
हास्यते हासयति वा हासः स्याद्धसतीति वा ।

---

२२ प्रीति-जनित चित्त का विशेष विकाम 'हास' कहा जाता है[१३], परिणाम मे यह रस-रूप मे छै[१४] (६) प्रकार के विकल्पो को प्राप्त करता है। यह रज-स्थित तथा विभावादि से बृंहित, तामसी होता है। सभी कार्यो मे शीघ्र होने वाली मानसिक क्रिया को 'उत्साह' कहते है। यह सहज तथा आहार्य भेद से दो प्रकार का कहा जाता है। चित्त मे विचित्रिता उत्पन्न होना 'विस्मय' है, त्रिगुणात्मक होने से यह तीन प्रकार का होता है। तेज को उत्पन्न करने वाला 'क्रोध' है। विद्वान जन उसे तीन प्रकार का बताते है। क्रोध, कोप तथा रोष ये तीन भेद माने जाते हैं। सभी इन्द्रियो को कष्ट देने वाला 'शोक' कहलाता है। सत्त्व, रज तथा तम भेद से यह तीन प्रकार का होता है। निन्दारूप चित्त मे संकोच होना 'जुगुप्सा' कहलाता है। रस रूप मे यह दो प्रकार से विभाजित किया जाता है। चित्त की चचलता 'भय' है। यह अनेक प्रकार का कहा जाता है। इस प्रकार आचार्यो ने पहले स्थायी-भावो का स्वरूप कहा, अब इनके स्वरूप को ग्रहण कर उनको यथोचित प्रयोग के लिए दिखाते हैं।

२३ 'रम' धातु से 'रति' शब्द निष्पन्न होता है। 'रम्यते रमते रमयतीति वा रतिः' —अर्थात 'जिससे रमण किया जाता है', 'जो रमण करती है', या 'जो रमण कराती है'—वह 'रति' है। 'हस्' धातु से 'हास' शब्द निष्पन्न होता है।

उत्तन्द्रतामभिभवत्यत उत्साहनिर्वहः ॥
उत्साह्यते चोत्सहत उत्साहयति वा भवेत् ।
विविधः स्यात्स्मयो हर्ष इति विस्मयतेऽथवा ॥
विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्विस्मापयति वा भवेत् ।
क्रुत् क्रौर्यं तेन सर्वत्र धक्ष्यतीत्यस्य निर्वहः ॥
क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते ।
शुक्क्लेशः शोषणात्मैव शोच्यते शोचतीति वा ॥
शोचयत्यपरानेवं शोकशब्दस्य निर्वहः ।
सर्वेन्द्रियार्थगर्हैव जुगुप्सेत्यभिधीयते ॥
जुगुप्स्यते जुगुप्स्येत जुगुप्सापयतीति वा ।
बिभेति भापयत्यन्यान्त्रासादि भयमुच्यते ॥

'हास्यते हासयति हसतीति वा हास '—अर्थात् 'जिससे हँसा जाता है', 'जो हँसाता है', या 'जो हँसता है'—वह 'हास' है। जो उठी हुई तन्द्रता को परास्त करता है, उसे 'उत्साह' कहते है। 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'सह्' धातु से 'उत्साह' शब्द निष्पन्न होता है। 'उत्साह्यते उत्सहते उत्साहयतीति वा उत्साह '—अर्थात् 'जिससे उत्साह किया जाता है', 'जो उत्साह करता है', या 'जो उत्साह कराता है'—वह 'उत्साह' है। 'विविध स्मय हर्ष इति विस्मय '—अर्थात् विभिन्न प्रकार का आश्चर्य और हर्ष 'विस्मय' कहलाता है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्मि' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'विस्मय' शब्द निष्पन्न होता है। 'विस्मयते विस्माप्यते स्वय कश्चिद्विस्मापयतीति वा विस्मय '—अर्थात् 'जो विस्मय करता है', 'जिससे विस्मय किया जाता है' या 'जो विस्मय कराता है'—वह 'विस्मय' है। 'क्रुत' का अर्थ होता है—क्रौर्य (क्रूरता), उस (क्रूरता), से जो सर्वत्र जलायेगा—वह है 'क्रोध'—इस प्रकार इसकी निरुक्ति है। तथा 'क्रोध्यते क्रोधयतीति वा क्रोध '—अर्थात् 'जिससे क्रोध कराया जाता है', या 'जो क्रोध कराता है'—वह 'क्रोध' है। 'शुच्' का अर्थ होता है—'क्लेश'। वह शोषणात्मक होता है तथा 'शुच्' धातु से 'शोक' शब्द निष्पन्न होता है। 'शोच्यते शोचति शोचयतीति वा शोक '—अर्थात् 'जिससे शोक कराया जाता है', 'जो शोक करता है', या 'जो दूसरो को शोक कराता है'—वह 'शोक' है। सभी इन्द्रियो के द्वारा की गयी अर्थ-गर्हा (घृणा) ही 'जुगुप्सा' कहलाती है। 'गुप्' धातु से 'जुगुप्सा' शब्द निष्पन्न होता है। 'जुगुप्स्यते जुगुत्स्येत जुगुप्सापयतीति वा जुगुप्सा'—अर्थात् 'जिससे जुगुप्सा (निन्दा) की जाती है', 'जिससे जुगुप्सा (निन्दा) की जाय', या 'जो जुगुप्सा (निन्दा) कराता है'—वह 'जुगुप्सा' है। त्रासादि 'भय' कहलाता है तथा 'भी' धातु से 'भय' शब्द निष्पन्न होता है। 'बिभेति भापयति (पाणिनि-व्याकरण मे 'ञिभी भये' धातु से प्रेरणा मे 'भाययति' अथवा 'भापयते' रूप बनता है) अन्यान् इति वा भयम्'—अर्थात् 'जो डरता है', या 'जो दूसरो को डराता है'—वह 'भय' है।

२४ एतेषां च रसात्मत्वं स्वरूपं च रसस्य च।
रसाश्रयाभिव्यक्तीनां विशेषः कथ्यतेऽधुना॥
विभावाद्यैर्यथास्थानप्रविष्टैः स्थायिनः स्मृताः।
चतुर्भिश्चाप्यभिनयैः प्रपद्यन्ते रसात्मताम्॥

२५ विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः॥
एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्॥

२६ यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनौषधैः पाकविशेषैश्च संस्कृतानि व्यञ्जनानि मधुरादिरसानामन्यतमेनात्मना परिणमन्ति तद्भोक्तृणां मनोभिस्तादृशात्मतया स्वाद्यन्ते तथा नानाप्रकारैर्विभावादिभावैरभिनयैः सह यथार्हमभिवर्धिताः स्थायिनो भावाः सामाजिकानां मनसि रसात्मना परिणमन्तस्तेषां तादात्विकमनोवृत्तिभेदभिन्नास्तत्तद्रूपेण तै रस्यन्ते।

---

२४ अब इन भावो की रसात्मता, रस का स्वरूप तथा रसाश्रयाभिव्यक्ति की विशेषता कहते है। यथास्थान उपस्थित हुए विभावादि से 'स्थायी-भाव' जाना जाता है। चारो अभिनयो (वाचिक, कायिक, मानसिक तथा सात्त्विक) से ये स्थायी भाव 'रस' रूप प्राप्त होते है।

२५ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावो के द्वारा जब रत्यादि स्थायी-भाव आस्वाद्य-चर्वणा के योग्य बना दिया जाता है तो वह 'रस' कहलाता है।[15] जिस प्रकार विभिन्न व्यजन तथा औषधि (मसालो) का सयोग खाद्य द्रव्यो को स्वादिष्ट बना देता है,[16] उसी प्रकार स्थायी-भावो पर आश्रित रसता को विभावादि आस्वाद्य-चर्वणा के योग्य बना देते है। आचार्य भरत अपने नाट्य-शास्त्र मे 'रस' को इसी प्रकार कहते है तथा वृद्ध-भरत ने रस को इस प्रकार गद्य रूप मे कहा है कि—

२६ "जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यजन, औषधि तथा पाक विशेषता से सस्कृत किये हुए व्यंजन मधुरादि रसो मे से किसी एक अपने रूप मे परिणत होते है और भोक्ताओ के मन से उसी रूप मे उनका आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के विभावादि भाव तथा अभिनयो के साथ यथायोग्य वृद्धि को प्राप्त स्थायी-भाव सामाजिको के मन मे रस-रूप मे परिणत होते हुए, उन सामाजिको की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के भेद से भिन्न-भिन्न रूप मे परिणत हुए, तद् तद् रूप मे उन (सहृदयो) के द्वारा आस्वादन के योग्य बनाये जाते है अर्थात् सहृदय उन स्थायी-भावो का आस्वादन करते है।[17]

२७ नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः ।
तस्माद्रसास्तु भावेभ्यो निष्पद्यन्ते यथार्हतः ॥

२८ विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायिकादिसमाश्रयाः ॥
अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिभिः ।
सामाजिकैस्तु रस्यन्ते यस्मात्तस्माद्रसाः स्मृताः ॥

२९ न द्रव्यं न च सामान्यं न विशेषो गुणो न च ।
न कर्म समवायो न न पदार्थान्तरञ्च सः ॥
विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः ।
विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः ॥
रसो मनोविकारोऽपि पदार्थान्यतमो भवेत् ।
पदार्थाः षट् प्रमीयन्ते रसस्यानुभवात्मकाः ॥
अतो रसः पदार्थेभ्यो मावया क्वापि भिद्यते ।

---

२७ "जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के पदार्थ, औषधि तथा पाक से व्यजनो की भावना (सस्कार) होती है उसी प्रकार भाव अभिनयो के साथ मिलकर रसो की भावना करते है ।"[१८] इस प्रकार 'वासुकि' के मत मे भी भावो से रस की उत्पत्ति होती है । अत रस भावो से निष्पन्न होते है । यह सिद्धान्त सिद्ध होता है ।

२८ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी-भावो के द्वारा नायकादि के आश्रित स्थायी-भाव वृद्धि को प्राप्त होते है । नाट्य मे नटादि के द्वारा अनुकरण किये जाते हुए ये स्थायी-भाव जब सामाजिको (सहृदयो) के द्वारा आस्वादन के योग्य बनाये जाते है अर्थात् जब सामाजिक (सहृदय) इन स्थायी-भावो का आस्वादन करता है तब वे स्थायी-भाव 'रस' कहलाते है।

२९ वह 'रस' न द्रव्य[१९] है, न सामान्य[२०] है, न विशेष[२१] है, न गुण[२२] है, न कर्म[२३] है, न समवाय[२४] है और न इन पट् पदार्थो[२५] के अन्तर्गत ही आता है । लेकिन जो मन का विकार बाह्य वस्तु का आलम्बन-स्वरूप है तथा विभावादि से उत्कर्ष को प्राप्त होता है वह विद्वानो द्वारा 'रस' कहलाता है । रस मन का विकार होते हुए भी पदार्थो मे से एक होना चाहिए । षट् पदार्थ रस के अनुभव स्वरूप प्रतीत होते है । अत 'रस' पदार्थो से कही भिन्न होता है। द्रव्यादि पदार्थो के भिन्न-भिन्न रूप से रस कही-कही प्रकाशित होते है अत

द्रव्यादीनां पदार्थानां तत्तद्रूपतया रसः ॥
क्वापि क्वापि प्रकाशेन तेषामन्यतमो रसः ।
३० विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो रससिद्धये ॥
कथ्यन्ते भरतोक्तेन वर्त्मना नान्यथा क्वचित् ।
उक्ता अपि विभावाद्याः पूर्वत्र स्वस्वरूपतः ॥
मतान्तरेण कथ्यन्ते ज्ञानं क्वाप्युपयुज्यते ।
विभावाश्चानुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥
स्थायिनोऽपि च कथ्यन्ते भावा इति मनीषिभिः ।
यद्भावयन्ति काव्यार्थान् सत्त्ववागङ्गसंयुतान् ॥
तस्माद्भावा इति प्राज्ञैरुच्यन्ते नाट्यवस्तुषु ।
वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च ॥
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।
विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ॥
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति कीर्तितः ।
३१ वागङ्गसत्त्वाभिनयो येनैव च विभाव्यते ॥
स भावो नाट्यतत्त्वज्ञैर्विभाव इति दर्शितः ।

रस उन पदार्थो मे से एक है। इस प्रकार 'रस' पदार्थों से भिन्न होते हुए भी पदार्थों के अन्तर्गत ही है।

३० यहाँ रस-सिद्धि के लिए आचार्य भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव तथा स्थायी-भावो को कहते है, अन्य-रूप से नही कहेगे। हालाकि पहले विभावादि के अपने-अपने स्वरूप कह दिये गये है लेकिन फिर भी मतान्तर से कहते है (क्योकि) ज्ञान कही उपयोगी हो जाता है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव, व्यभिचारी-भाव तथा स्थायी-भाव भी विद्वानो के द्वारा कहे जा रहे है। जो सत्त्व, वाक् तथा अग से युक्त काव्यार्थों को भावित करते है, नाट्य-वस्तुओ मे वे विद्वानो द्वारा 'भाव' पुकारे जाते है। वाक्, अग तथा मुखराग के द्वारा तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्निहित भाव को भावित करने के कारण 'भाव' कहा जाता है।[२६] जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभाव तथा वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनयो के द्वारा प्रतीति-योग्य बनता है, वह 'भाव' कहा जाता है।[२७]

(विभाव)

३१ जिससे वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय जाने जाते है, उस भाव को 'नाट्याचार्य विभाव' कहते है। निमित्त, कारण, हेतु, विभाव और विभावना—ये भावज्ञो द्वारा विभाव के पर्याय कहे जाते है। 'विभाव' शब्द का अर्थ है—

निमित्तं कारणं हेतुर्विभावश्च विभावना ॥
इत्थं विभावपर्यायाः कथ्यन्ते भावकोविदैः ।
विज्ञानार्थो विभावः स्याद्विज्ञानं च विभावितम् ॥
बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥

३२ वागङ्गाभिनयेनेह यस्मादर्थोऽनुभाव्यते ।
सर्वाङ्गोपाङ्गसहितः सोऽनुभावस्ततः स्मृतः ॥

३३ आविर्भूय तिरोभूय चरद्भिश्चान्तरान्तरा ।
यै रसो भिद्यतेऽनेकः ते स्मृता व्यभिचारिणः ॥

३४ भावानामपि सर्वेषां यैः स्वसत्ता विभाव्यते ।
ते भावाः सत्त्वजन्मानः सात्त्विका इति दर्शिताः ॥

३५ स्थिताः काव्यादिषु नटैरभिनीता यथार्हतः ।
रसात्मनाऽवतिष्ठन्ते सत्सु ये स्थायिनोऽत्र ते ॥

'विज्ञान' । विज्ञान का अर्थ है कि विभावित अर्थात् विशेष रूप से किया गया ज्ञान ।[२८] इसके द्वारा वाचिक तथा आगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते है अर्थात् विशेष रूप से जाने जाते है, अत. इसको 'विभाव' नाम मे कहा जाता है ।[२९]

(अनुभाव)

३२ वाचिक तथा आगिक अभिनय के द्वारा सर्वाग व उपाग सहित क्योकि इसका अर्थ अनुभावित होता है अत 'अनुभाव' नाम से जाना जाता है ।[३०]

(व्यभिचारी-भाव)

३३ स्थायी-भावो के अन्तर्गत बीच-बीच मे आविर्भूत तथा तिरोभूत हो-होकर चलते हुए (सचरणशील) जिन भावो के द्वारा रस अनेक प्रकार से भिन्न किये जाते है, वे भाव 'व्यभिचारी-भाव' कहलाते है ।

(सात्त्विक-भाव)

३४ जिनसे सभी भावो की स्वसत्ता विभावित होती है, वे भाव सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक कहे जाते है ।[३१]

(स्थायी-भाव)

३५ काव्यादि मे वर्णित, प्रयुक्त, नटो द्वारा यथायोग्य अभिनीत जो भाव सामाजिको के हृदय मे रस-रूप मे स्थापित होते हैं, वे स्थायी-भाव कहलाते है ।

३६ भावाः स्युर्मानसाः केचिदाङ्गिका अपि केचन ।
वाचिका अपि केचित्स्युस्सात्त्विका अपि केचन ।।
द्रव्येऽपि केचिद्भावाः स्युः केचित्स्युर्गुणकर्मणोः ।
एतेषु भावशब्दार्थः प्रयोजनमुदाहृतम् ।।
प्रयोजनमभिप्रायस्तात्पर्यं फलमित्यपि ।
भाव इत्येव शब्दाः स्युर्भावपर्यायवाचकाः ।।
द्रव्यक्रियागुणवचो मनोङ्गेषु मनीषिभिः ।
भावशब्दः प्रयुक्तस्तु भावोभिप्रायवाचकः ।।

३७ एते भावा रसोत्कर्षे तत्र तत्रोपयोगिनः ।
उद्दीपिता विभावैस्स्वैरनुभावैश्च पोषिताः ।।
भावैश्च सात्त्विकैर्योग्यसंसर्गैर्व्यभिचारिभिः ।
चित्रताः स्थायिनो भावा रसोपादानभूमयः ।।
यदा तदैषामास्वाद्यमानरूपं यदुन्मिषत् ।
मनोभिः प्रेक्षकाणां तदुदेष्यति रसात्मना ।।
तत्रान्तरस्य भेदा ये व्यापारस्योदिताः पृथक् ।
ते सर्वे नाटचतत्त्वज्ञैः कथ्यन्ते हि रसाह्वयाः ।।

३८ एवं रसानामुदयः सामान्येन समीरितः ।
स्वभावो वाऽनुकारो वा यस्मिन्दृश्यतया स्थितः ।।

---

३६ कुछ भाव मानसिक, कुछ आगिक, कुछ वाचिक तथा कुछ सात्त्विक होते है। कुछ भाव द्रव्यो मे पाये जाते है, कुछ भाव गुण और कर्म मे पाये जाते है। इनमे 'भाव' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' कहा जाता है। प्रयोजन, अभिप्राय, तात्पर्य, फल—ये सभी शब्द 'भाव' शब्द के पर्याय वाचक है। द्रव्य, गुण, क्रिया, वाणी, मन तथा अगो मे विद्वानो ने जो 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। वह 'भाव' शब्द अभिप्राय-वाचक है।

३७ ये सभी भाव रस के उत्कर्ष मे वहाँ-वहाँ उपयोगी होते है। विभावो के द्वारा उद्दीप्त, अपने अनुभावो द्वारा पोषित, सात्त्विक भावो द्वारा ससर्गयोग्य तथा व्यभिचारी-भावो द्वारा चित्रित स्थायी-भाव रसोपादान की भूमि होते है। जब इन (स्थायी-भावो) का आस्वाद्यमानरूप दर्शको के मन से प्रकट होता है तो वह 'रस-रूप' कहा जाता है। वहाँ भिन्न-भिन्न व्यापार के जो भेद पृथक्-पृथक् उदित होते है, वे सब नाट्याचार्यो द्वारा 'रस' नाम से जाने जाते है।

३८ इस प्रकार सामान्य रूप से रसो का उदय कह दिया, जिसमे स्वभाव या अनुकरण दृश्यता से स्थित है।

३९ रसाश्रयः स एवेति भारताः प्रतिजानते ।
यशसेऽर्थाय महते राज्योपद्रवशान्तये ।।
कर्मणां विघ्ननाशाय मङ्गलानां च सम्पदे ।
उदात्तादिगतान् भावान्परोक्षानपि तत्त्वतः ।।
कविभिः कल्पितान्काव्येष्वभिनेयान्विचक्षणैः ।
प्रत्यक्षवत् सदस्येभ्यो नटा यदकुर्वते ।।
तस्मान्नटेषु न क्वापि रसस्याश्रयता भवेत् ।
४० मनसो ह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः ।।
शृङ्गारस्य स युज्येत तस्य ह्लादात्मकत्वतः ।
अन्येषां रसता प्रायः सिद्धा केनापि हेतुना ।।
यथा नृणां तु सर्वेषां सर्वेऽपि मधुरादयः ।
भुक्ता रसात्मतां यान्ति देशकालादिभेदतः ।।

---

३९ रसाश्रय वही है जो आचार्य भरतो ने कहे है—अर्थात् भरतो के अनुसार रसाश्रय नट और सामाजिक है, यही भावप्रकाशनकार को स्वीकार है, लेकिन तत्त्वत कविजनो द्वारा काव्यो मे कल्पित अभिनेयो का तथा उदात्तादिगत परोक्षभावो का नट-जन यश के लिए, अर्थ के लिए, राज्य के महान उपद्रव की शान्ति के लिए, कर्मो के विघ्न के नाश के लिए और कल्याण-सम्पत्ति के लिए, सामाजिको के सामने प्रत्यक्ष की तरह जो अनुकरण करते है, तो नटो मे रसाश्रयता कही नही होनी चाहिए ।

४० मन की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला स्वाद 'रस' कहलाता है। रस की इस परिभाषा के अनुसार केवल शृगार ही 'रस' हो सकता है, अन्य वीर-रसादि नही, क्योकि उस शृगार के आह्लादात्मक होने से 'शृगार' ही 'रस' होना चाहिए । लेकिन भावप्रकाशनकार कहते है कि केवल शृगार ही 'रस' कहा जा सकता है, ऐसा नही । अन्य रसो की 'रसता' किसी न किसी हेतु से प्राय सिद्ध ही है । जैसे सभी मनुष्यो मे मधुरादि (मधुराम्ललवणकटु-कषायतिक्त) सभी रसो का स्वाद लिया जाता है और देश तथा काल के भेद से सभी 'रसात्मता' को प्राप्त होते है अर्थात् मधुरादि सभी रस कोई न कोई स्वाद अवश्य रखते हैं क्योकि जैसे कोई व्यक्ति मधुर वस्तु का सेवन कर मधुर-रस का आस्वादन करता है और आनन्द का अनुभव करता है, कोई व्यक्ति भिन्न देश तथा काल मे कटु वस्तु का सेवन करता है तो भी एक प्रकार के स्वाद का आनन्द लेता है जैसा कि अन्य मधुर वस्तु के सेवन से मधुर-रस के स्वर का आनन्द लेते हैं। इस प्रकार देश तथा काल के भेद से सभी रसो से आनन्द प्राप्त होता है ।

४१ तथा जाता जनिष्यन्तो जायमानाः परस्परम् ।
परस्परस्य सर्वत्र मित्रोदासीनशत्रवः ॥
तेषु कस्यापि शृङ्गारो हास्यः कस्यचिदेव सः ।
अद्भुतस्स च कस्यापि कस्यापि करुणो भवेत् ।
एवं सङ्करतोऽन्योन्यं देशकालगुणादिभिः ।
शृङ्गाराद्याः सदस्यानां भवन्ति ह्लादना यतः ॥
तस्मात्सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति ते ।
प्रकृतीनां च भिन्नत्वादवस्थादिविभेदतः ॥
मनसः क्षणिकत्वाच्च तानेकः स्वदते यतः ।
ततोऽपि रसवाच्याः स्युरित्याचार्या व्यवस्थिताः ॥
एके रसानां व्यङ्ग्यत्वं वाच्यत्वं केचिदूचिरे ।
प्रत्याय्यत्वं वदन्त्यन्ये गम्यत्वमपि केचन ॥
तथाऽवान्तरवाक्यार्थं महावाक्यार्थतां परे ।
एवं न्यायो न भिद्येत क्वापि क्वापि प्रकाशतः ॥
रामादावनुकार्ये ते नटैर्व्यङ्ग्यो भविष्यति ।
तत्तत्काव्यनिबद्धस्तु वाक्यार्थः स भविष्यति ॥
नामादितादात्म्यापत्तेर्नटे प्रत्याय्य एव सः ।

---

४१ इसी प्रकार मनुष्य भूत, भविष्य तथा वर्तमान के मित्रता, उदासीनता तथा शत्रुता के सस्कारो के साथ जन्म लेता है, अत उसकी भिन्न-भिन्न रुचि तथा अरुचि होती है। भिन्न-भिन्न रुचि होने के कारण उनमे से किसी का शृगार, किसी का हास्य, किसी का अद्भुत, किसी का करुण रस होता है। इस प्रकार देश, काल तथा गुण आदि के भेद से शृगारादि रस एक-दूसरे के साथ मिलकर सदस्यो (सहृदयो) के आह्लादकारी होते हैं क्योकि सामाजिको के द्वारा वे शृगारादि रस चर्वणा के योग्य बनाये जाते हैं और रस के नाम से पुकारे जाते हैं। प्रकृति के भिन्न होने से, अवस्थादि के भेद से तथा मन के क्षणिक होने से मनुष्यो को एक (रस) स्वादिष्ट होता है। आचार्य ने उसे 'रस' पद से अभिहित किया है। इसीलिए कोई एक रसो की व्यग्यता स्वीकार करते हैं, कोई वाच्यता कहते हैं। अन्य प्रत्यायता बताते है, कोई गम्यता स्वीकार करते है तथा अन्य कोई दूसरे वाक्यार्थ को महावाक्यार्थता कहते हैं। इस प्रकार कही-कहीं प्रकाश से न्याय (नियम) भिन्न नही होता। यह रस रामादि अनुकार्यो मे नटो द्वारा व्यग्य होगा। उस-उस काव्य मे निबद्ध वह रस वाक्यार्थ होगा। नामादि के तादात्म्य की आपत्ति से नट मे वही रस

एवमेवोह्य एव स्यात्तत्र तत्र विचक्षणैः ॥
तदवान्तरवाक्यार्थो महावाक्यार्थ एव च ।
४२ मुक्तकादौ प्रबन्धे च स्थायिसञ्चारिभेदतः ॥
प्रमदाद्यनुभावेन भावितो वासितो रसः ।
तत्तद्रूपस्याभिनयैः सभ्येषु व्यज्यते स्फुटम् ॥
संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात्स्वानुभूतितः ।
अहङ्काराभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते ॥
अहङ्काराभिमानादिस्वरूपं कथ्यतेऽधुना ।
परस्मादात्मनो भान्ति ज्ञानानन्दक्रियाप्रभाः ॥
४३ ज्ञानप्रभासाश्चैतन्यमणेर्जीवस्य सर्वतः ।
शरीरव्यापिनी तत्र व्यापना भवति स्फुटम् ॥
सैषा परात्मनः सर्ववस्तूत्था चेतना भवेत् ।
४४ तथाऽऽनन्दप्रभासाऽपि पुरुषेषु समन्ततः ॥
अभिव्यक्ता सती तेषां सुख वैषयिकं भवेत् ।
४५ क्रियाप्रभा भवेत्प्राणः स देहेषु प्रवर्तते ॥
परमात्मा सर्ववस्तुपरिस्पन्दप्रवर्तकः ।
ज्ञानप्रभा च सानन्दा तस्याः सत्त्वं प्रजायते ॥

प्रत्याय होगा। इसी प्रकार विद्वानो को वहाँ-वहाँ जानना चाहिए। दूसरा वाक्यार्थ महावाक्यार्थ ही है।

४२ मुक्तकादि प्रबन्ध मे स्थायी तथा सचारी भाव के भेद मे, प्रमदा आदि के अनुभाव से भावित, वासित (परिव्याप्त) 'रस' उस-उस रूप के अभिनयो के द्वारा सामाजिको मे स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। यह 'रस' सविद प्रकाशा-नन्द-रूप होता है, अपनी अनुभूति से गम्य होता है और अहकार और अभिमान रूप होने से बाह्य वस्तुओ मे प्रकाशित होता है अर्थात् बाह्य वस्तुओ से जाना जाता है।[१२] अब अहकार तथा अभिमानादि के स्वरूप को कहते है। दूसरे से तथा अपने से ज्ञान प्रभा, आनन्द प्रभा तथा क्रिया प्रभा प्रकट होती है।

४३ 'ज्ञान-प्रभा' वह है जो चैतन्यमणि-जीव के समस्त शरीर मे व्याप्त रहकर स्पष्ट रूप से व्याप्त होती है। यह वह है जो दूसरे की तथा अपनी सभी वस्तुओ से उत्पन्न चेतना होती है।

४४ 'आनन्द-प्रभा' भी वह है जो पुरुषो मे चारो ओर से अभिव्यक्त होती हुई उन पुरुषो के सुख तथा विषयो से सम्बन्धित होती है।

४५ 'क्रिया-प्रभा' प्राण है वह सभी के शरीरो मे रहती है। 'परमात्मा' सभी वस्तुओ मे स्पन्दन उत्पन्न करने वाला है। आनन्द-प्रभा के साथ ज्ञान-प्रभा से सत्व उत्पन्न होता है। 'क्रिया-प्रभा' से रज उत्पन्न होता है। सत्व से शक्ति। इस प्रकार यह उत्तम जन्म देने वाली है। मनोमयादि

क्रियाप्रभा रजस्सत्त्वाच्छक्तिः स्यादुत्तमा प्रसूः ।
मनोमयादयस्तासामधिष्ठातार ईरिताः ॥
पृथक्कदाचित्तिष्ठन्ति मिलितानि कदाचन ।
सत्त्वं विशालं तस्यान्तरुदरे रजसः स्थितिः ॥
तस्यान्तरुदरे तस्य तमसःस्थितिरुच्यते ।
आत्मा तस्यान्तरुदरे मनसः स्थितिरुच्यते ॥
मिलितानीति जानन्ति नैरन्तर्यात्परे पुनः ।
सत्त्वं मध्येऽभितस्तस्य रजस्तम इतीर्यते ॥
तन्मात्रैः सह भूतानि दश ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
कर्मेन्द्रियैः सह दश मनस्तदुभयात्मकम् ॥
अहङ्कारेण युक्तानां तन्मात्राणां यथाक्रमम् ।
दशेन्द्रियाणि कथ्यन्ते तेषां विकृतयस्त्विति ॥
अहङ्कारस्य चैकस्य विकृतिर्मन उच्यते ।
प्रकृतेर्विकृतिः सोऽपि महान् सा च त्रिधा भवेत् ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति सात्त्विकी ।
निश्चिन्वतीति विषयान्बुद्धिरित्युच्यते बुधैः ॥
स्वांशैः सह युता सर्वजीवानामुपकारिका ।
अंशाः स्युर्व्यष्टयस्तस्या विज्ञानेन्द्रियपञ्चकम् ॥
साहायकं भवेत्तद्वद्विषयालोचनादिषु ।
मनश्चोपकारोत्यस्याः सङ्कल्पेन ततस्ततः ॥

इन प्रभाओ के अधिष्ठाता कहे जाते है। कभी ये पृथक् रहते है, कभी मिलकर। सत्त्वगुण विशाल है उसके अन्तर्गत 'रज' की स्थिति रहती है, उसके अन्तर्गत उस 'तम' की स्थिति कही जाती है। आत्मा के अन्दर मन की स्थिति कही जाती है। इस निरन्तरता के कारण दूसरे इन सभी गुणो को मिला हुआ जानते हैं। मध्य मे सत्त्व और उसके चारो ओर रज और तम कहे जाते हैं। इन गुणो के मिश्रण से पचतन्मात्राओ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द) के साथ पचभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) अर्थात् ये दस तत्त्व उत्पन्न होते है। कर्मेन्द्रियो (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ तथा वाक्) के साथ ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा त्वक्) अर्थात् दस इन्द्रियो तथा उभयात्मक 'मन' उत्पन्न होता है। अहकार से युक्त इन तन्मात्राओ की यथाक्रम दस इन्द्रियाँ उनकी (तन्मात्राओ की) विकृति कही जाती है। एक अहकार की विकृति 'मन' कहलाती है। प्रकृति से विकृति होती है अत वह महान्

अपरोक्षावभासो यः तदालोचनमुच्यते ।
यः परोक्षावभासस्तु स सङ्कल्प इतीरितः ।।
अहङ्कारोऽभिमानेन बुद्धेरुपकरोति यः ।
ज्ञातुर्ज्ञेयेन संबद्धो देशकालनिबन्धनः ।।
यो ममेति ग्रहः सोऽयमभिमान इतीरितः ।
क्रियाया हेतुभूतत्वाद्राजसी प्राण उच्यते ।।
स्वांशैरुपकरोत्येव भूतानामाशयस्थितः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयैः स्वैस्स्वैस्तस्योपकुर्वते ।।
मनश्च कुर्यामित्यादिसङ्कल्पेनोपकारकम् ।
तामसी सृष्ट्यवस्थायां सततं परिणामतः ।।
कालो भवति तस्यैव परिणामाः क्षणादयः ।
तेनैव सर्वभूतानां परिणामः प्रवर्तते ।।
स कालः स्पन्दरूपेण पदार्थान्परिणामयन् ।
अनुगृह्णाति वेत्तारं वित्तिं वेद्यञ्च तत्त्वतः ।।

है। वह (प्रकृति) तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी ।[३३] सात्त्विकी (प्रकृति) विषयो को निश्चित करती है अत विद्वान लोग उसे 'बुद्धि'[३४] कहते है । वह अकेली बुद्धि अपने अगो के साथ सभी जीवो का उपकार करने वाली है । उसमे अश व्यष्टि स्वरूप है । उसकी पच ज्ञानेन्द्रियाँ उन-उन विषयो के आलोचनादि मे सहायक होती है। तदनन्तर 'मन'[३५] सकल्प से उसका उपकार करता है । जो अपरोक्ष ज्ञान है वह 'आलोचन'[३६] कहलाना है । जो परोक्ष ज्ञान है वह 'सकल्प' कहलाता है । जो अभिमान से बुद्धि का उपकार करता है, वह 'अहकार'[३७] है। जो ज्ञाता के ज्ञेय मे सम्बद्ध एव देश-काल से सम्बद्ध 'यह मेरा है'—इस प्रकार का ज्ञान हे, वह 'अभिमान' कहलाता है । क्रिया का हेतु-भूत होने से राजसी (अहकार) 'प्राण' कहलाता है। समस्त प्राणियो के हृदय मे स्थित (प्राण) अपने अगो से अहकार का उपकार ही करता है । कर्मेन्द्रिय अपने-अपने विषयो को ग्रहण कर उसका (अहकार का) उपकार करती है। 'मुझे करना चाहिए' इत्यादि प्रकार के सकल्प से मन (अहकार का) उपकारी होता है। सृष्टि-अवस्था मे निरन्तर परिणाम से तामसी (अहकार) 'काल' होता है। उसके परिणाम क्षणादि होते है। उसी (काल) से समस्त प्राणियो का परिणाम होता है । वह काल स्पन्दन रूप मे पदार्थो को परिणत करता हुआ तत्त्वत ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का उपकार करता है ।

४६ अहङ्कारस्त्रिधा सोऽयं सत्त्वादिगुणभेदतः ।
सत्त्वादिगुणभेदेन योऽहङ्कारस्तु सात्त्विकः ॥
वैकारिकश्चेन्द्रियादिरिन्द्रियप्रकृतिर्भवेत् ।
भूतादिस्तामसः शब्दतन्मात्रप्रकृतिर्भवेत् ॥
राजसस्तैजसः सोऽपि द्वयोरुपकरोति हि ।
अहङ्कारस्य वृत्तिर्या सोऽभिमानः प्रकीर्तितः ॥
साऽभिमानात्मिका वृत्तिस्तत्तदिन्द्रियगोचरा ।
बाह्यार्थालम्बनवती शृङ्गारादिरसात्मताम् ॥
याति तत्र विभावादिभेदाद्भेदं प्रयाति च ।

४७ विभावा ललिताः सत्त्वानुभावव्यभिचारिभिः ॥
यदा स्थायिनि वर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्सत्त्वव्यपाश्रयि ॥
सुखानुबन्धी तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
शृङ्गाररसाभिरव्यां लभते रस्यते च तैः ॥

४८ यदा तु ललिताभासा भावैः स्वोत्कर्षहेतुभिः ।
सत्त्वादिभिश्चाभिनयैः स्थायिनं वर्धयन्ति ते ॥

---

४६ सत्त्व, रज तथा तम गुणो के भेद से अहकार तीन प्रकार का होता है। सत्त्वादि गुण के भेद से जो सात्त्विक अहकार है उसके इन्द्रियादि वैकारिक है अर्थात् इन्द्रियादि उससे उत्पन्न होते है अत अहकार इन्द्रियो का कारण होता है। 'भूतादि' अर्थात् तामसे अहकार से शब्द आदि तन्मात्रा उत्पन्न होती है अत शब्दादितन्मात्राओ का 'तामस-अहकार' कारण होता है। राजस अर्थात् तैजस अहंकार दोनो का उपकार करता है अर्थात् राजस अहकार से दोनो ही कार्यगण उत्पन्न होते है।[१८] अहकार की जो वृत्ति है वह 'अभिमान' कहलाती है। वह अभिमानात्मिका अर्थात् अभिमान-स्वरूप वृत्ति तद्-तद् इन्द्रियगोचर होती है। बाह्य वस्तुओ के आलम्बन से वह वृत्ति शृगारादि रसो को प्राप्त होती है अर्थात् वह अभिमान स्वरूप वृत्ति इन्द्रियगोचर होने से बाह्य वस्तुओ के द्वारा शृगारादि रस हो जाती है और विभावादि के भेद से अनेक भेदो को प्राप्त करती है।

४७ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'ललित' विभाव-सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के साथ स्थायी भाव मे प्रवृत्त होते है तब दर्शको का मन रज तथा सत्त्व गुण के आश्रित हो सुख का अनुभव करता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'शृगार-रस' के नाम को प्राप्त होता है और सामाजिको (दर्शको) के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है।

४८ जब वे 'ललिताभास' विभाव अपने उत्कर्षाधायक सत्त्वादि-भावो और अभिनयो के द्वारा स्थायी-भावो को बढाते है तब दर्शको का मन रजोगुण का स्पर्श

तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्स्पृष्टं तमोऽन्वयि ।
चैतन्याश्रयि तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स हास्यरस इत्याख्यां लभते रस्यते च तैः ।

४९ स्थिरा विभावास्तु यदा स्वयोग्यैः सात्विकादिभिः ॥
भावैः स्थायिनि वर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां सत्त्ववृत्ति रजोऽन्वयि ॥
साभिमानश्च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स वीररसनामा स्याद्रस्यते च स तैरपि ॥

५० यदा चित्रा विभावास्तु भावैः सत्त्वादिभिः सह ।
स्वाश्रयाभिनयैर्युक्ता वर्तन्ते स्थायिनि स्वके ॥
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्सत्त्वोज्ज्वलं भवेत् ।
बुद्धियुक्तश्च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ॥
स चाद्भुतरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ।

५१ खरा विभावास्तु यदा स्वानुकूलैः सहेतरैः ॥
स्थायिनि स्वे प्रवर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजसा तमसाऽन्वितम् ॥
साहङ्कारं च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स रौद्ररसनामा स्याद्रस्यते च स तैरपि ॥

करता हुआ तमोगुण से अन्वित हो जाता है और चैतन्य के आश्रित हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'हास्य-रस' कहलाता है और सामाजिको (दर्शको) के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है।

४९ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'स्थिर-विभाव' अपने योग्य सात्त्विकादि भावो के साथ स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते है तब दर्शको का मन सत्त्ववृत्ति तथा रजोगुण मे अन्वित हो जाता है और अभिमान से युक्त हो जाता है। वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है, उसका 'वीर-रस' नाम होता है और दर्शकगण उस रस का आस्वादन करते है।

५० जब चित्र-विभाव' सात्त्विकादि भावो के साथ अपने आश्रित अभिनयो से युक्त होकर अपने स्थायी भाव मे प्रवृत्त होते है, तब दर्शको का मन रज तथा सत्त्व गुण से उज्ज्वल हो जाता है और बुद्धि (ज्ञान) से युक्त हो जाता है, वहाँ रति का विकार उत्पन्न होता है वह 'अद्भुत-रस' कहलाता है और दर्शक उस रस का आस्वादन करता है।

५१ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'खर-विभाव' अपने अनुकूल अन्य भावो के साथ अपने स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते हैं तब दर्शको का मन रजोगुण तथा तमोगुण से अन्वित हो जाता है और अहकार से युक्त हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'रौद्र-रस' कहलाता है और दर्शको के द्वारा उसका आस्वादन किया जाता है।

५२ यदा रूक्षा विभावास्तु स्वेतरैः सानुगैः सह ।
स्वीये स्थायिनि वर्तन्ते नाट्याभिनयसंश्रयाः ॥
तदा मनस्तमोरूढं चिन्तावस्थं जडात्मकम् ।
सदन्वयी च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ॥
प्राप्नोति सोऽपि करुणरसतां रस्यते च तैः ।

५३ निन्दिता ये विभावाः स्युः स्वेतरैः सहकारिभिः ॥
यदा स्थायिनि वर्तन्ते तैस्तैरभिनयैः सह ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां बुद्ध्यवस्थमसत्त्वयुक् ॥
चिदन्वयी च तत्रत्यो विकारो य. प्रवर्तते ।
स बीभत्सरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ॥

५४ यदा तु विकृता भावाः स्वोचितैः सहकारिभिः ।
स्थायिन्यभिनयोपेता वर्तन्ते नाट्यकर्मणि ॥
तदा मनः प्रेक्षकाणां चित्तावस्थं तमोऽन्वयि ।
सत्त्वान्वितं च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ॥
भयानकरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ।

५५ ईदृशी च रसोत्पत्तिः मनोवृत्तिश्च शाश्वती ॥
कथिता योगमालायां संहितायां विवस्वते ।

---

५२ जब नाट्याभिनय के आश्रित 'रुक्ष-विभाव' अपने अन्य समर्थक भावो के साथ स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते है, तब दर्शको का मन तमोगुण से आरूढ, चिन्ता मे अवस्थित, जड स्वरूप तथा शम से अन्वित हो जाते है, 'रति' का जो विकार उत्पन्न होता है, वह 'करुण-रस' को प्राप्त होता है और उस रस का दर्शक आस्वादन करते है ।

५३ जब जो 'निन्दित-विभाव' अपने से भिन्न अर्थात् अन्य सहकारी भावो तथा उन-उन अभिनयो के साथ स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते है, तब दर्शको का मन बुद्धि मे अवस्थित, सत्त्वगुण से युक्त तथा चित्त से अन्वित हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'बीभत्स-रस' कहलाता है और दर्शको के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है ।

५४ जब 'विकृत-विभाव' अपने योग्य सहकारी भावो तथा अभिनय से युक्त हो नाट्य-कर्म स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते है तब दर्शको का मन चित्त मे अवस्थित, तमोगुण तथा सत्त्वगुणो से अन्वित हो जाता है, वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है, वह 'भयानक-रस' के नाम से पुकारा जाता है और दर्शको के द्वारा उसका आस्वादन किया जाता है ।

५५ इस प्रकार की रसोत्पत्ति तथा शाश्वत मनोवृत्ति 'योगमाला-संहिता'[३९] मे

शिवेन ताण्डवं लास्यं नाट्यं नृत्तं च नर्तनम् ।।
सर्वमेतदशेषेण संहितायां प्रदर्शितम् ।

५६ उद्धतैः करणैरङ्गहारैर्निर्वर्तितं यदा ।।
वृत्तिरारभटी गीतकाले तत्ताण्डवं विदुः ।

५७ चण्डोच्चण्डप्रचण्डादिभेदात्तत्ताण्डवं त्रिधा ।।
अनुद्धतं चोद्धतं च तथात्युद्धतमित्यपि ।
तत्तत्ताण्डवभेदस्तु परस्तादेव वक्ष्यते ।।

५८ ललितैरङ्गहारैश्च निर्वर्त्य ललितैर्लयैः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी गीते यत्र तल्लास्यमुच्यते ।।
एतदेव तु चारीभिर्मृद्वीभिर्गीतिरीतिभिः ।
तत्तद्देशीगुणोत्थाभिर्हेलाद्यैर्भावदृष्टिभिः ।।
तत्तत्पात्रगुणोत्थाङ्गचतुष्षष्टयङ्गबन्धुरम् ।
पुष्पाञ्जलिर्हि घोण्डादि देशीवाद्यलयान्वितम् ।।
शुद्धसालगसूडादिगीताभिनयमन्थरम् ।
रुच्या प्रवर्तितं देशे राजभिः गुण्डलीं विदुः ।।
गीतादौ कैशिकीवृत्तिबहुलं भावमन्थरम् ।
सुकुमारप्रयोगं यत्तल्लास्यं मन्मथाश्रयम् ।।

कही गयी है। सहिता मे शिव सूर्य को ताण्डव, लास्य, नाट्य तथा नर्तन, इन सभी को नि शेष रूप से समझाते है।

५६ जब गीत के समय आरभटी वृत्ति के साथ उद्धतकरण[४०] तथा अगहारो[४१] के द्वारा नृत्य किया जाता है वह 'ताण्डव'[४२] जाना जाता है।

५७ चण्ड, उचण्ड तथा प्रचण्डादि भेद से 'ताण्डव' तीन प्रकार का होता है। ताण्डव के अनुद्धत, उद्धत तथा अति-उद्धत भेद भी आगे कहेगे।

५८ जहाँ सुकुमार अगहार तथा सुकुमार लयो[४३] के द्वारा नृत्य किया जाता है तथा गीत मे कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है, उसे 'लास्य' कहा जाता है। यही लास्य (नृत्य) जब चारी,[४४] कोमल-गीति[४५], रीति, तद्-तद् देश के कहे गये गुणो से उत्पन्न हेलादि भाव दृष्टियो, तद्-तद् पात्र के कहे गये गुणो से उत्पन्न चौसठ अगो, पुष्पाजलि, घोण्डादि देशी वाद्य तथा लय, शुद्ध और सालग सूडादि[४६] गीतो एव अभिनयो से युक्त होता है और राजाओ के द्वारा रुचि से स्थान विशेष पर प्रवृत्त किया जाता है तो 'गुण्डली' कहा जाता है। गीतादि मे कैशिकी वृत्ति की बहुलता, कोमल-भाव तथा सुकुमार प्रयोग से युक्त जो कामाश्रित नृत्य होता है वह 'लास्य' कहलाता है। 'लास्य' शब्द 'लस्' धातु से—जिसका अर्थ होता है 'सश्लेषण' 'ण्यत्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है।

लस्संश्लेषण इत्यस्य धातोर्लास्यस्य निर्वहः ।
संश्लेषादङ्गहाराणामङ्गैर्लास्यं प्रचक्षते ।।
ताण्डूक्तमुद्धतप्राय प्रयोगं ताण्डवं विदुः ।
५९ नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् ।।
नटकर्मैव नाटचं स्यादिति नाटचविदां मतम् ।
६० करणैरङ्गहारैश्च निर्वृत्तं नृत्तमुच्यते ।।
वृत्तिभिः सहितं गीतं तथा वाद्यादिभिर्युतम् ।
नर्तनं गात्रविक्षेपमात्रमित्युच्यते बुधैः ।।
एतन्नाटचे च नृत्ते च लास्यताण्डवयोरपि ।
गुण्डल्यादिषु सर्वत्र साधारण्येन वर्तते ।।
६१ यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाटचकर्मणि ।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा[क्ता]स्तै रसाः पृथक् ।।
६२ केचिन्नवात्मिकामाहुर्मनोवृत्तिं विचक्षणाः ।
ततश्शान्तो रसो नाटचेऽप्यस्तीति प्रतिजानते ।।
६३ नाटकादिनिबन्धे तु तपश्चरणवस्तुनि ।
अभिनेतुमशक्यत्वात्तद्वाक्यार्थपदार्थयोः ।।
सामाजिकानां मनसि रसः शान्तो न जायते ।

अगो के द्वारा अगहारो के सश्लेषण से लास्य कहा जाता है, अर्थात् 'लास्य' वह है जो जहाँ अगो से अगहारो का सश्लेषण होता है। 'तण्डु' (ऋषि) के द्वारा कहा गया प्राय उद्धत नृत्य का प्रयोग 'ताण्डव'[४७] नृत्य जाना जाता है।

५९ नाटक मे प्रयुक्त वाक्यार्थ, परार्थ तथा अभिनय रूप नट-कर्म ही नाट्य कहा जाता है, ऐसा नाट्याचार्यों का मत है।

६० करण तथा अगहारो के द्वारा सम्पन्न 'नृत्त' कहा जाता है। वृत्तियो सहित गीत तथा वाद्यादि से युक्त गात्र-विक्षेप मात्र विद्वानो द्वारा 'नर्तन' कहलाता है। यह (नर्तन) नाट्य, नृत्त, लास्य और ताण्डव तथा गुण्डली आदि सभी मे साधारण रूप मे रहता है।

६१ सामाजिको की जो आठ प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं, नाट्यकर्म मे उन्ही आठो का अनुभव किया जाता है, सामाजिक उन्ही से रसो को पृथक्-पृथक् जानते है।

६२ कोई विद्वान नवी मनोवृत्ति को बताते है। फलत नाट्य मे 'शान्त' रस भी है ऐसा माना जाता है।

६३ नाटकादि निबन्ध मे निबद्ध तद्-तद् वाक्यार्थ पदार्थ मे अर्थात् तपश्चर्यादि वस्तुओ मे अभिनय की अशक्यता के कारण सामाजिको के मन मे 'शान्त-रस' उत्पन्न नही होता है।

६४ शमस्स्थायी विभावाद्यैर्यथास्थाननिवेशितैः ।।
वर्धितश्चेद्रसः शान्तोऽप्यस्तीत्युद्भाव्यते क्वचित् ।
६५ अस्य सर्वविकाराणां शून्यत्वात्तु रसात्मना ।।
परिणेतुं न शक्नोति तस्माच्छान्तस्य नोद्भवः ।
६६ तस्मान्नाट्यरसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम् ।।
६७ उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता ।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता ।।
६८ बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात् ।
साहङ्काराद्विकारो यः स शृङ्गार इतीरितः ।।
६९ तस्मादेव रजोहीनात्ससत्त्वाद्धास्यसंभवः ।
७० अहङ्काररजःसत्त्वयुक्ताद्बाह्यार्थसंगतात् ।।
मनसो यो विकारस्तु स वीर इति कथ्यते ।
७१ तस्मादेवाद्भुतो जातो रजोऽहङ्कारवर्जितात् ।।
७२ रजस्तमोऽहङ्कृतिभिः युताद्बाह्यार्थसंश्रयात् ।
मनसो यो विकारस्तु स रौद्र इति कथ्यते ।।
७३ करुणस्तत एव स्याद्रजोऽहङ्कारवर्जितात् ।

---

६४ 'शम' स्थायी-भाव यथास्थान प्रयुक्त विभावादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है और 'शान्त' रस कहलाता है ऐसा कोई कहते है ।

६५ लेकिन इस 'शम' के विकारो की शून्यता होने से रस रूप मे परिणति नही हो सकती है अत 'शान्त' रस उत्पन्न नही होता है ।

६६ इसलिए 'पद्मभू' (ब्रह्मा) के मत मे आठ नाट्य-रस हैं ।

६७ पहले वासुकि ने जो रसो की उत्पत्ति कही थी, उसको नारद दूसरी तरह से कहते है ।

६८ बाह्य वस्तुओ के आश्रित मन की रजोगुण मे स्थिति होने से तथा अहकार का सहयोग होने से जो विकार उत्पन्न होता है वह 'शृगार' कहलाता है ।

६९ वही विकार जब रजोगुण से हीन हो जाता है तथा सत्त्व से युक्त हो जाता है तो 'हास्य-रस' को उत्पन्न करता है ।

७० अहकार और रजोगुण तथा सतोगुण से युक्त होने से तथा बाह्य वस्तुओ से सम्पर्क होने से मन का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'वीर-रस' कहलाता है ।

७१ रजोगुण और अहकार के न रहने से वही मन का विकार 'अद्भुत-रस' को उत्पन्न करता है ।

७२ रज, तम तथा अहकार से युक्त होने से तथा बाह्य वस्तुओ का सश्रय होने से जो विकार उत्पन्न होता है वह 'रौद्र-रस' कहलाता है ।

७३ रज तथा अहकार के न रहने से वही मन का विकार 'करुण' कहलाता है ।

७४ चित्तावस्थात्तु मनसो बाह्यार्थालम्बनात्मनः ॥
तमस्सत्त्वयुताज्जातो बीभत्स इति कथ्यते ।

७५ सत्त्वबुद्धिविहीनात्तु मनसस्तमसाऽन्वितात् ॥
बाह्यादेव समुत्पन्नो भयानक इतीरितः ।

७६ रजस्तमोविहीनात्तु सत्त्वावस्थात्सचित्ततः ॥
मनागस्पृष्टबाह्यार्थात् शान्तो रस इतीरितः ।

७७ देशकालवयोद्रव्यगुणप्रकृतिकर्मणाम् ॥
भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृङ्गं श्रेष्ठमुच्यते ।
इयन्ति शृङ्गं यस्मात्तु तस्माच्छृङ्गार उच्यते ॥

७८ अप्प्रत्ययान्तः शब्दोऽयं हस इत्यभिधीयते ।
घञन्तो हासशब्दस्तु द्वयोः प्रत्यययोरपि ॥
अत्र स्वनहसोर्वेति विकल्पेन विधानतः ।
हास्यतेऽसाविति यतस्तस्माद्धास्यस्य निर्वहः ॥
विकृताङ्गवयोद्रव्यभाषालङ्कारकर्मभिः ।
जनान्हासयतीत्येवं तस्माद्धास्यः प्रकीर्तितः ॥

---

७४ बाह्य वस्तुओ के आश्रित रूप मन की चित्तावस्था अर्थात् विकार तम तथा सत्त्व से युक्त हो जाता है तो 'बीभत्स' कहलाती है।

७५ सत्त्व-बुद्धि विहीन होने से तथा मन के तम से अन्वित होने से, बाह्य वस्तुओ से उत्पन्न 'भयानक-रस' कहलाता है ।

७६ रज-तम से रहित होने से तथा चित्त की सत्त्वावस्था होने से बिल्कुल-अस्पृष्ट बाह्य वस्तुओ से 'शान्त रस' उत्पन्न होता है ।

७७ देश, काल, अवस्था, द्रव्य, गुण, प्रकृति तथा कर्म आदि भावो का जो उत्तम रूप होता है वह 'शृग' अर्थात 'श्रेष्ठ' कहलाता है। जिससे 'शृग' पर पहुँचता है अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ होता है वह 'शृगार' कहलाता है ।

७८ 'हस्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर यह 'हस' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है 'हँसी' । 'हस' शब्द से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'हास' शब्द निष्पन्न होता है । इस प्रकार 'हस्' धातु से दोनो प्रत्ययो (अप् और घञ्) के सयोग से क्रमश हस और हास निष्पन्न होते हैं । यहा 'स्वन्'=शब्द करना अथवा 'हस्'=हँसना के वैकल्पिक के विधान से 'हास्यते असौ' अर्थात् 'जिस लिए यह हँसाया जाता है' इसीलिए 'हास्य' शब्द की निष्पत्ति होती है । विकृत अग,(विकृत) अवस्था (आयु), (विकृत) द्रव्य, (विकृत) भाषा, (विकृत) अलकार तथा (विकृत) कर्मो के द्वारा मनुष्यो को हँसाता है इसलिए 'हास्य' कहा जाता है ।

७९ रा दान इति यो धातुर्वा......दे च वर्तते ।
लादान इत्ययं धातुर्ज्ञानखण्डनयोरपि ।।
रलयोरविशेषोऽपि कथितः शब्दवादिभिः ।
विरुद्धान्राति हन्तीति वीरशब्दस्य निर्वहः ।।
विविधं च विचित्रं च लाति जानाति कृन्तति ।
एवं वा वीरशब्दार्थः कथितः पूर्वसूरिभिः ।।
प्रेरयत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निरुच्यते ।

८० अथ वैचित्र्य (?) इत्यस्य धातोरद्भुतनिर्वहः ।।
विचित्रा यस्य भवति चित्तवृत्तिस्ततोऽदभुतः ।

८१ रुद्रो हस्तं ददातीति रौद्रशब्दो निरुच्यते ।।
तत्कर्मकर्तृताहेतुर्यस्स रौद्रः प्रकीर्तितः ।
यत्कर्म रोदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत् ।।

८२ घृणिधातुर्दयादानग्रहणेषु च वर्तते ।
गृह्णाति दत्ते दयत इति कर्म घृणेरितम् ।।

---

७९ 'रा' धातु, दान (देना) अर्थ मे जो होती है वह (?) प्रयुक्त होती है। 'ला' धातु दान (देना) अर्थ मे होती है और 'ज्ञान' तथा 'खण्डन' अर्थ मे भी प्रयुक्त होती है। वैयाकरण 'र' तथा 'ल' मे भेद नही करते है (रलयो डलयो न भेद)। 'वीर' शब्द की निष्पत्ति होती है कि 'विरुद्धान्राति हन्ति वा' अर्थात् जो विरोधियो (शत्रुओ) को मारता है। पूर्वाचार्य 'वीर' शब्द का अर्थ इस प्रकार करते है कि 'विविध च विचित्र च लाति जानाति, कृन्तति' अर्थात् जो विविध और विचित्र को जानता है या काटता है। यहाँ 'वीर' शब्द की निष्पत्ति होनी है 'विद्विष्टान् प्रेरयति' अर्थात् जो शत्रुओ को प्रेरणा देता है। (व्याकरण के अनुसार 'अज् गतिक्षेपणयो' इस धातु से उणादि का रक् प्रत्यय लगता है और 'अज्' 'वी' मे परिवर्तित हो जाता है इस प्रकार 'वीर' शब्द निष्पन्न होता है।)

८० (अत वैचित्र्य या विस्मयार्थक अव्यय के साथ 'भू' धातु से 'उतच्' प्रत्यय होकर अद्भुत शब्द की निप्पत्ति होती है।) इसके बाद वैचित्र्य (?) इस धातु से अद्भुत शब्द बनता है जिसकी चित्तवृत्ति विचित्र होती है, वह 'अद्भुत' कहलाता है।

८१ 'रुद्र हस्त ददाति' अर्थात् रुद्र हाथ देता है, इस प्रकार रौद्र शब्द की निष्पत्ति होती है। उस किये गये कर्म के कर्त्तापन का जो हेतु है वह 'रौद्र' होता है। जो कर्म दूसरो को रुलाता है वह 'रौद्र' कहलाता है।

८२ 'घृणि' धातु, दया, दान तथा ग्रहण अर्थ मे प्रयुक्त होती है। 'गृह्णाति दत्ते दयत इति कर्म' अर्थात् 'ग्रहण करना, देना, दया करना इसका कर्म है अत

अस्य कर्तृतया धीर्या सा घृणेत्युच्यत बुधैः ।
घृणेः करुणशब्दस्तु विहित. शब्दवादिभिः ।।
अतो नैघण्टुकैरुक्ता घृणेति करुणेति च ।
करुः क्लेश इति ख्यातः क्लेशं न सहते यतः ।।
यस्त धीः करुणा सा स्यात्प्रत्यये करुणो भवेत् ।
पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते ।।
मनसो यादृशो भावः स वै करुण उच्यते ।
८३　बधेर्धातोस्सनन्तस्य बीभत्सा रूपमिष्यते ।।
यत्पदार्थस्य बीभत्सा स बीभत्स इतीरितः ।
गर्हा निन्दा च बीभत्सा कुत्सा पर्यायवाचकाः ।।
गर्हणीयश्च निन्द्यश्च कुत्सनीयश्च यो भवेत् ।
स भावः कथ्यते सद्भिर्बीभत्स इति संज्ञया ।।
८४　ञिभीभय इति प्रायो धातुः स्याद्भयवाचकः ।
चलनं भयशब्दार्थ इति विद्वद्भिरुच्यते ।।
बिभेति भाययत्यन्यान्कर्मणेति यथाक्रमम् ।
कश्चिच्चलति कस्माच्चिद्भावात्तेनैव हेतुना ।।
चाल्यते च यतस्तस्माद्भयं तु चलनात्मकम् ।
भयेनाक्रोशतो जन्तोर्जायते स भयानकः ।।

'घृणा' कहलाती है। बुधव्यक्ति कहते है कि इसके (इस कर्म के) कर्त्तापन से जो बुद्धि होती है वह 'घृणा' कहलाती है। वैयाकरणो ने 'घृणा' का 'करुणा' अर्थ किया है। अत निघण्टुकार ने भी 'घृणा' को 'करुणा' कहा है। 'करु' को 'क्लेश' कहा गया है जिसकी बुद्धि क्लेश को नही सहती उस बुद्धि को 'करुणा' कहते है। उसके प्रत्यय मे करुण होता है। पराश्रित क्लेशो के असहिष्णु होने से मन का जो भाव है वह 'करुण' कहलाता है।

८३　'बध्' धातु से सन् प्रत्ययान्त शब्द 'बीभत्स' बनता है। जो पदार्थ की बीभत्सा (घृणा) है वह 'बीभत्स' कहलाती है। गर्हा, निन्दा, बीभत्स, कुत्सा—ये सभी पर्यायवाची शब्द है। जो भाव गर्हणीय, निन्दनीय तथा कुत्सनीय होता है वह विद्वानो द्वारा 'बीभत्स' नाम से पुकारा जाता है।

८४　'ञिभी भये'—अर्थात् प्राय 'भी' धातु भय-वाचक है। विद्वान 'भय शब्द का अर्थ 'चलना' कहते है। 'बिभेति भाययति अन्यान् कर्मणा इति भयम' अर्थात् क्रमश जो डरता है, और जो कर्म से अन्यो को चलाता (डराता) है, उसे भय कहते है। 'कश्चिच्चलति चाल्यते च' अर्थात् किसी भी भाव से कोई चलता है, और उसी हेतु से चलाया जाता है, अत 'भय' चलनात्मक होता है। भय से आक्रोश के द्वारा प्राणी को जो भाव होता है वह 'भयानक' होता है।

८५ आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च विकारा यत्र संयुताः ।
यस्य भावस्य शाम्यन्ति स शान्त इति कथ्यते ॥

८६ अर्थतश्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च धातुतः ।
वचनाच्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च योगतः ॥
अप्यक्षराणां सामान्यान्निरुच्यन्ते च केचन ।
एवं निरुक्तकारैस्तु स्वशास्त्रे निर्णयः कृतः ॥
अत्राप्येते रसास्सर्वे शृङ्गाराद्या यथार्थतः ।
निरुक्तकारैर्निर्णीता मया सम्यक्प्रदर्शिताः ॥

८७ रामाद्यारोपणात्मा धीः प्रेक्षकाणां नटादिषु ।
जायते याऽत्र विद्वद्भिर्बहुधा सा विविच्यते ॥

८८ रामोऽयमयमेवेति येयं प्रेक्षकधीर्नटे ।
अनुकार्येऽपि रामादौ सा सम्यगिति कथ्यते ॥
अयं स नेति मिथ्यैव बोधादौत्तरकालिकात् ।
अयं रामो न वेत्येषा मतिः स्यात्संशयात्मिका ॥
अयं रामस्य सदृश इति सादृश्यधीरियम् ।
एवं नटे प्रेक्षकस्य बहुधा धीर्विकल्प्यते ॥

---

८५ जिस भाव के आभ्यन्तर और बाह्य विकार जहाँ मिलकर शान्त हो जाते है, उसे 'शान्त' कहते है।

८६ कुछ शब्दो की 'निरुक्ति' अर्थ से होती है, कुछ की धातु से। कुछ शब्दो की निरुक्ति 'वचन' से होती है, कुछ की योग से। कुछ की निरुक्ति अक्षर-सामान्य मे होती है। इस प्रकार निरुक्तकार अपने शास्त्र मे निर्णय करते है। यहाँ भी मैंने शृगारादि सभी रसो की निरुक्ति यथार्थत निरुक्तकार द्वारा निर्णीत विधि से भलीभाँति प्रस्तुत की है।

८७ दर्शको की नटादि मे रामादि की आरोपण-स्वरूप जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका यहाँ विद्वान लोग विभिन्न प्रकार से विवेचन करते है।

८८ नट मे तथा अनुकार्य रामादि मे भी दर्शक की जो यह बुद्धि होती है कि 'यह राम है' अथवा 'यह ही राम है', वह 'सम्यक्-प्रतीति' कहलाती है। 'यह राम नही है' इस प्रकार उत्तर काल मे बोध होने से वह बुद्धि 'मिथ्या-प्रतीति' कहलाती है। 'यह राम है या नही' इस प्रकार की बुद्धि 'सशय-रूप प्रतीति' कहलाती है। 'यह राम के समान है' इस प्रकार की बुद्धि 'सादृश्य-प्रतीति' कहलाती है। इस प्रकार नट मे दर्शक की बुद्धि विभिन्न प्रकार की कल्पना करती है।

८९ सेयं न सम्यङ्नो मिथ्या न संशयमतिर्भवेत् ।
न च सादृश्यधीराभ्यः प्रतीतिभ्यो विलक्षणा ।।
चित्रे तुरगबुद्ध्यादिन्यायेनैव नटादिषु ।
धिया काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षावशादपि ।।
निर्वर्तितस्वकार्यादिप्राकट्येन प्रकाश्यते ।
कृत्रिमैरपि सत्यत्वाभिमानकलुषीकृतैः ।।
व्यपदेश्यैर्विभावादिशब्दैः संयोगरूपिणा ।
स गम्यगमकत्वेन क्वचिदप्यनुमीयते ।।
वस्तुसौन्दर्यतः सोऽपि रसनीयत्वमेष्यति ।
अन्यानुमीयमानेन स्थायित्वेन विभावितः ।।
अत्रासन्नपि रत्यादिः स्वाद्यते तै रसात्मना ।
एवं केचिद्वदन्त्येतां नटे रामादिशेमुषीम् ।।
९० नैवमित्येव भरता नाट्यवेदार्थवेदिनः ।
रामादिबुद्धिर्या नाट्ये प्रेक्षकाणां नटादिषु ।।

---

८९ (आचार्य श्री शकुक के मतानुसार) नटादि मे रामादि की जो बुद्धि होती है वह १—न सम्यक्-प्रतीति २—न मिथ्या-प्रतीति ३—न सशय रूप प्रतीनि ४—न सादृश्य प्रतीति होती है अपितु इन चारो प्रकार की प्रतीतियो से विलक्षण 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली (पाँचवे प्रकार की) प्रतीति होती है। इस प्रतीति से (ग्राह्य नट मे) काव्यो के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने कार्यादि (अनुभाव इत्यादि) से (नट के ही द्वारा 'रति' आदि स्थायी-भाव के कारण, कार्य तथा सहकारी) प्रकाशित किये जाते है। (ये कारणादि) कृत्रिम होने पर भी सत्यता के अभिमान से कलुपित किये जाते है अर्थात कृत्रिम नही समझे जाते है, और, 'विभाव' आदि शब्द से व्यवहृत होने है, (इन्ही कारणादि के) साथ 'सयोग' रूप अर्थात् गम्य-गमक भावरूप सम्बन्ध से कही उस (रति आदि भाव का) अनुमान किया जाता है। वह (रति आदि भाव अनुमानित होते हुए) भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण आस्वाद के योग्य हो जाते है। अन्य अनुमीयमान अर्थ (उडती हुई धूल को धूम समझकर, अग्नि का अनुमान आदि) की अपेक्षा (विलक्षण) स्थायी रूप से विभावित 'रति' आदि भाव यहाँ (अर्थात् नट मे वास्तव रूप मे) न रहने हुए भी उनके (सामाजिको) द्वारा 'रस' रूप मे आस्वाद किया जाता है। इस प्रकार नट मे रामादि की इस बुद्धि (ज्ञान) को कोई (आचार्य शकुक) कहते है।[४८]

९० नाट्यवेदार्थविद् भरत कहने है कि ऐसा नही है अर्थात् दर्शको की नाट्य मे नटादि मे रामादि की जो बुद्धि होती है वह न तो सशयात्मिका है, न मिथ्या ही है, और न सादृश्यात्मिका है, न चित्रतुरगात्मिका ही है, क्योकि देश तथा

सेयं न संशयमतिर्न विपर्यासधीरपि ।
नैव सादृश्यधीरेषा न चित्रतुरगात्मिका ॥
न संशयस्य शङ्का स्याद्देशकालादिभेदतः ।
न विपर्यासधीः सा स्याद्बाधादौत्तरकालिकात् ॥
काव्याद्युपनिबद्धस्य रामादेश्च नटस्य च ।
सादृश्यधीहेत्वभावान्न च सादृश्यधीर्भवेत् ॥
चित्रे लिखितवस्तूनां मन्यन्ते कृत्रिमात्मताम् ।
सर्वेऽपि यत्ततश्चित्रतुरगात्मा न धीर्भवेत् ॥
नटादेश्चेतनत्वेन चित्रस्याचेतनत्वतः ।
तस्मात्कदाचन क्वापि न चित्रादिमतिर्भवेत् ॥
यदा ह्यर्थक्रियाकर्मसमर्था रामधीर्नटे ।
तदानीं बाधकाभावात्तस्य सम्यक्त्वमुच्यते ॥
प्रेक्षकास्तद्रसाविष्टा नटे सम्यक्प्रयोक्तरि ।
यत्ततोऽर्थक्रियाकर्मसमर्था रामधीर्नटे ॥

९१ एवं रसानामुदयः स्वरूपाश्रयबुद्धितः ।
दर्शितो भरतप्रोक्तः तस्य वृत्तिर्निरूप्यते ॥

९२ न तटस्थतया नात्मगतत्वेन प्रतीयते ।
न चाभिधीयते क्वापि नोत्पद्येत कदाचन ॥

कालादि के भेद से न तो सशय की आशका है, न मिथ्या-बुद्धि की ही उत्तर-काल मे बाध होने से, और काव्य-निबद्ध रामादि की और नट की सादृश्य-बुद्धि के हेतु के अभाव से सादृश्य-बुद्धि नही होती है। चित्र-लिखित वस्तुओ की कृत्रिमता मानी जाती है अत चित्र-तुरगात्मिका बुद्धि भी नही होती है तथा नटादि चेतन-रूप होते है, जबकि चित्र अचेतन ही अत चित्रादि-बुद्धि तो कही कभी नही होती है। इसलिए जब नट मे राम-बुद्धि अर्थ, क्रिया तथा कर्म से समर्थ होती है तो बाधक के अभाव से उसकी सम्यक्ता कही जाती है और नट मे सम्यक् प्रतीति होने पर दर्शक रसाविष्ट हो जाते है। अत नट मे राम-बुद्धि अर्थ, क्रिया तथा कर्म से समर्थ होती है।

९१ इस प्रकार रसोदय, रस-स्वरूप तथा रसाश्रय बुद्धि से कह दिये अब आचार्य भरत के अनुसार रस-वृत्ति का निरूपण करते है।

९२ न तटस्थ रूप से (अर्थात् नटगत या अनुकार्यगत रूप से) रस की प्रतीति (अर्थात् अनुमिति) होती है और न कही अभिव्यक्ति होती है और न उत्पत्ति होती है। प्रमदादि के तादात्विक अनुभाव से भावित अर्थात् एकतान होकर सहृदयो का जो शब्द-रूप हृदयगम मधुर स्वाद है वह, भाव तथा अभिनय से

तादात्विकेन प्रमदाद्यनुभावेन वासितः ।
स्वादः सहृदयानां यो ह्यदात्मा हृदयङ्गमः ।।
स भावाभिनयात्साधारणीकरणरूपया ।
भावकत्वव्याप्रियया भाव्यमानः स्वभाववत् ।।
भोगेन संविदानन्दमयेनैवोपभुज्यते ।
भोक्तृभोग्यार्थसंबन्धप्रकारश्चाभिधीयते ।।

९३ रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः ।
प्रवृत्तिर्गोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ ।।
भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मैव तिष्ठति ।
दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते ।।

९४ यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्वं यद्रागोपादानमुच्यते ।।
तयाऽभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चितः ।

९५ चैतन्यस्य मलेनैव संरुद्धस्य स्वभावतः ।।
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदुःखात्मिका बुद्धेर्वृत्तिर्गोचर उच्यते ।।

९६ एवं परम्पराप्राप्तैर्भावैर्विषयतां गतैः ।
बुध्द्यादिकरणैर्भोगाननुभुंक्ते रसात्मना ।।

साधारणीकरण-रूप मे 'भावकत्व' नामक व्यापार से (विशेष सीता-राम आदि के सम्वन्ध बिना) 'भाव्यमान' अर्थात् साधारणीकृत होकर स्वभाववत् (रत्यादि स्थायी-भाव) चिदानन्दानुभूति सदृश भोग से (अर्थात् शब्द के 'भोजकत्व' नामक व्यापार से) आस्वादित किया जाता है । यहाँ भोज्य-भोजक-भाव कहा जाता है ।[४९]

९३ राग, विद्या तथा कला नामक तीन तत्त्वो से पुरुष की स्वत प्रवृत्ति गोचर से उत्पन्न होती है । बुद्धि आदि करणो से वह (प्रवृत्ति) भोग को निष्पादित कर करके वासना रूप ही रहती है । दु ख मोहादि से कलुषित भोग की भी प्रतीति की जाती है ।

९४ जो सुख-रूप अभिमान है वह 'राग'[५०] कहलाता है । जो 'विद्या'[५१] नामक तत्त्व है, वही राग का उपादान है । इस विद्या से विद्वान पुरुष का ज्ञान अभिव्यक्त होता है ।

९५ 'मल'[५२] से अवरुद्ध चैतन्य को स्वभावत प्रकाशित करने वाला जो हेतु है, वह 'कला'[५३] है । बुद्धि की सुख-दु ख रूप वृत्ति को 'गोचर' कहा जाता है ।

९६ इसी प्रकार परम्परा प्राप्त भावो के द्वारा, विषयता को प्राप्त बुद्धि आदि करणों के द्वारा भोगो का भोग रस-रूप मे किया जाता है ।

९७ शिवागमज्ञैरर्थोऽयमेवमुक्तः पुरातनैः ।
कलोत्कलितचैतन्यो विद्यार्दशितगोचरः ।।
रागेण रञ्जितश्चायं बुध्द्यादिकरणैर्युतः ।
मायाद्यवनिपर्यन्तं तत्त्वभूतात्मनि स्थितम् ।।
भुंक्ते तत्र स्थितो भोगान् भोगैकरसिकः पुमान् ।
प्रेरकत्वेन बुध्द्यादिकरणानां पुनः पुनः ।।
उपकुर्वन्ति सत्त्वादिगुणास्ते तत्र तत्र तु ।।

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णयो
नाम द्वितीयोऽधिकारः ।।

---

९७ प्राचीन शिवागमवेत्ताओ द्वारा यह अर्थ इसी प्रकार कहा गया है। 'कला' से उत्कलित, 'विद्या' से दर्शित गोचर वाला तथा 'राग' से रञ्जित यह चैतन्य बुद्धि आदि कारणो से युक्त मायादि[५४] से अवनिपर्यन्त तत्त्व-भूतात्मा मे स्थित रहता है और वहाँ स्थित हो भोगो का रसिक पुरुष भोगो को भोगता है। वहाँ-वहाँ वे सत्त्वादि गुण प्रेरक के रूप मे बुद्धि आदि करणो का पुन-पुन उपकार करते है।[५५]

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णय
नामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

अथ तृतीयोऽधिकारः

१ कथिताः स्थायिनस्तेषु विभावादिसहायता ।
तेषां रसात्मता तादृक्स्वरूपं तद्रसस्य च ।।
तद्भेदास्तन्निरुक्तिश्च तद्विभावादिभाव्यता ।
तदुत्पत्तिप्रकाराश्च तज्ज्ञानं च तदाश्रयः ।।
तद्योग्यता तत्करणं संबन्धो भोक्तृभोग्ययोः ।
इदानीं कथ्यतेऽस्माभिः प्रकारान्तरकल्पितः ।।
उत्पत्तिर्जन्यजनकभावस्तेषां यथाक्रमम् ।
ततः स्थायिषु भावेषु तदसाधारणात्मकः ।।
नियमश्च विभावादेस्तदात्वप्रक्रियाऽपि च ।
अनुभावैस्तु वागङ्गमनआरम्भजन्मभिः ।।
वागारम्भादिभेदेन विकल्पा रसगामिनः ।
तत्तदालम्बनीभूतनायकादिगुणादयः ।।
अन्येऽपि भावा ये केचित्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।
प्रवेक्ष्यन्ति च तत्रैव विज्ञेयास्ते विचक्षणैः ।।

---

१ स्थायी-भाव, स्थायी-भावो मे विभावादि की सहायता, स्थायी-भावो की रसात्मता, उसी प्रकार उस रस का स्वरूप, रस-भेद, रसो की निरुक्ति, रसो की विभावादि द्वारा भाव्यता, रसोत्पत्ति-प्रकार, उनका ज्ञान, रसाश्रय, उनकी योग्यता, रस के करण तथा भोज्य-भोजक-भाव-सम्बन्ध कह दिये गये । अब हम यथाक्रम दूसरी तरह से कहे गये उन (रसो) की उत्पत्ति, जन्य-जनक भाव, तदनन्तर स्थायी-भावो मे उनके असाधारणात्मक नियम, विभावादि की तत्सम्बन्धित प्रकिया, वागारम्भ, गात्रारम्भ तथा मन-आरम्भ से उत्पन्न अनुभावो द्वारा वागारम्भादि भेद से रस-गामी भेद, तद्-तद् रस के आलम्बनभूत नायिकादि के गुणादि कहते हैं । और तद्-तद् प्रसगानुकूल अन्य जो कोई भाव होगे उनको कहेगे, वे भाव विद्वानों को वही जान लेने चाहिए ।

२ शृङ्गार उदभूत्साम्नो वीरोऽभूद्विततो ऋचः ।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात् ॥

३ सामानि स्मरतस्तस्य स्वरूपव्यक्तिरात्मना ।
याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः ॥
विषयात्का रतिः सैव शृङ्गार इति गीयते ।

४ इच्छा क्रियात्मिका ज्ञप्तिस्तस्यैव स्मरतो ऋचः ॥
उत्साहात्मा विषयिणी वीर इत्युच्यते बुधैः ।

५ स्मरतोऽथर्वमन्त्राणां तत्तद्धिंसात्मिका मतिः ॥
या क्रियोपहिता क्रोधात्स रौद्र इति कथ्यते ।

६ क्रियारूपा प्रवृत्तिर्या तस्यैव यजुषां स्मृतेः ॥
फलावसानिकी सैव बीभत्स इति गीयते ।

७ शृङ्गारस्यानुकरणं हास्य इत्यभिधीयते ॥
वीरस्य कर्म यद्धीरं सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
क्रूरक्रिया या रौद्रस्य सैव स्यात्करुणाह्वया ॥
बीभत्सस्यापि यत्कर्म स भयानक ईरितः ।

---

२ क्रमश सामवेद से शृंगार-रस उद्भुत हुआ है, ऋग्वेद से 'वीर-रस' विस्तृत हुआ है, अथर्ववेद से रौद्र-रस तथा यजुर्वेद से बीभत्स-रस उत्पन्न हुआ है।

३ सामवेद के मन्त्रो का स्मरण करते हुए उनके स्वरूप तथा अभिव्यक्ति के रूप मे, जगत की सृष्टि करने की इच्छा वाले परमात्मा की जो यह इच्छा होती है और सासारिक विषयो से सम्बन्धित जो रति होती है वह 'शृगार' कहलाती है।

४ ऋग्वेद की ऋचायो का स्मरण करते हुए उसकी क्रियात्मक बुद्धि की इच्छा जो कि उत्साह रूप विषय वाली होती है वह विद्वानो द्वारा 'वीर-रस' कहलाती हैं।

५ अथर्ववेद के मन्त्रो को स्मरण करते हुए तद्-तद् हिसात्मक मति होती है जो कि क्रियात्मक क्रोध से उत्पन्न होती है वह 'रौद्र-रस' कहलाती है।

६ 'यजुर्वेद' के मन्त्रो के स्मरण से उसकी जो क्रिया-रूपा प्रवृत्ति होती है और वह फल देने वाली होती है वह 'बीभत्स-रस' कहलाती है।[1]

७ शृगार के अनुकरण को 'हास्य' कहा जाता है। 'वीर-रस' का जो धीर कर्म है वह 'अदभुत-रस' कहलाता है। रौद्र-रस की जो क्रूर-क्रिया है वह 'करुण' कहलाती है। बीभत्स-रस का भी जो कर्म है वह 'भयानक-रस' कहा जाता है।[2]

८ प्राधान्यं जनकत्वेन जन्यत्वेनाप्रधानता ।।
प्रधानताप्रधानत्वे ज्ञातव्ये नाट्यहेतवे ।

९ यत्तु प्रधानं तदनुभावादन्यत्प्रसिध्यति ।।
तस्मात्प्रधानेतरयोर्ज्ञानं नाट्योपकारकम् ।

१० तस्मात्प्रधानाः शृङ्गारवीररौद्राः पृथक्पृथक् ।।
सबीभत्सास्स्वतन्त्रत्वादेषां प्राधान्यकल्पना ।
स्वातन्त्र्यमेषामुत्पत्तिमितरेषां च सम्भवम् ।।
व्यासप्रोक्तेन मार्गेण कथयामि यथार्थतः ।

११ कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान्महेश्वरः ।।
स्वे महिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दमन्थरम् ।
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः ।।
वामतो वैष्णवी शक्तिः स्थिता मायामयी विभोः ।
अम्बिकारूपमास्थाय स्थिता सा सर्वमङ्गला ।।
नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ।
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ।।

---

८ नाट्य-हेतु के लिए जनक रूप से (शृगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स की) प्रधानता तथा जन्य-रूप से (हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक की) अप्रधानता अर्थात् जन्य-जनक भाव सम्बन्ध से रसो की प्रधानता तथा अप्रधानता जाननी चाहिए।

९ जो प्रधान होता है उसकी अनुभाव से अन्यत् प्रसिद्धि होती है। अत रसो के प्राधान्य तथा अप्राधान्य का ज्ञान नाट्य का उपकारक होता है।

१० इसलिए शृगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स पृथक्-पृथक् प्रधान होते है। स्वतन्त्र रूप होने से, इन (रसो) की प्रधानता की कल्पना की जाती है। इन (प्रधान रसो) की स्वतन्त्रता, उत्पत्ति और अन्य (हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक अप्रधान रसो) की उत्पत्ति व्यास के कथनानुसार यथार्थत कहता हूँ।

११ कदाचित् कल्प के अन्त मे महादेव (शकर) लोको को जलाकर, अपनी महिमा मे स्थित हो इच्छानुसार नृत्य करते हुए आनन्द विभोर हो गये, और महेश्वर ने फिर मन से ही सर्वप्रथम विष्णु तथा ब्रह्मा की सृष्टि की। उस विभु (शकर) के वामाग मायामयी-वैष्णवी-शक्ति खडी हो गयी। और अम्बिका-रूप (पार्वती-रूप) धारण कर वह सर्व मगला देवी खडी हो गयी। तदनन्तर देवदेव (महादेव) की आज्ञा से ब्रह्मा ने लोको की रचना की। उस ब्रह्मा ने सृष्टि कर महादेव शकर के पूर्वकल्प मे किये गये कर्मो को इस प्रकार याद किया कि 'मै शकर के दिव्य-चरित्र को कैसे देखूँ ?' इस चिन्ता मे वह ब्रह्मा

दिव्यं चरित्रमैशं मे कथमध्यक्षतामियात् ।
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः ॥
स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ।
उवाच वाक्यं ब्रह्माणं नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ॥
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ।
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम् ॥
भरतेषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग्विधानतः ।
तस्मिन्प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ।
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान्प्रभुः ॥
श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः ।
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात् ॥
अध्याप्य भरतानेतत्प्रङ्ग्ध्वमिति चाब्रवीत् ।
तस्मिंस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद्ब्रह्मसंसदि ॥
प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात् ॥
वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिस्सृताः ।

निमग्न हो गये, उसी क्षण नन्दिकेश्वर ब्रह्मा के सम्मुख प्रकट हो गये। वह नन्दिकेश्वर ब्रह्मा को प्रयोग सहित नाट्य वेद को पढाकर, तद् चिन्तितार्थविद नन्दी ब्रह्मा से वाक्य बोले कि 'नाट्य वेद मे कहे गये जो रूपक है उनमे से किसी एक रूपक को लक्षण सहित तैयार कर तुम भलीभाँति विधिपूर्वक भरतो के लिए प्रयोग करो। भाव तथा अभिनय के ज्ञाता भरतो के द्वारा इस नाटक का अभिनय किये जाने पर तुमको (शकर के) पूर्व कल्प के सभी कर्म प्रत्यक्ष हो जावेंगे।' इस प्रकार कहते हुए वह भगवान ! प्रभु ! नन्दी अन्तर्धान हो गये। ब्रह्मा नन्दी के ऐसे वचन सुनकर देवताओ सहित बडे प्रसन्न हुए, तदनन्तर उन्होने 'त्रिपुर-दाह'[१] नामक एक रूपक अच्छी प्रकार तैयार किया। इस रूपक को भरतो को पढाकर ब्रह्मा भरतो से बोले कि अब इस रूपक का तुम अभिनय करो। कदाचित् ब्रह्मा की सभा मे 'त्रिपुर दाह' नामक रूपक का भाव तथा अभिनय के ज्ञाता भरतो के द्वारा अभिनय किया जाने लगा। इस रूपक के देखे जाते हुए ब्रह्मा के मुख से क्रमश वृत्तियो सहित चारो शृगारादि रस उद्भूत हुए। जैसे ही भरतो ने शिव-पार्वती के सम्भोग का अभिनय किया

यदाऽभिनीतो भरतैः सम्भोगः शिवयोस्तदा ॥
कैशिकीवृत्तितो जज्ञे शृङ्गारः पूर्वतो मुखात् ।
१२ यदाऽभिनीतं भरतैः सम्यक्त्रिपुरमर्दनम् ॥
सात्त्वतीवृत्तितो जज्ञे वीरो दक्षिणतो मुखात् ।
१३ यदा दक्षाध्वरध्वंसोऽभिनीतो भरतैर्दृढम् ॥
अभूदारभटीवृत्ते रौद्रः पश्चिमवक्त्रतः ।
१४ यदाऽभिनीतं कल्पान्तकर्म शम्भोर्नटैस्तदा ॥
भारतीवृत्तितो जज्ञे बीभत्सश्चोत्तराननात् ।
१५ व्यक्ता मुखेभ्यश्चोत्पन्ना इत्यूचुः शङ्करादयः ॥
एभ्यो रसेभ्यो निष्पत्तिरितरेषां प्रदर्श्यते ।
१६ जटाजिनधरो भोगिभूषणः साग्निलोचनः ॥
भस्माङ्गरागश्च यदा देव्या कामयते रतिम् ।
तदा सखीनां देव्याश्च हासः समुदभून्महान् ॥
तस्माद्धास्यसमुत्पत्तिः शृङ्गारादिति कथ्यते ।
१७ पुराणि त्रीणि घटितान्ययोरजतकाञ्चनैः ॥
एकैकस्य तु रक्षार्थमसुराणां तरस्विनाम् ।

वैसे ही ब्रह्मा के पूर्व-मुख से उत्पन्न कैशिकी वृत्ति से 'शृगार-रस' उत्पन्न हुआ ।

१२ जब भरतो ने त्रिपुर-मर्दन का भलीभाँति अभिनय किया तब ब्रह्मा के दक्षिण मुख से उत्पन्न सात्त्वती वृत्ति से 'वीर-रस' उत्पन्न हुआ ।

१३ जब भरतो ने दक्ष-यज्ञ के ध्वस का दृढता के साथ अभिनय किया तब ब्रह्मा के पश्चिम मुख से उत्पन्न आरभटी वृत्ति से 'रौद्र-रस' उत्पन्न हुआ ।

१४ जब नटो द्वारा शम्भु के कल्पान्त-कर्म का अभिनय किया गया तब ब्रह्मा के उत्तर-मुख से उत्पन्न भारती वृत्ति से 'बीभत्स-रस' उत्पन्न हुआ ।

१५ शकरादि बोले कि ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न (रसो) को व्यक्त कर दिया । अब इन रस चतुष्टय (शृगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स) से अन्य (हास्य, अद्‌भुत, करुण तथा भयानक) रसो की निष्पत्ति (उत्पत्ति) दिखाते है ।

१६ जटाजिनधारी, सर्पभूषण को धारण करने वाले, अग्निलोचन वाले, भस्म को अगराग की तरह लगाने वाले (शकर) ने जब देवी के प्रति रति की कामना की तब सखियो का तथा देवी का महान् 'हास' उत्पन्न हुआ । अत शृगार से 'हास्य' की उत्पत्ति कही जाती है ।

१७ (मय दानव के द्वारा) लोहा, चाँदी तथा सोने से तीन नगरो की रचना की गयी । एक-एक नगर की रक्षा के लिए बलवान असुरो के लाखो धनुषो (कौट्य)

कोटचः शतसहस्राणि स्थापितानि ततस्ततः ॥
द्विगुणोत्तरवृद्धानि बलान्यतिबलानि च ।
अम्बिकामसितापाङ्गीमपाङ्गेनावलोकयन् ॥
विषह्य शरवर्षाणि स्मयमानः स्मरान्तकः ।
शरेणैकेन तान्येको भस्मसादकरोद्यदा ॥
तदा समस्तभूतानामद्भुतं यदभून्महत् ।
तस्माददद्भुतनिष्पत्तिर्वीरादेवेति कथ्यते ॥

१८ रुद्रेण वीरभद्रेण दक्षस्त ध्वंसिते मखे ।
दण्डितेषु च देवेषु नानाप्रहरणैः पृथक् ॥
विलोक्य तान्प्रलपतश्छिन्नकर्णाक्षिनासिकान् ।
दीनान्देव्याः सखीनां च करुणो यदभून्महान् ॥
तस्मात्प्रवृत्तः करुणो रौद्रादिति विभाव्यते ।

१९ दग्धानामादिदेवानामस्थीन्यामुच्यभैरवे ॥
तच्छमशानमधिष्ठाय तद्भस्मालिप्य नृत्यति ।
प्रमथा भूतसङ्घास्तमवेक्ष्य भ्रान्तचेतसः ॥
तमेव शरणं जग्मुर्यतो भयविमोहिताः ।
तस्माद्भयानको जातो बीभत्सादिति गण्यते ॥

को स्थापित कर दिया गया इस प्रकार वे बल और अतिबल मे दुगुने हो गये । काले अपाग (कटाक्ष) वाली अम्बिका (देवी) को अपाग (कटाक्ष) से देखते हुए, बाणो की वर्षा को सहन कर मुस्कराते हुए शिव ने एक ही बाण से उन सभी (लोको) को जब भस्म कर दिया तब समस्त प्राणियो ने महान् आश्चर्य (अदभुत) उत्पन्न हुआ । अत वीर-रस से 'अद्भुत-रस' की उत्पत्ति कही जाती है ।

१८ रुद्र वीरभद्र के द्वारा दक्ष के यज्ञ को नष्ट (ध्वस) किये जाने पर तथा नाना प्रकार के प्रहारो से देवताओ को दण्डित किये जाने पर, आँख, कान नाक कटे हुए उन दीन देवताओ को रोते हुए देखकर देवी तथा उनकी सखियो की महान करुणा उत्पन्न हुई । अत रौद्र-रस मे 'करुण-रस' को उत्पत्ति कही जाती है।

१९ जब शकर जले हुए आदि देवताओ की अस्थियो को लेकर, शमशान मे बैठकर उनकी भस्म को अपने शरीर पर लीपकर नृत्य करते है, तब भ्रान्त-चित्त वाला प्रमथ तथा भूतो का समूह उनको देखकर उनकी शरण मे गया क्योकि वे भय से मोहित हो गये थे । अत बीभत्स रस से भयानक-रस उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहा जाता है ।

२० नारदेनैष कथितः प्रकारो भरताय च ।
तथैव भरतेनोक्तं यादृशं नारदाच्छ्रुतम् ॥
तदुक्तेन प्रकारेण रसानां च पृथक् पृथक् ।
उत्पाद्योत्पादकत्वं च यथावदुपपादितम् ॥

२१ यथा हि तन्तवो वेमतुर्यादिक्रिययान्विताः ।
पटात्मना परिणताः पटवाच्या भवन्ति ते ॥
यथा मृदो दण्डचक्रकुलालादिभिरन्विताः ।
घटात्मना परिणता घटवाच्या भवन्ति च ॥
तथैव स्थायिनो भावा विभावादिभिरन्विताः ।
रसात्मना परिणता रसवाच्या भवन्ति ते ॥

२२ यथैव तन्तुभेदाच्च पटभेदः प्रदृश्यते ।
तथैव रस[भाव]भेदाच्च रसभेदो विभाव्यते ॥
यथा कारणवैकल्यात्कार्यं नोत्पद्यते दृढम् ।
तथा कारणभावादिवैकल्यान्न रसोदयः ॥

२३ तस्माद्विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायकादिसमाश्रयाः ॥
अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिषु ।

---

२० नारद ने भरत के लिए यह (रसो के) प्रकार कहे । भरत ने जैसे नारद से सुने वैसे ही कह दिये ।[४] उसी उक्त प्रकार से कहे रसो की पृथक्-पृथक् उत्पाद्य उत्पादकता को यथावत् कहता हूँ ।

२१ जैसे तन्तु, वेमा, तुरी आदि की क्रिया से युक्त होकर (अर्थात् वेमा, तुरी आदि के सहयोग से) पट रूप मे परिणत हो जाते है और 'पट' कहलाने लगते है । जैसे मिट्टी दण्ड, चक्र, कुलाल आदि का सहयोग पाकर घट रूप मे परिणत हो जाती है और 'घट' कहलाती है । वैसे ही स्थायी भाव विभावादि का सहयोग पाकर 'रस' रूप मे परिणत हो जाते हैं और वे 'रस' कहलाते है ।

२२ जैसे तन्तु-भेद से पट-भेद दिखायी देता है वैसे ही रसो के भाव-भेद से रस-भेद जाना जाता है । जैसे कारणो की विकलता से कार्य उत्पन्न नही होता है वैसे ही कारण-विभावादि की विकलता से 'रस' का उदय नही होता है ।

२३ अत विभाव, अनुभाव सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावो द्वारा नायक आदि के आश्रित स्थायी-भाव वृद्धि को प्राप्त होते हैं । अनुकार्य राम आदि के द्वारा

रसतां प्रतिपद्यन्ते सामाजिकमनस्सु ते ॥
संस्कारैः प्राक्तनैस्तैश्च रस्यन्ते यत्ततो रसाः ।
२४ स्थायिनां रसनिष्पत्तौ तदसाधारणात्मकः ॥
विभावादिनिवेशस्य नियमोऽत्र प्रदर्श्यते ।
२५ काव्यर्तुमाल्यसङ्गीतचन्दनेन्दूदयादयः ॥
विभावास्स्तम्भरोमाञ्चस्वेदवेपथुगद्गदाः ।
सात्त्विकास्तूग्रतालस्यजुगुप्साभिर्विवर्जिताः ॥
सञ्चारिणोऽपि रत्याख्ये स्थायिनि स्थानमाश्रिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारमनुभावोऽस्य तु त्रिधा ॥
स्वेदादिभिः कटाक्षाद्यैः प्रियभाषादिभिर्भवेत् ।
२६ विकटाकारवेषेण विकृताचारकर्मभिः ॥
विकृतैरपि वाक्यैश्च धाष्टर्यलौल्यानुभूतिभिः ।
विकृताभिनयेनैव विकृताङ्गावलोकनात् ॥
कुहकासत्प्रलापेन दोषोदाहरणादिभिः ।
हास्यः स्यात्स तु भूयिष्ठं स्त्रीनीचादिषु दृश्यते ॥

नाट्य मे क्रियमाण (वे स्थायी-भाव) प्रयोग करने वाले नटादि मे 'रसता' को प्राप्त होते है। वे स्थायी-भाव जब सामाजिक के मन से पूर्व सस्कारो द्वारा आस्वादित किये जाते है तो वे 'रस' कहलाते है।

२४ अब स्थायी-भावो की रस-निष्पत्ति मे विभावादि के सन्निवेश के असाधारणात्मक नियमो को दिखाते है।

(शृंगार-रस)

२५ 'रति' नामक स्थायी-भाव मे रहने वाले विभाव—काव्य, ऋतु, माला, सगीत, चन्दन, चन्द्रोदय आदि, सात्विक-भाव—स्तम्भ, रोमाच, स्वेद, वेपथु, गद्-गद होना तथा सचारी-भाव—उग्रता, आलस्य, जुगुप्सा को छोड शेष व्यभिचारी भाव 'शृगार-रस' को उत्पन्न करते है। इस 'शृगार-रस' के तीन प्रकार के अनुभाव होते है अर्थात् शृगार-रस स्वेदादि, कटाक्षादि तथा प्रियभाषादि अनुभावो द्वारा अभिनेय है।

(हास्य-रस)

२६ 'हास्य-रस' विकट आकार, विलक्षण वेष, विकृत आचार-कर्म, विकृत-वाक्य, धृष्टता, लोलुपता, विअत-अभिनय, विकृत अग-दर्शन, कुहक (कॉख तथा गर्दन आदि का स्पर्श), असत् (असगत) प्रलाप तथा दोषोदाहरण (दोषो के कथन) आदि विभावो से उत्पन्न होता है। यह हास्य-रस प्राय स्त्री और नीच प्रकृति के पात्रो मे अधिकतर देखा जाता है।

२७ स्वपराश्रयभेदेन स द्विधा परिकल्प्यते ।
पुनः प्रकृतिभेदेन षट्प्रकारः प्रदृश्यते ।।

२८ निगद्यते वरिष्ठानां स्मितं हसितमित्यपि ।
मध्यमानां विहसितं तथोपहसितं भवेत् ।।
नीचानां चापहसितं तथाऽतिहसितं क्रमात् ।

२९ ईषद्विकासिगण्डं यत्सकटाक्षनिरीक्षणम् ।।
अलक्ष्यदन्तज्योत्स्नं तदुत्तमानां स्मितं भवेत् ।

३० उत्फुल्लमाननं यत्र विकसद्गण्डमण्डलम् ।।
लक्ष्यमाणद्विजं यत्स्यात्तदेव हसितं भवेत् ।

३१ आकुञ्चिताक्षिगण्डं यन्मुखरागसमन्वितम् ।।
सस्वनं मधुरं यत्स्यात्तद्धि विहसितं भवेत् ।

३२ जिह्मावलोकना दृष्टिः मुखमुत्फुल्लनासिकम् ।।
निकुञ्चितं शिरो यत्र तच्चोपहसितं भवेत् ।

३३ अस्थानहासरटितमाविरास्रविलोचनम् ।।
कम्पिताङ्गशिरोगात्रं तच्चापहसितं भवेत् ।

---

२७ आत्माश्रय[1] तथा पराश्रय भेद से यह 'हास्य-रस' दो प्रकार का होता है। पुन प्रकृति-भेद से 6 प्रकार का प्रदर्शित किया जाता है।

२८ उत्तम प्रकृति के पात्रो मे 'स्मित' और हसित रूप 'हास्य' होता है। मध्यम प्रकृति के पात्रो मे 'विहसित' और 'उपहसित' होता है। नीच प्रकृति के पात्रो मे 'अपहसित' तथा 'अतिहसित' रूप दिखायी पडता है।

२९ जिसमे किंचित् विकसित कपोल प्रदेश और कटाक्षो सहित अवलोकन (दर्शन) होता है तथा दाँतो की शोभा (चमक) लक्षित नही होती है ऐसा उत्तम प्रकृति के पात्रो का हास्य 'स्मित' कहलाता है।

३० जिसमे मुख खिल उठता है, कपोल प्रदेश विकसित हो जाता है तथा दाँत लक्षित होते हैं उसको 'हसित' हास्य कहा जाता है।

३१ जिसमे कपोल-प्रदेश और आँखें सकुचित हो, मुख लाल हो जाता है और जो सस्वर, मधुर हास्य हो वह 'विहसित' कहलाता है।

३२ जिसमे टेढी दृष्टि से देखा जाता है, नथुने फूले रहते हैं, मुँह खिल उठता है तथा सिर झुक जाता है वह हास्य 'उपहसित' कहलाता है।

३३ अकारण व अनवसर 'हास्य' जिसमे आवाज हो, आँखो में आँसू आते हो तथा अग, सिर तथा शरीर हिल उठे वह 'अपहसित' होता है।

३४ विक्रुष्टस्वनसंरम्भमुद्धतं सास्रलोचनम् ॥
करोपगूढपार्श्वं यत्तच्चातिहसितं भवेत् ।

३५ सात्त्विका हास्यसम्पत्तौ सर्वे प्रलयवर्जिताः ॥

३६ उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहात्मा विभाव्यते ।
उत्साहः सत्त्वसम्पत्तिशौर्यत्यागादिसम्भवः ॥
अविस्मयादसंमोहादविषादित्वतोऽपि च ।
पुरुषार्थविशेषेषु कार्यतत्त्वार्थनिश्चयः ॥
पराक्रमः प्रतापश्च दुर्धर्षप्रौढसैन्यता ।
यशः कीर्तिश्च विनयो नयश्च प्रभुशक्तता ॥
मन्त्रशक्तिश्च सम्पन्नधनाभिजनमित्रता ।
इत्यादयो विभावाः स्युर्वीरस्य कविकल्पिताः ॥
स्थैर्यशौर्यप्रतापैश्च धैर्यैराक्षेपभाषितैः ।
सामादीनामुपायानां यथाकालप्रयोगतः ॥
भाषितैर्भावगम्भीरैरनुभावा भवन्ति ते ।
प्रबोधामर्षगर्वौग्र्यमदहर्षाः स्मृतिधृतिः ॥
औत्सुक्यतर्कासूयाश्च भवन्ति व्यभिचारिणः ।
सात्त्विकाः स्वेदरोमाञ्चा मदहर्षादिसंभवाः ॥
गुणास्त्यागादयोऽपि स्युरनुभावाः क्वचित्क्वचित् ।

---

३४ जिसमे स्वर कर्णकटु तथा उद्वेलित हो, आँखो मे आँसू आ जावे तथा हाथो से पसलियो को दबाना पडे, ऐसा उद्धत हास्य 'अतिहसित' होता है ।[६]

३५ हास्य-सम्पत्ति मे प्रलय को छोड शेष सभी सात्त्विक भाव होते है ।

(वीर-रस)

३६ उत्तम प्रकृति वाला तथा 'उत्साह' स्थायी-भाव वाला 'रस वीर-रस' जाना जाता है । उस वीर-रस मे सत्त्व, सम्पत्ति, शूरता तथा त्याग आदि से, तथा अविस्मय, असम्मोह, अविषाद आदि से 'उत्साह' उत्पन्न होता है । पुरुषार्थ-विशेषो मे कार्य के तत्त्वार्थ का निश्चय, पराक्रम, प्रताप, दुर्धर्ष, प्रौढ-सैन्यता यश, कीर्ति, विनय, नीति, प्रभु-शक्ति, मन्त्र-शक्ति, धन सम्पन्नता, कुलीनता, मित्रता इत्यादि 'वीर-रस' के विभाव कवियो द्वारा कहे जाते है, वीर-रस के स्थिरता, शूरता, प्रताप, धैर्य, आक्षेप करने वाले वचन, साम, दान, दण्ड और भेद—इन चारो उपायो का यथासमय प्रयोग, तथा भावो से परिपूर्ण गम्भीर भाषण—अनुभाव हैं । इन अनुभावो से वीर-रस अभिनेय है । प्रबोध अमर्ष, गर्व, उग्रता, मद, हर्ष, स्मृति, धृति, औत्सुक्य, तर्क तथा असूया इसके व्यभिचारीभाव होते है । स्वेद, रोमाच तथा मद और हर्षादि से उत्पन्न इसमे सात्त्विक भाव है । कही-कही त्याग[७] आदि अनुभाव भी होते हैं ।

३७ विस्मयात्मा भवत्येव समप्रकृतिरद्भुतः ॥
कर्मणोऽतिशयान्नृणामीप्सितार्थोपसङ्गमात् ।
मनोरथफलप्राप्तेर्दिव्यभावावलोकनैः ॥
विमानोद्यानभवनसभारामावलोकनैः ।
विरुद्धानां पदार्थानामाविरुद्धसमागमैः ॥
असम्भाव्यस्य चार्थस्य सम्भवोत्पत्तिदर्शनैः ।
अदेशकालसम्पत्तेरभीष्टादेरचिन्तितम् ॥
इत्यादिभिर्विभावैस्तैरद्भुताख्यो रसो भवेत् ।
स्तम्भवेपथुरोमाञ्चस्वरसादाश्रुनिर्गमाः ॥
सञ्चारिणोऽपि तस्य स्युर्ये शृङ्गारोपयोगिनः ।
अनुभावास्तु वक्ष्यन्ते परत्राद्भुतवर्णने ॥
३८ राक्षसोद्धतदैतेयक्रूरादिप्रकृतिर्भवेत् ।
रौद्रस्तस्यानृतं वाक्यमवज्ञापरुषोक्तयः ॥
वधान्यदारलाभादिप्रतिज्ञा राष्ट्रभञ्जनम् ।
हठाद्ग्राहो गृहक्षेत्रदारादीनां च मत्सरः ॥
देशजातिकुलाचारविद्याशौर्यादिनिन्दनम् ।
आक्रोशकलहाक्षेपवाक्याज्ञाभञ्जनादयः ॥

(अद्भुत-रस)

३७ समान प्रकृति वाला तथा विस्मय स्थायी-भाव वाला 'अद्भुत-रस' होता है। कर्म की श्रेष्ठता मनुष्यो के अभीप्सित अर्थ का सयोग, मनोरथ की प्राप्ति, दिव्य-जनो के दर्शन, विमान, उद्यान, भवन, सभा तथा बगीचे के दर्शन, विरुद्ध-पदार्थ तथा अविरुद्ध पदार्थो का समागम, सम्भव तथा असम्भव वस्तुओ की उत्पत्ति का दर्शन, बिना देश तथा काल मे प्राप्त सम्पत्ति तथा अचिन्तित अभीष्ट-पदार्थ आदि—इत्यादि विभावो से 'अद्भुत रस' उत्पन्न होता है और इसके स्तम्भ, वेपथु, रोमाच, स्वर-साद, आँसू निकलना—व्यभिचारी-भाव है। शृगार-रस के उपयोगी जो अनुभाव है उन्हे 'अद्भुत रस' के वर्णन मे आगे कहेगे।

(रौद्र-रस)

३८ राक्षस, उद्धत, दैत्य तथा क्रूर आदि प्रकृति वाला 'रौद्र-रस' होता है, और इस रौद्र-रस के अनृत-भाषण, अवज्ञा, परुष-वचन, वध तथा पर-स्त्री-गमन को प्रतिज्ञा, राष्ट्र-भेद, हठ से गृह, क्षेत्र, स्त्री आदि का ग्रहण (अपहरण), मत्सर[१], देश, जाति, कुल, आचार, विद्या तथा शौर्यादि की निन्दा, आक्रोश, कलह, आक्षेप करने वाले वचन, आज्ञा का उल्लघन आदि-विभाव है। बार-

एते विभावा भ्रुकुटीकपोलस्फुरणं मुहुः ।
दन्तोष्ठपीडनं हस्तनिष्पेषो रक्तनेत्रता ॥
शस्त्रास्त्रग्रहणच्छेदस्तलताडनमोटने ।
पानं च रुधिरादीनामान्त्रादिभिरलङ्क्रिया ॥
पातोऽविचारतो युद्धे गर्जनं भर्त्सनं मुहुः ।
एतेऽनुभावा रोमाञ्चस्वेदकम्पादयोऽपि च ॥
औग्र्यावेगमदामर्षमूर्च्छाऽसूयाऽवहित्थकः ।
स्मृतिचापलबोधाश्च धैर्योत्साहादयो गुणाः ॥

३९ शोकात्मा करुणो योषिन्नीचादिप्रकृतिस्स्वतः ।
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात् ॥
वधादिष्टस्य पुत्रादिनिधनादर्थहानितः ।
राज्यदेशपरिभ्रंशादन्यान्यव्यसनोदयात् ॥
दैवोपघाताद्दारिद्र्याद्व्याध्यादिभ्यः प्रजायते ।
श्रुतेभ्यो वाऽनुभूतेभ्यो दृष्टेभ्यो व नृणां भवेत् ॥
अश्रुपातो मुखे शोषः स्वरभेदो विवर्णता ।
निश्वासः स्मृतिलोपश्च विलापस्त्रस्तगात्रता ॥

वार भौहे चलाना, गालो को फडकाना, दातो से ओठो को काटना, हाथो को रगडना, आँखे लाल करना, अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करना, अस्त्र-शस्त्र से काटना, हाथ-पैरो को पीटना, अगो को भग करना, खून आदि का पीना, आँते आदि से अलकृत होना, बिना विचारे शस्त्र फेकना, युद्ध मे गर्जन करना तथा बार-बार भर्त्सना करना—ये सभी रौद्र-रस के अनुभाव है । रोमाच, स्वेद, कम्पन, आदि इसके सात्त्विक-भाव है तथा उग्रता, आवेग, मद, अमर्ष, मूर्च्छा, असूया, अवहित्था, स्मृति, चपलता, बोध, धैर्य तथा उत्साह आदि गुण—ये इसके व्यभिचारी-भाव है ।

(करुण-रस)

३९ स्त्री तथा नीचादि प्रकृति वाला तथा 'शोक' स्थायी-भाव वाला 'करुण-रस' होता है । अभीष्ट (इष्टजन) के वियोग से, शाप, क्लेश, विनिपात से, इष्ट के वध से, पुत्रादि के निधन से, अर्थ-नाश से, राज्य तथा देश के निष्कासन से, अन्यान्य व्यसनो के उदय से, दैवीय-प्रकोप से, दरिद्रता से तथा व्याधि आदि विभावो से 'करुण-रस' उत्पन्न होता है । मनुष्यो के श्रुत अथवा अनुभूत, और दृष्ट उद्दीपन से करुण-रस उद्दीप्त होता है । अश्रुपात, मुँह सूखना, स्वर-भेद, विवर्णता, निश्वास, स्मृति-लोप,[१०] विलाप, अगो की शिथिलता, मूर्च्छा आना,

मोहागमोऽभिघातश्च भूपातः परिदेवितम् ।
विवेष्टनं महीपृष्ठे भुजयोश्च विवर्तनम् ।।
श्वासोच्छ्वासौ देहघातपातोरस्ताडनानि च ।
मोहो विषादनिर्वेदौ चिन्तौत्सुक्ये च दीनता ।।
जडता व्याधिरुन्मादापस्मारालस्यमृत्यवः ।
स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यस्वरभङ्गादयस्तथा ।।
एतेऽनुभावाः कथिता दीप्यमानास्तु दीपनाः ।
स्त्रीनीचादिषु शोकोऽयं मरणव्यवसायदः ।।
मध्यमानां भवेच्छोके मुमूर्षा मृतिरेव वा ।
उत्तमानामतिप्रौढो विवेकेनैव शाम्यति ।।
पराश्रयस्तूत्तमानामात्मनो व्यसनप्रदः ।
४० बीभत्सः स्याज्जुगुप्सात्मा क्षोभोद्वेगविभागभाक् ।।
क्षोभात्मा रुधिरान्त्रादिदर्शनस्पर्शनादिजः ।
उद्वेगात्मा कृमिच्छर्दिपूतिविष्ठादिजो भवेत् ।।
द्वेषो ग्लानिर्भयं मोहः क्रोधो निद्रा श्रमो मतिः ।
वक्ष्यन्ते ह्यनुभावाश्च नासाप्रच्छादनादयः ।।
पुरैव कथिता ह्यस्य सम्भाव्या व्यभिचारिणः ।

नाश, भूपात, शोक करना, पृथ्वी पर गिरना, हाथो का फेकना, श्वास-उच्छ्वास, देहघात, देहपात, देह पीटना——आदि करुण-रस के अनुभाव हैं। मोह, विषाद, निर्वेद, चिन्ता, औत्सुक्य, दीनता, जडता, व्याधि उन्माद, अपस्मार, आलस्य, मृत्यु—व्यभिचारी-भाव है। स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वरभगादि—सात्त्विक-भाव है । दीप्त होने वाले उद्दीपन भाव है । स्त्री तथा नीचादि पुरुषो मे यह शोक मृत्यु कराता है । मध्यम पुरुष शोक मे मूर्च्छित हो जाता है अथवा मृत्युतुल्य हो जाता है । उत्तम पुरुष प्रौढता तथा विवेक से शोक को सहन कर लेता है । उत्तमो का पराश्रय अपने को व्यसन प्रदान करने वाला होता है ।

(बीभत्स-रस)

४० 'जुगुप्सा' स्थायी-भाव वाला 'बीभत्स-रस' होता है । क्षोभज तथा उद्वेगज भेद से दो प्रकार का होता है । क्षोभात्मा बीभत्स खून, आँते आदि के दर्शन तथा स्पर्श से उत्पन्न होता है । उद्वेगात्मा बीभत्स कृमि, वमन, पीप, मवाद, विष्टा आदि से उत्पन्न होता है । द्वेष, ग्लानि, भय, मोह, क्रोध, निद्रा, श्रम तथा मति आदि इसके व्यभिचारी भाव है । नाक का ढँकना आदि को इसके अनुभाव कहेगे । इसके सम्भावित व्यभिचारी-भाव पहले ही कह दिये है ।

४१ भयानको भयस्थायी स्वभावकृतकात्मकः ॥
विकृतैश्च रवैः सत्त्वैर्विकृताकारदर्शनैः ।
शून्यारण्यादिगमनैस्सङ्ग्रामादिप्रवेशनैः ॥
गुरुराजापराधैश्च विभावैरेवमादिभिः ।
अनुभावास्तु वक्ष्यन्ते वाङ्मनःकायभेदतः ॥
उक्तानुक्तानभिज्ञत्वदिङ्मोहाद्या यथार्थतः ।
४२ एवं रसाः सानुभावविभावाः सम्यगीरिताः ॥
४३ शृङ्गारो वाचिकः कश्चिन्नैपथ्यात्मा च कश्चन ।
क्रियात्मा कश्चिदित्येवं शृङ्गारस्त्रिविधः स्मृतः ॥
हास्योऽपि त्रिप्रकारः स्याद्वाङ्नैपथ्याङ्गभेदतः ।
वीरो युद्धदयादानभेदेन त्रिविधो मतः ॥
अद्भुतं त्रिप्रकारं स्यान्मानसाङ्गिकवाचिकैः ।
अङ्गनैपथ्यवाग्भेदात्त्रिविधो रौद्र उच्यते ॥
करुणोऽपि त्रिधा भिन्नो मनोवागङ्गकर्मभिः ।
४४ रुधिरादिक्षोभजन्मा विष्ठाद्युद्वेगजोऽपरः ॥
इति द्वेधा समाख्यातो बीभत्सो रसकोविदैः ।

(भयानक-रस)

४१ स्वाभाविक तथा कृतकात्मक 'भय' नामक स्थायी-भाव वाला 'भयानक-रस' होता है। विकृत ध्वनियो से, भूत प्रेतादि के दर्शन से, विकृत आकार के दर्शन से, शून्य वनादि मे गमन करने से, सग्रामादि मे प्रवेश करने से, गुरुजन तथा राजा के अपराध आदि विभावो से 'भयानक-रस' उत्पन्न होता है। वाचिक आगिक तथा कायिक भेद से कथित-अकथित की अनभिज्ञता, दिङ्मोह आदि इसके अनुभाव यथार्थत आगे कहेगे।

४२ इस प्रकार विभाव अनुभाव सहित सभी रस भलीभाँति कह दिये गये।[११]

(रसो के भेद)

४३ 'शृगार-रस' वाचिक, नैपथ्यज तथा क्रियात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१२] 'हास्य-रस' वाचिक, नैपथ्यज तथा आगिक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१३] 'वीर-रस' युद्ध वीर, दया वीर तथा दान वीर भेद से तीन प्रकार का होता है।[१४] 'अद्भुत-रस' मानस, आगिक तथा वाचिक भेद मे तीन प्रकार का होता है।[१५] 'रौद्र-रस' आगिक, नैपथ्यज तथा वाचिक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१६] 'करुण-रस' मानस, वाचिक तथा आगिक कर्म-भेद से तीन प्रकार का होता है।[१७]

४४ रुधिरादि से उत्पन्न 'क्षोभज' तथा विष्टादि से उत्पन्न 'उद्वेगज' भेद से बीभत्स-रस' को विद्वान दो प्रकार का कहते है।[१८]

४५ मानसो वाचिकश्चेति द्विधा भिन्नो भयानकः ।।
भयानकः सबीभत्सस्त्रिधा वाक्कायमानसैः ।
स्वाभाविको मानसः स्यादाङ्गिकः कृतको भवेत् ।।

४६ देशकालगुणद्रव्यक्रियाजात्यात्मकेषु तु ।
अनुभूतेषु भावेषु यथावस्थितरूपतः ।।
येन येन च भावेन यादृशो जायते रसः ।
तत्तद्भावाख्यया सद्भिर्बोध्यते तादृशो रसः ।।

४७ भावगर्भं रहःसंवित् मधुरं नर्मपेशलम् ।
सुवृत्तं श्रवणानन्दि शृङ्गारो वाचिको मतः ।।

४८ वासोऽङ्गरागभूषाभिर्माल्यैर्युक्तं प्रसाधितम् ।
प्राप्तयौवनमङ्गं यच्छृङ्गारः स्यात्स आङ्गिकः ।।

४९ दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं मणितं च ससीत्कृतम् ।
चुम्बनं चूषणं भावो हेलादिः केलयोऽपि च ।।
शयनाद्युपचारश्च तथा सङ्गीतकक्रिया ।
इत्यादिभावैः कथितः शृङ्गारः स्यात्क्रियात्मकः ।।

५० यद्यत्प्रहसनं वाक्यं स हास्यो वाचिकः स्मृतः ।
विपर्ययेण निक्षेपो माल्याभरणवाससाम् ।।
यः स नैपथ्यजो हास्य इति निर्णीयते बुधैः ।

---

४५ 'भयानक-रस' मानस तथा वाचिक भेद से दो प्रकार का होता है।[१९] 'भयानक-रस' वीभत्स-रस के साथ वाचिक, कायिक तथा मानस भेद से तीन प्रकार का होता है। स्वाभाविक = मानसिक तथा आगिक = कृतक होता है।

४६ देश, काल, गुण, द्रव्य, क्रिया, जाति रूप अनुभूत भावो मे से यथावस्थित रूप से जिस-जिस भाव से जैसा रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस उस-उस भाव के नाम से विद्वानो द्वारा जाना जाता है।

(शृगार-रस के भेद)

४७ भाव-गर्भ, रहस्-सयुक्त, मधुर, नर्म, पेशल, सुवृत्त तथा श्रवणानन्दी शृगार 'वाचिक' होता है।

४८ वस्त्र, अगराग, भूषण, माला आदि से प्रसाधित तथा यौवन-सम्पन्न अगो से प्रकट होने वाला शृगार 'आगिक' कहलाता है।

४९ दन्तच्छेद, नखच्छेद, गुनगुनाना, सीत्कार करना, चुम्बन, चूषण, भाव, हेलादि, केलि, शयनादि उपचार तथा सगीत आदि के सहारे प्रदर्शित 'शृगार' को 'क्रियात्मक' कहते है।

(हाय-रस के भेद)

५० परिहासात्मक वचनो से प्रदर्शित हास्य 'वाचिक' कहा जाता है। माला, आभूषण तथा वस्त्रो को उल्टा-सीधा धारण करना जो हास्य है वह विद्वानो द्वारा 'नैपथ्यज' कहलाता है।

५१ विकटाभिनयत्वं यदङ्गानामवलोक्यते ॥
स्वभावाद्वाऽथकपटात्स हास्यस्त्वाङ्गिको भवेत् ।

५२ निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः ॥
अभीतिर्बहुभिर्योद्धुं व्यवसायो रणे मदः ।
हर्षः शस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम् ॥
भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभञ्जनम् ।
एवं युद्धात्मको वीरः तज्ज्ञैः कविभिरीरितः ॥

५३ अर्थिनामीप्सितादर्थात्प्रदायैभ्योऽधिक बहु ।
अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि ॥
यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च ।
एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः ॥

५४ व्याधिदारिद्र्यशस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद्दयात्मकः ॥

५५ ध्यानं नयनविस्तारः प्रसादो वदने दृशि ।
आनन्दाश्रु सरोमाञ्चमनिमेषावलोकनम् ॥
अनिश्चलत्वं मनसो यस्मात्तन्मानसोऽद्भुतः ।

---

५१ स्वभाव से या कपट से जब अगो के विकृत-अभिनय को दिखाया जाता है, वह हास्य 'आगिक' होता है ।

(वीर-रस के भेद)

५२ रण मे नि शस्त्र तथा कवच रहित किसी एक का निर्भीकतापूर्वक बहुतो के साथ युद्ध के लिए प्रयत्नशील रहने वाला मद, अस्त्र-शस्त्र के प्रहारो मे हर्ष, युद्ध से अपलायन, डरे हुए को अभय-प्रदान, शरणागत के दु ख को दूर करना—इस प्रकार के गुणो से युक्त वीर को कविजन 'युद्धात्मक-वीर' कहते है ।

५३ याचको के द्वारा माँगे गये अभीप्सित अर्थ से अधिक अर्थ उनको देकर याचको का, बार-बार आने वाले स्वजनो का तथा शत्रुजनो का दान तथा मधुर वचनो से जो आदर करता है वह दानशीलो द्वारा 'दानात्मक' वीर कहलाता है ।

५४ रोग, दरिद्रता, अस्त्र-शस्त्र, भूख तथा प्यास आदि से पीडितो पर जो प्रेम-पूर्वक कृपा करता है वह 'दयात्मक-वीर' होता है ।

(अद्भुत-रस के भेद)

५५ ध्यान, नयन-विस्तार, प्रसादपूर्ण मुख तथा दृष्टि, आनन्दाश्रु, रोमाच, अनिमेष दृष्टि, मन चाचल्य जिससे होते है वह 'मानस अद्भुत' होता है ।

५६ चेलाङ्गुलीनां भ्रमणमुत्थायोत्थाय वल्गनम् ॥
दानप्रबन्धो नटनमाश्लेषश्च परस्परम् ।
परस्परस्य भुजयोः परस्परतलाहतिः ॥
एवमादिविकारो यः स भवेदाङ्गिकोऽद्भुतः ।

५७ हाहाकारः साधुवादः कपोलास्फालनध्वनिः ॥
उच्चैर्हासो हर्षघोषौ गीतमुच्चावचं वचः ।
एवमादिर्विकारो यः स भवेद्वाचिकोद्भुतः ॥

५८ शिरोभिर्बहुभिः स्थूलैः केशैरुद्धूतपिङ्गलैः ।
बाहुभिर्ह्रस्वदीर्घैश्च बहुशस्त्रास्त्रधारिभिः ॥
उद्वृत्तरक्तनयनैर्महाकायैः सितेतरैः ।
एवंप्रकारो रौद्रोऽयमाङ्गिकः कथ्यते बुधैः ॥

५९ कृष्णरक्तानि वासांसि कृष्णरक्तानुलेपनम् ।
कृष्णरक्तानि माल्यानि कृष्णं रक्तञ्च भूषणम् ॥
एवं नैपथ्यजो रौद्र इति विद्वद्भिरुच्यते ।

६० छिन्धि भिन्धि बधानैनं खाद मारय ताडय ॥
पिबामि रुधिरं तेऽद्य पिनष्टीत्यादि यद्वचः ।
एतत्तु वाचिको रौद्र इति नाट्यविदीरितः ॥

---

५६ चेलागुलि भ्रमण, उठ-उठ पडना, उछलना, दान प्रवन्ध (दान का अनुष्ठान), नाचना, परस्पर आश्लेष, एक-दूसरे की भुजाओ तथा हथेलियों का स्पर्श आदि इस प्रकार के जो विकार है वह 'आगिक-अदभुत' होते हे।

५७ हाहाकार, साधुवाद (बहुत अच्छा-बहुत अच्छा), गाल फुलाकर आवाज करना, उच्च हास, हर्ष ध्वनि, गीत तथा उच्च वचन आदि—इस प्रकार के जो विकार है वह 'वाचिक-अद्भुत' होता है।

(रौद्र-रस के भेद)

५८ बहु-शिर, स्थूल, उद्धत (कम्पित) तथा पिंगल (पीले) केश, छोटी-बडी भुजाएँ, बहु अस्त्र-शस्त्र-धारी, चढी हुई लाल-लाल आँखे, काले-रग वाले महाकाय (व्यक्ति) आदि को विद्वान 'आगिक रौद्र' कहते है।

५९ काले, लाल वस्त्र, काला, लाल लेप, काली, लाल माला तथा काले, लाल आभूषणादि के धारण को विद्वान 'नैपथ्यज-रौद्र' कहते है।

६० छेद दो, भेद दो, इसे बाधलो, खाजाओ, मारो, पीटो, आज तेरा खून पीता हूँ, आज तुझे कुचलता हूँ इत्यादि कथन को नाट्य-विद् 'वाचिक-रौद्र' कहते है।

६१ वाक्यार्थननुसन्धानं निश्वासोच्छ्वासदीर्घता ।
उपेक्षा केशवासोऽङ्गसंस्कारादिषु दीनता ॥
अनुभूतानभिज्ञत्वमनवस्थितचित्तता ।
विरक्तिः सर्वविषया स्निग्धेष्वनभिषङ्गता ॥
आकाशवीक्षणञ्चेति मानसः करुणः स्मृतः ।
६२ हाकारो रोदनं क्रोशः प्रलापो दीर्घभाषणम् ॥
दूराह्वानमथाक्रन्दो वाचिकः करुणः स्मृतः ।
६३ रुधिरादिषु दृष्टेषु मनः क्षुभ्यति चञ्चलम् ॥
अतो हि मानसः सद्भिर्बीभत्सः क्षोभनः स्मृतः ।
बिभेति म्लायति द्वेष्टिमुहुर्मुह्यति बुद्ध्यति ॥
क्रन्दत्यपक्रामति च विषीदति च निन्दति ।
दयते भ्राम्यति त्रस्यत्यास्ते तूष्णीं च गूहते ॥
यत्ततो मानसः क्षोभजन्मा बीभत्स उच्यते ।
६४ उद्वेगजो यो बीभत्सः स त्वाङ्गिक उदाहृतः ॥
वस्त्रावकुण्ठनं नासाच्छादनं नेत्रकूणनम् ।
अस्पष्टपादपतनमपर्वाततवक्रता ॥

(करुण-रस के भेद)

६१ वाक्यार्थ का अनुसधान, नि श्वास, उच्छ्वास (श्वास-प्रश्वास) की दीर्घता, केश-वास की उपेक्षा, अग-सस्कार आदि मे दीनता, अनुभूत के प्रति अनभिज्ञता, अनवस्थित चित्तता, सभी विपयो के प्रति विरक्ति, स्निग्ध के प्रति अनिच्छा, आकाश-वीक्षण (शून्य मे ताकना) आदि 'मानस-करुण' के लक्षण होते है।

६२ हा हा करके रोना, क्रोश (चिल्लाना), प्रलाप, दीर्घ-भापण, दूराह्वान (दूर से बुलाना), आक्रन्द आदि 'वाचिक-करुण' कहलाते है।

(बीभत्स-रस के भेद)

६३ रुधिरादि के देखने पर मन क्षुब्ध तथा चचल हो जाता है अत यह 'मानस' होता है और विद्वान इसे 'क्षोभज-बीभत्स' कहते है। भय, मलिनता, द्वेप, बार-बार मोह, बोध, क्रन्दन, अपक्रमण (भागना), विषाद, निन्दा, दया, भ्रमण, त्रास, चुप रहना, छिपना आदि को 'मानस-क्षोभज-बीभत्स' कहते है।

६४ 'उद्वेगज-बीभत्स, जो होता है वह 'आगिक' कहलाता है। वस्त्राच्छादन, नाक ढँकना, नेत्रो को बन्द कर लेना, अस्पष्ट रूप से (लडखडाते) पैरो का पडना,

द्रुतपादाग्रगमन ष्टीवनं च मुहुर्मुहुः ।
एवमाङ्गिक उद्वेगजन्मा बीभत्स उच्यते ॥

६५ दिङ्मोहः कान्दिशीकत्वं सहायान्वेषणं मुहुः ।
पार्श्वयोर्वीक्षणं पाणिपादयोरपि कम्पनम् ॥
दंशोऽङ्गुलीनामभययाचनं दन्तदर्शनम् ।
एतैर्भयानकस्तज्ज्ञैः कथितस्त्वाङ्गिकात्मना ॥

६६ ऊरुस्तम्भश्च हृत्कम्पः स्वेदो दृक्चलतारका ।
शुष्कोष्ठताऽऽस्यशोषश्च गद्गदत्वं विवर्णता ॥
विषयस्यापरिच्छित्तिरुक्तानुक्तानभिज्ञता ।
एतैर्भयानकः स्वाभाविको मानस उच्यते ॥

६७ एवं रसविकल्पाश्च कथिताः स्वस्वरूपतः ।
अधिदैवतमेतेषां भरतादिभिरुच्यते ॥

६८ शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
महेन्द्रदैवतो वीरस्त्वद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥
रुद्राधिदैवतो रौद्रः करुणो यमदैवतः ।
बीभत्सः कथ्यते सद्भिर्महाकालाधिदैवतः ॥
भयानकोऽपि कथितः कालदेवाधिदैवतः ।

मुँह फिरा लेना, शीघ्रतापूर्वक आगे बढ जाना तथा बार-बार थूकना आदि इस प्रकार 'आगिक-उद्वेगज-बीभत्स कहलाते है ।

(भयानक-रस के भेद)

६५ दिग्भ्रम, भाग जाना, बार-बार सहायक खोजना, अगल-बगल देखना, हाथ-पैर काँपना, अगुलि काटना, अभय-याचना करना, दाँत दिखाना आदि अनुभावो से विद्वान 'आगिक-भयानक' कहते है ।

६६ पैरो का रुक जाना, हृदय काँपना, पसीने आना, आँख तथा पुतली का चचलतापूर्वक चलना, ओठ सूखना, मुँह सूखना, गद्गद स्वर, विवर्णता (मुँह का फीका पडना) विषय के प्रति अज्ञानता, कथित-अकथित की अनभिज्ञता आदि से 'स्वाभाविक-मानस-भयानक' कहलाता है ।

(रसो के देवता)

६७ इस प्रकार अपने-अपने स्वरूप से रसो के भेद कह दिये । अब इन रसो के भरतादि के द्वारा बताये गये देवताओ को कहते है ।

६८ शृगार के देवता विष्णु[१०] है, हास्य-रस के देवता रुद्र-गण है, वीर-रस के देवता इन्द्र है । अद्भुत-रस के देवता ब्रह्मा है । रौद्र-रस के देवता रुद्र है । करुण-रस के देवता यम है । बीभत्स-रस के देवता महाकाल है । भयानक-रस के देवता काल-देव है ।[११]

६९ आभिरूप्यमधिष्ठानं शृङ्गारस्य यतो भवेत् ।।
अभिरूपोत्तमो विष्णुस्तस्मादस्याधिदेवतम् ।
७० विकटाभिनयत्वं यद्धास्याधिष्ठानमुच्यते ।।
तदस्ति प्रमथे यस्मात्सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७१ वीरस्य यदधिष्ठानं तद्धैर्यमिति गण्यते ।
धीरो महेन्द्रो यस्मात्तु सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७२ अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः ।।
ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७३ रौद्रस्य यदधिष्ठानं कर्म रोगरुजात्मकम् ।।
रुद्रस्य च तदस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७४ करुणस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते ।।
पापं तया यमयति यमः सोऽस्याधिदैवतम् ।
७५ बीभत्सस्याप्यधिष्ठानं महाकालोऽसृगात्मकः ।।
प्रलयेऽस्य तदस्तीति सोऽयमस्याधिदेवता ।
७६ भयानकस्याधिष्ठानं विकृताकाररूपता ।।
कालदेवस्य संहारकालेऽस्तीति स देवता ।

---

६९ क्योकि शृगार का आधार सुन्दरता है । सुन्दरना मे उत्तम विष्णु है अत वह शृगार के देवता है ।

७० हास्य का आधार विकृत-अभिनय है, वह रुद्रगणो मे होता है, अत रुद्रगण हास्य के देवता है ।

७१ वीर-रस का आधार धैर्य कहा जाता है । इन्द्र धैर्यशाली है, अत वह वीर-रस के देवता है ।

७२ अद्भुत-रस का आधार बहु-शिल्पात्मिका बुद्धि है । वह बुद्धि ब्रह्मा मे है, अत ब्रह्मा इस रस के देवता है ।

७३ रौद्र-रस का आधार रोग-रुग्णात्मक कर्म है । यह सब रुद्र का गुण है, अत वह इस रस के देवता हैं ।

७४ करुण-रस का आधार दया कहलाती है । यम दया से पाप को रोकता है, अत यम करुण-रस के देवता है ।

७५ बीभत्स-रस का आधार प्रलयात्मक महाकाल है । महाकाल का प्रलय मे स्थान है- अत बीभत्स-रस के देवता हैं ।

७६ भयानक-रस का आधार विकृत-आकार, विकृत-रूप है । सहारकाल मे कालदेव का ऐसा आकार व रूप होता है, अत भयानक-रस के कालदेव देवता है ।[२२]

७७ श्यामः श्वेतच गौरश्च पीतो रक्तश्च पञ्चमः ॥
कपोतश्चैव नीलश्च कृष्णश्चेति यथाक्रमम् ।
यथाऽधिदेवतं वर्णः कथितः पूर्वसूरिभिः ॥

७८ शृङ्गारादिरसानां तु स्वरूप जन्मनामनी ।
तद्विकल्पाश्च तद्रूपं तद्दैवं वर्णकल्पना ॥
भावानामपि कृत्यञ्च तत्स्वरूपञ्च नाम च ।
संहितोक्तेन मार्गेण तथा वासुकिवर्त्मना ॥
व्यासोक्तेनाध्वना चैव नारदाभिहितेन च ।
निर्णीतानि यथाशास्त्रं दर्शितानि यथार्थतः ॥

७९ रसानां ये विभावाद्यास्ते गुणाः स्युः कदाचन ।
अनुभावा अपि क्वापि सात्त्विकाश्च कदाचन ॥
नायिकानायकादीनां व्यापाराद्यनुरूपतः ।
गुणा भवन्ति कुत्रापि स्थायिनोऽपि कदाचन ॥
विशेषास्तेषु येऽनुक्तास्तेषा रूपं प्रदर्श्यते ।

८० लघुविक्रमकारित्वं शौर्यमित्यभिधीयते ॥
बुद्धेर्विरूपावसायो व्यवसाय इति स्मृतः ।
सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदीरितम् ॥

---

७७ पूर्वाचार्य यथाक्रम शृगारादि रसो के देवताओ के वर्ण के अनुसार श्याम, श्वेत, गौर, पीन (पीला), रक्त (लाल), कपोत, नीला तथा कृष्ण (काला) वर्ण कहते है।[33]

७८ सहिता वासुकि, व्यास तथा नारद के अनुसार शास्त्रो मे निर्णीत शृगारादि रसो का स्वरूप, उनकी उत्पत्ति के स्थान, उन (रसो) के उपभेद, उनके भी स्वरूप, रसो के देवता और वर्ण, भावो के कृत्य, स्वरूप तथा नाम को यथार्थत कह दिया।

७९ रसो के जो विभाव आदि है। वे कभी गुण होते है, कभी अनुभाव, कभी सात्त्विक-भाव नायिका तथा नायक आदि के व्यापारादि की अनुरूपता से गुण होते है। कही कभी स्थायी-भाव भी गुण होते है। उनमे जो विशेष है और जो नही कहे गये है उनका स्वरूप कहते है।

८० थोड़ी सी पराक्रमशीलता 'शौर्य' कहलाती है। बुद्धि का विरुप (अस्वाभाविक) निर्णय (अवसाय) 'व्यवसाय' कहलाता है। सहसा जो कर्म किया जाता है वह 'साहस' कहा जाता है। फल-प्राप्ति के उद्देश्य से अस्त्र-शस्त्र से घायल का भी मन पराक्रम के लिए प्रवृत्त होता है वह 'पराक्रम' कहलाता है। शत्रु जिससे तपने हैं वह 'प्रताप' कहा जाता है। प्रारम्भ किये हुए कार्य का फलोदय होने

शस्त्रास्त्रादिहतस्यापि परमाक्रमितुं मनः ।
प्रवर्तते फलप्राप्तेः स पराक्रम ईरितः ।।
प्रतपन्ति यतो द्वेष्याः स प्रताप इहोच्यते ।
प्रौढिः प्रवृत्तिः सोत्साहा प्रारब्धस्याफलोदयात् ।।
कृतिर्या रमयत्येव विश्वं सा कीर्तिरुच्यते ।
कुलक्रमागता सा चेत्कीर्तिनाम्ना प्रकाशते ।।
स्वापदानप्रसूता चेद्यश इत्यभिधीयते ।
यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम् ।।
विनयो लोकमर्यादाशास्त्रार्थानतिलङ्घनम् ।
दण्डनीतेरनुष्ठानं नय इत्यभिधीयते ।।
अनियुक्ता अपि स्वे स्वे कृत्ये यत्सन्निधौ प्रजाः ।
प्रभुत्वं तदिति प्रोक्तमाज्ञा सैव भयात्मिका ।।
वीर्यं विचित्रमव्यग्रा प्रवृत्तिर्युद्धकर्मणि ।
शुण्डारवद्बलं यस्य दोष्णोः शौण्डस्स कथ्यते ।।
शौण्डान्यतः प्रेरयति तच्छौण्डीर्यमुदाहृतम् ।
प्रकर्षभावना जन्तोः प्रभावोऽभीष्टदानतः ।।

तक उत्साह सहित प्रवृत्ति 'प्रौढि' कहलाती है। जो कृति विश्व मे रमण कराती है वह 'कीर्ति' कही जाती है। जो कुल-क्रम मे आती है, वह भी 'कीर्ति' नाम से कही जाती है। जो अपने कर्म से उत्पन्न होती है वह 'यश' कहलाती है। क्योकि विश्व का कल्याण (शम) होता है अत 'यश' कहा जाता है। लोक-मर्यादा तथा शास्त्रार्थ का उल्लघन नही करना 'विनय' कहा जाता है। दण्डनीति का अनुष्ठान 'नय' कहलाता है। अपने-अपने कर्म मे नियुक्त न होने पर भी जिसके समीप प्रजा अपने-अपने कर्म मे नियुक्त हो जाती है वही प्रभुता है, वही 'आज्ञा' कहलाती है—जो भय-रूपा है। युद्ध कर्म मे विचित्र व्यग्रतारहित प्रवृत्ति 'वीर्य' कही जाती है। जिसकी भुजाओ का हाथी की सूड के समान बल होता है वह 'शौण्ड' कहलाता है। 'शौण्ड' दूसरे की ओर से प्रेरित किया जाता है तो 'शौण्डीर्य' कहलाता है। अभीष्ट-दान से प्राणी की प्रकर्ष-भावना 'प्रभाव' कही जाती है। जहाँ सर्वथा परोपकार के लिए किये गये भाव लक्षित होते है, जिनके लिए मनुष्य स्पृहा करता है वह 'अनुभाव' कहा जाता है। वेग, बल, प्राण, शरीर तथा बुद्धि मे सत्त्व रहता है तो वह 'महासत्त्व' कहा जाता है, इसका 'धीर' पर्यायवाचक नाम है। आकृति से नियमित, किसी के द्वारा भेदन न करना 'स्थैर्य' कहलाती है। ये वीर के गुण है, यही वीर-रस के विभाव है। जो रौद्र-रस के तथा करुण-रस के विभावादि

भावाः परोपकारार्था लक्ष्यन्ते यत्र सर्वथा ।
स चानुभाव इत्युक्तो येभ्यः स्पृहयते जनः ॥
सत्त्वं जवबलप्राणकायबुद्धिषु वर्तते ।
स महासत्त्व इत्युक्तो धीरपर्यायनामकः ॥
इत्याकृत्या नियमिताः स्थैर्यं सर्वैरभेद्यता ।
एते गुणाश्च वीरस्य विभावा एत एव हि ॥
रौद्रस्य करुणस्यापि ये विभावादयोऽभवन् ।
तदालम्बनभूतानां कथ्यन्ते ते गुणात्मकाः ॥
यस्मिन्नर्थे च यद्वाक्यमर्थासंस्पर्शि तत्त्वतः ।
अनृतत्वं तदथवा तदर्थस्य विपर्ययः ॥
अवज्ञा सा प्रकृष्टस्य यत्तथाऽज्ञायमानता ।
अवज्ञा मानसी ज्येष्ठे न्यक्कारो वाक्तिरस्कृतिः ॥
वाचिकी गुणनिन्दा स्यात् शारीरी ताडनादिका ।
प्रकृष्टयोर्द्वयोरेकमानेनैवावमानिता ॥
मृषैव दोषमारोप्य क्रोश आक्रोश उच्यते ।
असूयादिभिरन्योन्यं क्षेप आक्षेप उच्यते ॥
क्रोधस्त्रिधा भवेत्क्रोधकोपरोषविभागतः ।
शत्रुमित्रप्रियाभृत्यपूज्यादिष्वेव पञ्चधा ॥

होते हे वे आलम्बनभूत विभावो के गुण-रूप कहे जाते है । जो वाक्य अर्थ के सम्बन्ध मे जिस अर्थ मे वस्तुत प्रयुक्त होता है उसे अन्य अर्थ मे या अर्थ के उल्टे अर्थ मे ग्रहण किया जाता हे तो 'अनृत' कहलाता है । उत्तम पुरुष की उसी प्रकार अज्ञानता अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष को उस रूप मे सम्मानित न करना ही 'अवज्ञा' है । यह दो प्रकार की होती है—मानसी एव वाचिकी । किसी ज्येष्ठ के प्रति नकारात्मक वाक्य का प्रयोग व तिरस्कार 'मानसी'-अवज्ञा होती है । किसी के गुणो की निन्दा तथा शारीरिक ताडनादि 'वाचिकी-अवज्ञा' कहलाती है । किन्ही दो प्रकृष्ट पुरुषो मे से एक का मान करने से ही अन्य की वह 'अपमानिता' कहलाती हे । मिथ्या ही दोषारोपण कर क्रोश (चिल्लाना) 'आक्रोश' कहा जाता है । असूया आदि से अन्योन्य (एक-दूसरे पर) क्षेप 'आक्षेप' कहलाता है । 'क्रोध' तीन प्रकार का होता है—क्रोध, कोप तथा रोष । पुन शत्रु, प्रिया, भृत्य (सेवक) तथा पूज्य आदि के प्रति रहने से 'क्रोध' पाँच प्रकार का होता है ।[२४]

८१ कुटिलां भ्रुकुटिं धत्ते जिह्वया लेढि सृक्विणी।
मुहुर्मुहुर्दशत्योष्ठं दन्तान्कटकटापयन् ॥
शस्त्राण्युद्वीक्षते रूक्षं दृप्तश्चोद्वीक्षते भुजौ।
न तिष्ठति न चैवास्ते विधत्ते कण्ठगर्जितम् ॥
एवं हि वर्तते प्रायो जातक्रोधस्तु शत्रुषु।
८२ व्रीडाऽवनम्रवदनः स्खलद्बाष्पः श्वसन्मुहुः ॥
तूष्णीं ध्यायति निश्चेष्टः शेते मित्रक्रुधा रहः।
८३ रोषरज्यत्कटाक्षश्च स्फुरिताधरपल्लवः ॥
स्फुरद्भ्रुकुटिरल्पाङ्गविकृतिः स्यात्प्रियाक्रुधि।
८४ शिरःकम्पाक्षिविक्षेपभर्त्सनाङ्गुलितर्जनैः ॥
क्रोधोऽभिनेयो भृत्येषु वीक्षणैश्च मुहुर्मुहुः।
८५ विनम्रवदनः स्वेदस्नपितो गद्गदस्वनः ॥
अनुत्तरोऽवदन्किञ्चित् पूज्ये क्रुद्धो विभाव्यते।

१—(शत्रु के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८१ भौहे टेढी करना, जीभ से मुँह के किनारो को (ओष्ठो को) चाटना, बार-बार दाँतो से ओष्ठो को काटना, दाँतो को कटकटाना, रूखा होकर शस्त्रो को देखता है, दृप्त हो भुजाओ को देखता है, न रुकता है ओर न बैठता है, कण्ठ-गर्जन करता है। इस प्रकार से प्राय शत्रुओ के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है।

२—(मित्र के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८२ शर्म से मुँह नीचा होना, आँसू का निकलना, बार-बार श्वाँस लेना चुप रहना, ध्यान करना, निश्चेष्ट हो जाना तथा एकान्त मे सो जाना आदि से मित्र के प्रति क्रोध प्रकट होता है।

३—(प्रिया के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८३ क्रोध से कटाक्ष स्फुरित होते है, अधर-पल्लव (ओष्ठ) फडकते है भौहे फडकती है, थोडा अग-विकार हो जाता है आदि अनुभावो से प्रिया के प्रति क्रोध प्रकट होता है।

४—(भृत्य के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८४ शिर-कम्पन, अक्षि-विक्षेप, भर्त्सना करना (बुरा-भला कहना), अगुली से भय दिखाना (तर्जन-डाँटना, फटकारना) तथा वार-बार देखना आदि अनुभावो से भृत्य (सेवक) के प्रति क्रोध अभिनेय है।

५—(गुरुजनो के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८५ झुका हुआ मुँह, पसीने से नहा जाना, गद्-गद स्वर तथा बात का उत्तर नही देना, कुछ नही बोलना आदि अनुभावो से गुरुजनो के प्रति 'क्रोध' जाना जाता है।[२५]

८६ अष्टाववस्थाः क्रुद्धानां कथ्यन्तेऽत्र मनीषिभिः ॥

८७ प्रथमा निन्दति गुणान्द्वितीया परुषं वदेत् ।
तन्नाशोपायचिन्तैव तृतीयायामुदाहृता ॥
चतुर्थ्यां हननेच्छा स्यात्पञ्चम्यामायुधग्रहः ।
षष्ठ्यां निहन्ति वेगेन विघ्नैरपि च वारितः ॥
सप्तम्यां निहतस्यासृक्पानमान्त्रापकर्षणम् ।

८८ यावात्फलावधिः क्रोधः कैश्चिद्विघ्नैरसाधितः ॥
क्रुद्धः क्रोधस्य कौटिल्यात्प्राणांस्त्यजति कामतः ।
क्रोधो रौद्रेषु भूयिष्ठः कोपो धीरेषु शस्यते ॥
स्त्रीपुंसयोर्मिथो रोषः प्रणयादिर्हि कथ्यते ।
क्रोधस्तिष्ठति सर्वत्र क्रुद्धानामाफलोदयात् ॥
कोपोऽनुनाथितः सद्यो निवर्तेत फलोदयात् ।
उद्दीप्तश्चेत्प्रवर्धेत तत्तदुद्दीपनैर्मुहुः ॥
रोषः प्रायेण सर्वत्र शाम्यत्येवानुनाथितः ।

८९ विलापः स्याद्गुणाख्यानमिलितं रोदनं भवेत् ॥
परिदेवितमेतत्स्याद्रुदितं यत्सगद्गदम् ।
उच्चै रोदनमाक्रन्दः शोकोत्कर्षे स कथ्यते ॥

---

८६ विद्वान क्रोध की आठ अवस्थाओ को कहते है ।

८७ (१) गुणो की निन्दा करना, (२) कठोर वचन बोलना (3) शत्रु-नाश के लिए उपायों की चिन्ता तृतीय अवस्था कही जाती है, (४) मारने की इच्छा, (५) शस्त्र ग्रहण करना, (६) विघ्नो से रोके जाने पर भी शीघ्रता से मार देना, (७) मरे हुए का खून पीना, तथा (८) आँते निकालना आदि ।

(कोप, क्रोध तथा रोष का स्वरूप तथा स्थान आदि)

८८ किसी भी प्रकार के विघ्नो से असिद्ध 'क्रोध' जब तक फल की प्राप्ति नही होती तब तक रहता है । क्रोधी व्यक्ति क्रोध की कुटिलता के कारण कामवश शरीर छोड देता है । 'क्रोध' रौद्र मे अधिक होता है, 'कोप' धीर मे होता है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक 'रोष' प्रणय आदि कहलाते हैं । 'क्रोध' क्रोधियो के फल-प्राप्ति-पर्यन्त सब जगह रहता है । फलोदय तथा अनुनय से 'क्रोध' शीघ्र शान्त हो जाता है और उस-उस उद्दीपन के द्वारा उद्दीप्त होने पर बार-बार बढता है । अनुनय-विनय मे 'रोष' प्राय सब जगह शान्त हो जाता है ।

८९ गुणो का बखान करते-करते रोना—'विलाप' कहलाता है । गद्-गद होकर जो रोया जाता है वह 'परिदेवित' होता है । शोक के उत्कर्ष मे जोर-जोर से

निकृष्टे च विलापः स्यान्मध्यमे परिदेवितम् ।
रुदितं त्रिविधं विद्यादीर्ष्यानन्दार्तिभेदतः ॥

९० स्फुरदोष्ठा सनिश्वासा सशिरःकम्पवेपथुः ।
भृकुटीकुटिलालोका भवेदीर्ष्योत्थरोदने ॥

९१ फुल्लत्कपोला शिशिरबाष्परोमाञ्चनिर्भरा ।
सगद्गदस्वना येन तत्स्यादानन्दरोदनम् ॥

९२ प्रलापो भूमिपतनं बाष्पधाराविवेष्टनम् ।
हाहेति भाषणं मन्दमार्तिजे रुदिते भवेत् ॥

९३ प्रायेण रुदितं स्त्रीणां नीचादौ क्वापि वा भवेत् ।
रसालम्बनभूतानां पदार्थानां ततस्ततः ॥
साधारणाः स्युर्ये भावास्ते कथ्यन्ते यथार्थतः ।

९४ आवेध्यारोप्यनिक्षेप्यबन्धनीयैरभूषितम् ॥
यद्भूषितमिवाभाति तद्रूपमिति कथ्यते ।

९५ यद्भूषणं रत्नमयं केवलं हैममेव वा ॥
कर्णस्य कर्णपाशस्य तदावेध्यमुदाहृतम् ।

रोना ही 'आक्रन्द' कहा जाता है। निकृष्ट पात्र मे 'विलाप' तथा मध्यम पात्र मे 'परिदेवित' होता है। 'रुदन' तीन प्रकार का होता है—ईर्ष्याभाव से उत्पन्न, आनन्द से उत्पन्न तथा आर्तभाव से उत्पन्न।

९० ईर्ष्या से उत्पन्न रुदन मे ओष्ठ फडकने लगते है, उच्छ्वास निकलने लगते है, शिर-कम्पन के साथ कम्पन होने लगता है तथा भौहो तथा दृष्टि मे वक्रता आ जाती है।

९१ आनन्द से उत्पन्न रुदन वह होता है जिससे कपोल प्रदेश उत्फुल्ल हो जाते है, ठण्डे आँसू निकलते है, रोमाच होता है तथा गद्-गद स्वर निकलता है।

९२ आर्तभाव अर्थात् दु ख से उत्पन्न रुदन मे पात्र प्रलाप करता है, भूमि पर गिरता है, आँसूओ की धारा निकलने लगती है तथा हा ! हा ! कहकर धीरे-धीरे पुकारता है।

९३ रुदन प्राय स्त्रियो मे तथा नीच-पात्रो मे होता है। तदनन्तर रस के आलम्बन-भूत पदार्थो के जो साधारण-भाव है, उनको यथार्थत कहते है।

९४ आवेध्य, आरोप्य तथा बन्धनीय (आभूषणो) से अभूषित भी भूषित जैसा प्रतीति होता है, वह 'रूप'[२६] कहा जाता है।

९५ कान तथा कर्णपाश का जो आभूषण या तो रत्नजटित हो या केवल स्वर्ण का ही हो 'आवेध्य' कहा जाता है।

९६ इन्द्रच्छन्दादयो हारा हेमसूत्रादयोऽपिच ॥
एते भूषणमारोप्यमिति विद्वद्भिरीरितम् ।
९७ मुक्तामयाः स्वर्णमयाः श्रोणीसूत्राङ्गदादयः ॥
ग्रैवेयकाश्च कविभिर्बन्धनीयमुदाहृतम् ।
९८ निक्षेप्यं नूपुरं हस्ताभरणादि निगद्यते ॥
९९ प्लवमानमिवाभाति यदङ्गं कान्तिवारिणि ।
लावण्यमिति तत्प्राहुः पुलकं प्रतिमादिषु ॥
यद्रूपं स्वगुणोत्कर्षैः पदार्थमभितः स्थितम् ।
स्वात्मवत्कुरुते यत्तदाभिरूप्यमुदाहृतम् ॥
अन्यूनानतिरिक्तं यदङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम् ।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धं यत् तत्सौन्दर्यमिति स्मृतम् ॥
१०० अङ्गं शिरः कटी वक्षः कुक्षिःपादावितीरितम् ।
जङ्घोरुबाहुग्रीवादिः प्रत्यङ्गमिति कथ्यते ॥
उपाङ्गं नासिकानेत्रभ्रूकपोलाधरादिकम् ।
१०१ सौकुमार्यं त्रिधा भिन्नं ज्येष्ठमध्याधमक्रमात् ॥
प्रसूनपल्लवस्पर्शासहं यत्स्यात्तदुत्तमम् ।

---

९६ इन्द्रच्छद आदि तथा हेम सूत्र आदि हार—ये आभूषण विद्वानो द्वारा 'आरोप्य' कहे जाते है।

९७ मोतियो से बने तथा स्वर्ण से बने श्रोणीसूत्र (कर्धनी), अगद (बाजूबन्द) आदि तथा ग्रैवेयक (गर्दन का आभूषण)—ये कविजनो द्वारा 'बन्धनीय' कहे जाते है।

९८ नूपुर, हस्त के आभरण आदि 'निक्षेप्य' कहलाते है।[27]

९९ प्रतिमा आदि मे पुलकित जो अग कान्ति-रूपी जल मे तैरता हुआ-सा दिखायी देता है वह 'लावण्य' कहा जाता है। जो रूप अपने गुणो के उत्कर्ष से पदार्थ के चारो ओर स्थित हो पदार्थ को आत्मवत् बना लेता है वह 'आभिरूप्य' कहलाता है। अन्यूनातिरिक्त[28] अर्थात् न तो बहुत अधिक और न बहुत कम जो अग-प्रत्यग का सौष्ठव सुश्लिष्ठ-जोडो वाला होता है वह 'सौन्दर्य'[29] कहा जाता है।

१०० (1) शिर, कटि-भाग, वक्षस्थल, कुक्षि (काख) तथा पैर 'अग'[30] कहे जाते है।
(11) जघा, ऊरु, बाहु तथा ग्रीवादि 'प्रत्यग'[31] कहलाते है।
(111) नासिका, नेत्र, भ्रुकुटी, कपोल, अधर आदि 'उपाग'[32] कहे जाते है।

१०१ 'सौकुमार्य'[3] ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम क्रम से तीन प्रकार का होता है
(1) पुष्प, पत्र के स्पर्श को जो सहन न कर सके वह 'उत्तम' होता है।
(11) हस्त-स्पर्श आदि को जो सहन न कर सके वह 'मध्यम-सौकुमार्य' है।

पाणिस्पर्शाद्यसहनं सौकुमार्यं तु मध्यमम् ॥
शीतातपाद्यसहनं सोकुमार्याधमं भवेत् ।

१०२ सुखस्पर्शत्वमेवाहुः मृदुत्वमिति तद्विदः ॥
अन्ये तु स्पृष्टमपि यदस्पृष्टमिव भाव्यते ।
तदेव मार्दवमिति कथयन्ति मनीषिणः ॥

१०३ त्रिधा प्रसादो वदने दृशोश्चित्ते च कथ्यते ।
लावण्यरसनिष्यन्दि स्मयमानमिवासकृत् ॥
पुलकोल्लासिगण्डं यत्प्रसन्नं वदनं भवेत् ।
सभ्रूविलासललितं सकटाक्षनिरीक्षणम् ॥
स्मेरतारं स्वतःस्निग्धं प्रसन्नं नयनं भवेत् ।
कृतज्ञतोपकर्तृत्वं भूयो दोषानभिज्ञता ॥
एतत्प्रसन्नचित्तानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

१०४ श्यामो रक्तः प्रसन्नश्च मुखरागोऽपि च त्रिधा ॥
शुष्यत्कान्ति परिम्लानमसृणाधरपल्लवम् ।
मन्दनिश्वासमामीलद्रूक्षतारावलोकितम् ॥
येन स्याद्वदनं श्यामो मुखरागोऽयमीरितः ।
प्रस्फुरत्स्वेदकणिकं रोषारुणविलोचनम् ॥

(iii) शीत, आतप (धूप) आदि को जो सहन न कर सके वह 'अधम-सौकुमार्य' कहा जाता है ।

१०२ सुखपूर्वक स्पर्श ही 'मृदुत्व' कहा जाता है । लेकिन कोई कहते है कि जो स्पर्श अस्पर्श जैसा जाना जाता है उसको ही विद्वान 'मार्दव'[३४] कहते है ।

१०३ 'प्रसाद' वदन, दृष्टि तथा चित्त भेद से तीन प्रकार का होता है
(i) लावण्य-रूपी रस को बहाने वाला, मुस्कराता हुआ-सा पुलकित तथा उल्लसित (खिलता हुआ) कपोल-प्रदेश 'प्रसन्न-वदन' कहलाता है ।
(ii) भ्रुकुटी सहित नेत्रो का सुन्दर विलास, कटाक्ष सहित निरीक्षण, स्वत प्रेम से विकसित होने वाले नेत्र 'प्रसन्न-नयन' कहलाते है ।
(iii) कृतज्ञता, उपकार तथा पुन -पुन दोषो की अनभिज्ञता—ये सब 'प्रसन्न-चित्त' के लक्षण होते है ।

१०४ 'मुखराग'[३५] तीन प्रकार का होता है—श्याम, रक्त तथा प्रसन्न ।
(i) जिससे मुख ऐसा हो जाता है कि कान्ति सूख जाती है, कोमल-अधर-पल्लव मलिन हो जाते है, मन्द श्वास रहती है, तथा नेत्र बन्द से तथा रूखे से रहते है उसे 'श्याम-मुख-राग' कहा जाता है ।

रज्यत्कपोलयुगलं स्फूर्जन्निश्वसितोष्मलम् ।
मुखं यत्तत्र रक्ताख्यो मुखरागः प्रकीर्तितः ॥
आविस्स्मितं स्फुरत्कान्ति भाषमाणमिवासकृत् ।
प्ररूढरागं नयनं स्निग्धतारावलोकितम् ॥
यत्र तत्र प्रसन्नाख्यो मुखराग उदाहृतः ।

१०५ भयानके सबीभत्से करुणे श्याम इष्यते ॥
रक्तो रौद्रे क्वचिद्वीरे विवादे कैश्चिदिष्यते ।
भवेत्प्रसन्नः शृङ्गारे स्वतः सम्भोगनामनि ॥
अद्भुते दानवीरे च प्रणयानुनयान्तरे ।

१०६ द्रव्यैः स्वस्योपभोगार्हैः सत्क्रिया मानना मता ॥
सानुरागं सहर्षं च सस्मितं चैव सादरम् ।
उच्यते वचनं यत्तद्भाषामाधुर्यमुच्यते ॥
देयस्य चापरिच्छित्तिर्दत्तस्यैवानभिज्ञता ।
ददतो हर्षवृद्धिर्यत्स त्याग इति कीर्तितः ॥
क्षिणोति दुःखं येनैव स क्षणः परिकीर्त्तितः ।
उद्धुनोतीति यद्दुःखमुद्धवः परिकीर्तितः ॥

(ii) जहाँ मुख पर पसीने की बूँदे चमकती है, रोष से नेत्र लाल रहते है, दोनो कपोल लाल रहते है, गर्म श्वास निकलती है उसे 'रक्त-मुख-राग' कहते है।

(iii) जहाँ मुस्कराती हुई तथा बोलती हुई-सी कान्ति छिटकती है तथा राग से भरे हुए, स्निग्ध दृष्टि वाले नेत्र रहते है वह 'प्रसन्न-मुख-राग' कहलाता है।

१०५ 'श्याम-मुख-राग' भयानक, बीभत्स तथा करुण रस मे होता है। 'रक्त-मुख-राग' रौद्र तथा वीर रस मे होता है तथा विवाद मे भी रहता है। 'प्रसन्न-मुख-राग' सम्भोग-शृगार, अद्भुत तथा दानवीर रस मे होता है तथा प्रणय की सान्त्वना मे भी रहता है।[१६]

१०६ अपने उपभोग के योग्य द्रव्यो से की गयी सत्क्रिया (पूजा) 'मानना' कहलाती है। जब अनुराग के साथ, हर्ष के साथ, मुस्कराहट ने साथ तथा आदर के साथ वचन कहे जाते है तो वह 'भाषा-माधुर्य' कहलाता है। जो देना है उसकी अपरिमितता और जो दे दिया है उसकी अनभिज्ञता रहती है तथा जो दे रहे है उसमे हर्ष-वृद्धि होती है तो वह 'त्याग' कहा जाता है। जिससे दु ख क्षीण होता है वह 'क्षण' कहलाता है। जिससे दु ख दूर होता है उसे 'उद्धव'

उत्सूते हर्षमित्येष उत्सवः परिकीर्तितः ।
दम्नोति खेदयत्यन्यान् स दम्भः परिपठ्यते ॥
सुखप्रयोगचातुर्यं कृत्येष्वाहुस्तु कौशलम् ।
द्रव्यक्रियागुणादीनां हानोपादानकर्मसु ॥
सूक्ष्मार्थावाप्तिनिरतो धीव्यापारस्तु नैपुणम् ।
अर्थः प्रयोजनं यस्य व्यापारोऽर्थाविनाकृतः ॥
स समर्थोऽस्य ताच्छील्यात्सामर्थ्यं तस्य कथ्यते ।
विलोभनमसद्रूपे सद्रूपोत्कर्षणं विदुः ॥
उल्काऽशनिनृपव्याघ्रादिभिर्यश्चित्तविप्लवः ।
आतङ्कः स भवेत्सोऽपि प्रायः करुणतामियात् ।
एकस्यैव पदार्थस्य नानारूपप्रकल्पनम् ।
वाङ्मनःकर्मभिर्यत्तच्छिल्पमित्यभिधीयते ॥
लौकिके वैदिके चार्थे तथा सामयिकेऽपि च ।
सम्यक्परिचयप्रौढिर्वैदग्ध्यमिति गीयते ॥
दुस्तरस्य स्वभावेन येन केनापि कर्मणा ।
मिथ्यातरणयोग्यार्थकथनं स्यात्प्रतारणम् ॥

कहते है। जिससे हर्ष उत्पन्न होता है वह 'उत्सव' कहलाता है। जो दूसरो को धोखा देता है या चोट पहुँचाता है, दु खी करता है वह 'दम्भ' कहा जाता है। कार्यो मे सुखपूर्वक प्रयोग किया गया चातुर्य ही 'कौशल' कहलाता है। द्रव्य, गुण तथा क्रियाओ के हानोपादान कर्मो मे सूक्ष्म अर्थ की प्राप्ति के लिए बुद्धि का व्यापार 'नैपुण' कहलाता है। अर्थ प्रयोजन को कहते है, बिना प्रयोजन के न किया हुआ व्यापार (अर्थात् प्रयोजन से किया हुआ व्यापार) समर्थ होता है, और उसके स्वभाव से उसे 'सामर्थ्य' कहते है। असद् रूप मे सद् रूप का उत्कषर्ण 'विलोभन' कहा जाता है। तारो के टूटने तथा नृप, व्याघ्र आदि से जब चित्त विप्लावित होता है तो वह 'आतक' कहा जाता है, वह भी प्राय करुणा को प्राप्त होता है। एक ही पदार्थ के वाणी, मन तथा कर्म से जो नाना रूप कल्पित कर लिये जाते है, वह 'शिल्प' कहा जाता है। लौकिक, वैदिक तथा सामायिक अर्थ के प्रति सम्यक् परिचय की, जो प्रौढता है, वह 'वैदग्ध्य' कहलाती है। स्वभाव से जिस किसी प्रकार के कर्म से दुष्ट का झूठी बातो के द्वारा योग्य (उचित) अर्थ (विषय) का कथन 'प्रतारण' कहा जाता है।

१०७ एव प्रकाराः कविभिरूह्या भावा यथारसम् ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने रसभेदतत्प्रकार-स्वरूपनिर्णयो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

---

१०७ इस प्रकार कविजनो ने यथारस भाव कहे है ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे रसभेदतत्प्रकारस्वरूपनिर्णय नामक तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

अथ चतुर्थोऽधिकारः

१ रसालम्बनभावानामुक्ताः साधारणा गुणाः ।
सुखेप्सवस्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम् ॥
भोगः स एष शृङ्गारविशेष इति गीयते ।
२ भोगोपभोगसम्भोगशब्दाः पर्यायवाचकाः ॥
सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मामसी रतिः ।
वर्तते मुख्यया वृत्त्या यूनोरेव सरागयोः ॥
तथाप्यर्थविशेषोऽयमेतेषां कथ्यते पृथक् ।
३ भोग्यद्रव्योपभोगो यः स भोग इति गण्यते ॥
उपभोगः स एव स्यात् देशकालसमेधितः ।
कामोपचारः सम्भोगः कामः स्त्रीपुंसयोः सुखम् ॥
सुखमानन्दसम्भेदः परपस्परविमर्दजः ।
उपचारस्तदानन्दकारकं कर्म कथ्यते ॥
सुखाश्रयाः स्युः प्रमदास्तासामामोदकारकः ।

---

१ रस के आलम्बन-भावो के साधारण गुण कह दिये। वे सभी सुख को चाहने वाले व्यक्ति भोग को सुख का साधन मानते है। वह 'भोग' ही शृगार-विशेष कहा जाता है।

२ भोग, उपभोग, सम्भोग—ये शब्द पर्यायवाची है। सम्भोग मे सर्वत्र प्राणियो की रति रहती है। सम्भोग मुख्य-वृत्ति से (अभिधा से) युवक-युवती के राग मे रहता है फिर भी इसके विशेष अर्थ को अलग से कहते है।

३ भोग्य द्रव्य (वस्तु) का जो उपभोग है, उसे 'भोग' कहते है। देश तथा काल के अनुसार बढा हुआ, वही (भोग) 'उपभोग' कहलाता है। कामोपचार 'सम्भोग' है और 'काम' स्त्री-पुरुष का सुख है। 'सुख'आनन्द से मिश्रित है और यह स्त्री-पुरुष के परस्पर मर्दन से उत्पन्न होता है। आनन्द प्रदान करने वाला कर्म 'उपचार' कहलाता है। सुखाश्रित प्रमदाएँ है, उनको आनन्द प्रदान करने वाला एक-

यत· शृङ्गार एवैकस्तस्मादेष सुविस्तरम् ॥
कथ्यते शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना चानुभूतितः ।
४ स्थायी रत्याह्वयो भावः स्वविभावादिवर्धितः ॥
शृङ्गाररसनामा स्यात्तत्तदालम्बनाश्रयी ।
नायकप्रमदाभेदाः सम्भोगस्य भिदा अपि ॥
वक्ष्यन्ते तत्स्वरूपञ्च तच्चेष्टा अपि तत्त्वतः ।
रतेः स्वरूपमाचार्यैरुक्तमत्राभिधीयते ॥
५ परस्परस्वसंवेद्यसुखसंवेदनात्मिका ।
याऽनुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः ॥
६ सम्पन्नैश्वर्यसुखयोरशेषगुणयुक्तयोः ।
नवयौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयोः ॥
नारीपुरुषयोस्तुल्या परस्परविभाविका ।
स्पृहाह्वया चित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ॥
७ रतिरिच्छा भवेद्यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका ।
यूनोः परस्पराह्लादरहोविस्रम्भकारिता ॥
सुखात्मिका मनोवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ।
आलापलीलोपचारचेष्टादृष्टिविलोकनैः ॥
अन्योन्यभोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयो रतिः ।

मात्र तत्त्व 'शृगार' ही है, अत इस 'शृगार' को शास्त्र के अनुसार तथा अनुभूति से विस्तारपूर्वक कहते हैं।

४ 'रति' नामक स्थायी-भाव अपने विभावादि से बढा हुआ 'शृगार-रस' के नाम से जाना जाता है। उस-उस आलम्बन के आश्रित (रति), नायक तथा प्रमदा (नायिका) के भेद, सम्भोग के भेद, उनका स्वरूप तथा उनकी चेष्टाएँ तत्त्वत कहेगे। अब आचार्यो द्वारा कथित 'रति' के स्वरूप को कहते है।

५ युवक तथा युवती के बीच हुए राग मे परस्पर स्वसवेद्य तथा सुख-सवेदनात्मिका जो पारस्परिक अनुभूति है वह 'रति' कहलाती है।[1]

६ ऐश्वर्य तथा सुख से सम्पन्न, सम्पूर्ण गुणो से युक्त, नव यौवन से पूर्ण, प्रशसनीय प्रकृति वाले, श्रेष्ठ रूपवान नारी-पुरुष के बीच होने वाली समान परस्पर विभाविका स्पृहा[2] नामक चित्तवृत्ति 'रति' कहलाती है।

७ युवक-युवती दोनो की परस्पर प्रार्थना-स्वरूप इच्छा 'रति' होती है।[3] युवक-युवती की परस्पर प्रसन्नता की एकान्त मे विश्वास प्रदान करने वाली तथा सुख-स्वरूप मनोवृत्ति 'रति' कहलाती है।[4] एकान्त मे स्त्री-पुरुष के बीच आलाप, लीलोपचार, चेष्टा, दृष्टि तथा दर्शन आदि से उत्पन्न होने वाली परस्पर भोग्य की इच्छा 'रति' कहलाती है।

८ इयमङ्कुरिता प्रेम्णा मानात्पल्लविता पुनः ॥
सकोरका प्रणयतः स्नेहात्कुसुमिता भवेत् ।
रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते ॥

९ इ—शब्दवाच्यो मदनो माति यत्र प्रकर्षतः ।
तत्प्रेम तदधिष्टानं रतिर्यूनोः परस्परम् ॥
परस्पराश्रयघनं निरूढं भावबन्धनम् ।
यदेकापायतोऽपायि तत्प्रेमेति निगद्यते ॥

१० इदं तदिति सङ्कल्पो ययोर्न क्वापि दृश्यते ।
तद्भावबन्धनमिति कथयन्ति मनीषिणः ॥
एतत्प्रेम रतिं पुष्येत्तैर्विभावादिभिः पुनः ।

११ यदक्लिष्टं विगाहेत कौटिल्यं प्रीतिकारकम् ॥
तदेव प्रेमकौटिल्यं यत्स्वातन्त्र्यं मिथः प्रियम् ।

१२ स्वातन्त्र्यं तद्यदन्यस्य मनोरथनिरोधनम् ॥
स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम् ।
मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्युच्यते बुधैः ॥

---

८ यह रति 'प्रेम' से अकुरित होती है, 'मान' से पल्लवित होती है, 'प्रणय' से मजरी से युक्त होती है, 'स्नेह' से पुष्पित होती है, 'राग' से फलवती (फल वाली) होती है तथा 'अनुराग' से भोग के योग्य बनायी जाती है ।

६ (१) प्रेम=प्र+इ+मा (धातु) अर्थात् प्र=प्रकर्ष, इ=मदन, मा=माति (फैलता) है । इस प्रकार—जहाँ कामदेव प्रकृष्टता से समा जाता है वह 'प्रेम' है । युवक-युवती के बीच होने वाली परस्पर रति उस (प्रेम) का आधार है । परस्पर आश्रित सघन, निरूढ 'भाव-बन्धन'—जो किसी एक के द्वारा अलग नही किया जाता है, तो 'प्रेम' कहलाता है ।

१० (२) 'यह', 'वह' है—इस प्रकार का विचार जिसके बीच नही देखा जाता, उसे विद्वान 'भाव-बन्धन' कहते है । यह 'प्रेम' उन विभावादि के द्वारा रति को पुन पुष्ट करता है ।

११ (३) जो अक्लिष्ट हो तथा कुटिल प्रीति (प्रेम) करने वाला होता हो, वही 'प्रेम-कौटिल्य' कहलाता है । जहाँ स्वतन्त्रता परस्पर प्रिय होती है, वह स्वतन्त्रता है ।

१२ (४) जहाँ अन्य के मनोरथ को रोक दिया जाता है, वह 'मान' है वही मनोरथ-निरोधन मान है । मान=मा+न अर्थात् मा=नही, न=नही, अत 'नही-नही' इस प्रकार से निषेध करना ही विद्वानो द्वारा 'मान' कहलाता है ।[1]

ईर्ष्याप्रणयरोवेन मानः स्त्रीपुंसयोर्द्विधा ।
सपत्नीदर्शनस्पर्शश्रवणासहता स्थिरा ॥
ईर्ष्या स्त्रीणां तया रोध ईर्ष्यामान उदाहृतः ।
१३　मान्यते प्रेयसा येन यत्प्रियत्वेन मन्यते ॥
मनुते यो मिमीते यस्स हि मानः प्रकीर्तितः ।
१४　उपचारैर्मिथो यूनोर्यद्बाह्याभ्यन्तराभिधैः ॥
मानप्रकर्षप्रभवरोषास्वादकषायितम् ।

स्त्री-पुरुष के बीच 'मान' ईर्ष्या तथा प्रणय भेद से दो प्रकार का होता है । सपत्नी के दर्शन, स्पर्श तथा श्रवण को सहन न करने से स्त्रियो मे ईर्ष्या स्थिर हो जाती है, उस ईर्ष्या से नायक के मनोरथ को रोकना ही 'ईर्ष्यामान' कहलाता है ।

१३　जिस प्रिय के द्वारा पूजा की जाती है, जिसे प्रिय-रूप से सोचता है जो जानता है या जो तोलता है । वह 'मान' कहलाता है ।[६]

(१) 'मान पूजायाम्', अर्थात् 'मान्यते पूज्यते अनेन इति'——जिसके द्वारा पूजा की जाती है । इस अर्थ मे 'मान' का अर्थ होता है कि मान के समय प्रेयसी कुटिल हो जाती है और प्रिय उसको मनाता है और पूजा करता है । अत मान का अर्थ होगा—पूजा, सम्मान, सत्कार या प्रसादन ।

(२) 'मन् ज्ञाने' अर्थात् 'मन्यते इति'—जो सोचता है । इस अर्थ मे 'मान' का अर्थ होता है कि प्रिया के मान के कारण प्रिय को वियोग होता है लेकिन उस वियोगज दु ख मे भी प्रिय सुख ही सोचता है । अत मान का अर्थ होगा—सोचना ।

(३) 'मनु बोधने' अर्थात् 'मनुते इति'—जो जानता है । इस अर्थ मे 'मान' का अर्थ होता है कि प्रिय के द्वारा बुरा आचरण किये जाने पर, प्रेयसी केवल नाराज है जबकि वह उसको प्रेम करती है और किसी अन्य के प्रति प्रिय के द्वारा प्रेम किये जाने को भी सहन नही करती है । इस प्रकार यहाँ प्रेयसी का नाराज होना उस प्रिय के प्रति प्रेयसी के अतिगाढ प्रेम का ही ज्ञान करता है । अत. 'मान' का अर्थ होगा—ज्ञान ।

(४) 'मा माने' अर्थात् 'मिमीते इति'—जो तोलता है । इस अर्थ मे 'मान' का अर्थ होता है कि प्रेयसी के द्वारा 'मान' किये जाने पर प्रिय यह देखता है कि प्रेयसी का मेरे प्रति कितना प्रेम है और प्रेयसी यह देखती है कि प्रिय को मेरे प्रति कितना प्रेम है । अर्थात् 'मान' से ही प्रिय-प्रेयसी के प्रेम की तोल होती है । अत 'मान' का अर्थ होगा—तोलना ।[७]

१४　युवक-युवती के बीच परस्पर बाह्य तथा आभ्यन्तर शब्दोपचारो से, मान की प्रकृष्टता से उत्पन्न रोष के कारण आस्वाद कसैला हो जाता है । तब प्रेम प्रकृष्टता को प्राप्त होता है, वही प्रेम 'प्रणय' कहा जाता है । जिस प्रिय से अपने

प्रेम नीतं प्रकर्षं चेत्स एव प्रणयः स्मृतः ।।
येनेर्ष्यासु प्रसादः स्यात्स्वाभीष्टार्थानुकूलतः ।
प्रियेण स विधीयेत समानप्रणयात्मके ।।
अयं प्रणयमानस्तु वर्णनीयो द्वयोरपि ।

१५ ईर्ष्यामानस्तु कविभिर्योषितामेव वर्ण्यते ।।
स पुंसां यदि वर्ण्येत वैरस्यायैव कल्पते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमु मानान्वये सति ।।

१६ मनसो यद्द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता ।
भयशङ्कावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते ।।
द्विधा द्रवः स्यान्मनसो दर्शनात्स्पर्शनादपि ।

१७ जतुवद्वह्निसंस्पर्शाद्दर्शनाच्चन्द्रकान्तवत् ।।
आर्द्रता शिशिरत्वं यत्सर्वावस्थासु मानसम् ।

१८ द्विधा भवेत्स च स्नेहः कृत्रिमाकृत्रिमात्मकः ।
सोपाधिः कृत्रिमः स्नेहो निरुपाधिरकृत्रिमः ।
उपाधौ विनिवृत्ते तु तज्जन्यो विनिवर्तते ।।
स्नेहः स्वभावजो यावद्द्रव्यभावी भविष्यति ।

अभीष्ट-अर्थ की अनुकूलता से ईर्ष्याओ मे प्रसन्नता होती है वह मान सहित प्रणय-रूप होता है । यह 'प्रणय-मान' स्त्री-पुरुष दोनो मे वर्णित होता है ।

१५ ईर्ष्यामान' को कविजन स्त्रियो मे ही वर्णन करते है । यदि उसको पुरुषो मे कह दिया जाय तो वैर की ही कल्पना होती है । अर्थात् पुरुषो मे 'ईर्ष्यामान' वैर रूप मे परिणत होता है । प्रेम स्वत भी कुटिल है फिर मान के साथ रहने पर तो क्या कहना ।[८]

१६ (५) विषयो के प्रति मान की जो द्रव के समान आर्द्रता तथा, भय तथा शका से रहित ममता है वह 'स्नेह' कहा जाता है । दर्शन तथा स्पर्शन के भेद से मन का द्रव दो प्रकार का होता है (१) जतुवह्निवत्, (२) चन्द्राकान्तवत् ।

१७ जैसे जतु (लाख) अग्नि के स्पर्श से पिघल जाती है और चन्द्राकान्तमणि चन्द्रमा की किरणो के दर्शन से पिघल जाती है उसी प्रकार सभी अवस्थाओ मे मन की आर्द्रता तथा शिशिरता होती है ।

१८ वह 'स्नेह दो प्रकार का होता है (१) कृत्रिम, तथा (२) अकृत्रिम । सोपाधिक स्नेह 'कृत्रिम' होता है तथा निरुपाधिक स्नेह 'अकृत्रिम' होता है । उपाधि के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न (स्नेह) भी नष्ट हो जाता है । स्वभावज 'स्नेह'

शङ्का स्यात्कृतके तत्तद्विक्रियान्वेषणात्मिका ॥
स्वाभाविके भयं तत्तद्विषयादेः प्रमादतः ।
१९ एकाश्रयः स च क्वापि क्वापि स्यादुभयाश्रयः ॥
एकाश्रयस्तिर्यगादौ मर्त्यादावुभयाश्रयः ।
आश्रयाद्वासनातश्च जायन्ते तत्र तत्र तु ॥
एकाश्रयो वासनातो द्व्याश्रयो हेतुभिर्भवेत् ।
२० स तु स्नेहस्त्रिधा प्रौढमध्यमन्दविभागतः ॥
२१ विदेशस्थे मृते वापि दुर्बले प्रतियोगिनि ।
धर्मिणः क्लेशकारी यः स प्रौढः स्नेह उच्यते ॥
२२ तत्तद्वियोगजं दुःखं तादृशं प्रतियोगिना ।
अनुभूयातिवृत्तश्चेत्स्नेहो मध्यः प्रकीर्तितः ॥
२३ तदात्वव्यसनापत्तिमात्रको मन्द उच्यते ।
२४ स्थिरश्च गत्वरश्चेति नश्वरश्चेति स त्रिधा ॥
उत्तमे मध्यमे नीचे तत्तत्कार्यवशाद्भवेत् ।
२५ उत्तमे वृद्धिमभ्येति नोपकारानपेक्षते ॥
उपकारं न जानाति स स्नेहः स्थिर उच्यते ।

द्रव्य-भावी (बहुमूल्य) होगा । 'कृत्रिम-स्नेह' मे उस-उस विक्रिया (कोप) की अन्वेषणरूप शका होती है । 'स्वाभाविक-स्नेह' मे उस-उस विषय आदि के प्रमाद से भय रहता है ।

१९ वह स्नेह कही 'एकाश्रय कही उभयाश्रय' होता है । एकाश्रय तिर्यक् आदि मे होता है और उभयाश्रय मनुष्य आदि मे होता है । आश्रय से तथा वासना से वे वहाँ-वहाँ उत्पन्न होते है । 'एकाश्रय' वासना से तथा 'उभायाश्रय' अनेक हेतुओ से उत्पन्न होता है ।

२० वह 'स्नेह' प्रौढ, मध्य तथा मन्द भेद से तीन प्रकार का होता है ।

२१ (१) विदेशी, दुर्बल या शत्रु के मर जाने पर धर्मी (धार्मिक) का क्लेशकारी स्नेह 'प्रौढ-स्नेह' कहलाता है।

२२ (२) उस-उस के वियोग से उत्पन्न वैसा दु ख, शत्रु के द्वारा अनुभूय दुराचार 'मध्य-स्नेह' कहा जाता है ।

२३ (३) उस-उस व्यसन तथा आपत्ति मात्र वाला 'मन्द-स्नेह' कहलाता है ।

२४ पुन स्नेह के तीन भेद होते है (१) स्थिर, (२) गत्वर, (३) नश्वर । ये तीनो प्रकार के स्नेह क्रमश तद् तद् कार्यवश उत्तम, मध्य तथा नीच मे होते है ।

२५ (१) उत्तम पात्र मे जो वृद्धि को प्राप्त होता है, जो उपकारो की अपेक्षा नही करता, तथा जो किसी के प्रति किये गये उपकार को नही जानता है वह स्नेह 'स्थिर' कहलाता है ।

२६ बहूपकारप्रभव उपकारानपेक्षते ॥
मध्यमे वर्धितः किञ्चित्स स्नेहो गत्वरो भवेत् ।
२७ दोषश्रवणमात्रेण सौमनस्यं विहाय यः ॥
प्रातिकूल्ये प्रवर्तेत स स्नेहो नश्वरो भवेत् ।
२८ नीचादावस्थिरः प्रायः स्नेहो ज्यायसि तु स्थिरः ॥
एवं पुत्रकलत्रादौ पित्रादावपि दृश्यताम् ।
२९ स एव चेद्गुणद्रव्यदेशकालादिभिर्हृदि ॥
रज्यते दीप्यते चित्ते स राग इति कथ्यते ।
३० सुखदुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ॥
येन रागः स इत्युक्तो रञ्जनाद्विषयात्मनोः ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागौपम्येन स त्रिधा ॥
३१ क्षालितो यस्तु नापैति यश्च नातीव शोभते ।
नीलीरागः स एवेति कथितो रागवेदिभिः ॥
३२ योऽपैति क्षालितः क्षिप्रमध्यक्षं योऽपि शोभते ।
कुसुम्भराग एवैष इति विद्वद्भिरीरितः ॥

---

२६ (२) जो किये गये बहुत उपकारो से उत्पन्न होता है, जो उपकारो की अपेक्षा करता है, मध्यम-पात्र मे जो कुछ वृद्धि को प्राप्त है वह स्नेह 'गत्वर' कहा जाता है ।

२७ (३) दोप के श्रवण-मात्र से सौमनस्य (प्रीति) को छोडकर जो प्रतिकूलता की ओर प्रवृत्त होता है वह स्नेह 'नश्वर' होता है ।

२८ स्नेह प्राय नीचादि मे अस्थिर तथा श्रेष्ठ लोगो मे स्थिर होता है। इसी प्रकार पुत्र तथा स्त्री आदि मे तथा पिता आदि मे देखे ।

२६ वही (स्नेह) गुण, द्रव्य, देश तथा काल आदि से हृदय मे रहता है जिससे चित्त रँग जाता है या चमक जाता है वह 'राग' कहलाता है। अर्थात् 'रञ्ज् रागे' तथा 'राजृ दीप्तौ' धातु से भाव तथा करण मे घञ् प्रत्यय होकर = रञ्ज् + घञ् = राग तथा राजृ + घञ् = राग निष्पन्न होता है ।

३० सुख-दु खात्मक भोग्य को सुख रूप ही माना जाता है। जिससे विषय और आत्मा रँग जाती है, वह 'राग' कहा जाता है। यह राग नीली, कुसुम्भ तथा मञ्जिष्ठा के औपम्य से तीन प्रकार का होता है

३१ (१) जो क्षालित राग हृदय से कमी दूर न हो तथा बाहरी चमक-दमक अधिक न दिखाये रागवेत्ताओ द्वारा 'नीलीराग' कहा जाता है।

३२ (२) जो क्षालित राग हृदय से जाता रहता है तथा जो देखते ही शीघ्र सुशोभित होता है उसे विद्वान 'कुसुम्भ-राग' कहते है ।

३३ अतीव शोभते यस्तु नापैति क्षालितोऽपि सन् ।
स एव कविभिः सर्वैर्मञ्जिष्ठाराग उच्यते ॥

३४ ज्येष्ठो मञ्जिष्ठरागः स्यान्नीलीरागस्तु मध्यमः ।
कुसुम्भरागः कविभिरधमः परिकीर्तितः ॥

३५ रागोऽनुवृत्तोऽविच्छिन्नमनुराग उदाहृतः ।
अनुरूपोऽथवा राग इति वा निर्णयो भवेत् ॥
स तु प्रायः स्वसंवेद्यो यूनोरन्योन्यरक्तिमा ।
अन्यत्रैष प्रयुज्येत गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ॥

३६ एते प्रेमादयो भावाः शृङ्गारालम्बनाश्रयाः ।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेव प्रकाशिताः ॥
अथाऽय वर्त्मना तेषां शृङ्गारोऽपि प्रदर्श्यते ।

३७ रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ॥
प्रकृष्यमाणः शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥

३८ वेलारामसरिच्छैलपुरराष्ट्राम्बुराशयः ।
कान्ताराश्रमहर्म्यादिर्देशाः कविभिरीरिताः ॥

---

३३ (३) जो राग क्षालित होते हुए भी हृदय से कभी जाता नही है तथा अत्यन्त सुशोभित होता है उसे कविजन 'मञ्जिष्ठा-राग' कहते है ।[१०]

३४ कविजन 'मञ्जिष्ठा राग' को ज्येष्ठ, नीली-राग को मध्यम तथा कुसुम्भ-राग को अधम कहते है ।

३५ राग का अनुगत (अनुवृत्त), अविच्छिन्न (अभिन्न) 'अनुराग' कहलाता है। या राग के अनुरूप ही 'अनुराग' होता है ।[११] वह अनुराग प्राय स्वसवेद्य तथा युवक-युवती के बीच अन्योन्य की अनुरक्ति से होता है। अन्यत्र यह गौणवृत्ति-सम्बन्ध से प्रयुक्त होता है ।

३६ शृगारालम्बन के आश्रित ये प्रेमादि भाव आदरणीय अभिनवगुप्ताचार्य के ही अनुसार कहे है। अब उन्ही के अनुसार शृगार रस को भी दिखाते है ।

(शृंगार-रस)

३७ परस्पर अनुरक्त युवक-युवती के बीच रमणीक देश, कला, काल, तथा वेष-भोग आदि के सेवन से आनन्दस्वरूप 'रति' उत्पन्न होती है । वही (रति) नायक-नायिका के अगो के मधुर-सचालन से एक-दूसरे के हृदय मे परिपुष्ट (प्रकृष्ट) होकर 'शृंगार-रस' कहलाती है ।[१२]

(शृंगारोचित देशादि)

३८ (१) समुद्र-तट (वेला), बगीचा, नदी, पर्वत, पुर, राष्ट्र, समुद्र, कान्तार (जगल), आश्रम तथा महल आदि कवियो द्वारा 'शृगारोचित' देश कहे जाते है ।

३९ कला सङ्गीतविद्यादिः परस्तात्सापि वक्ष्यते ।

४० कालोप्यृतुदिवारात्रिचन्द्रार्कास्तमयादयः ॥

४१ वेषोऽलङ्कारयुक्तिः स्याद्द्वयोर्जातिकुलाश्रया ।

४२ उद्यानयात्रामदिरावारिकेलिरतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च चेष्टा बाह्याः प्रकीर्तिताः ।

४३ आभ्यन्तराश्च वक्ष्यन्ते रक्तारक्तासमुत्थिताः ॥

४४ सरितः पुलिनं वेला कान्ताराराम भूधराः ।
लतागृहाणि चित्राणि शय्याः किसलयाचिताः ॥
दिवा विहारदेशाः स्युर्हर्म्यप्रासादभूमयः ।

४५ मण्टपो भवनं गर्भगृहं वासगृहाणि च ॥
सङ्गीतशाला वारान्तःपुरिका भवनानि च ।
निशाविहारदेशाः स्युः सम्भोगग्राममाश्रिताः ॥

४६ उद्यानयात्रा सलिलक्रीडा पुष्पापचायिका ।
द्यूतादयो दिवाचेष्टा निशासु मदिरादयः ॥

४७ चेष्टाः स्युर्नायकादीनामभिसाराः पृथक्पृथक् ।
यदा विशेष्यते देशः कालतत्तद्गुणादिभिः ॥

---

३९ (२) सगीत-विद्या आदि 'कला' है जिसे आगे कहेगे ।

४० (३) ऋतु, दिन, रात्रि तथा चन्द्र व सूर्य का अस्तोदय आदि 'काल' है ।

४१ (४) जाति तथा कुल दोनो के आश्रित अलकारो का प्रयोग 'वेष' होता है ।

४२ उद्यान-यात्रा, मदिरा-पान, जल-क्रीडा, रतोत्सव, वियोग तथा विवाह—ये बाह्य चेष्टाएँ कही जाती है ।

४३ रक्तारक्त से समुत्थित (उत्पन्न) आभ्यन्तर चेष्टाएँ कहेगे ।

४४ नदी का किनारा, वेला (समुद्र-तट), कान्तार (जगल), आराम (बगीचा), पर्वत, चित्र-विचित्र लतागृह, किसलय (पल्लवो) से रचित शय्या, महल तथा प्रासाद-भूमि—'दिवा-विहार-देश' है ।

४५ मण्डप, भवन, गर्भ-गृह, वासगृह, सगीतशाला, वारान्त पुर तथा भवन—ये सभोग के स्थान के आश्रित 'निशा-विहार-देश' हैं ।

४६ उद्यान-यात्रा, जलक्रीडा, पुष्पावचयन, द्यूत (जूआ) आदि 'दिवा-चेष्टाएँ' है । मदिरापान आदि 'निशा-चेष्टाएँ' है ।

४७ नायक आदि की अभिसार-चेष्टाएँ पृथक्-पृथक् होती है । जब देश (स्थान) काल के उन-उन गुण आदि से विशिष्टता को प्राप्त हो जाता है तो वहाँ

रसोऽभिधीयते तत्र तन्नाम्ना रसकोविदैः ।
गुणद्रव्यक्रियाभेदात्सविशेषस्त्रिधा भवेत् ॥

४८ चन्द्रिका कोकिलालापो हंससारसनिस्वनः ।
भ्रमद्भ्रमरिकागीतं गन्धाः सर्वसुखावहाः ॥
केकारावादयः कालगुणाः कविभिरीरिताः ।

४९ चन्दनानि सुगन्धीनि मृदुला च शिलातली ॥
चम्पकाशोकपुन्नागचूताः कुरबकादयः ।
प्रवालपुष्पभरिता लतिका मल्लिकादयः ॥
भवनादीनि रम्याणि शयनानि मृदूनि च ।
हेमरत्नमयी भूषा पुष्पाणि सुरभीणि च ॥
मृदूनि च दुकूलानि स्वादूनि सलिलानि च ।
इत्यादयो विभाव्यन्ते द्रव्याणीति मनीषिभिः ॥

५० उद्यानयात्रा शक्रार्चा मदिरापानकेलयः ।
रतोत्सवोपहाराश्च व्यापाराश्चाप्यलङ्कृतौ ॥
चेष्टितान्येवमादीनि क्रियेति परिभाष्यते ।

५१ गन्धा सुरभयो वातास्तरवः कुसुमाचिताः ॥
भ्रमराः कोकिला हर्म्यं मृद्वी शय्या सुरासवः ।
इत्यादयो विभावाः स्युर्वसन्ते रागदीपनाः ॥

रस-विज्ञो के द्वारा उसी नाम से 'रस' कहा जाता है। गुण, द्रव्य तथा क्रिया भेद से वह विशेष तीन प्रकार का होता है।

४८ चादनी, कोकिल-ध्वनि, हस तथा सारसो की ध्वनि, घूमती हुई भ्रमरी का सगीत, सर्व सुखावह गन्ध तथा मयूर-ध्वनि आदि कवियो द्वारा 'काल-गुण' कहलाते है।

४९ सुगन्धित-चन्दन, कोमल शिलातली, चम्पक, अशोक, पुन्नाग, आम, कुरबक आदि, पत्र पुष्प से पूर्ण लता-मल्लिका आदि, रमणीय भवन, कोमल शय्या, स्वर्ण-रत्नमयी वेश-भूषा, सुगन्धित पुष्प, कोमल रेशमी वस्त्र, स्वादिष्ट जल इत्यादि विद्वानो द्वारा 'द्रव्य' जाने जाते है।

५० उद्यान-यात्रा, इन्द्र पूजा, मदिरा-पान, केलि, रतोत्सव, उपहार, व्यापार तथा अलकृति मे चेष्टाएँ आदि 'क्रिया' कहलाती है।

५१ गन्ध से सुगन्धित वायु, पुष्पो से पूर्ण वृक्ष, भ्रमर, कोयल, महल, कोमल-शय्या तथा मदिरा आदि विभाव 'वसन्त-ऋतु' मे राग को उद्दीप्त करने वाले हैं।

५२ उद्यानसलिलक्रीडा च्छायाः किसलयास्तरा : ।
एलालवङ्गकर्पूरहिमाम्भश्चन्दनादयः ॥
लतागृहाणि चित्राणि पुराणाश्चैव शीथवः ।
धारागृहं हिमगृहं मृणालमणिकुट्टिमे ॥
फुल्लकेसरकल्हारपाटलेन्दीवरादयः ।
मुक्तागुणवती भूषा वासो गैरिकरूषितम् ॥
इत्यादयः स्युः संसृष्टा ग्रीष्मे रागप्रदीपनाः ।
५३ कदम्बकेतकीलोध्रकदलीकुटजादयः ॥
शिखिनः शाद्वलं शक्रगोपाश्च गिरिनिर्झराः ।
तटाकानि च पूर्णानि वहन्त्यः सरितस्तथा ॥
वारिदा वारिधाराश्च तटितो मेघगर्जितम् ।
माद्यन्मतङ्गजक्रीडा नदद्गोवृषभध्वनिः ॥
पोप्लूयमानहरिणाः श्यामलानि वनानि च ।
शाल्मलीतूलशयनं धूपाः कालागरूत्थिताः ॥
प्रच्छदाच्छादनपटो मञ्जिष्ठारागरूषितः ।
पद्मरागमयी भूषा क्वचिच्च विरलैव सा ॥
इत्यादयः प्रावृषि स्युर्विभावा रागदीपनाः ।
५४ चन्द्रिका मृदुला वाताः पद्मिन्यः समरालिकाः ॥

---

५२ उद्यान, जल-क्रीडा, छाया, पल्लव-शय्या, इलायची, लोग, कपूर, शीतल-जल, चन्दन आदि, चित्र-विचित्र लतागृह, पुराना शीथव, धारागृह, हिमगृह, मृणाल-मणि का फर्श, खिली हुई केसर, कल्हार-समूह, इन्दीवर (नीलकमल) आदि, मोतियो की गुणवती वेश-भूषा तथा गैरिक-पडा हुआ निवास इत्यादि विभाव मिलकर 'ग्रीष्म-ऋतु' मे राग को उद्दीप्त करने वाले है ।

५३ कदम्ब, केतकी, लौध्र, कदली (केला), कुटज आदि, मोर, शाद्वल (नई घासो से भरा स्थान), इद्रगोप (लालकीडा), पर्वत से गिरते हुए झरने, जल से परि-पूर्ण तालाब, बहती हुई नदियाँ, मेघ-जल-धारा, घडघडाती हुई मेघ-गर्जन, मद-मस्त हाथी की क्रीडा, आवाज करते हुए साडो की ध्वनि, उछलते हुए हिरण, श्यामल-वन, शाल्मली (सेमल) तथा तूल (शहतूत) के वृक्षो के नीचे शयन, उठी हुई काला-अगरु-धूप, मञ्जिष्ठा-राग पडे हुए चादर तथा ओडने उडाने के वस्त्र, पद्म-राग-मणि जटित वेषभूषा तथा विरल (तरह-तरह की) भूषा इत्यादि विभाव 'वर्षा ऋतु' मे राग की उद्दीप्त करने वाले है ।

५४ चाँदनी, मृदुल-वायु (कोमल-वायु), मृणालयुक्त कमलिनी, स्वच्छ-जल का किनारा, कमलिनी की शय्या, वेला, नदी-किनारे बगीचा, सूखी मिट्टी वाली

प्रसन्नं वारि पुलिनं नलिनीतलिमानि च ।
वेला सरित्तटारामा भुवश्चाश्यानकर्दमाः ।।
स्फूर्जन्मृगमदामोदो हंससारसनिस्वनः ।
पुण्ड्रेक्षवः क्षरन्मुक्तामणयः पाकपाण्डराः ।।
निष्पन्नानि च सस्यानि पन्थानश्च विकर्दमाः ।
ललिता नातिशीतोष्णा शय्या केलिवसुन्धरा ।।
भूषा मरकताश्लिष्टवैदूर्यमणिमालिनी ।
विमलानि दुकूलानि गन्धा मृगमदादयः ।।
विभावाः शरदि प्रायः संसृष्टा रागदीपनाः ।
५५ गन्धपुष्पाणि वासांसि भूषणं शयनानि च ।।
सङ्कीर्णान्यनुभूयन्ते हेमन्ते शिशिरेऽपि च ।
५६ रसोत्कर्षो विभावस्य प्राधान्यद्वारतो भवेत् ।।
एकस्य वा द्वयोर्वापि बहूनां वा स दृश्यते ।
सदृशैश्च विभावाद्यै रसोत्कर्षः कदाचन ।।
इतरेषाञ्च भावानामेवं भावी रसोदयः ।
५७ वियोगायोगसंभोगैः शृङ्गारो भिद्यते त्रिधा ।।

भूमि, फैलती हुई कस्तूरी की सुगन्ध, हस तथा सारस की ध्वनि, पुण्ड्ईख (लाल-ईख), टपकती हुई मुक्तामणि, श्वेत-पाक, उगती हुई खेती, कीचड रहित मार्ग, न अधिक शीतल न अधिक उष्ण सुन्दर शय्या, केलि वसुन्धरा, मरकत व वैदूर्य मणि से जटित वेश-भूषा, स्वच्छ, रेशमी वस्त्र तथा कस्तूरी आदि की गन्ध इत्यादि विभाव प्राय· मिलकर 'शरद-ऋतु' मे राग को उद्दीप्त करने वाले है ।

५५ सुगन्धित पुष्प, वस्त्र, आभूपण तथा शय्या मिलकर 'हेमन्त' तथा 'शिशिर' ऋतु मे अनुभव के योग्य बताये जाते है ।

(रसोत्कर्ष के कारण)

५६ 'रसोत्कर्प' विभाव की प्रधानता से होता है और वह एक या दो या बहुत विभावो की प्रधानता से देखा जाता है । कभी एक जैसे विभावादि से रसो-त्कर्ष होता है। अन्य भावो का इसी प्रकार रसोदय होगा ।

(शृंगार-रस के भेद)

५७ शृगार-रस वियोग, आयोग तथा सम्भोग भेद से तीन प्रकार का होता है।[१३] युवक-युवती के बीच उत्पन्न राग में परस्पर विभावादि से उत्पन्न असगति

परस्परं विभावाद्यैर्यूनोरुद्भुतरागयोः ।
असङ्गतिरयोगोऽस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि ॥

५८ साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायागुणादिभिः ।
नायिकाया नायकस्य दर्शनं स्यात्परस्परम् ॥

५९ दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्या तु दर्शितम् ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्ते तास्त्वनेकधा ॥

६० वियोगो विप्रकर्षः स्याद्यूनोः सम्भोगमग्नयोः ।
वियोगोऽपि द्विधा मानप्रवासकृतभेदतः ॥

६१ तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपोपहृतयोर्द्वयोः ।
स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कार्योऽन्यासङ्गिनि प्रिये ॥
सोऽपि त्रिधाऽनुमाध्यक्षश्रवणादवगम्यते ।

६२ गोत्रस्खलनभोगाङ्कोत्स्वप्नायितविभावितः ॥

६३ त्रिधाऽनुमानिकोऽध्यक्षः साक्षादिन्द्रियगोचरः ।

'अयोग' कहलाती है। इसमे (अयोग शृगार मे) दोनो की (युवक-युवती की) दस अवस्थाएँ होती है।

५८ साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा, छाया या इन्द्रजाल आदि से, माया से, गुणो आदि से नायक-नायिका का परस्पर दर्शन होता है।

५६ प्राय आचार्य लोग वृत्ति से (अयोग शृगार मे) दश अवस्थाएँ ही बताते है। परन्तु महाकवियो के प्रबन्धो (रचनाओ) मे अनेक अवस्थाएँ देखी जाती है।[१४]

(वियोग)

६० सम्भोग-लीन युवक-युवती का अति दूरवर्ती होना 'वियोग' कहलाता है। वह वियोग मान तथा प्रवास भेद से दो प्रकार का होता है।

(मान-वियोग)

६१ युवक-युवती से एक के या दोनो के क्रुद्ध रहने पर 'प्रणय-मान' कहलाता है।[१५] प्रिय की अन्य अगना (स्त्री) मे आसक्ति होने पर स्त्रियो मे जो क्रोध होता है वह'ईर्ष्या-मान' कहलाता है।[१६] वह ईर्ष्यामान तीन प्रकार के अनुमान, अध्यक्ष (साक्षात् इन्द्रियगोचर) तथा श्रवण से जाना जाता है।

६२ (१) गोत्र-स्खलन, भोग के चिह्न तथा स्वप्न से उठे हुए अर्थात् स्वप्न मे अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बडबड़ाना आदि तीन प्रकार का 'आनुमानिक-ईर्ष्यामान' जाना जाता है।

६३ (२) साक्षात् अन्य स्त्री के प्रति प्रिय की आशक्ति देखने पर 'अध्यक्ष-ईर्ष्या-मान' होता है।

६४ दासीसख्यादिमुखतः श्रुतिः श्रवणमुच्यते ।।
६५ यथोत्तरो गुरुःषड्भिरुपायैस्तदुपाचरेत् ।
साम्ना दानेन भेदेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ।।
६६ तत्र प्रियवचः साम भेदः स्यात्सख्युपग्रहः ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ।।
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षाऽवधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षाद्यैः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ।।
६७ प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वतः ।
सम्भ्रमादपि तत्रैष बुद्धिपूर्वस्त्रिधा मतः ।।
भावी भवन् भूत इति कालत्रितयसङ्गतेः ।
स्वरूपाद्यन्यथाभावकरणं शाप ईरितः ।।
सम्भ्रमः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवः ।
६८ वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत् ।।
मृते त्वन्यत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।

---

६४ (३) दासी, सखी आदि के मुह से सुनने पर 'श्रवण' से 'उत्पन्न-मान' होता है।[१७]

(ईर्ष्यामान के निवारण के षट्-उपाय)

६५ नायिका के इस ईर्ष्या-मान को छै (६) तरह से हटाया जा सकता है—साम, दान, भेद, नीति (अवनति), उपेक्षा तथा रसान्तर (अन्य रसो के द्वारा)।[१८]

६६ प्रिय-बोलना 'साम' कहालता है।[१९] नायिका के प्रति सखियो की निराशा उत्पन्न कराना अर्थात् नायिका की सखियो को तोड लेना 'भेद[२०]' है। किसी बहाने से आभूषण आदि के देने से 'दान' होता है।[२१] पैरो मे गिरना 'नति' है।[२२] साम आदिक चारो उपायो के व्यर्थ (निष्फल) हो जाने पर उपाय छोड-कर बैठे रहना 'उपेक्षा' कहलाती है।[२३] घबराहट, भय तथा हर्ष आदि के कारण कोप दूर हो जाना 'रसान्तर' कहलाता है।[२४]

६७ शापवश, बुद्धिपूर्वक (कार्यवश) तथा सम्भ्रम (भय) वश नायक-नायिका का भिन्न-भिन्न देशो मे स्थित होना 'प्रवास' है। यह 'बुद्धि-पूर्व' (कार्यज) प्रवास तीन प्रकार का होता है—(१) भावी (२) भवन् (३) तथा भूत अर्थात् तीनो काल की सगति से होता है। शाप के कारण जहाँ नायक-नायिका का स्वरूप आदि बदल दिया जाय वह 'शापज' प्रवास कहलाता है। सम्भ्रम (घबराहट) से होने वाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किये गये विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।[२५]

६८ कोई 'विद्वान मरण' को भी 'वियोग-शृगार' का भेद कहते है लेकिन ऐसा नही होता क्योकि एक व्यक्ति के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति रोता है, वह 'शोक' ही होता है।[२६]

६९ साधारणोऽयमुभयोः प्रवासः शापसम्भवः ॥
सम्भ्रमे बुद्धिपूर्वे च कार्श्यश्वासाश्रुनिर्गमाः ।
लम्बालकादिकाः स्त्रीणां वर्ण्यन्ते कविपुङ्गवैः ॥

७० साधारण्याद्विभावादेरत्रायोगवियोगयोः ।
करुणस्यानुरूप्येऽपि रतिस्थाय्यनुवृत्तितः ॥
एतौ श्रृङ्गारभेदौ स्त इति सत्कविनिर्णयः ।
अतः श्रृङ्गारसंज्ञाऽत्र ग्रामान्ते ग्रामशब्दवत् ॥

७१ मरणं यदि सापेक्षं प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया ।
तद्वर्ण्यते वियोगोत्थदुःखसाधारणात्मकम् ॥

७२ कामः स एष सम्भोगः स चतुर्धा विभज्यते ।

७३ यूनोः परस्परस्पर्शविशेषविषयीकृतः ॥
सौख्याभिमानसङ्कल्पफलवान्काम इष्यते ।

७४ स मितः सङ्करश्चेति सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ॥

७५ परस्परस्योपचारैर्यूनोर्यत् साध्वसादिभिः ।
मितं प्रयुज्यते भोगे प्रथमे स मितो भवेत् ॥

---

६९ शाप से उत्पन्न 'प्रवास-मान' युवक-युवती—दोनो के बीच साधारण ही होता है। सम्भ्रम तथा बुद्धिपूर्ण-प्रवास मे स्त्रियो की कृशता, नि श्वास, आँसुओ का निकलना तथा खुले हुए (बिखरे हुए) बाल आदि अनुभाव कविजन वर्णित करते हैं।

७० विभावादि के साधारण्य (साधारणीकरण) से इस अयोग और वियोग मे करुण की अनुरूपता होने पर भी 'रति' स्थायी-भाव के अनुसरण से इन दोनो को श्रृगार का भेद कहा जाता है। ऐसा सत्कवियो का निर्णय है। और जिस प्रकार ग्राम की सीमा ग्राम कहलाती है उसी प्रकार अयोग और वियोग दोनो भी 'श्रृगार' ही कहलाते है।

७१ जीवन की अभिलापा से मरण यदि सापेक्ष होता है तो वियोग से उत्पन्न दु ख साधारण-रूप वर्णित होता है।

(सम्भोग-श्रृगार)

७२ काम 'सम्भोग' होता है, वह चार प्रकार का होता है।

७३ युवक-युवती के बीच परस्पर स्पर्श से किसी विशेष विषय को अधिकृत करके सुख के अभिमान से सकल्प (इच्छा) का फलवान होना 'काम' कहलाता है।

(सम्भोग के भेद)

७४ (१) मित, (२) सकर, (३) सम्पन्न, तथा (४) समृद्धिमान।

७५ (१) युवक-युवती के बीच जो परस्पर के उपचार तथा भय आदि से प्रथम-भोग मे मनोभावो की अभिव्यक्ति सक्षिप्त होती है वह 'मित' सम्भोग होता है।

७६ प्रसादेऽपि व्यलीकादिस्मृतेः कोपानुवर्तनात् ।
सङ्कीर्यते यः सम्भोगस्तस्मात्सङ्कर ईरितः ॥

७७ सम्पन्नकामैरायातैः प्रोषितैरुपभुज्यते ।
सम्पन्नमेव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते ॥

७८ प्रत्युज्जीवनहर्षादेः प्रवृद्धो मृतजीवतोः ।
दीपनातिशयैर्दीप्तः सम्भोगः स्यात्समृद्धिमान् ॥

७९ चेष्टाविशेषाः सम्भोगे चुम्बनालिङ्गनादयः ।
विकाराः स्तम्भरोमाञ्चस्वेदाः स्युः साध्वसादयः ॥

८० वियोगे शिशिराचारचिन्तानिश्वसितादयः ।
विकाराः स्तम्भवैस्वर्यकम्पाश्रुप्रलयादयः ॥

८१ तैस्तैरुपक्रमैर्यूनो रक्तयोश्चेदसङ्गमे ।
दशधा मन्मथावस्था भवेद्द्वादशधाऽथ वा ॥

८२ इच्छोत्कण्ठाभिलाषाश्च चिन्ता स्मृतिगुणस्तुती ।
उद्वेगोऽथ प्रलापः स्यादुन्मादो व्याधिरेव च ॥
जाड्यं मरणमित्यादि द्वे कैश्चिद्वर्जिते बुधैः ।

---

७६ (२) प्रसन्न होने पर भी व्यलीक (त्रुटि) आदि के स्मरण से क्रोध के कारण जो सम्भोग सकीर्ण हो जाता है वह 'सकर' कहलाता है।

७७ (३) काम से सम्पन्न आये हुये प्रवासी के द्वारा खूब सम्पन्नता से उपभोग किया जाता है तो वह 'सम्पन्न' कहा जाता है।

७८ (४) मरे और जीवित के पुनरुज्जीवन एव हर्ष आदि से बढा हुआ और उद्दीपन भाव के अतिशय से उद्दीप्त सम्भोग 'समृद्धिमान' कहलाता है।[२७]

(सम्भोग की चेष्टाएँ)

७९ सम्भोग मे चुम्बन, आलिगन आदि विशेष चेष्टाएँ होती है। स्तम्भ, रोमाच स्वेद तथा साध्वस (भय) आदि विकार होते है।[२८]

(वियोग की चेष्टाएं)

८० वियोग मे शिशिर, आचार-चिन्ता तथा नि श्वास आदि चेष्टाएँ होती है। स्तम्भ, स्वर-भग (वैस्वर्य), कम्प, अश्रु तथा प्रलय आदि विकार होते है।

(काम की दश-बारह-अवस्थाएँ)

८१ अनुरक्त युवक-युवती के बीच उन-उन उपायो से न होने वाले सगम (अयोग-शृगार) मे काम अवस्थाएँ दश या बारह होती हैं।

८२ इच्छा, उत्कण्ठा, अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-स्तुति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता, मरण इत्यादि—ये काम-अवस्थाएँ हैं। इनमे से किन्ही विद्वानो ने दो अवस्थाएँ छोड दी हैं।[२९]

८३ यदक्षं यत्र संसृष्टं तत्रत्यगुणसंपदा ॥
मनसः स्पन्दनैकाग्र्यमिच्छेति परिभाष्यते ।

८४ सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते ॥
तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदुः ।
अन्तस्सम्भोगसङ्कल्पः तत्कथाशाविलोकनम् ॥
अङ्गग्लानिर्मनोरक्तिर्मनोरथविचिन्तनम् ।
अधिजानुकरालम्बिकपोलतलमाननम् ॥
प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्‌गदा च वाक् ।
उत्कण्ठानुभवा भावाः कथ्यन्ते भावकोविदैः ॥

८५ सङ्कल्पेच्छासमुद्‌भूतव्यवसायपुरस्सरः ।
यस्तत्समागमोपायः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥

८६ मुहुरन्तः प्रविशति निर्गच्छति मुहुःपथि ।
करोति मान्मथीं चेष्टां तद्‌दृष्टिपथवर्तिनी ॥
अलङ्करोति चात्मानमास्ते चैकाकिनी क्वचित् ।
अभिलाषभवा भावाः कथ्यन्ते मान्मथा बुधैः ॥

(इच्छा)

८३ रति की गुण सम्पत्ति से आँखो का मिलना और मन के स्पन्दन की एकाग्रता 'इच्छा' कहलाती है ।

(उत्कण्ठा)

८४ जहाँ सभी इन्द्रियो के सुख का आस्वाद माना जाता है । सकल्प सहित उसकी प्राप्ति की इच्छा को 'उत्कण्ठा' कहते है । मन मे सम्भोग का सकल्प करना, नायक की राह देखना (प्रतीक्षा करना), अग-ग्लानि, मन की अनुरक्ति, मनो-रथ का चिन्तन, घुटने मोडकर हाथो पर कपोल रखना, प्रसन्न मुखराग, उष्ण स्वेद, गद्-गद वाणी—ये भावज्ञो द्वारा उत्कण्ठा के अनुभाव कहे जाते है ।

(अभिलाष)

८५ सकल्प तथा इच्छा से उत्पन्न व्यवसाय से पूर्व जो उनके समागम का उपाय है वह 'अभिलाष' कहा जाता है ।

८६ बार-बार अन्दर प्रवेश करना, बार-बार मार्ग मे निकलना, उसकी (नायक की) दृष्टि के अनुसार काम-चेष्टाएँ करना, अपने को अलकृत करना, कही अकेली बैठी रहना आदि अनुभाव हैं । विद्वान लोग इन्हे अभिलाष से उत्पन्न काम-भाव कहते है ।

८७ केनोपायेन तत्प्राप्तिर्ममैव स भवेत्कथम् ।
किं स वक्ष्यति किं वक्ष्ये दूतादि प्रेषयामि किम् ।।
किं तेनेति वितर्कोऽयं हृदि चिन्तेति कथ्यते ।
८८ बध्नाति मेखलादीनि परामृशति पाणिना ।।
स्पृशत्यूरुञ्च नाभिञ्च नीवीं विस्रस्य नह्यति ।
अन्तर्बाष्पोद्‌गमं चक्षुराकेकरकनीनिकम् ।।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चादनालम्बनवीक्षणम् ।
चिन्तासमुत्थिता ह्येते भावाः स्युर्मन्मथाश्रयाः ।।
८९ सुखदुःखादिभावानां देशकालानुषङ्गिणाम् ।
अनुभूयातिवृत्तानां विमर्शो मनसा स्मृतिः ।।
९० ध्यायति श्वसिति द्वेष्टि कार्यमन्यच्च निन्दति ।
न भुङ्क्ते नापि निद्राति न प्रीतिं लभते क्वचित् ।।
एते ह्यनुस्मृतिभवा भावा मन्मथकल्पिताः ।
९१ रूपौदार्यगुणैर्लीलाचेष्टाहसितविभ्रमैः ।।
सौन्दर्यालापमाधुर्यैर्नास्त्यन्यस्तत्समः पुमान् ।
इति यत्रेदृशी वाणी भवेत्सैव गुणस्तुतिः ।।

(चिन्ता)

८७ किस उपाय से उसकी (नायक की) प्राप्ति हो ? वह मेरा ही कैसे हो ? वह क्या कहेगा ? क्या कहे ? क्या दूतादि भेजूं ? उससे क्या प्रयोजन ? आदि हृदय मे उठने वाले जो तर्क-वितर्क है—'चिन्ता' कहलाती है ।

८८ मेखला आदि को बाँधना, हाथ से पकडना, उरु और नाभिका स्पर्श करना, खुली हुई नीवी को बाँधना, अन्दर-अन्दर निकले हुए आँसुओ से युक्त नेत्र, अर्द्ध निमीलित कनीनिका (पुतली), अन्तर्बाह्य (अन्दर-बाहर), आगे पीछे निराश्रित देखना—आदि चिन्ता से उत्पन्न काम-भाव होते है ।

(स्मृति)

८९ देश तथा काल के अनुसार सुख-दु ख आदि भावो का तथा अनुभूय दुराचारो का मन से विचार-विमर्श करना ही 'स्मृति' कहलाती है ।

९० ध्यान करना, श्वास लेना, द्वेष करना अन्य कार्यो की निन्दा करना, अनशन करना, नही सोना, कही प्रेम नही प्राप्त करना—ये स्मृति से उत्पन्न काम-भाव कहलाते है ।

(गुण स्तुति)

९१ रूप, उदारता आदि गुणो से, लीला, चेष्टा, हसित विलास से, सौन्दर्य, मधुर-भाषण आदि से युक्त उसके (नायक के) समान अन्य पुरुष नही है—जहाँ ऐसी वाणी होती है वह 'गुण-स्तुति' कहलाती है ।

९२ गुणान् गणयति स्वैरं वीक्षते भावमन्थरम् ।
रोमाञ्चो गद्गदपदा वाक्स्वेदश्च कपोलयोः ।।
विस्रम्भकथनं दूत्या तत्समागमचिन्तनम् ।
एवङ्गुणस्तुतिभवा भावा मदनसूचनाः ।।

९३ उद्वेगो मनसः कम्पः क्रोधशोकभयादिजः ।
निश्वासोन्निद्रताचिन्ताः स्तम्भो वैवर्ण्यमश्रु च ।।
न शय्यासनयोः प्रीतिर्हृल्लेखो दीनतापि च ।
एवमुद्वेगजा भावाः कन्दर्पपरिकल्पिताः ।।

९४ इह दृष्टमिहाश्लिष्टमिहागतमिह स्थितम् ।
इह निर्वृत्तमत्रैव शयितं चाप्यलङ्कृतम् ।।
एवमादीनि वाक्यानि प्रलाप इति कथ्यते ।

९५ अन्तर्बहिः पुरः पश्चाद्दूरादारात् समीपतः ।।
क्वचित्पश्यति यात्येव क्वचित्क्वाप्यवतिष्ठते ।
आस्ते क्वचित्क्वचिच्छेते क्वचिन्निन्दति नन्दति ।।
इतश्चेतश्च रथ्यायां रौति भ्राम्यति धावति ।
एवं विलापजा भावा मनोभववशानुगाः ।।

---

९२ गुणो का आदर करना, भाव-मन्थर को इच्छानुसार देखना, रोमाच गद्-गद वाणी बोलना, कपोल प्रदेश पर पसीने आना, दूती के द्वारा कहे गये विश्वसनीय कथन, उसके (नायक के) समागम का चिन्तन—इस प्रकार गुण-स्तुति से होने वाले काम-भाव होते है।

(उद्वेग)

९३ क्रोध, शोक तथा भय आदि से उत्पन्न मन का कम्पन 'उद्वेग' होता है। नि श्वास, नीद से जग जाना, चिन्ता, स्तम्भ, वैवर्ण्य, अश्रु, शय्या-आसन मे प्रेम नही होना अर्थात् सोने बैठने मे मन न लगना, हृल्लेख, दीनता—ये उद्वेग से उत्पन्न काम-भाव है।

(प्रलाप)

९४ यहाँ देखा था, यहाँ आलिगन किया था, यहाँ आया था, यहाँ रुका था, यहाँ निवृत्त हुआ था, यहाँ सोया था तथा यहाँ अलकृत किया था आदि इस प्रकार के वाक्य 'प्रलाप' कहे जाते हैं।

९५ नायिका अन्दर-बाहर, आगे-पीछे, दूरी से तथा समीप से कही देखती है, कही जाती है, कही रुक जाती है, कही बैठ जाती है, कही सो जाती है, कही निन्दा करती है, प्रसन्न होती है, इधर से उधर गली मे चिल्लाती है, घूमती है, दौडती है—इस प्रकार विलाप से उत्पन्न ये काम-भाव हैं।

९६ उन्मादो विरहोत्थो यः सोऽर्तास्मिस्तद्ग्रहाग्रहः ।
९७ सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वथा सर्वदा मनः ॥
तद्गतं तत्कथाह्लादि प्रद्वेष्टीष्टानपीतरान् ।
दीर्घं मुहुर्निश्वसिति तिष्ठत्यनिमिषेक्षणम् ॥
विहारकाले रुदति क्रन्दति ध्यायति क्षणम् ।
गायति स्वदते तस्मिन् हसति स्तौति मुह्यति ॥
इत्थमुन्मादजा भावाः कथिता नाट्यकोविदैः ।
९८ कामैर्विलोभनं द्रव्यैः सामदानोपबृंहितैः ॥
प्रेषितैरपि केनापि हेतुना च निराकृतैः ।
अभीष्टसङ्गमाभावाद्व्याधिः समुपजायते ॥
९९ मोहोऽङ्गदाहः सन्तापः शिरश्शूलञ्च वेदना ।
मुमूर्षाजीवितोपेक्षा पतनं यत्र कुत्रचित् ॥
स्रस्ताक्षता निश्वसितं स्तम्भश्च परिदेवितम् ।
एते व्याधिभवा भावाः प्रायः शृङ्गारयोनिजाः ॥
१०० जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा ।

(उन्माद)

९६ अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु को ग्रहण करना (अर्थात् विवेक न रहना) विरह से उत्पन्न 'उन्माद' कहा जाता है ।

९७ सभी अवस्थाओ मे सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा, मन तद्गत उसके कथन की प्रसन्नता मे अपने इष्टजनो से तथा अन्य जनो से भी द्वेष करता है । नायिका बार-बार दीर्घश्वास लेती है, बहुत देर तक देखती रहती है, विहारकाल मे रोती है, चीखती है, क्षणभर ध्यान करती है, गाती है, स्वाद लेती है, उस पर हँसती है, स्तुति करती है, मोहित होती है—इस प्रकार नाट्यविद उन्माद से उत्पन्न भाव कहते है ।

(व्याधि)

९८ काम से, लोभी-द्रव्य से, साम दान से उपबृंहित (बढे हुए) होने से, सन्देश भेजने पर भी किसी कारण से निराकरण करने से, अभीष्ट भेंट के अभाव से 'व्याधि' उत्पन्न होती है ।

९९ मोह, अग-दाह, सताप, शिर-दर्द, वेदना(पीडा), मृत्यु की इच्छा, जीने की उपेक्षा, जहाँ कही गिरना, आँखो की शिथिलता, नि श्वास, स्तम्भ, विलाप करना आदि—ये व्याधि से उत्पन्न काम-भाव है ।

(जड़ता)

१०० सभी कार्यों मे हमेशा अज्ञान (अप्रतिपत्ति) 'जडता' कहलाती है ।

१०१ इष्टानिष्टान्न जानाति सुखदुःखे न वेत्ति च ॥
प्रश्ने न किञ्चित्प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति ।
हाहेति भाषणाकाण्डहुङ्कारः शिथिलाङ्गता ॥
कार्श्यवैवर्ण्यनिश्वासाः स्तम्भः स्पर्शानभिज्ञता ।
एते जाड्यभवा भावा मीनकेतनमाश्रिताः ॥

१०२ आस्ववस्थासु विहितैः प्रतीकारैः समागमः ।
न भवेद्यदि कामाग्निदग्धयोर्मरणं भवेत् ॥

१०३ अमङ्गलं स्यान्मरणमिति यूनोर्न कल्प्यते ।

१०४ समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते ॥
उत्कर्षः पुष्टिसम्पच्चेत्येतेषां क्वापि सम्भवः ।
पात्रादीनां गुणैः पूर्णैरसवृद्धिर्विभाव्यते ॥
रसोत्कर्षो भवेद्दैश्यैर्गुणैः सर्वत्र पुष्कलैः ।
परिपूर्णगुणात्कालाद्रससम्पद्विभाव्यते ॥
देशकालानुकूलाभिश्चेष्टाभिः पुष्टिमश्नुते ।
देशकालगुणाश्चोक्ताश्चेष्टाः काश्चिच्च दर्शिताः ॥
पात्राणि तद्गुणान् सर्वान्कथयामि यथार्थतः ।

---

१०१ नायिका इष्ट तथा अनिष्ट को नही जानती है, सुख-दु ख नही जानती है, प्रश्न करने पर कुछ भी नही बोलती है, न सुनती है, न देखती है, हा ! हा ! कहती है, असमय ही हुकारती है, अगो की शिथिलता, कृशता, विवर्णता (मुँह का फीका पडना) नि श्वास, स्तम्भ तथा स्पर्श की अनभिज्ञता—ये सभी 'जडता' से उत्पन्न काम-भाव है ।

(मरण)

१०२ इन (उपर्यक्त) सभी अवस्थाओ मे उपलब्ध प्रतीकारो से भी समागम नही होता है तो कामाग्नि मे जलकर मरना 'मरण' होता है ।[१०]

१०३ 'मरण' अशुभ होता है, अत युवक-युवती के बीच नही कहा जाता है ।

१०४ समस्त वर्णन का आधार 'शृगार' वृद्धि को प्राप्त होता है । कही इन सभी की (शृगार की) उत्कर्षता, पुष्टि तथा सम्पत्ति सम्भव होती है । पात्र आदि के गुणो से पूर्ण होने से रस की वृद्धि जानी जाती है । सर्वत्र देशगत अनेक गुणो से 'रस' उत्कर्ष को प्राप्त होता है । कालगत सभी गुणो से परिपूर्ण होने से रस-सम्पत्ति विभावित होती है । देश तथा काल के अनुकूल चेष्टाओ से रस पुष्टि को प्राप्त होता है । देश तथा काल के गुण कह दिये तथा कुछ चेष्टाएँ कह दी । अब पात्रो को तथा उनके सभी गुणो को यथार्थत कहता हूँ ।

१०५ नायको नायिका सख्यो विटादिसचिवा अपि ।
दूत्यश्च दूताश्चेत्येतत्पात्रं नाट्यस्य कथ्यते ।
१०६ ज्येष्ठो मध्यः कनिष्ठश्च त्रिधा नायक उच्यते ॥
१०७ उक्तसर्वगुणोपेतो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
द्वित्रैर्वा पञ्चषैर्वापि गुणैर्हीनोऽथ मध्यमः ॥
हीनो गुणैश्च बहुभिरधमः परिकीर्तितः ।
१०८ चतुर्धा धीरललितशान्तोदात्तोद्धताः क्रमात् ॥
चतुर्धाभेदभिन्नस्य तस्य साधारणा गुणाः ।
१०९ सर्वोऽपि वस्तुललितस्तस्यैते ह्याभिगामिकाः ॥
साङ्ग्रामिका गुणाः सर्वे तस्यैतेभ्योऽभिगामिकाः ।
११० साङ्ग्रामिकाः स्युरुभयोरुद्धतोदात्तयोः स्वतः ॥
शान्तस्य ललितस्यापि द्वयोस्ते ह्याभिगामिकाः ।
१११ इति केचिद्वदन्त्यन्ये सर्वे साधारणा इति ॥
गुणान् साङ्ग्रामिकान्वक्ष्ये परस्तादाभिगामिकान् ।

(पात्र)

१०५ नायक, नायिका, सखी, विटादि, मन्त्री (सचिव), दूती, दूत—ये नाट्य के पात्र कहे जाते है ।

(नायक)

१०६ नायक ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकार का होता है ।

१०७ उक्त समस्त गुणो से युक्त 'ज्येष्ठ नायक' कहलाता है । दो, तीन, पाँच या छ गुणों मे हीन 'मध्यम' नायक कहलाता है । बहुत गुणो से हीन 'अधम' नायक कहलाता है ।

(नायक के भेद)

१०८ धीर-ललित, धीर-प्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत—ये नायक के क्रमश चार भेद है । इन चारो भेदो से भिन्न—उसके (नायक के) साधारण गुण होते हैं ।

१०९ सभी वस्तु ललित, उसके वे आभिगामिक गुण होते है, इनके लिए उसके सभी साग्रामिक गुण आभिगामिक होते हैं ।

११० कोई कहते है कि धीरोद्धत तथा धीरोदात्त—दोनो नायको के स्वत 'साग्रामिक' गुण होते है तथा धीर-ललित एव धीर-प्रशान्त—दोनो नायको के वे 'आभिगामिक' गुण होते है ।

१११ अन्य कहते हैं कि सभी साधारण गुण नायक के होते है । यहाँ हम नायक के 'साग्रामिक' गुणो को कहते हैं और 'आभिगामिक' गुणो को आगे कहेगे ।

११२ राजभोगेष्वनिश्चिन्तो यौवनाभोगभूषितः ॥
विलासी भोगरसिको ललितः स्याद्रतिप्रियः ।
११३ कलासक्तः क्षमायुक्तो गम्भीरश्च क्वचित्क्वचित् ॥
धीरशान्तो भवेत्क्वापि ललितादिगुणैर्युतः ।
११४ महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदत्तो दृढव्रतः ।
११५ विकत्थनश्चलश्चण्डो मायाच्छद्मपरायणः ॥
समत्सरश्चाहङ्कारी धीरोद्धत इतीरितः ।
११६ विशेषलक्षणेष्वेषु ये सामान्यगुणाः स्मृताः ॥
ते तन्नायकभेदेषु कल्पनीयाः क्वचित्क्वचित् ।
समानानां गुणानां ये मायाच्छद्मादयो गुणाः ॥
विरोधिनस्तेऽसामान्या गुणाः स्युर्नायकेषु तु ।
११७ सङ्गीतान्तःपुरासक्तो युद्धादिष्वतिनादृतः ॥
अमात्यायत्तसिद्धिः स्यात् शृङ्गारी ललितः स्मृतः ।

(धीरललित-नायक)

११२ 'धीरललित' वह नायक है जो सर्वथा राज-भोगो मे अनिश्चिन्त रहता है, यौवन के आभोग से सुशोभित होता है, जो विलासी, भोगो मे रस लेने वाला तथा रति-प्रिय है।

(धीर-प्रशान्त)

११३ 'धीर-प्रशान्त' वह नायक है जो कलाओ (नृत्यादि) मे आसक्त रहता है, जो क्षमाशील, कभी-कभी गम्भीर तथा कभी ललित आदि गुणो से युक्त होता है।

(धीरोदात्त)

११४ 'धीरोदात्त' नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहकार वाला तथा दृढव्रत होता है।[31]

(धीरोद्धत)

११५ 'धरोद्धत्त' नायक विकत्थन (आत्मश्लाघी), चचल, क्रोधी माया और कपट से युक्त, ईर्ष्या से भरा हुआ तथा अहकारी (घमण्डी) होता है।

११६ इन विशेष लक्षणो मे जो सामान्य गुण कहे गये है, वे (गुण) उन नायको के भेदो मे कही-कही कल्पित कर लेने चाहिए। समान गुणो मे जो माया, कपट आदि विरोधी गुण है, वे तो नायको मे असामान्य गुण है।

(अमात्य-सिद्धि)

११७ जो सगीत तथा अन्त.पुर मे आसक्त हो तथा युद्ध आदि मे जिसका अधिक आदर न हो वह (नायक) 'शृगारी-ललित' कहा जाता है अत. उसके राज्य का भार मत्री पर ही आयत्त रहता है। इस प्रकार अमात्य-आयत्त-सिद्धि होती है।

११८ शमप्रधानः क्लेशादिसहिष्णुश्च विवेचकः ॥
धीरशान्तो भवेदेषा धैर्यं साधारणो गुणः ।

११९ उदात्तो विजिगीषुः स्यादुभयायत्तसिद्धिकः ॥

१२० अकृत्यकारी स्वायत्तसिद्धिर्धीरोद्धतो भवेत् ।

१२१ शृङ्गारापेक्षया तेषां नायिकासु च वृत्तिभिः ॥
अनुकूलादिभेदेन चातुर्विध्यं प्रसिद्ध्यति ।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्ट उदीर्यते ॥
एवं षोडशधा भिन्ना ज्येष्ठादित्रयसंयुताः ।
एतेऽष्टचत्वारिंशत् स्युर्नायकाः कविकल्पिताः ॥
स्वरूपमनुकूलादेः परस्तादभिधास्यते ।

१२२ पताकानायकस्तेषामुपनायक उच्यते ॥
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिन्न्यूनश्च तद्‌गुणैः ।
शृङ्गारापेक्षया तेऽपि कथ्यन्ते बहुधा पुनः ॥
यत्रैव विनियुज्यन्ते वक्ष्यन्ते तत्र तत्र ते ।

---

११८ जिसमे शम प्रधान होता है तथा क्लेश आदि को सहन करने की शक्ति होती है और जो विवेचक होता है वह 'धीर-प्रशान्त' नायक होता है, इनमे धैर्य साधारण गुण होता है ।

११९ 'धीरोदात्त' नायक मे विजय की इच्छा रहती है अत उसके राज्य का भार दोनो (राजा तथा मत्री) पर ही आयत्त रहता है अत उभयायत्त-सिद्धि होती है ।

१२० धीरोद्धत कुकृत्य करने वाला होता है अत उसकी स्वायत्तसिद्धि होती है ।

१२१ शृगार की उपेक्षा से और नायिकाओ के प्रति उन (नायको) के व्यवहारो (वृत्तियो) से अनुकूल आदि भेद से (नायको के) चार भेद प्रसिद्ध होते है । वे चार भेद इस प्रकार हैं—(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) शठ (४) धृष्ट । इस प्रकार—१६ भेद होते हैं, जो ज्येष्ठादि तीन भेदो से युक्त होते है । अत कविजन नायक के ४८ भेद कहते है । अनुकूल आदि नायक का स्वरूप आगे कहेगे ।

१२२ पताका का नायक उन (नायको) का 'उपनायक' कहलाता है । यह आधि-कारिक-वस्तु के नायक का साथी होता है अत. नायक का ही अनुचर (सेवक) तथा भक्त होता है और नायक से गुणो मे कुछ ही न्यून होता है ।[१२] शृगार की अपेक्षा से वे (उपनायक) भी बहुत प्रकार के कहे जाते है । जहाँ आव-श्यकता होगी वहाँ वहाँ उनको कहेगे ।

१२३ एतेषां नर्मसचिवा ऋत्विजः सपुरोहिताः ।।
तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणा व्रतिनोऽपि च ।
अन्ये चाश्रमिणः सर्वे धर्मस्य सचिवाः स्मृताः ।।
१२४ मन्त्रिणः सैन्यपालाश्च कुमाराः सुहृदोऽपि च ।
अर्थस्य सचिवाः प्रोक्तास्तत्तदर्थानुषङ्गिण· ।।
१२५ एते स्युः कामसचिवा· पीठमर्दो विटस्तथा ।
विदूषकश्च सख्यादिपरिवारेण संयुतः ।।
१२६ शृङ्गारापेक्षया तेषां स्वरूपं कथ्यतेऽधुना ।
१२७ एकविद्यो विटस्तस्य कामतन्त्रेषु कौशलम् ।।
१२८ विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकृत्स्याद्विदूषकः ।
१२९ पीठमध्यास्य पुरतः प्रयोक्ता नायकादिषु ।।
स पीठमर्दो विश्वास्यः कुपितस्त्रीप्रसादकः ।
१३० कथिनी लिङ्गिनी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी ।।

---

१२३ इन नायको के नर्म[33] सचिव (सहायक) ऋत्विग्, पुरोहित, तपस्वी, वेदवेत्ता, ब्राह्मण तथा व्रती होते है तथा अन्य सभी आश्रमवासी धर्म-सचिव (सहायक) होते है।

१२४ मन्त्री, सेनापति, कुमार तथा मित्र उस-उस प्रसग के अनुसार अर्थ-सचिव (सहायक) कहे गये है।

१२५ सखी आदि के परिवार से युक्त पीठमर्द, विट तथा विदूपक काम-सचिव (सहायक) होते हैं।

१२६ शृगार की अपेक्षा से अव उन (काम-सचिवो (सहायको)) का स्वरूप कहते है।

(विट)

१२७ नृत्य-गीतादि कलाओ के एक अश को जानने वाला 'विट' कहलाता है। उसकी कामतन्त्रो मे कुशलता होती है अर्थात् कामतन्त्रो मे वह कुशल होता है।

(विदूषक)

१२८ अपने विकृत अग, विकृत-वाणी और विकृत-वेप आदि से हँसाने वाला 'विदूपक' कहा जाता है।

(पीठमर्द)

१२९ नायकादि मे 'पीठमर्द' का प्रयोग पहले हो चुका है। वह पीठमर्द विश्वास-योग्य (पात्र) होता है तथा कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला होता है।

(दूत-दूती का स्वरूप)

१३० कथिनी (बातचीत कराने वाली), लिंगनी (सन्यासिनी), दासी, कुमारी, कारु (धौबिन), शिल्पिकी (तस्वीर बनाने वाली आदि), पाखण्डिनी, पडोसिन,

पाषण्डिनी प्रातिवेश्या सखी रङ्गोपजीविनी ।
धात्रेयिका प्रेक्षणिका दूत्यः स्त्रीपुंसयोर्मिथः ।।

१३१ न दीनं नार्थवन्तं च न चातिचतुरं जडम् ।
दूतं वापि हि दूतीं वा कदाचन च सन्दिशेत् ।।

१३२ देशकालज्ञता भाषामधुरत्वं विदग्धता ।
प्रोत्साहनेषु प्रौढत्वं तथा संवृतमन्त्रता ।।
यथोक्तकथनं चेति गुणा दौत्यं प्रपस्स्यताम् ।

१३३ नवानुरागे मानादिविरहे वा समागमः ।।
नानोपायैर्विधेयः स्याद्दूतीभिः पुरुषाश्रयः ।

१३४ उत्सवे रात्रिसञ्चार उद्याने ज्ञातिवेश्मनि ।।
धात्रीगृहे च सख्याश्च तथा चैव निमन्त्रणे ।
व्याध्यादिव्यपदेशेन शून्यागारनिवेशने ।।
नवानुरागे कर्तव्यो नृणां प्रथमसङ्गमः ।

१३५ स्वाऽन्या साधारणा चेति त्रिविधा नायिका मता ।

१३६ मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रेधा स्वीया विभज्यते ।
मध्या त्वधीरा धीरा च धीराधीरेति भिद्यते ।।

सखी, रगरेजिन, धाई की लडकी तथा प्रेक्षणिका स्त्री-पुरुष को परस्पर दूतियाँ हैं।

१३१ दीन, अर्थवान, अतिचतुर और जड दूत या दूती को सन्देश कभी नही देना चाहिए।

१३२ देश तथा काल को समझना, भाषा मे मधुरता, चतुराई, प्रोत्साहन मे प्रौढता, गुप्तमन्त्रता तथा यथोक्तकथन दूत के गुण कहे जाते है।

१३३ दूतियो द्वारा नवीन अनुराग मे या मानादि से उत्पन्न विरह मे अनेक उपायो से पुरुष के आश्रित समागम कराया जाता है।

१३४ उत्सव मे, रात्रि सचार मे, उद्यान मे, परिचित के गृह मे, धाई के घर मे, सखी के घर मे, नियन्त्रण मे, रोग आदि की सूचना से, शून्य-गृह के प्रवेश मे तथा नवीन अनुराग मे पुरुषो का प्रथम-सगम कराना चाहिए।

(नायिका-भेद)

१३५ नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया (अपनी स्त्री), परकीया (अन्य की स्त्री) तथा साधारण स्त्री अर्थात् वेश्या।

(स्वकीया)

१३६ 'स्वीया' या 'स्वकीया' नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। 'मध्या' के अधीरा, धीरा तथा धीराधीरा तीन भेद होते है। ज्येष्ठा

भिन्ने ज्येष्ठाकनिष्ठेति प्रगल्भा मध्यमापि च ।
तयोरुदात्तललितशान्तिभेदैस्त्रिधा भिदा ।।

१३७ ऊढा च कन्यका चेति द्विधैवान्याङ्गना भवेत् ।

१३८ साधारणस्त्री गणिका साप्येकैव न भिद्यते ।।

१३९ त्रयोदशविधा स्वीया द्विविधान्याङ्गना मता ।
एका वेश्या पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतोऽपिताः ।।
पुनश्च ताः त्रिधा सर्वा उत्तमाधममध्यमाः ।
इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा ।।
सङ्ख्येयं रुद्राचार्यैरुपभोगाय दर्शिता ।

१४० अन्या ह्यवस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः ।।
प्रथमायामवस्थायामन्या स्याद्विरहोन्मनाः ।
ततोऽभिसारिका भूत्वा सङ्केते पश्यति प्रियम् ।।
सङ्केताच्चेत्परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत्पुनः ।
पराधीनतया तस्या नान्याऽवस्था विलोक्यते ।।

तथा कनिष्ठा के भेद से प्रगल्भा तथा मध्यमा के दो-दो भेद होते है। उन दोनो के (मध्यमा तथा प्रगल्भा के) उदात्त, ललित तथा शान्ति भेद से तीन भेद होते हैं।

(अन्या या परकीया)

१३७ 'परकीया' नायिका दो प्रकार की होती है—ऊढा (विवाहिता), कन्यका (अविवाहिता)।

(साधारण-स्त्री या वेश्या)

१३८ साधारण-स्त्री 'वेश्या' होती है, वह एक ही प्रकार की होती है उसके भेद नही होते हैं।

१३९ इस प्रकार 'स्वकीया' नायिका के १३ भेद, 'परकीया' के २ भेद तथा वेश्याका एक प्रकार अर्थात् १६ प्रकार की नायिकाएँ होती है—पुन वे नायिकाएँ आठ अवस्थाओ के भेद से १२८ प्रकार की होती है। पुन वे नायिकाएँ उत्तम, मध्यम तथा अधम के भेद से तीन प्रकार की और होती हैं। इस प्रकार ३८४ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं, नायिकाओ की यह सख्या आचार्य रुद्रट[३४] ने उपभोग के लिए कही है।

१४० एक विद्वान[३५] 'परकीया' नायिका की तीन अवस्थाये कहते है

(१) प्रथम अवस्था मे 'परकीया' नायिका प्रिय के वियोग मे उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है, वह 'विरहोन्मना' होती है।

(२) तदनन्तर वह 'अभिसारिका' होकर सकेत-स्थान पर प्रिय को देखती है।

(३) पुन सकेत-स्थान से परिभ्रष्ट होकर, वह 'विप्रलब्धा' हो जाती है। पराधीनता से उसकी (परकीया की) अन्य अवस्था दिखायी नही देती है।

१४१ स्वीयं सुवृत्तमुल्लङ्घ्य यद्येकेन चिरं वसेत् ।
साऽन्या स्याद्गणिकाऽप्येवं भवोत्साऽन्या भविष्यति ॥

१४२ साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति ।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि ॥
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गारः कदाचन ।
इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः ॥

१४३ रागशृङ्गारनिर्मुक्ता यदि स्युर्गणिकाः स्वतः ।
योषित्सामान्यतो जातः स्मरः किं भक्षितः श्वभिः ॥
किन्तु तासां कलाकेलिकुशलानां मनोरमम् ।
विस्मारितापरस्त्रीकं सुरतं जायते नृणाम् ॥
कुप्यत्पिनाकिनेत्राग्निज्वालाभस्मीकृतः पुरा ।
उज्जीवितः पुनः कामो मन्ये वेश्याविलोकितैः ॥
कलाविलासवैदग्ध्यवसतिर्गणिकाजनः ।
पुंसां सौभाग्यवैदग्ध्यनिकषःकेन निर्मितः ॥

(परकीया तथा वेश्या के भेद)

१४१ जो अपने सच्चरित्र का उल्लघन कर यदि किसी एक के साथ बहुत समय तक वास करे तो वह 'परकीया' होती है, वेश्या भी इसी प्रकार की हो अर्थात् किसी एक के साथ बहुत समय तक वास करे तो वह भी 'परकीया' होगी।

१४२ साधारण-स्त्री 'वेश्या' होती है, वह धन अधिक चाहती है अत न किसी निर्गुण (मूर्ख) व्यक्ति से उसका द्वेष होता है और न गुणी से उसका प्रेम। वहाँ 'शृगाराभास' ही होता है, न कि कभी शृगार। इस प्रकार रुद्रट[36] कवि ने उस द्वेप को उद्देश्य करके कहा है।

१४३ यदि वेश्याएँ स्वत प्रेम (राग) तथा शृगार से निर्मुक्त होती है तो क्या उन स्त्री-सामान्य से उत्पन्न कामदेव कुत्तो के द्वारा खा लिया जाता है अर्थात् नही। किन्तु नृत्य-गीतादि ६४ कलाओ मे तथा केलि मे निपुण उन वेश्याओ का सुन्दर विस्मारित पर-स्त्री वाला सुरत मनुष्यो मे उत्पन्न हो जाता है। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल मे क्रोध करते हुए शकर की नेत्राग्नि की ज्वाला से जो कामदेव भस्म कर दिया गया था, वही काम मानो पुन वेश्याओ की विलोकन से जीवित कर दिया गया है। कला, विलास तथा विदग्धता (चतुराई) का स्थान तथा पुरुषो के सौभाग्य व वैदग्ध्य की कसौटी ये वेश्याएँ किसने बनायीं।

१४४ ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य
निश्शङ्ककेलिर्न पराङ्गनासु ।
वेश्यासु चैतद्द्वितयं प्ररूढं
सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य ।

१४५ समानकुलशीलेन येनोढा वह्निसाक्षिकम् ।
सा स्वीया तस्य सैवान्या भवेद्भर्तृव्यतिक्रमे ।।
व्यतिक्रमे तु कन्यायाः साप्यन्या न कुलाङ्गना ।

१४६ भोगेप्सवः स्युः स्वीयाश्चेदन्या भोगधनेप्सवः ।।
अर्थेप्सवः स्युर्गणिकास्तास्तथा वर्णयेत्कविः ।

१४७ न मुञ्चति प्रियं स्वीया सम्पत्स्वपि विपत्स्वपि ।।
शीलसत्यार्जवोपेता रहःसम्भोगलालसा ।
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।।
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीलामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ।।

---

१४४ स्वकीया नायिकाओ मे नायक की ईर्ष्या नही होती, परकीया नायिकाओ मे नि सकोच केलि-क्रीडा नही होती, और वेश्याओ मे ये दोनो (ईर्ष्या व केलि) विकसित होती है। अहो ! ये वेश्याएँ तो कामदेव की सर्वस्व हैं।

(स्वकीया और परकीया का स्वरूप)

१४५ जो समान कुल तथा शील वाला पुरुष किसी स्त्री के साथ अग्नि को साक्षी कर विवाह करता है उस पुरुष की वह स्त्री 'स्वकीया' होती है।
वही स्त्री पति की अवहेलना करने पर परकीया हो जाती है और कन्या के उल्लघन पर भी वह 'परकीया' होती है न कि कुलागना।

१४६ कविजन ऐसा कहते है कि 'स्वकीया' भोग की इच्छुक होती है, 'परकीया' भोग तथा धन दोनो की इच्छुक होती है तथा 'वेश्या' धन की इच्छुक होती है।

(रतौ मुग्धा)

१४७ 'स्वकीया' नायिका दु ख तथा सुख दोनो मे कभी भी अपने प्रिय को नही छोडती है, वह शील, सत्य तथा लज्जा से युक्त होती है, एकान्त मे सम्भोग की लालसा करती है। मुग्धा-नायिका अवस्था (आयु) तथा कामवासना दोनो मे नई रहती है, रति से वह वाम रहती है अर्थात् रति से कतराती है तथा नायक से मानादि मे क्रोध करने मे कोमल होती है।[१७] पति के साथ रति-चेष्टाओ मे लज्जा से सुन्दर प्रयत्न करती है। प्रिय के अपराध करने पर रोती है, अप्रिय नही बोलती है।

१४८ प्रियं प्रार्थयते मध्या रतिव्यायामकेलिषु ।
स्वयं पुनः प्रवर्तेत सहते सुरतश्रमम् ।।
सोपालम्भं वचो वक्ति सापराधे प्रिये रुषा ।
१४९ प्रगल्भाऽऽरभते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते ।।
अपराधे प्रियं रोषात् भाषते परुषं मुहुः ।
१५० धीरा रतिपरिश्रान्ता मूर्च्छिताऽपि पुनःपुनः ।।
प्रोत्साहयति वा स्वैरं यतते पुरुषायिते ।
उपचारैः सविनयैरथवाऽक्रमभाषितैः ।।
खेदयत्येव नेक्षेत सापराधं प्रियं रुषा ।
१५१ अधीरा दयिताश्लिष्टा रतिचेष्टा न बुद्धयति ।।
मोदते मुह्यति मुहुः स्वेदरोमाञ्चमन्थरम् ।
अपराधे सति मुहुर्हु हुमित्येव भाषते ।।
सखीसमक्षं कुरुते केशाकर्षणताडनम् ।

(रतौ मध्या)

१४८ मध्या-नायिका प्रिय से रति के लिए प्रार्थना करती है, पुन रति-व्यायाम तथा केलि-क्रीडाओ मे वह स्वय प्रवृत्त होती है तथा सुरत क्रीडा से उत्पन्न श्रम (थकान) को सहती है तथा प्रिय के अपराध किये जाने पर क्रोध के साथ नायिका उलाहना के वाक्य बोलती है अर्थात् प्रिय के अन्य स्त्री मे आसक्त होने से अपराध किये जाने से 'मध्या' नायिका प्रिय को क्रोधपूर्वक उलाहना देती है।

(रतौ प्रगल्भा)

१४९ प्रगल्भा' नायिका बाह्य तथा आभ्यन्तर रति मे इच्छा से रमण करती है। प्रिय के अपराध करने पर क्रोध के कारण प्रिय से बार-बार कठोर वचन बोलती है।

(रतौ धीरा)

१५० 'धीरा' नायिका रति-क्रीडा मे थक जाती है तथा बार-बार मूर्छित भी हो जाती है फिर भी उत्साह रखती है अथवा इच्छानुसार प्रयत्न करती है तथा पुरुष जैसा साहस करती है। उपचार, विनय अथवा निरन्तर बोलने से प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को दुख देती है और क्रोध से प्रिय को नही देखती है।

(रतौ अधीरा)

१५१ 'अधीरा' नायिका रति-क्रीडा मे प्रिय से चिपक जाती है, रति चेष्टा को नही समझती है। वह प्रसन्न होती है, बार-बार मूर्च्छित हो जाती है, स्वेद (पसीने आने) तथा रोमाच होने से शिथिल हो जाती है। प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को बार-बार 'हु हु' करके हुकारती है। सखियो के सामने बालो को खीचकर पीटती है।

१५२ धीराधीरा तदुभये व्यनक्ति रतिचेष्टितम् ॥
उदात्तादिभिदाः केचित्सर्वासामिति जानते ।
तेऽपि प्रायेण दृश्यन्ते सर्वासामपि कार्यतः ॥

१५३ कन्योढाचेष्टितं मुग्धाचेष्टितेषु प्रवक्ष्यते ।
वेश्याऽन्यदीयाचेष्टाश्च रक्तारक्तादिलक्षणे ॥
वक्ष्यामस्तत्र तत्रैव विद्वद्भिरवलोक्यताम् ।
अल्पान्तरत्वादन्यासामवस्थानां स्वभावतः ॥
अल्पवैषम्यतोऽवस्थाभिदा न पृथगीरिताः ।

१५४ उदात्ता केशवासोऽङ्गमाल्यभूषासु सादरा ॥
शय्याभरणसंस्कारपरिबर्हसमेधिनी ।
स्थिरस्नेहा कृतज्ञा च ददात्याश्रितवत्सला ॥
मानयन्ती च मानार्हान्नित्योत्सवरताऽपि च ।
बन्धुसम्बाधमुदिता कृतज्ञा प्रियवादिनी ॥
एवमादिगुणैर्युक्तामुदात्तां परिचक्षते ।

(रतौ-धीराधीरा)

१५२ 'धीराधीरा' नायिका (धीर तथा अधीर) दोनो रूप मे रति-चेष्टाओ को व्यक्त करती है। कोई उदात्त आदि के भेद से सभी नायिकाओ को जानते है, वे प्राय कार्य से सभी नायिकाओ का वर्णन करते है।

१५३ कन्या तथा ऊढा की चेष्टाएँ 'मुग्धा' नायिका की चेष्टाओ मे कहेगे। वेश्या तथा परकीया की चेष्टाएँ रक्तारक्त आदि के लक्षण मे कहेगे अत विद्वान वही देखे। अन्य अवस्थाएँ थोडी है अत स्वाभाविक है विषमता भी थोडी है अत उन अवस्थाओ के भेद अलग नही कहे गये है।

(उदात्ता नायिका)

१५४ उदात्ता नायिका केश, वास, अगराग, माला तथा आभूषण आदि का आदर करती है। शय्या, आभरण (वस्त्र), सस्कार (सजावट की सामग्री चन्दनादि), परिबर्ह (अनुचर वर्ग) को बढाने वाली होती है। स्थिर प्रेम वाली तथा कृतज्ञ होती है। आश्रित जनो पर वत्सल-भाव रखती है। मान वाली होती है। सम्मान के योग्य होने से नित्य उत्सवो मे रत रहती है। बन्धु-बान्धवो की बाधा से भी प्रसन्न, कृतज्ञ तथा प्रिय बोलने वाली होती है आदि इस प्रकार के गुणो से युक्त 'उदात्ता' नायिका कहलाती है।

१५५ सौन्दर्यैश्वर्यसौभाग्यविद्याभोगैरहङ्कृता ॥
विद्याभिजनसम्पन्नान्बन्धूनप्यवमन्यते ।
गर्वाभिमानभरिता मायाच्छद्मपरायणा ॥
आत्मकुक्षिम्भरा घोरा सोद्धता परिकीर्तिता ।

१५६ सुखिनी नित्यसन्तुष्टा सत्संमानावमानयोः ॥
अनसूयुरहंमानहीना विगतमत्सरा ।
उपकारपरा नित्यमपकारपरेष्वपि ॥
उपाचरति बन्धून् या सा शान्तेति च कथ्यते ।

१५७ रूपयौवनसम्पन्ना सखीकेलिकृतोद्यमा ॥
वासोऽङ्गरागमाल्यर्तुवेलाशैलसरित्प्रिया ।
संभोगरसिका हेलाभावहावसमेधिता ॥
कलाशिल्पविशालाढ्या ललिता परिकीर्तिता ।

१५८ खण्डिता विप्रलब्धा च तथा वासकसज्जिका ॥
स्वाधीनभर्तृका चैव कलहान्तरितापि च ।

(उद्धता)

१५५ जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या तथा भोगो से अहकार करती है । विद्या, कुलीन तथा धनादि से सम्पन्न बन्धुजनो का अपमान करती है । गर्व तथा अभिमान से भरी हुई होती है । माया (छल), कपट से युक्त होती है । अपने ही पेट को भरने वाली होती है अर्थात् घोर स्वार्थी होती है वह 'उद्धता' कहलाती है ।

(शान्ता)

१५६ जो सुखी, नित्य-सन्तुष्ट रहने वाली तथा मान-अपमान मे एकसी रहने वाली होती है । असूया से रहित तथा अहमान (अहकार) हीन होती है । मात्सर्य से रहित होती है । दूसरो के द्वारा अपकार किये जाने पर भी दूसरो का नित्य उपकार करती है, और जो बन्धुजनो की सेवा करती है वह 'शान्ता' नायिका कहलाती है ।

(ललिता)

१५७ जो रूप तथा यौवन से सम्पन्न होती है तथा जो सखियो के साथ केलि-क्रीडा करने के लिए तत्पर रहती है । वास, अगराग, माला, ऋतु, बेला (समुद्र-तट), पर्वत तथा नदी जिसको प्रिय होती हैं । जो सभोग मे रस लेने वाली होती है । हेला, भाव तथा हाव से बढी हुई होती है । जो कला (नृत्य, गीतादि) तथा शिल्प-विद्या मे बढी हुई होती है वह 'ललिता' नायिका कहलाती है ।

(नायिकाश्रिता अष्टावस्था)

१५८ खण्डिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जिका, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, विर-

विरहोत्कण्ठिता चैव तथा प्रोषितभर्तृका ॥
तथाऽभिसारिकेत्यष्टाववस्था नायिकाश्रिताः ।
१५९ अतीत्य समयं यस्या व्यासङ्गादन्यतः पतिः ॥
भोगाङ्कलक्षितः प्रातरेति चेत्सा हि खण्डिता ।
बिभेति चिन्तयति च तूष्णी ध्यायति ताम्यति ॥
खिद्यति भ्राम्यति मुहुर्दीर्घ श्वसिति रोदिति ।
मुहुर्विलपतीत्येते विकाराः खण्डितागताः ॥
प्रागुक्ता एव भावाः स्युस्सापराधप्रियागमे ।
१६० समयं चापि सङ्केतं दत्त्वा प्रेष्य च दूतिकाम् ॥
अनागतश्चेद्व्यासङ्गाद्विप्रलब्धा तु सा स्मृता ।
चिन्तानिश्वासखेदाश्च हृत्तापो मूर्च्छनं मुहुः ॥
प्रलापो जागरः कार्श्यं विप्रलब्धासु विक्रियाः ।
१६१ भोगोपकरणैः सर्वः सज्जिते वासवेश्मनि ॥
आस्तीर्य भोगशयनं शयनं केलिनिद्रयोः ।
प्रतीक्षते या पर्यङ्के प्रियागममलङ्कृता ॥

होत्कण्ठिता, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका—ये आठ नायिका के आश्रित अवस्थाएँ हैं अर्थात् इन्ही अवस्था-भेद से नायिकाएँ आठ तरह की होती है।

(खण्डिता नायिका)

१५६ जिसका पति किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण समय (रात्रि) को बिताकर, भोग के चिह्नों से अकित सुवह (घर) आता है, वह 'खण्डिता' नायिका कहलाती हैं। वह नायिका डरती है, चिन्ता करती है, चुप रहती है, ध्यान करती है, चिन्तित होती है, खेद करती है, भ्रमण करती है, बार-बार दीर्घ श्वास लेती है, रोती है, बार-बार विलाप करती है—ये सभी खण्डिता नायिकागत विकार है। प्रिय के अपराध करने पर नायिका के जो भाव होते है वह पहले ही कह दिये गये है।[१८]

(विप्रलब्धा)

१६० जिसका प्रिय समय और सकेत देकर तथा दूती को भेजकर किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण दत्त सकेत तथा समय पर नही आता है वह 'विप्रलब्धा' कहलाती है। चिन्ता, नि.श्वास, खेद, हृदय मे सन्ताप, बार-बार मूर्च्छा आना, प्रलाप, जागरण, कृशता आदि 'विप्रलब्धा' के विकार होते हैं।[१९]

(वासकसज्जा)

१६१ भोगो के सभी उपकरणो से सजाये हुए सुगधित महल मे भोग-शय्या, केलि तथा निद्रा की शय्या बिछाकर जो स्वय अपने को सजाकर पलग पर प्रिय के

सेयं वासकसज्जेति कथिता कविपुङ्गवैः ।
सखीविनोदः सम्भोगमनोरथविचिन्तनम् ॥
हृल्लेखः श्वसितं दूतीप्रत्यागमनचिन्तनम् ।
इति वासकसज्जाया विक्रियाः कथिता बुधैः ॥

१६२ यस्या रतिरसास्वादमुदितो दयितः सदा ।
सदैवास्ते तया साकमेषा स्वाधीनभर्तृका ॥

१६३ उद्यानसलिलक्रीडाकुसुमापचयक्रिया ।
आपानकेलिः शक्रार्चा वसन्तमदनोत्सवाः ॥
स्वाधीनभर्तृकायाः स्युर्विलासाश्चैवमादयः ।

१६४ कृतापराधं प्रेयांसं प्रसाधनपरं मुहुः ॥
सखीसमक्षं प्रणतमीर्ष्याक्रोधादपास्य या ।
पश्चात्तापेन तपति कलहान्तरिता तु सा ॥
हृद्दाहः सम्भ्रमो मोहः सञ्ज्ञा निश्वसितं ज्वरः ।
मुहुर्मुहुर्विलापोऽपि द्वेषः सर्वत्र वस्तुषु ।
कलहान्तरितायाः स्युरेवमाद्याश्च विक्रियाः ।

आगमन की प्रतीक्षा करती है उसे कविजन 'वासकसज्जा' नायिका कहते हैं। सखियो के साथ विनोद तथा सम्भोगरूप मनोरथ का चिन्तन, हृल्लेख, श्वाँस, दूती के लौटने की चिन्ता—ये विद्वानो द्वारा 'वासकसज्जा' नायिका के विकार कहे जाते है।[४०]

(स्वाधीनभर्तृका)

१६२ जिस नायिका का प्रिय सदा रति के रसास्वाद से प्रसन्न रहता है तथा वह सदैव उस नायिका के साथ रहता है वह 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका कहलाती है।

१६३ उद्यान-क्रीडा, जल-क्रीडा, पुष्पावचयन, आपान-केलि, इन्द्रपूजा, वसन्तोत्सव तथा मदनोत्सव आदि इस प्रकार के विलास 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका के होते हैं।[४१]

(कलहान्तरिता)

१६४ जो ईर्ष्या तथा क्रोध के कारण पहले तो सखियो के सामने प्रणाम करते हुए, बार-बार शृगार मे तत्पर अपराधी प्रियतम का तिरस्कार करती है और फिर अपने व्यवहार के विषय मे पश्चाताप करती है वह 'कलहान्तरिता' नायिका कहलाती है। हृदय मे जलन, सम्भ्रम (घबराहट), मोह (मूर्च्छा), सज्ञा (चेतना), नि.श्वास, ज्वर, बार-बार विलाप तथा सर्वत्र वस्तुओ के प्रति द्वेष आदि—इस प्रकार के विकार 'कलहान्तरिता' नायिका के है।[४२]

१६५ उचिते वा स्वयं दत्ते समये प्रोषितः पतिः ॥
नैति व्यासङ्गतो यस्याः सा तु प्रोषितभर्तृका ।
मालिन्यं जागरः कार्श्यं निमित्तादिपरीक्षणम् ॥
अङ्गसादश्च चिन्ता च जाड्यं शय्यारतिस्सदा ।
एवं प्रोषितनाथाया विक्रियाः कथिता बुधैः ॥

१६६ उचितेऽहनि सम्प्राप्ते नैति केनापि हेतुना ।
यस्याः पतिः सा विदग्धैर्विरहोत्कण्ठिता स्मृता ॥
विषयस्यापरिच्छित्तिरङ्गसादश्च वेपथुः ।
अनुभूतस्मृतिद्वेषो हृत्तापो बाष्पनिर्गमः ॥
दूतीसख्यादिविस्रम्भः स्वीयावस्थाप्रदर्शनम् ।
विरहोत्कण्ठितायाः स्युरेवं भावा विकारजाः ॥

१६७ रूपयौवनसम्पन्ना कुलभोगधनाधिका ।
वासोऽङ्गरागमाल्यर्तुवन्दनेन्दूदयादिभिः ॥
उद्दीप्यमानपञ्चेषुपञ्चबाणव्रणार्दिता ।
याऽभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका ॥

(प्रोषितभर्तृका)

१६५ जिस नायिका का दूर देश मे गया हुआ पति स्वय उचित समय देकर किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण स्वयं दिये हुए समय पर या उचित समय पर नही आता है वह 'प्रोषित-भर्तृका नायिका' कहलाती है। मलिनता, जागरण, कृशता, निमित्त (शकुन आदि) की परीक्षा, अगतनुता, चिन्ता, जडता तथा सदा शय्या पर पडे रहना आदि इस प्रकार के—ये विकार विद्वानो द्वारा प्रोषितभर्तृका' नायिका के कहे जाते हैं।[४३]

(विरहोत्कण्ठिता)

१६६ जिसका पति किसी भी कारण से उचित दिन आ जाने पर भी नही आता है तो विद्वान उसे 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका कहते है। विषय की अपरिमितता, अगतनुता, वेपथु (कम्पन), अनुभूत स्मृति के प्रति द्वेष, हृदय मे सताप, आँसू निकलना, दूती तथा सखी आदि का विश्वास तथा अपनी अवस्था दिखाना आदि इस प्रकार के विकारो से उत्पन्न भाव 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका के हैं।[४४]

(अभिसारिका)

१६७ रूप तथा यौवन से सम्पन्न, कुलीन, भोग तथा धन से युक्त, तथा वास, अगराग, माला, ऋतु, वन्दना, चन्द्रोदय आदि से उद्दीप्त, और कामदेव के पाँचो बाणो से घायल, जो नायिका किसी सकेत स्थान पर नायक को बुलाये वह 'अभिसारिका' नायिका कहलाती है।[४५]

१६८ विलीना स्वेषु गात्रेषु निश्शब्दपदसञ्चरा ।
पश्चान्निर्वातितपदा शङ्कमाना पदे पदे ॥
प्रभूतवेपथुमती स्वेदोदस्नपिताङ्गका ।
शार्दूलदर्शनत्रस्तहरिणीशाबवीक्षणा ॥
ज्योत्स्नीतमस्विनीयानयोग्यवेषविभूषिता ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागैः पट्टोत्तरीयकैः ॥
अवकुण्ठितसर्वाङ्गी शनैर्याति पराङ्गना ।

१६९ आविस्स्मरस्मितमुखी मदारुणविलोचना ॥
स्नातानुलिप्तसर्वाङ्गी नानाभरणभूषिता ।
हर्षोदञ्चितरोमाञ्चव्याजाङ्कुरितमन्मथा ॥
वृत्ता परिजनैः स्फीतभोगोपकरणोज्ज्वलैः ।
नितम्बालम्बिरशनास्वनोद्भूतमनोभवा ॥
चरणाम्भोरुहरणन्मणिमञ्जीरमन्थरा ।
एवं प्रीताऽभिसरति वेश्या वैशिकनायकम् ॥

१७० विस्रस्तबाहुविक्षेपस्रंसद्धम्मिल्लमालिका ।

(परागना—अभिसरण प्रकार)

१६८ जव परागना (दूसरे की स्त्री) नायिका अभिसरण करती है तो वह अपना शरीर कपडो से ढँक लेती है, चलने पर पैरो की आवाज नही होने देती अर्थात् दबे पैरो से चलती है। कदम-कदम पर शका करती हुई पीछे की ओर लौटती है, बेहद कॉपती है, पसीने से नहा जाती है अर्थात् पसीने से समस्त अग तरोवतर हो जाते है। सिह के दर्शन से डरे हुए मृगशावक की दृष्टि के समान दृष्टि वाली हो जाती है। चाँदनी तथा अन्धकार मे जाने योग्य वस्त्रों को धारण करती है। नीली, कुसुम्भ तथा मजिष्ठा राग के अनुसार उत्तरीय (दुपट्टे) से अवकुण्ठित (सकुचित या ढके हुए) अगवाली वह नायिका धीरे-धीरे चलती है।

(वेश्याभिसरण प्रकार)

१६९ आनन्द से मुस्कराते हुए मुख वाली, नशे के कारण लाल नेत्रो वाली, स्नान के कारण अनुलिप्त (रजित) अगो वाली, अनेक आभूषणो को धारण करती हुई, हर्ष से उठे हुए रोमांच के बहाने काम को अकुरित करती हुई, अनेक भोग के उपकरणो से उज्ज्वल सेवको से घिरी हुई, नितम्बो पर लटकी हुई कर्धनी के शब्द से काम को प्रकट करती हुई, चरण कमलो से पहने हुए मणि-नूपरो को धीरे-धीरे झनझनाती हुई—'वेश्या' नायिका वेशिक-नायक के पास प्रेमपूर्वक अभिसरण करती है।

(प्रेष्याभिसारिका अभिसरण प्रकार)

१७० बाहु विक्षेप को शिथिल करती हुई, धम्मिल पुष्प की माला को धारण करती हुई, लडखडाती हुई गति से चलती हुई, रेशली-अचल को हिलाती हुई,

व्याविद्धगतिसञ्चारश्लथमानांशुकाञ्चला ॥
प्रस्फुरद्भ्रूविलासश्रीःविभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
अविरामादराभ्यासमदस्खलितजल्पिता ॥
प्रेष्याभियाति चेटीभिः प्रियमत्यन्तगर्विता ।

१७१ सुप्ते पराङ्गना तस्मिन् पार्श्वे तिष्ठति निश्चला ॥
अलङ्करोति निभृतं शीतैर्माल्यानुलेपनैः ।
प्रबोधयति भावज्ञा भावांस्तस्य प्रतीक्षते ॥

१७२ वेश्याऽतिमृदुभिः स्पर्शैः तत्केशोल्लेखनादिभिः ।
प्रबोधयति तद्बोधे प्रणयात्कुप्यति क्षणम् ॥

१७३ प्रेष्याक्ष्युन्मीलनैर्वस्त्रव्यजनैः पादमर्दनैः ।
प्रबोध्य निर्भर्त्सयति नासाभङ्गपुरस्सरम् ॥

१७४ चेष्टितान्येवमादीनि भवन्त्यासां पृथक्पृथक् ।

१७५ स्नेहोत्सिक्तैःकुलीनैश्च गुणिभिः काम्यते च या ॥
गृह्णाति कारणाद्रोषमनुनीता प्रसीदति ।

भ्रू-विलास की शोभा को दिखाती हुई, विलास से विकसित नेत्रो वाली, बिना विश्राम के आदर का अभ्यास करने वाली, नशे मे अटपटी बातें करती हुई, अत्यन्त गर्विता प्रेष्या (दासी) चेटीओ के साथ प्रिय के पास अभिसरण करती है।

(परागना-सुप्तनायक-प्रबोधनक्रम)

१७१ नायक के सो जाने पर निश्चला परागना नायक के पास खडी हो जाती है, और चुपचाप शीतल माला तथा लेप से अलकृत करती है, फिर वह भावज्ञा नायक को जगाती है, उसके भावो की प्रतीक्षा करती है।

१७२ वेश्या अत्यन्त कोमल स्पर्श तथा नायक के केशो मे हाथ फेरकर आदि उपायो से सोते हुए नायक को जगाती है, फिर उसके जग जाने पर प्रणय के कारण क्षण-भर के लिए क्रोध करती है।

१७३ प्रेष्या (दासी) नेत्रोन्मीलन, वस्त्र-व्यजन (अर्थात् कपडे से हवा करने) तथा पाद-मर्दन (अर्थात् पैरो को दबाने) से सोते हुए नायक को जगाकर उसके सामने नाक सिकोड कर (तोडकर) उसकी भर्त्सना करती है अर्थात् नायक झिड़कती है।

१७४ इस प्रकार इन सभी नायिकाओ की अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं।[४६]

(उत्तम नायिका के गुण)

१७५ स्नेह-सिंचन करने वाली, कुलीन तथा गुणी होने से जिस नायिका को नायक चाहता है, ग्रहण करता है, जो प्रिय के अपराध करने के कारण रोष करती है, क्रोध को शान्त करके प्रसन्न होती है, पति के अप्रिय करने पर भी जो

कुर्वतोऽप्यप्रियं भर्तुः प्रियमेव करोति च ॥
ईर्ष्यावत्यपराधेऽपि तूष्णीं वा सोत्तमा भवेत् ।
१७६ स्वयं कामयते पुंसः पुरुषैर्या च काम्यते ॥
अपराद्धाऽपराधे स्यादनृतेऽनृतभाषिणी ।
स्निह्यन्ती स्निह्यति परमुपकर्त्र्युपकर्तरि ॥
एवमादिगुणैर्युक्ता मध्यमा सा स्मृता बुधैः ।
१७७ कुप्यत्यकारणे कोपं न नियच्छति याचिता ॥
अरूपं रूपवन्तं वा गुणिनं निर्गुणं च वा ।
जीर्णं वापि युवानं वा या वा कामयते मुहुः ॥
रोषेर्ष्याकलहाक्रान्ता साधमा कथ्यते बुधैः ।
१७८ सर्वासामेव नारीणामेते साधारणा गुणाः ॥
स्वीयासु निभृतास्ते स्युरन्यदीयासु मध्यमाः ।
साधारणासु प्रथिता बुधैरूह्या यथारसम् ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
शृङ्गारालम्बननायकनायिकादिस्वरूप-
निर्णयो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥

पति का प्रिय ही करती है। ईर्ष्या करने वाली जो नायिका प्रिय के अपराध करने पर भी चुप रहती है वह 'उत्तमा' नायिका होती है।

(मध्यमा)

१७६ जो पुरुष को स्वय चाहती है और पुरुष जिसको चाहता है, प्रिय के अपराध करने पर अपराध करती है, प्रिय के असत्य बोलने पर जो असत्य बोलती है, प्रेम किये जाने पर प्रेम करती है, उपकार किये जाने पर उपकार करती है आदि गुणो से युक्त ही विद्वानो द्वारा 'मध्यमा' नायिका कहलाती है।

(अधमा)

१७७ जो अकारण ही क्रोध करती है, प्रियतम के प्रार्थना करने पर भी क्रोध को शान्त नही करती है, जो रूपवान या कुरूप, गुणी या निर्गुणी (मूर्ख), युवक या वृद्ध किसी को भी बार-बार चाहती है तथा रोष, ईर्ष्या तथा कलह करने वाली नायिका विद्वानो द्वारा 'अधम' कहलाती है।

१७८ सभी स्त्रियो के ये साधारण गुण है। 'स्वकीयाओ' मे वे गुप्त रहते है, परकीयाओ में मध्यम स्थिति मे रहते हैं तथा साधारण स्त्रियो मे प्रसिद्ध ही है। विद्वानो को रस के अनुसार (यथारस) समझ लेने चाहिए।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे शृगारालम्बननायक-
नायिकादिस्वरूपनिर्णय नामक चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

अथ पंचमोऽधिकारः

१ उक्ताश्च नायकाः सर्वे नायिकाश्च पृथक्पृथक् ।
अवस्था नायिकादीनां सहायाश्च ततस्ततः ॥
इदानी कथ्यतेऽस्माभिः सर्वासामेव योषिताम् ।
यौवनं तस्य भेदाश्च तदवस्था विचेष्टितम् ॥
नायकावान्तरभिदाः शृङ्गारैकरसाश्रयाः ।
नायिकावान्तरभिदास्तत्तत्सत्त्वगुणैर्युताः ॥
तासां विरक्ति रक्तिञ्च गम्यागम्येषु भावतः ।
अन्येऽपि ये प्रवक्ष्यन्ते तत्तत्कार्योपयोगिनः ॥
तत्र तत्रैव विज्ञेयास्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।
२ स्त्रीणां प्रायेण सर्वासां यौवनं च चतुर्विधम् ॥
प्रतियौवनमेतासां भवेद्भिन्नं विचेष्टितम् ।
३ आरूढरागं नयनमसमग्रारुणोऽधरः ॥
स्मरस्मेरं च वदनं गण्डयोर्गर्वजं रजः ।

---

१ सभी नायक, नायिकाएँ, नायिका आदि की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ तथा सहायक कह दिये। अब हम सभी स्त्रियो का यौवन उसके भेद, उसकी अवस्थाएँ, चेष्टाएँ, एक शृगार-रस के आश्रित नायक के अवान्तर (अन्य) भेद, उन-उन सत्त्वगुणो से युक्त नायिका के अवान्तर (अन्य) भेद, गम्यागम्य पुरुषो के प्रति उन नायिकाओं की स्वभावत विरक्ति तथा रक्ति कहते है और उस कार्य मे उपयोगी अन्य जो भी कहेगे, वह सब उस-उस प्रसग के अनुसार विद्वानो को वहाँ-वहाँ जान लेना चाहिए।

(यौवन)

२ प्राय सभी स्त्रियो का यौवन चार प्रकार का होता हे, इनके प्रत्येक यौवन की भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ होती हैं।

(प्रथम यौवन)

३ स्त्रियो के प्रथम यौवन मे राग से चढे हुए लाल-लाल नेत्र, कुछ-कुछ लाल

अङ्गमुद्भिन्नलावण्यमाविर्वदनसौरभम् ।।
उद्भेदः स्तनयोः किञ्चिदविभक्ताङ्गसन्धिता ।
आभिरूप्यमकाठिन्यमङ्गानामतिमार्दवम् ।।
एवमादिगुणावस्था प्रथमे यौवने भवेत् ।
रतिक्लेशं न सहते मृदुस्पर्शाभिलाषिणी ।।
कृतादराऽङ्गसंस्कारे सखीकेलिषु लालसा ।
न हर्षश्च न शोकश्च सपत्नीदर्शनादिषु ।
सङ्गमे वल्लभस्यापि न विरज्यति रज्यति ।
यौवने प्रथमे स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ।।

४ पीनौ पयोधरौ गात्रं पूर्णावयवमन्थरम् ।
आयतं जघनं मध्यं कृशं श्रेणी समुन्नता ।।
रोमराजिः स्फुटा निम्ना नाभिर्व्यक्तं बलित्रयम् ।
ऊरू करिकराकारौ रक्तिमा पाणिपादयोः ।।
स्निग्धत्वमङ्गकेशेषु नयने दन्तपङ्क्तिषु ।
एवमादिगुणावस्था द्वितीये यौवने भवेत् ।।
अपराधं न सहते नानुनीता प्रसीदति ।
ईर्ष्यति प्रणयक्रुद्धा प्रतिपक्षाभ्यसूयिनी ।।

ओष्ठ, काम से प्रसन्न मुख, कपोल-प्रदेश पर गर्व से उत्पन्न रज, अगो मे उत्पन्न लावण्य, प्रकट मुख-सौरभ, स्तनो का किंचित् आविर्भाव, गुथी हुई अग सन्धियाँ, रूप के अनुकूल अकठोरता तथा अगो की अति-मृदुता आदि गुणो की अवस्था होती है तथा इस प्रथम यौवन मे नायिका रति से उत्पन्न कष्ट को सहन नही कर पाती है, कोमल स्पर्श की अभिलाषा करती है, अगो पर आदर से सस्कारो (चन्दनादि) को धारण करती है, सखियो के साथ केलि करने की लालसा रखती है, सपत्नी के दर्शन आदि से न हर्ष करती है और न शोक करती है। पति के समागम के समय विरक्त नही होती है बल्कि अनुरक्त होती है आदि स्त्रियो की चेष्टाएँ होती हैं।

(द्वितीय यौवन)

४ स्त्रियो के द्वितीय यौवन मे पीन पयोधर, शिथिल अवयवो से पूर्ण शरीर, विशाल जघन-स्थल, पतला कटि-भाग, उन्नत श्रोणि (नितम्ब), स्पष्ट रोमावलि, गहरी नाभि, व्यक्त त्रिबलि, हाथी की सूढ के आकार वाली जघाएँ, हाथ-पैरो मे लालिमा तथा अग, केश, नेत्र तथा दन्त-पक्तियो मे स्निग्धता आदि गुणो की अवस्था होती है। तथा इस द्वितीय यौवन मे प्राय नायिका प्रिय के अपराध

साभिप्राया: सखी: स्निह्यत्याप्तान् क्रुध्यति बान्धवान् ।
गृह्णाति मानं सुदृढमिच्छत्यनुनयानपि ।।
रतिकेलिष्वनिभृता गर्विता चेष्टते रहः ।
द्वितीये यौवने प्राय: स्त्रीणामेतद्विचेष्टितम् ।।

५ अधरे रागमासृण्यमस्निग्धत्वं च चक्षुषि ।
छायावैगुण्यमङ्गानां खरस्पर्शित्वमेव च ।।
श्लथावयवता चापि कान्तिम्लानि. कपोलयो: ।
एवमादिगुणावस्था तृतीये यौवने भवेत् ।।
कामतन्त्रेषु वैदग्ध्यं कान्ताभीष्टानुकूलता ।
अनादरोऽपराधेषु प्रतिपक्षेष्वमत्सरः ।।
कान्तस्य चापरित्यागस्तदाकर्षणकौशलम् ।
तृतीये यौवने स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ।।

६ श्रोण्योश्च स्तनयोरूर्वो: जघनेऽधरगण्डयो: ।
निर्मांसता जर्जरता विलम्बितकपोलता ।।
एवमादिगुणावस्था चतुर्थे यौवने भवेत् ।

को सहन नही करती है, मनाये जाने पर प्रसन्न नही होती है, ईर्ष्या करती है, प्रणय के कारण क्रोध करती है, प्रतिपक्षी के प्रति असूया करती है, अभिप्राय से सखियो से प्रेम करती है, प्राप्त वान्धवो पर क्रोध करती है। मान-ग्रहण करती है, प्रार्थना करने वालो को अच्छी तरह से चाहती है, रति-केलि मे अविनीत होती है, गर्वित होती है, एकान्त मे चेष्टा करती है आदि स्त्रियो की चेष्टाएँ है ।

(तृतीय यौवन)

५ स्त्रियो के तृतीय यौवन मे अधरो पर राग व कोमलता, आँखो मे अस्निग्धता, छाया के समान अगो की विगुणता (न्यूनता), कठोर स्पर्श, शिथिल अवयव तथा कपोल-प्रदेश की कान्ति की मलिनता आदि गुणो की अवस्था होती है तथा इस तृतीय यौवन मे कामतन्त्र मे चतुराई (विदग्धता), प्रिय की अभिलाषा के अनुकूल रहना, प्रिय के अपराध करने पर उसका अनादर करना, प्रतिपक्षी के प्रति मत्सर-भाव रखना, पति का अपरित्याग तथा उसको (पति को) आकर्षित करने को कुशलता आदि स्त्रियो की चेष्टाएँ है ।

(चतुर्थ यौवन)

स्त्रियो के चतुर्थ यौवन मे श्रोणि (नितम्ब), स्तन, ऊरु (जघा-स्थल), जघन-भाग, कपोल-प्रदेश मास रहित हो जाते है तथा जर्जरित हो जाते है, और कपोल लटक जाते है आदि गुणो की अवस्था होती है तथा इस चतुर्थ यौवन

अशक्तता चानुत्साहो रतिव्यायामकेलिषु ॥
प्रतिपक्षानुकूल्यञ्च कान्तैरपि सहासनम् ।
चतुर्थे यौवने स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ॥

७ आरभ्य षोडशाद्वर्षाद्द्वात्रिंशद्वत्सरावधि ।
यौवनं पुरुषाणां तु तथा यौवनचेष्टितम् ॥
साधारण्येन सर्वेषामेकरूपमिति स्मृतम् ।
तदेव सम्पत्प्रकृतिगुणादिपरिवर्धितम् ॥
तत्तद्विशेषतस्तेषु विशिष्टमिव दृश्यते ।

८ महोदयो महाभागः कृतज्ञो रूपवान्युवा ॥
मानी सुशीलः सुभगो विदग्धो वंशवानभीः ।
अल्पनिद्रो मधुरवागभिगम्यो भवेत्स्त्रिया ॥

९ विज्ञानरूपसम्पन्ना रूपयौवनशालिनी ।
देशकालविभागज्ञा कलाशिल्पविचक्षणा ॥
कार्याकार्यविशेषज्ञा भावज्ञा विनयान्विता ।
व्रीडावती क्षमायुक्ता लोकयात्रानुवर्तिनी ॥
एवमादिगुणैर्युक्ता पुंसां गम्यैव नायिका ।

मे रति-व्यायाम तथा रति-केलि मे अशक्तता हो जाती है तथा उत्साह नष्ट हो जाता है। प्रतिपक्षी के प्रति अनुकूलता रहती है तथा प्रिय के साथ बैठती है आदि स्त्रियो की चेष्टाएँ है।[1]

७ १६ वर्ष की अवस्था से लेकर ३२ वर्ष की अवस्था तक पुरुषो का यौवन तथा यौवन की चेष्टाएँ साधारणतया सभी मे एकरूप ही कही जाती हैं। वही (यौवन) सम्पत्ति, प्रकृति (स्वभाव), तथा गुणादि से वढ जाता है और उन पुरुषो मे उस-उस विशेषता से विशिष्ट-सा दिखाई देता है।

८ महोदय, महाभाग, कृतज्ञ, रूपवान युवक, मानी, सुशील, सौभाग्यशाली, चतुर, कुलीन, अल्प-निद्रा वाला तथा मधुरभाषी पुरुष स्त्री के साथ अभिगमन के योग्य होता है।

९ ज्ञान-रूप से सम्पन्न, रूपवती, यौवनशीला, देश तथा काल के विभाग को जानने वाली, (नृत्य-गीतादि) कलाओ तथा शिल्पविद्या मे निपुण, कार्याकार्य को जानने वाली, भावो को जानने वाली, विनयशीला, लज्जावती, क्षमाशीला तथा लोकाचार का पालन करने वाली आदि गुणो वाली नायिका पुरुष के साथ अभिगमन के योग्य होती है।

१० शास्त्रविच्छीलसम्पन्नो रूपवान्प्रियदर्शनः ।।
विक्रान्तो धृतिमांश्चैव वयोवेषकुलान्वितः ।
सुरभिर्मधुरस्त्यागी सहिष्णुरविकत्थनः ।।
अशङ्कितः प्रियाभाषी चतुरः सुभगश्शुचिः ।
कामोपचारकुशलो दक्षिणो देशकालवित् ।।
अदीनवाक्यः प्रियवाग्वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
अलुब्धः सुखभोगी च श्रद्दधानो दृढव्रतः ।।
गम्यासु चाप्यविस्रम्भी मानी चेति हि वैशिकः ।

११ विशेषयेत्कलाः सर्वाः यस्मात्तस्मात्तु वैशिकः ।।
वेश्योपचारतो वापि वैशिकः परिकीर्तितः ।
उत्तमो मध्यमश्चेति कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ।।

१२ अवशोऽपि हि कामस्य वशं यातीव दृश्यते ।
असङ्गोऽपि स्वभावेन सक्तवच्चेष्टते मुहुः ।।
त्यागी स्वभावमधुरः समदुःखसुखः शुचिः ।
कामतन्त्रेषु निपुणः क्रुद्धानुनयकोविदः ।।

(वैशिक-नायक)

१० शास्त्रवेत्ता, शील-सम्पन्न (सुशील), रूपवान, प्रियदर्शनवाला, शूर-वीर, धैर्यवान, आयु, वेष तथा कुल से अन्वित, सुरभि (सुन्दर), मधुर, त्यागी, सहिष्णु, अविकत्थन, अशकित, मधुरभाषी, चतुर, सौभाग्यशाली, पवित्र, कामोपचार मे कुशल, चतुर (दक्षिण), देश-काल को जानने वाला, अदीन वाक्य बोलने वाला, प्रिय वाक्य बोलने वाला, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, अलोभी, सुखो को भोगने वाला, श्रद्धालु, दृढव्रत वाला, गम्य नायिका के प्रति अविश्वासी तथा मानी 'वैशिक' नायक होता है।[२]

(वैशिक-निर्वचन)

११ जिससे सभी कलाएँ विशेष हो जती है उसे 'वैशिक' कहते है। वेश्याओ को आनन्द प्रदान करने से भी 'वैशिक' होता है।[३] ये वैशिक उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है।

(उत्तम वैशिक)

१२ जो काम के अवश होते हुए भी काम के वश मे रहने वाला सा दिखायी देता है, जो स्वभाव से अनासक्त होते हुए भी आसक्तवत् बार-बार चेष्टा करता है, जो त्यागी, मधुर-स्वभाव वाला, दु ख-सुख मे समान, पवित्र, कामतन्त्र मे निपुण, क्रोध तथा अनुनय (विनय) का ज्ञाता होता है, जो स्त्री के किंचित

स्फुरितेऽनादरेकिञ्चिद्दयिताया विरज्यति ।
उपचारपरोऽप्येष उत्तमः कथ्यते बुधैः ।।

१३ व्यलीकमात्रे दृष्टेऽस्या न कुप्यति न रज्यति ।
ददाति काले काले च वसनादीनि भावतः ।।
सर्वार्थैरपि मध्यस्थतयैवोपचरन्पुनः ।
दृष्टे दोषे विरज्येत स भवेन्मध्यमः पुमान् ।।

१४ कामतन्त्रेषु निर्लज्जः कर्कशो रतिकेलिषु ।
अविज्ञातभयामर्षः कृत्याकृत्यविमूढधीः ।।
मूर्खः प्रसक्तभावश्च विरक्तायामपि स्त्रियाम् ।
मित्रैर्निवार्यमाणोऽपि पारुष्यं प्रापितोऽपि च ।।
अन्यस्नेहपरावृत्तां संयुक्तरमणामपि ।
स्त्रियं कामयते यस्तु सोऽधमः परिकीर्तितः ।।

१५ प्रणयी दयितः कान्तो नाथः स्वामी प्रियः सुहृत् ।
नन्दनो जीवितेशश्च सुभगो रुचिरस्तथा ।।
इत्थं नायकसंज्ञाः स्युः स्त्रीभिः प्रीतिप्रयोजिताः ।

अनादर कर देने से विरक्त हो जाता है तथा जो उपचारो से दूर रहता है वह विद्वानो द्वारा 'उत्तम वैशिक' नायक कहलाता है ।

(मध्यम वैशिक)

१३ जो नायिका के झूठ-मात्र देखने पर न तो क्रोध करता है और न अनुरक्त होता है । समय-समय पर भाव से वस्त्रादि देता है, पुन जो नायिका के दोष-दृष्टि से देखने पर सभी अर्थो मे मध्यस्थता से ही उपचार कर्म करता हुआ विरक्त हो जाता है वह पुरुप 'मध्यम' वैशिक नायक कहलाता है।

(अधम वैशिक)

१४ जो काम-तन्त्रो मे निर्लज्ज होता है, जो रति-क्रीडा मे कर्कश (कठोर) होता है, जो अज्ञात भय से क्रोध करने वाला, कृत्याकृत्य के विषय मे जड बुद्धि वाला, मूर्ख, विरक्त स्त्रियो मे भी आसक्त-भाव वाला होता है, मित्र के द्वारा रोके जाता हुआ भी जो कठोर वचन बोलता है, स्नेह प्राप्त होने पर भी जो दूसरे से स्नेह करता है तथा सयुक्त रमण करते हुए भी अन्य स्त्रियो की कामना करता है वह 'अधम-वैशिक' नायक कहा जाता है ।

(नायक के नाम)

१५ स्त्रियाँ नायक को प्रणयी, दयित, कान्त, नाथ, स्वामी, प्रिय, सुहृत, नन्दन, जीवितेश, सुभग तथा रुचिर नाम से प्रेम मे पुकारती हैं ।

१६ प्रसादयन्सखीमध्ये शैलोद्यानवनादिषु ।।
मिथ्यारुषा कलुषितां प्रणयी स निगद्यते ।

१७ वासोऽङ्गरागमाल्याद्यैः हृद्यैर्यः प्रेयसीं रहः ।।
प्रसादयन्प्रीणयति दयितः सोऽभिधीयते ।

१८ कथाभिः कमनीयाभिः काम्यैर्भोगैश्च सर्वदा ।।
उपचारैश्च रमयन्यः स कान्त इतीरितः ।

१९ सामदानार्थसम्भोगैः लालयन्प्रीणयन् सदा ।।
भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कथ्यते ।

२० निवारयन्नकृत्येभ्यः कर्तव्येभ्यः प्ररोचयन् ।।
स्वभावे स्थापयति यः स स्वामीति निगद्यते ।

२१ सत्यवागार्जवरतिरुपकुर्वन्प्रियं वदन् ।।
भजते यः स्वयं प्रीतः प्रियः स भवति स्त्रियाः ।

२२ दुःखे विपदि सम्मोहे कार्यकालात्ययेऽपि च ।।
हितान्वेषी च हितकृद्यस्सुहृत्सोऽभिधीयते ।

२३ श्लाघनीयः सखीमध्ये गुणैः सौजन्यजन्मभिः ।।
श्लाघयन्नन्दयति यः प्रियां नन्दन ईरितः ।

---

१६ जो पर्वत, उद्यान तथा वन आदि मे सखियो के बीच मे प्रेयसी को प्रसन्न करता हुआ झूठे क्रोध से कलुषित हो जाता है वह 'प्रणयी' कहा जाता है।

१७ जो वास, अगराग तथा माला आदि प्रसाधनो से प्रेयसी को एकान्त मे प्रसन्न करता हुआ प्रसन्न होता है वह 'दयित' कहलाता है।

१८ जो सर्वदा सुन्दर कथाओ को कहकर, इच्छुक भोगो तथा उपचारो से नायिका मे रमण करता है वह 'कान्त' कहलाता है।

१६ जो नायक सदा साम (प्रिय वचन), दान (भूषण आदि का दान) रूप सम्भोग से प्रेयसी को लाड-प्यार करता हुआ एकान्त मे उसका सेवन करता है वह 'नाथ' कहलाता है।

२० जो नायक प्रेयसी को अकृत्य से रोकता हुआ, कर्तव्य के प्रति रुचि उत्पन्न करता हुआ, स्वभाव मे स्थापित करता है वह 'स्वामी' कहा जाता है।

२१ जो नायक सत्यवाणी तथा सरल रति से उपकार करता हुआ तथा प्रिय बोलता हुआ स्वय प्रेमपूर्वक नायिका का सेवा करता है वह 'स्त्रियो का प्रिय' होता है।

२२ जो हितान्वेषी नायक दु ख, विपत्ति तथा मूर्च्छा (सम्मोह) मे और कार्यकाल के निकल जाने पर भी नायिका का हित करता है वह 'सुहृत्' कहलाता है।

२३ जो नायक सौजन्य से उत्पन्न गुणो से सखियो के मध्य प्रशंसनीय होता है, तथा जो प्रिया की प्रशसा करता हुआ आनन्द लेता है वह 'नन्दन' कहलाता है।

२४ भजते यः प्रियामिष्टैः शयनासनभोजनैः ॥
अभीष्टाभिश्च लीलाभिर्जीवितेश इतीरितः ।
२५ सपत्नीनखदन्तादिचिह्नं यस्य न दृश्यते ॥
विस्मर्यमाणमानेर्ष्यः सुभगः सोऽभिधीयते ।
२६ भोग्येषु यत्राभिरुचिः तद्दानैरभिरोचयन् ॥
रुच्या प्रियां रमयति रुचिरः सोऽभिधीयते ।
२७ वामो विरूपो दुश्शीलो निर्लज्जो निष्ठुरः शठः ॥
धृष्टो दुराचार इति व्याहाराः कोपसम्भवाः ।
२८ वार्यते यत्र विषये यत्र चैव नियुज्यते ॥
तत्र तत्र विपर्येति स वामः परिकीर्तितः ॥
२९ नखदन्तव्रणैरङ्गैः सरसैः शिथिलीकृतः ।
विपरीतकथोऽमानी विरूप इति संज्ञितः ।
३० असहिष्णुतया क्रुद्धो वाच्यावाच्यं न वेत्ति यः ॥
न वेत्ति देशकालौ च स दुश्शील इति स्मृतः ।

---

२४ जो नायक अभीष्ट लीलाओ और अभीष्ट शयन, आसन तथा भोजन से प्रिया का सेवन करता है वह 'जीवितेश' कहा जाता है।

२५ जिस नायक के सपत्नी के द्वारा किये गये नख तथा दन्त आदि के चिह्न दिखायी नही देते है तथा जो नायिका के ईर्ष्यामान को भूलने वाला है, वह 'सुभग' कहलाता है।

२६ जिस नायक की भोगो मे अभिरुचि होती है, वह (भूषण आदि के) दान से प्रिया मे रुचि उत्पन्न करता हुआ रुचि से प्रिया मे रमण करता है वह 'रूचिर' कहलाता है।

२७ वाम, विरूप, दुश्शील, निर्लज्ज, निष्ठुर, शठ, घृष्ट तथा दुराचारी—ये नायक के नाम नायिकाओ के द्वारा कोप मे व्यवहृत होते हैं।

२८ जहाँ नायक को किसी विषय मे रोका जाता है और किसी विषय मे नियुक्त किया जाता है वहाँ-वहाँ वह विपरीत जाता है अर्थात् जिसमे रोका जाता है वहाँ नियुक्त होता है और जहाँ नियुक्त किया जाता है, वहाँ हट जाता है वह 'वाम' कहलाता है।

२९ जो सरस अगो को नख तथा दन्त से घाव करके शिथिल कर देता है तथा उस-उस प्रसग के विपरीत कथा के श्रवण से मान नही करता है वह 'विरूप' कहलाता है।

३० जो कामोद्वेग की असहिष्णुता के कारण क्रोध करता है, वाच्यावाच्य को नही जानता है तथा देश तथा काल को भी नही जानता है वह 'दुश्शील' कहा जाता है।

३१ परुषैरवमानैश्च वार्यमाणो मुहुर्मुहुः ॥
सापराधोऽपि यो गच्छेत्स निर्लज्ज इतीरितः ।

३२ कृतापराधोऽपि मुहुः प्रसादनपराङ्मुखः ॥
रिरंसति बलात्कारैः स निष्ठुर इतीरितः ।

३३ पुरः प्रियं वदन् सम्यगपरत्राप्रियं वदन् ॥
अर्थान्विनाशयन् गूढं स शठः परिपठ्यते ।

३४ दृष्टऽपराधे शपथैः नास्तीति बहुशो वदन् ॥
सचिह्नः सन्निधत्ते यः स धृष्ट इति कथ्यते ।

३५ दोषेत्वविद्यमानेऽपि योऽविमृश्य समाचरन् ॥
ताडनं बन्धनं वापि दुराचार इतीरितः ।

३६ इत्थं नायकभेदास्तु भरतेन प्रदर्शिताः ॥
नायिकानां च सर्वासां सत्त्वमत्राभिधीयते ।
धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात्सुखफलोदयः ॥
सुखस्य मूलं प्रमदास्तासु सम्भोग इष्यते ।
नानाशीलाश्च ताः सर्वाः स्वं स्वं सत्त्वं समाश्रिताः ॥

---

३१ जो नायक परुष (कठोर) वचन तथा अपमान से बार-बार रोका जाता हुआ तथा अपराध करने पर भी प्रिया के साथ गमन करता है वह 'निर्लज्ज' कहा जाता है।

३२ जो नायक बार-बार अपराध करने पर भी नायिका की प्रसन्नता से पराङ्मुख होता हुआ बलात्कार से उसमे रमण करने की इच्छा करता है वह 'निष्ठुर' कहा जाता है।

३३ जो सामने मीठा तथा सत्य बोलता हे, पीछे अप्रिय बोलता है तथा रहस्य का उद्घाटन करता है वह 'शठ' होता है।

३४ जो अन्य स्त्री से सम्भोग करने के कारण अपराध किये जाने पर भी शपथ खाकर अपने किये गये अपराध को स्वीकार नही करता है ओर बार-बार कहता है कि 'मै शपथ खाकर कहता हूँ कि मैने ऐसा नही किया है' तथा जो अन्य-स्त्री-सम्भोग के चिह्न धारण करता है, वह 'धृष्ट' कहलाता है।

३५ जो नायक दोष के विद्यमान न रहने पर भी अविश्वास का आचरण करता हुआ नायिका को पीटता है तथा बाँध देता है वह 'दुराचार' कहलाता है।

३६ इस प्रकार आचार्य भरत के अनुसार नायक के भेद कह दिये।[४] अब सभी नायिकाओ के सत्त्व का कहते है। धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से सुख-रूपी फल का उदय होता है। सुख का मूल प्रमदाये (स्त्रियाँ) होती है, उनमे सम्भोग की कामना की जाती है। अपने-अपने सत्त्व के आश्रित वे सभी

उपसृप्ता यथाशीलं तृप्ता विदधते रतिम् ।
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षःपतत्रिणाम् ।
पिशाचनागव्यालानां नरवानरहस्तिनाम् ।
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम् ॥
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ।

३७ प्रत्यङ्गोपाङ्गयोरङ्गं स्नैग्ध्यमारोग्यमार्जवम् ।
चिरान्निमेषो दानेच्छा सङ्गीताभिरतिर्मुहुः ॥
स्वेदाल्पत्वं रतेस्साम्यं भावज्ञानं कृतज्ञता ।
यस्याः स्थिराणि सा योषिद्देवशीलेति कथ्यते ॥

३८ स्थिरक्रोधा शठाऽधर्मरता निष्ठुरभाषिणी ।
मद्यमांसप्रिया लुब्धा चपला कलहप्रिया ।
ईर्ष्यावती चलस्नेहा दैत्यशीलेति कथ्यते ॥

३९ स्निग्धत्वक्केशनयना नखदन्तक्षतिप्रिया ।
आरामभोग्या मृद्वी च स्मितपुर्वाभिभाषिणी ॥

स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न शील वाली होती है। नायक के निकट गयी हुई नायिका यथाशील तृप्त होती हुई रति को धारण करती है। देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पक्षी, पिशाच, नाग, व्याल (सर्प), नर, वानर, हाथी, मृग, मीन (मछली), ऊँट, मगर, खर (गधा), सूकर, घोडा, भैस, बकरी तथा गाय के तुल्य शील वाली स्त्रियाँ होती हैं।

(देव-शीला)

३७ जिसके प्रत्यय, उपाग तथा अग मे स्निग्धता, नीरोगता, सरलता होती है तथा बहुत देर तक एकटक देखना, दान की इच्छा, सगीत के प्रति बार-बार प्रेम, स्वेद (पसीने) की अल्पता, रति की समता, भावो का ज्ञान तथा कृतज्ञता आदि गुण जिसमे रहते हैं, वह 'देव-शीला' कहलाती है।

(दैत्य-शीला)

३८ जो स्थायी क्रोध-वाली होती है, तथा जो शठ, अधर्म-रता, निष्ठुर बोलने वाली होती है तथा जिसको मद्य तथा मास प्रिय होते हैं, जो लोभी, चपला, कलहप्रिया, ईर्ष्यावती तथा चंचल स्नेह वाली होती है, वह 'दैत्य-शीला' कहलाती है।

(गन्धर्व-शीला)

३९ जो स्निग्ध (चिकनी) त्वचा, केश तथा नेत्र वाली होती है तथा जिसको नख-क्षति तथा दन्त-क्षति प्रिय होती है, जो आराम (बगीचा) मे भोग करने योग्य होती है, जो मृदुल व मुस्कराती हुई बोलने वाली होती है, जो कृशागी,

तन्वी सङ्गीतसंसृष्टा मन्दापत्या रतिप्रिया ।
गन्धर्वशीला विज्ञेया पुष्पशय्याभिलाषिणी ॥
४० स्वल्पविस्वेदकणिका मद्यगन्धामिषप्रिया ।
चिरविस्मृतदृष्टेषु कृतज्ञत्वातिप्रियंवदा ॥
अदीर्घशायिनी मेधाविनी यक्षाङ्गना स्मृता ।
४१ बृहदायतसर्वाङ्गी रूक्षविस्तीर्णलोचना ॥
खररोमा दिवास्वप्ननियताऽत्युच्चभाषिणी ।
नखदन्तक्षतकरी क्रोधेर्ष्याकलहप्रिया ॥
निशाविहारशीला च या सा राक्षसशीलिनी ।
४२ व्यावृत्तास्या शीघ्रगतिः क्षीरोद्यानफलप्रिया ॥
नैकत्र नियता तीक्ष्णा चपला बहुभाषिणी ।
पतत्रिशीलाविज्ञेया प्रतिपत्तिपराङ्मुखी ॥
४३ न्यूनाधिकाक्षिदन्तोष्ठकर्णस्तननखांगुलिः ।
रोमशाङ्गी महारावा सुरते कुत्सितक्रिया ॥

सगीत से युक्त, सन्तान के प्रति मन्द, रति-प्रिया होती है तथा जो पुष्पो की शय्या की अभिलाषा करती है, वह 'गन्धर्व-शीला' जानी जाती है ।

(यक्ष-शीला)

४० जिसके थोडी-थोडी पसीने की बूँदें निकलती रहती हैं तथा जिसको मद्य, सुगन्ध तथा मास प्रिय होता है, चिर-विस्मृत प्रिय को देखने पर जो कृतज्ञ होने के कारण प्रिय बोलती है, जो अधिक समय तक नही सोती है तथा जो बुद्धिमती होती है, वह 'यक्ष-शीला' स्त्री कहलाती है ।

(राक्षसशीला)

४१ जिसके बडे तथा चोडे शरीरावयव, लाल-लाल बडी आँखे तथा कठोर बाल होते है तथा जिसका दिन मे सोना निश्चित होता है, जो जोरो से बोलती है, जो नाखून तथा दाँतो से प्रिय को घायल करने वाली होती है, जिसको क्रोध, ईर्ष्या तथा कलह प्रिय होते हैं तथा जो रात्रि मे बिहार करना पसन्द करती है, वह 'राक्षस-शीला' कहलाती है ।

(पतत्रि-शीला)

४२ जिसका बहुत बडा मुँह होता है, जो शीघ्र चलती है, जिसको दूध, उद्यान, तथा फल प्रिय होते है, जो एक स्थान पर नही रहती है, जो तीक्ष्ण, चचल, बहुभाषिणी तथा ज्ञान से पराङ्मुख होती है, वह पतत्रि-शीला जानी जाती है ।

(पिशाच-शीला)

४३ जिसके कम या अधिक आँखे, दाँत, ओष्ठ, कान, स्तन, नाखून या अगुलियाँ होती हैं जिसके शरीर पर बाल होते है, जिसकी तेज आवाज होती है, जो

बालोद्वेगकरी रात्रिचारिण्यनृतभाषिणी ।
पिशाचशीला विज्ञेया मद्यमांसबलिप्रिया ॥

४४ मानावमानरहिता रूक्षत्वक्कटुकस्वना ।
विशालाक्षी शठा धृष्ठा व्यालशीलेति कथ्यते ॥

४५ निद्रालुः कोपना तिर्यग्गतिस्ताम्रविलोचना ।
गन्धाभिलाषिणी तीक्ष्णनासोग्रदशना चला ॥
नागशीलेति विज्ञेया सदा श्वसनशालिनी ।

४६ ऋज्वी सुहृत्प्रिया देवगुरुभक्ता क्षमान्विता ॥
उपचारपरा नित्यमहङ्कारविवर्जिता ।
सुशीला मर्त्यशीला स्याद्गन्धमाल्यरतिप्रिया ।

४७ अल्पगात्रा फलारामप्रिया पिङ्गलरोमदृक् ।
प्रसह्य फलशीला च तीक्ष्णा च चपला तथा ॥
शीघ्रकोपप्रसादा च कपिशीलेति कथ्यते ।

रति-क्रीडा मे घृणित कर्म करती है, जो बच्चो को डराने वाली, रात्रि मे विचरण करने वाली तथा असत्य-भाषिणी होती है तथा जिसको मद्य, मास तथा बलि-प्रिय होती है, वह 'पिशाच-शीला' जानी जाती है ।

(व्याल-शीला)

४४ जो मानापमान से रहित, रूखी-रूखी त्वचा वाली, तीखे स्वर वाली, विशाल आँखो वाली तथा शठ और धृष्ट होती है, वह व्याल-शीला कही जाती है ।

(नाग-शीला)

४५ जो निद्रालु (सोने वाली), क्रोध करने वाली, तियर्क् गति वाली, रक्त नेत्रो वाली, गन्धाभिलाषिणी, नुकीली नाक तथा तीक्ष्ण दाँतो वाली, चचला तथा निरन्तर वायु का सेवन करने वाली होती है, वह 'नाग-शीला' जानी जाती है।

(मर्त्य-शीला)

४६ जो सरल, सुहृत्प्रिय, देव तथा गुरु की भक्त, क्षमाशीला, परोपकारी, नित्य अहकार से रहित तथा सुशीला होती है, जिसको गन्ध, माला तथा रति-प्रिय होती है, वह 'मर्त्य-शीला' होती है ।

(कपि-शीला)

४७ जो हल्के शरीर वाली होती हे, जिसको फल तथा बगीचे प्रिय होते है, जो पीले-भूरे बालो वाली होती है, जो बलपूर्वक रति क्रीड़ा करती है, जो तीखी, चचल तथा शीघ्र क्रोध करने वाली और शीघ्र प्रसन्न होने वाली होती है, वह 'कपि-शीला' कहलाती है ।

४८ मन्दायतगतिर्मन्दचेष्टाऽत्यशनलालसा ।।
दीर्घरोषप्रसादा च हस्तिशीलेति कथ्यते ।

४९ शीघ्रगा चपला भीरुर्गीतवाद्यरतिप्रिया ।।
चलविस्तीर्णनयना कोपना विरहासहा ।
मृगशीलेति विज्ञेया वनशय्यासनप्रिया ।।

५० बहुभृत्यवती दूरगामिनी सलिलप्रिया ।
दीर्घगात्री दुराचारा मत्स्यशीलाऽनिमेषिणी ।।

५१ दीर्घोन्नततरग्रीवा लम्बोष्ठी निष्ठुरस्वना ।
कट्वम्ललवणप्रीता भवेदुष्ट्री वनप्रिया ।।

५२ स्थूलशीर्षाञ्चितग्रीवा दारितास्या महास्वना ।
ज्ञेया मकरसत्त्वेति सर्वैर्मत्स्यगुणैर्युता ।।

(हस्ति-शीला)

४८ जिसकी मन्द तथा आयत (लम्बी) गति, मन्द चेष्टा तथा अधिक खाने की लालसा होती है, तथा जो बहुत क्रोध करती है और बहुत प्रसन्न होती है, वह 'हस्ति-शीला' कही जाती है ।

(मृग-शीला)

४९ जो शीघ्र चलने वाली, चचल तथा डरपोक होती है, जिसको गीत-वाद्य तथा रति प्रिय होती है, जो चचल तथा विशाल नेत्रो वाली, क्रोध करने वाली तथा विरह को सहन न करने वाली होती है तथा जिसको वन मे सोना-बैठना अच्छा लगता है, वह 'मृग-शीला' जानी जाती है ।

(मत्स्य-शीला)

५० जो बहु सेवक वाली तथा दूरगामिनी होती है, जिसको जल प्रिय होता है तथा जो लम्बे शरीर वाली, दुराचारिणी तथा अपलक-दृष्टि वाली होती है, वह 'मत्स्य-शीला' होती है ।

(ऊष्ट्री)

५१ जो लम्बी तथा ऊँची गर्दन वाली, लम्बे (लटके हुए) ओठो वाली, निष्ठुर शब्द वाली होती है तथा जिसको कटु (कडुवे), अम्ल (खट्टे) तथा लवण (नमकीन) पदार्थ प्रिय होते हैं और वन (जगल) प्रिय होते हैं वह 'ऊष्ट्री' कहलाती है ।

(मकर-सत्त्वा)

५२ जिसका स्थूल (बडा) शिर, स्थिर (मजबूत)—गर्दन, अधिक खुला हुआ मुँह तथा तेज स्वर (आवाज) होता है और जो मत्स्य (मकर) के सभी गुणो से युक्त होती है, वह 'मकर-सत्त्वा' जानी जाती है ।

५३ स्थूलजिह्वोष्ठदशना रूक्षत्वक्कटुभाषिणी ।
रतिप्रिया सदा हृष्टा खरशीलेति कथ्यते ॥

५४ सपत्नीद्वेषिणी रुष्टा बह्वपत्या दरीरता ।
दीर्घास्या पिङ्गदृग्रोमा सौकरं शीलमाश्रिता ॥

५५ विभक्तपार्श्वोरुकटीस्तनश्रोणिशिरोधरा ।
दानशीला ऋजुस्थूलकेशा मधुरभाषिणी ॥
कोपना रतिलोला च हयशीलेति कथ्यते ।

५६ स्थूलदन्ता पृथुश्रोणिः खररोमारुणेक्षणा ॥
अभीरुरुन्नतास्या च लोकद्विष्टा रतिप्रिया ।
सलिलारण्यरसिका माहिषं शीलमाश्रिता ॥

५७ कृशा तरलदृक्सूक्ष्मरोमा तनुभुजान्तरा ।
शीतभीरुर्जलोद्विग्ना बह्वपत्या वनप्रिया ॥
ऊष्मलाङ्गी सञ्चरिष्णुरजशीलेति कथ्यते ।

(खर-शीला)

५३ जिसकी स्थूल (मोटी) जीभ, मोटे होठ तथा बडे दाँत होते हैं, जो रूखा तथा कटु (कड्वा) बोलती है जिसको रति-प्रिय होती हे तथा जो सदा प्रसन्न रहती है, वह 'खर-शीला' कहलाती है ।

(सौकर-शीला)

५४ जो सपत्नी से द्वेष करने वाली, क्रोधी, बहुसन्तान वाली, दरी-रता (गढ्ढे प्रिय), लम्बे मुँह वाली तथा पीली आँख तथा बाल वाली होती है, वह 'सौकर-शीला' कहलाती है।

(हय-शीला)

५५ जिसके पार्श्व-भाग, ऊरू, कटि-भाग, स्तन श्रोणि (नितम्ब) तथा गर्दन आदि अवयव सुडौल होते हैं, जो दानशीला, सीधे तथा मोटे बालो वाली, मधुर-भाषिणी, क्रोधी, तथा रति-क्रीडा मे काँपने वाली होती है, वह 'हय-शीला' कही जाती है ।

(माहिष-शीला)

५६ जिसके बडे दाँत, पृथु-श्रोणि (चौडे नितम्ब), कठोर-बाल, लाल आँखे होती है, जो निर्भीक, उठे हुए मुँह वाली, लोक द्वेषी, रति-प्रिया तथा जल व जगल में आनन्द लेने वाली होती है, वह 'माहिष-शीला' कहलाती है ।

(अजा-शीला)

५७ जो कृश (पतली), तरल नेत्रो वाली, कोमल (सूक्ष्म) बालो वाली, तनु (छोटी) भुजाओ वाली होती है, जो शीत से डरती है, जल से डरती है, बहु-सन्तान वाली होती है जिसको वन-प्रिय होता है तथा जो गर्म अग वाली और सचरण की इच्छा करने वाली होती है, वह 'अजा-शीला' कही जाती है ।

५८ पृथुपीनोन्नतश्रोणिस्तनुजङ्घा सुहृत्प्रिया ॥
पितृदेवार्चनरता दृढारम्भा प्रजाहिता ।
स्थिरा परिक्लेशसहा गवां सत्त्वं समाश्रिता ॥
५९ एवं प्रदर्शितं शीलं स्त्रीणां भरतवर्त्मना ।
विज्ञाय च यथासत्त्वमुपसर्पेत्ततो बुधः ॥
६० उपचारो यथासत्त्वं स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षदः ।
महानप्यतथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत् ॥
वासोऽङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादिषु ।
यत्र यत्र स्पृहा तत्तद्देशकालानुकूलतः ॥
६१ अत्यादरेण सत्कार उपचार इतीरितः ।
अतो रतिविवृद्ध्यर्थं स्त्रीषु शीलानुकूलतः ॥
यथानुकूलं पुरुषैरुपचारो विधीयताम् ।
६२ उपचारस्त्रिधा वेश्याकुलजाऽन्याविभागतः ॥

(गवासत्त्वमाश्रिता)

५८ जिसके चौडे, मोटे तथा उठे हुए नितम्ब होते हैं तथा जिसकी पतली जघाएँ होती है । जो सुहृत्प्रिय, पितृ तथा देवताओ की पूजा मे रत, दृढी, बच्चो पर प्यार करने वाली, वफादार तथा कष्टो को सहन करने वाली होती है, वह 'गवासत्त्वमाश्रिता' कहलाती है ।

५९ इस प्रकार भरत के अनुसार स्त्रियो के शील कह दिये । किसी भी समझदार व्यक्ति को स्त्री के सत्त्व को समझकर ही उसके सत्त्व के अनुसार उसके पास जाना चाहिए ।[1]

(उपचार)

६० यद्यपि सत्त्व के अनुसार स्त्रियो का 'उपचार' बहुत कम है, फिर भी वह उन्हें हर्ष प्रदान करता है । जबकि सत्त्व के सर्वथा अनुपयुक्त उनके महान् कर्म भी उन्हे सन्तोष प्रदान नही करते है। वास, अगराग, आभरण (वस्त्र), माला, शय्या तथा आसन आदि मे जहाँ-जहाँ इच्छा (स्पृहा) होती है, उस-उस देश तथा काल की अनुकूलता से होती है ।

(उपचार-लक्षण)

६१ अधिक आदर के साथ किया गया सत्कार-कर्म 'उपचार' कहलाता है। अत शील की अनुकूलता से स्त्रियो मे रति की वृद्धि के लिए यथानुकूल पुरुषो को उपचार का विधान करना चाहिए ।

(उपचार के भेद)

६२ 'उपचार' वेश्या, कुलजा तथा अन्या (परकीया) के भेद से तीन प्रकार का होता है । विभिन्न कारणो से उत्पन्न काम युवक-युवती के बीच सर्वत्र देखा

नानाबीजोद्भवः कामो यूनोः सर्वत्र दृश्यते ।
तत्तदालम्बनगुणैरुत्तमो मध्यमोऽधमः ॥
वासोऽङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादयः ।
साधारणाः कुलीनानां वेश्यादीनाञ्च योषिताम् ॥
६३ कुलाङ्गनोपचारस्तु सत्यार्जवपुरस्सरः ।
अवस्थादेशकालादिप्रधानोऽन्यासु दृश्यते ॥
अर्थितानपराधादिप्रधानो गणिकाश्रयः ।
६४ यत्र कामसमुत्पत्तिस्तत्र रक्तिं विरक्तताम् ॥
लक्षयेल्लक्षणैस्तैस्तैरन्योन्यं स्त्री पुमानपि ।
६५ रक्ता चेत्प्रथमं योषिदनुरक्तो भवेत्पुमान् ॥
एष स्वभावसुभगः सम्भोगः स्यात्स उत्तमः ।
६६ अथ चेदेककालीना यूनोरन्योन्यरक्तिमा ॥
एष सम्भोगलीला स्यात्स कामो मध्यमः स्मृतः ।
६७ एकत्रैवानुरक्तिश्चेद्यूनोर्हास्यः स चाधमः ॥
रागापरागचिह्नानि योषितां लक्षयेदतः ।

जाता है। उस-उस आलम्बन के गुणो के अनुसार वह उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार का होता है। कुलीन तथा वेश्या आदि स्त्रियो के वास, अगराग, आभरण (वस्त्र), माला, शय्या तथा आसन आदि साधारण उपचार होते है।

६३ कुलागनाओ का उपचार सत्य तथा सरलतापूर्वक होता है। 'परकीया' नायिकाओ मे उपचार अवस्था, देश तथा काल आदि की प्रधानता से रहता है। 'वेश्या' के आश्रित उपचार प्रार्थना तथा अनपराध आदि की प्रधानता से होता है।

६४ जहाँ काम की उत्पत्ति होती है वहाँ विरक्ती का राग उत्पन्न होता है। स्त्री-पुरुष दोनो अन्योन्य (एक-दूसरे से) उन-उन लक्षणो से उसको जानें।

(उत्तम)

६५ जब पहले स्त्री पुरुष के प्रति अनुरक्त होती है और बाद मे पुरुष उसके प्रति अनुरक्त होता है तो यह स्वभाव से सुन्दर सम्भोग होता है और वह 'उत्तम' काम कहलाता है।

(मध्यम)

६६ जब युवक-युवती के बीच एक ही समय मे परस्पर अनुरक्ति होती है तो यह 'सम्भोग-लीला' होती हैं और वह 'मध्यम' काम कहलाता है।

(अधम)

६७ जब युवक-युवती के बीच एक साथ ही अनुरक्ति होती है और हास्यास्पद होती है तो वह 'अधम' काम कहलाता है।
अत स्त्रियों के रागापराग चिह्नो को कहते है।

६८ स्त्रियो जातानुरागाया नायके लक्षणान्विते ।।
कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत् ।
स्निग्धञ्च मसृणं चक्षुरधरः स्पन्दते स्फुटम् ।।
स्मितोत्तरञ्च वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः ।
ऊर्वोः सम्पीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम् ।।
आलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्गसमर्पणम् ।
नीवी विस्रस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः ।।
वचने वचनं तूष्णीं वीक्षणेष्वनवेक्षणम् ।
इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात्कुलाङ्गनाम् ।।
६९ कर्णकण्डूयनं नाभोरूर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम् ।
विमर्दनञ्च स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः ।।
अन्यापदेशकथनमन्यैः सस्मितभाषणम् ।
विलोकनञ्च सव्रीलमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम् ।।
नखनिस्तोदनं केलिः सखीनिर्भर्त्सनं मृषा ।
पदान्तरे स्थितिर्व्याजादञ्जलिर्देवताच्छलात् ।।
भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत् ।

(कुलजा)

६८ सर्वप्रथम दूर से ही लक्षणान्वित नायक को देखकर अनुरागिणी कुलीन नायिका के रोमाच होता है, आँखें प्रेम से भर जाती है और कोमल हो जाती है, अधर फडकने लगते है । बात पूछे जाने पर कुलागना मुस्कराकर उत्तर देती है, कपोल-प्रदेश पर पसीने की बूदे निकल आती है। जघाओ को आपस मे रगडती है, अग को भुजाओ की स्वस्तिक[१] मुद्रा मे बाँधती है । बार-बार सखी का आलिगन करती है, उसके शरीर पर अपने शरीर को गिरा देती है। खुली हुई नीवी को बाँधती है, उसके मार्ग मे रुकने पर काँपती है, बोलने पर चुप हो जाती है, देखने पर दृष्टि हटा लेती है इत्यादि भावो से भावज्ञ कुलागना के राग को जानते है ।

(वेश्या)

६९ वेश्या नायिका कान खुजाती है, नाभि तथा जघाओ को थोडा-थोडा दिखाती है । स्तनो को दबाती है, नीवी को बार-बार खोलती है, अन्य बात का बहाना कर अन्य के साथ मुस्कराकर बोलती है। लज्जा के साथ देखती है, अँगूठे से लिखती है, नाखूनो को साफ करती है। केलि करने पर सखियो से झूठ ही भर्त्सना करती है । कुछ कदम चलकर बहाने से रुक जाती है । देवता के बहाने से हाथ जोडती है इत्यादि विभावो से 'वेश्या' का अनुराग जाना जाता है ।

७० दृष्टे दृशोर्विकासश्च माधुर्यं भाषणेऽन्यतः ॥
प्रसादो वदने हर्षः सम्भ्रमस्तस्य दर्शने ।
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम् ॥
स्वभर्तुः प्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु ।
प्रेषणं भोग्यवस्तूनां समाजे तस्य गर्हणम् ॥
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः ।
मदम्ब नाथ मन्नाथेत्येवं बालोपलालनम् ॥
भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम् ।
७१ ये भावा रागचिह्नानि स्त्रीणामुक्ताः पृथक्पृथक् ॥
साधारणास्ते सर्वासां स्त्रीणामित्याह मारुतिः ।
७२ एवं भावान्परीक्ष्यैव रक्ताश्चेदनुरञ्जयेत् ॥
नायकेष्वनुरक्तेषु रतिं पुष्यन्ति योषितः ।
आभ्यन्तरोपचारस्तु रक्तायाः कथ्यतेऽधुना ॥
७३ रक्ता विविक्तवसतिं प्रियेण सह वाञ्छति ।
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददाति च ॥

(परकीया)

७० प्रिय के देखने पर जिसकी आँखें खिल जाती है, बोलने पर मधुर बोलती है, मुख प्रसन्न हो जाता है। उसके (प्रिय के) दर्शन पर हर्ष और घबराहट होती है, न देखने पर मूच्छित हो जाती है। उसके (प्रिय के) द्वारा सत्कार किये जाने पर कौतुक (कौतूहल) उत्पन्न हो जाता है, सुरत-क्रीडा आदि मे अपने पति के सामने आने पर उस (प्रिय) का स्मरण करती है, प्रिय के द्वारा भोग्य वस्तुओ के भेजे जाने पर समाज मे उसकी (प्रिय की) निन्दा करती है। सर्वत्र प्रिय के वाक्यो को प्रेमपूर्वक ग्रहण करती है, 'मेरी मा ! नाथ ! मेरे नाथ !' ऐसा कहकर बच्चे को लाड़ करती है—इस प्रकार के भावो से कामातुरा परकीया का लक्षण जाना जाता है।[७]

७१ स्त्रियो के जो राग के चिह्न-स्वरूप भाव है वह पृथक्-पृथक् कह दिये। वे सभी स्त्रियो मे साधारण (सामान्य) ही होते है, ऐसा मारुति ने कहा है।

७२ इस प्रकार के भावो की परीक्षा करके ही रागी पुरुष को अनुराग करना चाहिए, नायक के अनुरक्त होने पर स्त्रियाँ रति की पुष्ट करती है। अब रक्ता के 'आभ्यन्तर-उपचार' को कहते है।

(आभ्यन्तर-उपचार)

७३ प्रिया प्रिय के साथ एकान्त मे रहना चाहती है, सखियो के गुणो को कहती है, अपने धन को देती है, मित्रों की पूजा करती है, शत्रुओ से द्वेष करती है,

सम्पूजयति मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं तथा ।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम् ॥
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहञ्च निरीक्षते ।
सुप्ते च पश्चात्स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता ॥
प्रियेणालिङ्ग्यत्यङ्गं गाढमालिङ्गति प्रियम् ।
स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु ॥
प्रथमं चेष्टते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते ।
न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन ॥
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुङ्क्तेऽन्यत्राहृतान्यपि ।
रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति क्षणम् ॥
न दृष्टिमन्यतो धत्ते न शृणोति बहिः क्वचित् ।
न चिन्तयत्यात्मनीन किञ्चिदन्यत्प्रियं विना ॥
रोमाञ्चति प्रियस्पर्शे मुह्यति स्विद्यति श्वसेत् ।
७४ एवं रक्तासमुत्थाः स्युरुपचाराः प्रियं प्रति ॥
विरक्तानां तु लिङ्गानि कथ्यन्ते यानि कानिचित् ।
७५ निष्ठीवनं दृष्टमात्रे सद्यो वक्त्रावकुण्ठनम् ॥

प्रिय को देखकर समागम के लिए प्रार्थना करती है, अधिक प्रसन्न होती है, इस (प्रिय) की बातचीत से सन्तुष्ट होती है, स्नेह के साथ देखती है, प्रिय के सोने पर पीछे सोती है, चुम्बन न किये जाने पर चुम्बन करती है, प्रिय के द्वारा अगो का आलिगन किया जाता है तो वह भी प्रिय का गाढ आलिगन करती है, स्नानादि कर्म स्वय ही स्वेच्छानुसार प्रारम्भ करती है। बाह्य और आभ्यन्तर रति मे पहले वही स्वेच्छानुसार चेष्टा करती है, शरीर के आश्लिष्ट होने पर कभी अलग नही होती है, उसी के द्वारा दूसरे स्थान पर लायी गयी भी भोग्य-वस्तुओ का उपभोग करती है, रति-क्रीडाओ मे वह अनिभृत (अशान्त) रूप से आस्वाद लेती है, क्षण-भर मे पसीना आ जाता है, न अन्य ओर देखती है, न कही बाहर सुनती है, प्रिय के बिना अपनी किसी वस्तु की भी चिन्ता नही करती है, प्रिय के स्पर्श करने पर रोमाचित हो जाती है, मूर्च्छित हो जाती है, पसीने आ जाते है, श्वास लेने लगती है।

७४ इस प्रकार प्रिय के प्रति अनुरक्त नायिका से उत्पन्न ये उपचार है। जब अपरागियो (विरक्तो) के जो कुछ चिह्न है कहते है।

(विरक्त के चिह्न)

७५ उसके (प्रिय) के देखने मात्र से ही थूक देती है, शीघ्र ही मुँह को ढँक लेती है, गुप्त स्थान पर चली जाती है (छिप जाती है), दूसरे कार्य मे परतन्त्र हो जाती है,

गूढावस्थानमन्यार्थपारवश्यमनादरः ।
अदेशकालगमनमाह्वाने कालयापनम् ।।
प्रेषितस्याप्यनादानं गन्धमाल्यादिवस्तुनः ।
आर्तस्यानादरः क्षेपो भूमौ व दानमन्यतः ।।
अङ्गसादप्रकथनं दूतादीनामनुत्तरम् ।
एवमादीनि चिह्नानि दूरस्थानां तु योषिताम् ।।
७६ आसन्ना दूरमध्यास्ते कथामन्यां ब्रवीति च ।
पृष्टा यथायथं ब्रूते चुम्बिताऽऽस्यं प्रमार्जति ।।
अनिष्टाञ्च कथां ब्रूते प्रियमुक्ताऽपि कुप्यति ।
न च चक्षुर्ददात्यस्य न चैनमभिनन्दति ।।
शेते पुरः शाययति पुनर्निद्राति तत्क्षणम् ।
प्रबोधिता यापयति कालं रन्तुं न वाञ्छति ।।
स्पृष्टा सङ्कोचयत्यङ्गं निमीलयति लोचने ।
न स्नाति नालङ्कुरुते न भोगे कुरुते स्पृहाम् ।।
विमर्दयति हस्ताभ्यां नेत्रे व्याजृम्भते मुहुः ।
विजृम्भते परावृत्य निष्ठीवति मुहुस्सदा ।।
प्रद्वेष्टि तस्य मित्राणि ब्रवीति कृतशासना ।
रुष्टा परिवदत्येनं स्वात्मन्यङ्गानि गूहते ।।

अनादर करती है, उस स्थान और समय पर नही जाती है, बुलाने पर समय बिता देती है, गन्ध, माला आदि वस्तुओ को भेजने पर भी नही लेती है। इस प्रकार उस दुखी (प्रिय) का अनादर करती है, या वस्तुओ को भूमि पर फेक देती है, अन्य को दे देती है, अग-पीडा को कहती है, दूतियो को उत्तर नही देती है आदि इस प्रकार के ये चिह्न दूर रहने वाली स्त्रियो के है ।

७६ पास होते हुए भी दूर बैठती है, अन्य कथा को कहती है, पूछने पर जैसा का तैसा बताती है, चुम्बन किये हुए मुँह को पोछती है, अनिष्ट कथा को कहती हे, प्रिय बोलने पर भी क्रोध करती है, न उसकी (प्रिय की) ओर देखती है, न उसका (प्रिय का) अभिनन्दन करती है, सो जाती है, सुला देती है, पुन तत्क्षण नीद ले लेती है, जगती हुई समय को बिता देती है, रमण करने की इच्छा नही करती है, छूने पर अगो को सिकोड लेती है, आँखो को बन्द कर लेती है, न स्नान करती है, न अलकार धारण करती है, न भोगो मे इच्छा रखती है, हाथो से आँखो को रगडती है, बार-बार जभाई लेती है, लौट-लौट कर जभाई लेती है, हमेशा बार-बार थूकती रहती है, उस (प्रिय) के मित्रो से द्वेष करती है, शासन करती हुई बोलती है, क्रोध करती हुई गाली देती

कथाप्रसङ्गेनान्येन सुरते भावविस्मृतिः ।
गृहकृत्यापदेशेन कुरुते च गतागतम् ।।
नीवीस्पर्शे सहृल्लेखमपक्षिपति तत्करम् ।
पराङ्मुखी वा शयिता व्याध्यादिव्यपदेशतः ।।
एवं विरक्ताचिह्नानि दृष्ट्वा तां तत्क्षणात् त्यजेत् ।
विरक्तिचिह्नेनैकेन विरज्येतोत्तमः पुमान् ।।
रागापरागचिह्नानां सङ्करे तामुपाचरेत् ।
७७ चिह्नानि गन्तुकामानां कथ्यन्ते ह्यानुषङ्गिकम् ।।
अनासनञ्च प्रथमं चालनं चासनस्य च ।
अर्धासनेनावस्थानं पार्श्वात्पार्श्वेऽङ्गचालनम् ।।
विजृम्भणञ्च बहुशो मुहुर्द्वारनिरीक्षणम् ।
प्रसार्याकुञ्चनं पादबाह्वोरुत्कटिकासनम् ।।
गात्रभङ्गोऽङ्गुलिस्फोटो बहिर्वार्ताविकर्णनम् ।
एतानि गन्तुकामानां चिह्नानीत्युपलक्षयेत् ।।
७८ विरक्तिहेतवो यूनोर्बहवः स्युः परस्परम् ।

है, अपने अगो को छिपाती है, सुरत-क्रीडा मे अन्य कथा के प्रसग से भाव को भुला देती है, घर के काम के बहाने से चली जाती है और आ जाती है, नीवी के स्पर्श करने पर वक्ष-स्थल को खँरोचती हुई उसके हाथो को हटा देती है, व्याधि (रोग) आदि के बहाने से सो जाती है या विपय मे पराड्मुख हो जाती है। इस प्रकार के विरक्तो के चिह्नो को देखकर उस नायिका को उसी समय छोड देना चाहिए। उत्तम-पुरुष को विरक्ति के एक भी चिह्न को देखने से ही उसको छोड देना चाहिए। राग तथा अपराग के चिह्नो के मिश्रण मे उसको ग्रहण करना चाहिए अर्थात् उसका सेवन करना चाहिए।

(गन्तुकामा के चिह्न)

७७ अब प्रसगानुसार गमन करने की इच्छा वाली स्त्रियो के चिह्न कहते है। बैठती नही है, पहले चल देती है, आसन के आधे आसन पर बैठती है, पास से पास अगो को चलाती है, बहुत बार जभाई लेती है, बार-बार दरवाजे को देखती है, हाथ-पैरो को फैलाकर सिकोडती है, स्वस्तिकासन से बैठती है (पालथी लगाकर बैठती है), शरीर को तोडती है, अगुलियाँ चटकाती है, बाहर की बातो को सुनाती है—ये सब गमन करने की इच्छा वाली स्त्रियो के चिह्न जानने चाहिए।

(विरक्ति के हेतु)

७८ युवक-युवती के बीच परस्पर विरक्ति के बहुत से हेतु (कारण) होते है। कृशता, रोग, शोक, परुषता, रूप-क्षति, दोष तथा निन्दा के श्रवण से बुद्धि का

कार्श्यं व्याधिश्च शोकश्च पारुष्यं रूपसंक्षयः ॥
दोषापवादश्रवणान्मतिलोपो व्यतिक्रमः ।
अदेशकालागमनमपकारो बहिर्मुहुः ॥
इत्यादिभिर्विरक्तानां न कदाचन सङ्गतिः ।
७९ मानादिजा विरक्तिर्या हृद्यानुनयसंश्रया ॥
अन्योन्यरक्ततां भूयः पुष्यत्येव रतिं शुभाम् ।
८० उक्तानां रागचिह्नानां कथ्यन्तेऽत्र विभावनाः ॥
कर्णकण्डूयनव्याजाद्गुणद्धचस्य शुभाङ्गिरम् ।
केशसंयमनाद्भर्तुः शिरोलालनसूचनम् ॥
नाभिप्रदर्शनादात्मसौभाग्यप्रकटीक्रिया ।
स्तनसंमर्दनेनैव गाढालिङ्गनसूचनम् ॥
अधरस्पर्शनेनैव चुम्बनाद्यभिलाषितम् ।
कटाक्षैर्हासगर्भैश्च सम्भोगौत्सुक्यभावनम् ॥
नूपुरध्वननैः स्वस्य पुरुषायितसूचनम् ।
विजृम्भितेन सर्वाङ्गे स्वसर्वाङ्गसमर्पणम् ॥
अन्यापदेशकथनैस्तस्य भावपरीक्षणम् ।
अन्यैः सस्मितजल्पेन तद्भाषामेलनादरः ॥

नाश तथा बुद्धि की विपरीतता, बिना देश तथा काल के गमन, बार-बार अपकार करना इत्यादि कारणो से विरक्तो की कभी भेट नही होती है ।

७९ मान आदि से उत्पन्न जो विरक्ति है वह हृदय से मना लेने पर अर्थात् विनय कर लेने पर ठीक हो जाती है, और पुन युवक-युवती के बीच अनुराग हो जाता है और शुभ रति की पुष्टि हो जाती है ।

८० अब उपर्युक्त राग-चिह्नो की 'विभावना' (व्यग्यार्थ) कहते है । कान खुजाने के बहाने से प्रिय-वाणी का अवरोध करती है । केशो को इकट्ठा करने से पति के सिर का लालन सूचित होता है । नाभि को दिखाने से अपने सौभाग्य को प्रकट करती है । स्तनो के मर्दन से गाढ-आलिगन के लिए सूचना देती है । अधरो के स्पर्श से चुम्बन आदि की अभिलाषा प्रकट करती है । हँसते हुए कटाक्षो से सम्भोग की उत्सुकता प्रकट होती है । नूपुरो की ध्वनि से अपने पौरुष की सूचना देती है । जभाई से प्रिय के अगो पर अपने अगो का समर्पण बताती है । अन्य कथाओ के कहने के बहाने से प्रिय के भावो की परीक्षा लेती है । अन्य के साथ मुस्कराकर बोलने से उसकी भाषा का आदर करती है । लज्जा के साथ देखने से अपनी अनुकूलता प्रकट करती है । उत्तर न देने से अपनी स्वतन्त्रता प्रकट करती है । सखी की भर्त्सना करने से शीघ्र सगम की

सव्रीलं लोकनेनैव स्वानुकूल्यप्रकाशनम् ।
अनुत्तरप्रदानेन स्वस्वातन्त्र्यप्रकाशनम् ।।
सखीनिर्भर्त्सनेनैव शीघ्रसङ्गमनादरः ।
ऊरुसम्पीडनादेव हृद्याङ्गस्पन्दसूचनम् ।।
पदान्तरे स्थितेर्व्याजान्मनोविनिमयार्थिता ।
साचीकृतेनेक्षणेन सङ्केतगमनार्थिता ।।
तद्गाढालिङ्गनाशैव बाहुस्वस्तिकबन्धनात् ।
विस्रस्य नीवीनहनाद्वासःश्लथनसूचनम् ।।
८१ एवमाद्यासु चेष्टासु भावा ग्राह्या मनीषिभिः ।
८२ दृशोर्विकारा बहवः शृङ्गारस्योपयोगिनः ।।
भावाश्रयाः कदाचित्स्युः कदाचिद्रससंश्रयाः ।
८३ विकूणितं विहसितं कुञ्चितं न्यञ्चिताञ्चिते ।।
स्निग्धं मुग्धञ्च निष्पन्दं विस्तारि च विकासि च ।
स्तिमितं मसृणं वक्रं मधुरं चाभिलाषि च ।।
स्थिरं प्रसन्नमलसं वलितं मदमन्थरम् ।
स्मेरमानन्दि साकूतं विदग्धं विह्वलं तथा ।।
निहञ्चितञ्च निभृतमुत्कण्ठितमुदञ्चितम् ।
सोत्सुकं सोत्कमुत्कम्पमुल्लासि च समन्मथम् ।।

अभिलाषा बताती है। जघाओ के सपीडन से हृदय तथा अगो के स्पन्दन की सूचना देती है। कुछ कदम पर रुकने के बहाने से मन के विनिमय (बदलने) की प्रार्थना करती है। तिरछे (साची) देखने से सकेत स्थान पर जाने के लिए प्रार्थना करती है। भुजाओ के स्वस्तिक बन्धन से उसके गाढ आलिगन की आशा प्रकट करती है। खुली हुई नीवी को बाँधने से वस्त्र की शिथिलता की सूचना देती है।

८१ इस प्रकार इन चेष्टाओ से विद्वानो को स्त्रियो के भावो को ग्रहण करना चाहिए।

(दृष्टि-विकार)

८२ दृष्टि के अनेक विकार शृगार (रस) के उपयोगी होते है। कभी भाव के आश्रित होते हैं, कभी रस के आश्रित होते हैं।

(दृष्टि-विकार-भेद)

८३ दृष्टि के आश्रित विकार ६४ (चौंसठ) होते है—विकूणित, विहसित, कुचित न्यचित, अञ्चित, स्निग्ध, मुग्ध, निष्पन्द, विस्तारि, विकासि, स्तिमित,

महि व्याक्षेपि विक्षेपि त्रिभङ्गि त्र्यश्रमेव च ।
विकृष्टं विनतं स्फीतं व्यासङ्गि च विसंस्थुलम् ॥
विस्फारितं विलुलितं ललितञ्च तरङ्गितम् ।
कठोरं कलुषं रूक्षं कातरं चकितं चलम् ॥
कोमलं तरलं तानि प्रणयि प्रेमगर्भि च ।
सोत्प्रासं सस्पृहं ह्लादि प्रेङ्खोलं लोलमेव च ॥
एवमुक्ताश्चतुष्षष्टिर्विकारा दृष्टिसंश्रयाः ।
८४ उद्वर्तितमथोद्वृत्तं विवृत्तं च विवर्तितम् ॥
स्तब्धमुत्फुल्लमुल्लोलमुध्दुरं विधुरं तथा ।
विश्लिष्टं निष्ठुरं शुष्कं कुटिलं चटुलं तथा ॥
एते प्रायेण कथिता रौद्रस्यैवोपयोगिनः ।
८५ ससम्भ्रमं जडञ्चैव सव्यग्रं सव्यथं तथा ॥
तान्तमार्तं परिम्लानं तप्तं मलिनमेव च ।
एते प्रायेण शोकस्य विकारा दृष्टिसंश्रयाः ॥
८६ मन्थरं बन्धुरं धीरमविक्रियमकृत्रिमम् ।
अनुल्बणमसम्भ्रान्तमव्याजमनुपस्कृति ॥
सहर्षञ्च सगर्वञ्च वीरस्यैते प्रकीर्तिताः ।

मसृण, वक्र, मधुर, अभिलाषि, स्थिर, प्रसन्न, अलस, वलित, मदमन्थर, स्मेर, आनन्दि, साकूत, विदग्ध, विह्वल, निहञ्चित, निभृत, उत्कण्ठित, उदञ्चित, सोत्सुक, सोत्क, उत्कम्प, उल्लासि, समन्मथ, महि, व्याक्षेपि, विक्षेपि, त्रिभगि, त्र्यश्र, विकृष्ट, विनत, स्फीत, व्यासगि, विसस्थुल, विस्फारित, विलुलित, ललित, तरगित, कठोर, कलुष, रुक्ष, कातर, चकित, चल, कोमल, तरल, तानि, प्रणयि, प्रेमगर्भि, सोत्प्रास, सस्पृह, ह्लादि, प्रेखोल, लोल ।

८४ उद्वर्तित, उद्वृत, विवृत, विवर्तित, स्तब्ध, उत्फुल्ल, उल्लोल, उद्धुर, विधुर, विश्लिष्ट, निष्ठुर, शुष्क, कुटिल, जटुल—ये विकार प्राय 'रौद्र-रस' के उपयोगी कहे जाते है ।

८५ ससम्भ्रम, जड, सव्यग्र, सव्यथ, तान्त, आर्त, परिम्लान, तप्त, मलिन—ये प्राय 'शोक' के दृष्टि-विकार होते है ।

८६ मन्थर, बन्धुर, धीर, अविक्रिय, अकृत्रिम, अनुल्बण, असम्भ्रान्त, अव्याज अनुपस्कृति, सहर्ष, सगर्व—ये विकार 'वीर-रस' के कहे जाते हैं ।

८७ अरोचकमनुत्सेकमाविद्धं विद्धमेव च ॥
विकृष्टञ्च विनिष्क्रान्तं विनिगीर्णं विलोहितम् ।
एते प्रायेण कथिता बीभत्से च भयानके ॥

८८ केचित्साधारणास्तेषु भवन्त्यद्भुतहास्ययोः ।
एते शतं समाख्याताश्चत्वारश्च ततोऽधिकम् ॥
भागत्रयस्य सङ्कोचो विकासश्चरमस्य च ।

८९ यस्या दृष्टेर्विलक्षेण तद्विकूणितमुच्यते ॥

९० अनिमेषस्फुरत्तारं समं विहसितं विदुः ।
पुरस्त्रिभागसङ्कोचे प्रेम्णा तत्कुञ्चितं भवेत् ॥
पर्यायेण चलत्तारं मन्दं मन्दमथाञ्चितम् ।
स्निग्धं तद्यस्य विषयस्तत्प्रभामिलितो भवेत् ॥
स्वभावालोकितं मुग्धं भावगर्भमपि च्छलात् ।
निष्पन्दं तद्यदन्यत्र दृष्टिर्न स्पन्दते क्वचित् ॥

९१ अश्लिष्टो येन विषयस्तद्विस्तारीति कथ्यते ।
विकासि तद्यद्विषयविशेषमवगाहते ॥

---

८७ अरोचक, अनुत्सेक, आविद्ध, विद्ध, विकृष्ट, विनिष्क्रान्त, विनिगीर्ण, विलो-हित—ये विकार प्राय बीभत्स तथा भयानक-रस के कहे जाते है ।

८८ इन विकारो मे से कुछ साधारण विकार 'अद्भुत तथा हास्य' रस के होते है । ये विकार १०४ (एक सौ चार) से अधिक कह दिये, जिसमे तिहाई भाग तो दृष्टि के सकोच से प्रकट होता है, और शेष भाग दृष्टि के विकास से प्रकट होता है ।

८९ जिस दृष्टि के आश्चर्यान्वित हो जाने से जो विकार होता है वह 'विकूणित' कहलाता है ।

९० जिसमे अपलक रूप से फडकती हुई समतारो[९] वाली दृष्टि होती है उसे 'विह-सित' कहते हैं। प्रेम के कारण पलको के तिहाई हिस्से के सिकुडने पर 'कुचित' विकार कहलाता है जिसमे क्रमपूर्वक मन्द-मन्द चलते हुए तारो[१०] वाली दृष्टि होती हैउ से' 'अञ्चित' कहते है। 'स्निग्ध'—विकार वह होता है जिसका विषय दृष्टि की प्रभा से मिला हुआ होता है । जिसमे छल के कारण भावो से भरी हुई भी स्वाभाविक दृष्टि[११] होती है, वह 'मुग्ध' कहलाती है । 'निष्पन्द' वह हैं जिसमे दृष्टि अन्यत्र कही स्पन्दन नही करती है अर्थात् जिसमे दृष्टि अन्यत्र कहीं नही चलती है, वह 'निष्पन्द' कहलाता है ।

९१ जिस दृष्टि के विकार से विषय अश्लिष्ट रहता है उसे 'विस्तार' कहते है । 'विकासि' दृष्टि का वह विकार है जो कि विषय-विशेष का अवगाहन करता

स्वगोचरान्नचात्येति यत्तत्स्तिमितमुच्यते ।
मसृणं तदिति ख्यातमनुरागकषायितम् ॥
ऊर्ध्वाधोऽपाङ्गसञ्चारो यत्र तद्वक्रमुच्यते ।
शीतलीक्रियते येन तापस्तन्मधुरं स्मृतः ॥
अभिलाषि तदेव स्याद्याचमानमिवेक्षते ।
तत्स्थिरं यत्तु विषये दूरेऽप्यन्तर्हिते स्थिरम् ॥
तत्प्रसन्नं भवेत्सभ्रूविलासं सस्मितञ्च यत् ।
९२ अलसं तदभीष्टार्थाद्व्रीलादेर्यन्निवर्तनम् ॥
९३ वलितं तन्निवृत्तस्य भूयस्त्र्यश्रावलोकनम् ।
९४ व्याघूर्णमानमरुणं मुहुरामीलदन्तरा ॥
अपरिच्छिन्नविषयं मदमन्थरमीरितम् ।
९५ स्फुरद्भ्रूपक्ष्मतारं यत्तस्मेरमिति कथ्यते ॥
तदानन्दि सुखोन्मीलदामीलत्तारमुच्यते ।
९६ साकूतं तद्यत्र भावः कोऽप्यभीष्टो विभाव्यते ॥

है। जो स्वगोचर होने के कारण नही चलता है वह 'स्तिमित' कहलाता है। जो कषैले अनुराग को कहता है वह 'मसृण' होता है। जिसमे अपाग (कटाक्ष) ऊपर-नीचे चलते है वह 'वक्र' कहलाता है। जिस दृष्टि-विकार से ताप भी शीतल किया जाता है वह 'मधुर' कहा जाता है। 'अभिलाषि' दृष्टिविकार वह है जिसमे दृष्टि प्रार्थना करती हुई-सी दिखाई देती है अर्थात् 'अभिलापि' दृष्टि विकार वह है जिसमे मानो दृष्टि कोई प्रार्थना कर रही हो। 'स्थिर' विकार वह है जिसमे दृष्टि विषय के दूर तथा छुपे रहने पर भी स्थिर रहती है। 'प्रसन्न' विकार वह है जिसमे दृष्टि भ्रकुटियो के विलास के साथ मुस्कराती हुई रहती है।

६२ व्रीडा (लज्जा) आदि के कारण अभीष्ट अर्थ से लौट आने वाला दृष्टि-विकार 'आलस' कहलाता है।

६३ अर्थ से लौटी हुई दृष्टि का पुन अर्थ पर तिरछी दृष्टि से देखे जाना वाला विकार 'वलित' कहलाता है।

६४ बार-बार घूरता हुआ लाल दृष्टि वाला, बीच-बीच मे आँखो को बन्द करता हुआ तथा अपरिमित विषय वाला विकार 'मन्द-मन्थर' कहलाता है।

६५ फडकते हुए भ्रकुटी, बरौनी तथा तारो वाला दृष्टि विकार 'स्मेर' कहा जाता है। आनन्द के कारण खुलते तथा बन्द होते हुए तारो वाला दृष्टि विकार 'आनन्दि' कहा जाता है।

६६ जहाँ कोई अभीष्ट-भाव (अभिप्राय) जाना जाता है तो वह 'साकूत' दृष्टि-विकार कहलाता है।

९७ विदग्धं तद्यदालोके विवशाः सर्वजन्तवः ।
९८ अनवस्थिततारं यत्तद्विह्वलमुदाहृतम् ॥
९९ नासापुटस्फुरत्तारं निहञ्चितमुदाहृतम् ।
निभृतं तद्यदाश्लिष्यत्पुटमन्तरधोमुखम् ॥
१०० रागारुणं स्फुरद्बाष्पापाङ्गमुत्कण्ठितं विदुः ।
१०१ अपाङ्गयोरूर्ध्वभावादालोकनमुदञ्चितम् ॥
१०२ सोत्सुकं तद्यदालोक्य भूयो भूयोऽवलोकयेत् ।
१०३ दूरं धावति यत्प्रेम्णा तत्सोत्कमिति कथ्यते ॥
१०४ उत्कम्पं तद्यदुल्लोलं ताराभ्रूपक्ष्म सर्वतः ।
१०५ यत्रोल्लसत्यभिप्रायस्तदुल्लासीति कथ्यते ॥
यद्दर्शने विरक्तोऽपि क्षुभ्यते तत्समन्मथम् ।
१०६ यद्दर्शनान्महो जन्तोः सर्वस्य महि तद्भवेत् ॥

---

९७ जब किसी के देखने पर सभी प्राणी विवश हो जाते है तो वह 'विदग्ध' विकार कहलाता है ।

९८ अस्थिर तारो वाला 'विह्वल' दृष्टि-विकार कहलाता है ।

९९ नथुनो की तरह फडकते हुए तारो वाला विकार 'निहञ्चित' कहा जाता है । चिपकते हुए पलको वाला तथा बीच-बीच मे नीचे की ओर दृष्टि वाला विकार 'निभृत' कहलाता है ।

१०० राग के कारण लाल, फडकते हुए, आँसुओ से युक्त कोरो वाला दृष्टि विकार 'उत्कण्ठित' जाना जाता है ।

१०१ ऊपर उठे हुए बरौनियो से भाव के कारण दृष्टिपात करना 'उदचित' कहा जाता है अर्थात् भाव के कारण बरौनियो के ऊपर उठे हुए होने से दृष्टिपात करना 'उदचित' कहा जाता है ।

१०२ एक बार देखकर बार-बार देखना 'सोत्सुक' कहलाता है ।

१०३ प्रेम के कारण जो दृष्टि-विकार दूर दौडता है—वह 'सोत्क' कहा जाता है ।

१०४ सर्वत काँपते हुए तारो, भ्रकुटी तथा बरौनियो वाला दृष्टि विकार 'उत्कम्प' कहलाता है ।

१०५ जहाँ किसी अभिप्राय से दृष्टि प्रसन्न होती है तो वह दृष्टि-विकार 'उल्लासि' कहा जाता है । जिसके देखने पर विरक्त भी क्षब्ध हो जाता है तो वह दृष्टि-विकार 'समन्वय' कहा जाता है ।

१०६ जिसके देखने पर समस्त प्राणियो का उत्सव होता है तो वह दृष्टि-विकार 'महि' कहा जाता है ।

१०७ पश्चादाक्षिप्यते दूरं यदपाङ्गस्य सञ्चरः ।
तद्व्याक्षेपि स पार्श्वे स्याद्विक्षेपीति विभाव्यते ॥

१०८ मूलमध्याग्रभागेषु भङ्ग्या यद्विषयग्रहः ।
तत्त्रिभङ्गीति कथितं त्र्यश्रं तिर्यगुदञ्चितम् ॥

१०९ विकृष्टं तदधो वक्रापाङ्गभागापसर्पणम् ।
विनतंतदिति ख्यातमृज्वायतमधोगतम् ॥
उल्लसत्पक्ष्मताराभ्रु स्फीतमित्यभिधीयते ।
अन्यत्र सोत्कमन्यत्र स्थितं व्यासङ्गि कथ्यते ॥
विक्षेपणं यद्भ्रूतारापक्ष्मणां तद्विसंस्थुलम् ।
आयतं विस्फुरत्तारं विस्फारितमुदाहृतम् ॥
परिक्लिष्टपुटं म्लायत्तारं विलुलितं भवेत् ।
प्रेमार्द्रं मन्दविकसत्तारं ललितमीरितम् ॥
कल्लोल इव यत्कान्तिविच्छेदस्तत्तरङ्गितम् ।
कठोरं तद्यदुद्बाष्पमपि निर्बाष्पवद्दृढम् ॥
वर्णाविभागो निद्रादेर्यस्य तत्कलुषं विदुः ।
तत्तद्वर्णप्रभाहीनं यत्तद्रूक्षमिति स्मृतम् ॥

---

१०७ जब कोरो की गति पीछे या दूर जाती है तो 'व्याक्षेपि' कहते है। जब पास में जाती है तो 'विक्षेपि' जाना जाता है।

१०८ जो मूल, मध्य तथा अग्रभाग मे भाव-भगिमा से विषय ग्रहण करता है वह 'त्रिभगी' कहलाता है। तिरछे देखने को 'त्र्यश्र' कहते हैं।

१०९ निम्न तथा वक्रकोरो से दूर देखने को 'विकृष्ट' कहते है। सीधी तथा नीचे झुकी हुई दृष्टि के विकार को 'विनत' कहते हैं। खिले हुए बरौनी, तारो तथा भ्रकुटी वाले विकार को 'स्फीन' कहते है। अन्यत्र दूर तक दौडने तथा अन्यत्र रुकने वाले दृष्टि विकार को 'व्यासगि' कहते हैं। जो भ्रकुटी, तारो तथा बरौनियो का विक्षेप होता है वह 'विसस्थुल' कहलाता है। काँपते हुए विशाल तारो वाले दृष्टि विकार को 'विस्फारित' कहते है। घायल पलको वाला तथा मलिन तारो वाला दृष्टि विकार 'विलुलित' कहलाता है। प्रेम से गीले तथा थोडे खिले हुए तारो वाले दृष्टि विकार को 'ललित' कहा जाता है। तरग की तरह जिसकी कान्ति अलग हो जाती है वह 'तरगित' कहा जाता है। आँमुओ से युक्त होते हुए भी बिना आँसुओ के समान दृढ दृष्टि विकार 'कठोर' कहलाता है। नीद आदि के कारण जिस दृष्टि का वर्ण दूर नही होता है उस दृष्टि विकार को 'कलुष' कहते हैं। उस-उस वर्ण तथा प्रभा से

सहायान्वेषणपरं यत्तत्कातरमुच्यते ।
मीलनोन्मीलना वृत्तिर्यत्र तच्चकितं भवेत् ॥

११० वीक्षितं सर्वतोदिक्कं द्रुतं यत्तच्चलं भवेत् ।
कोमलन्तु यदव्याजस्निग्धमुग्धावलोकितम् ॥
तरलं तदिति प्राहुर्लोलत्ताराकनीनिकम् ।
यद्विशेषानभिज्ञत्वं दृष्टे वस्तुनि तानि तत् ॥

१११ यत्प्रीणयति दृष्टस्य मनस्तत्प्रणयि स्मृतम् ।
द्रवीभूतं मनो यस्य दर्शने प्रेमगर्भि तत् ॥
परौत्सुक्यं विभाव्येत यत्र सोत्प्रासमेव तत् ।
भूयोभूयः स्पृहा यत्र दृष्टे तत्सस्पृहं भवेत् ॥
ल्हादि तद्दृष्टमात्रे यत् शोकादिव्यपनोदनम् ।
गतप्रत्यागतं यत्र प्रेङ्खोलं तत्प्रचक्षते ॥

११२ धारावाहिकसञ्चारो यस्य तल्लोलमुच्यते ।

११३ एते विकाराः शृङ्गाररसस्यैवोपयोगिनः ॥
एतेषु केचिद्दृश्यन्ते प्रायेणाद्भुतहास्ययोः ।

हीन दृष्टि विकार 'रुक्ष' कहलाता है । दूसरे की सहायता की खोज करने वाला दृष्टि-विकार 'कातर' कहा जाता है । आँखो को खोलना, बन्द करना[१२]— यह दृष्टि विकार ही 'चकित' होता है ।

११० शीघ्रता से सभी दिशाओ की ओर देखना 'चल' कहलाता है । स्वाभाविक, स्निग्ध तथा मुग्ध दृष्टि[१३] वाला विकार 'कोमल' कहा जाता है । चचल तारो तथा पुतलियो वाला दृष्टि विकार 'तरल' कहा जाता है । वस्तु के देख लेने पर विशेष प्रकार की अनभिज्ञता 'तानि' कहलाती है ।

१११ जिससे दृष्ट् का मन प्रसन्न होता है तो 'प्रणयि' कहलाता है । जिसके दर्शन कर लेने पर मन पिघल जाता है तो 'प्रेमगर्भि' दृष्टि विकार होता है । जिससे दूसरे की उत्सुकता जानी जाती है वह 'सोत्प्रास' दृष्टि-विकार कहलाता है। जहाँ एक बार देख लेने पर बार-बार देखने की इच्छा होती है वह 'सस्पृह' कहा जाता है । जिसके देखने मात्र से शोक आदि दूर हो जाते है उसे हलादि' दृष्टि विकार कहते हैं । जो जाता है फिर लौट आता है उस दृष्टि विकार को 'प्रेखोल' कहते है ।

११२ जिसकी धारा-प्रवाह से गति रहती है अर्थात् निरन्तर चलती रहने वाले दृष्टि विकार को 'लोल' कहा जाता है ।

११३ ये सभी दृष्टि-विकार 'शृ गार-रस' के उपयोगी हैं । इनमे से कुछ प्राय अद्भुत तथा हास्य रस मे देखे जाते हैं ।

११४ उद्वर्तितं तद्विज्ञेयं भ्रुवोरूर्ध्वं प्रकल्पनम् ॥
विवृतोर्ध्वपुटान्तस्थतारमुद्वृत्तमुच्यते ।
११५ उद्वृत्तान्तःपुटाक्षिप्ततारं यत्तद्विवर्तितम् ॥
११६ निष्पन्दमानपक्ष्माग्रताराभ्रु स्तब्धमुच्यते ।
स्फुरद्विश्लिष्टपक्ष्माग्रतारमुत्फुल्लमुच्यते ॥
११७ ऊर्ध्वीकृतोल्लसत्तारमुल्लोलमिति कथ्यते ।
उध्दुरं विषयग्रासबद्धस्पृहमुदाहृतम् ॥
११८ विश्लिष्टं शून्यविषयप्रवृत्तं क्रोधवेगतः ।
निष्ठुरं पुटयोरन्तस्तारयोर्लुठनं मुहुः ॥
११९ अन्तःप्रौढाग्निसंशुष्यत्प्रभं शुष्कमुदाहृतम् ।
प्रकटभ्रुकुटीदृष्टिर्यत्र तत्कुटिलं भवेत् ॥
चटुलं तद्यदन्यत्र दुष्प्रेक्षं रुक्षभावतः ।
अनवस्थितिरेकत्र यत्र तत्स्यात् ससम्भ्रमम् ॥
सञ्चारशून्यं दौर्बल्याद्यत्तज्जडमितीरितम् ।
१२० विषयालोकनव्यग्रं सव्यग्रमिति कीर्तितम् ॥

---

११४ ऊपर उठी हुई भौहो वाला दृष्टि-विकार 'उद्वर्तित' कहलाता है । ऊपर के भ्रमित पलक मे घुसे हुए तारो वाले दृष्टि-विकार को 'उद्वृत' कहते है ।

११५ भीतर के पलक के खुलने से चचल तारो वाले दृष्टि-विकार को 'विवर्तित' कहते है ।

११६ कम्पन रहित बरौनी के अग्रभाग, तारे तथा भौहो वाले दृष्टि-विकार को 'स्तब्ध' कहते है । फडकते हुए तथा दूर होते हुए बरौनी के अग्रभाग तथा तारो वाले विकार को 'उत्फुल्ल' कहा जाता है ।

११७ ऊपर की ओर किये हुए तथा खिलते हुए तारो वाले दृष्टि-विकार को 'उल्लोल' कहते है । विषय के ग्रास से बद्ध स्पृहा वाले दृष्टि-विकार को 'उद्धुर' कहते है ।

११८ क्रोध तथा वेग के कारण शून्य विषय मे लगे हुए दृष्टि विकार को 'विश्लिष्ट' कहते है । पलको के भीतर तारो का बार-बार घूमना[१४] 'निष्ठुर' कहलाता है ।

११९ अन्दर भरी हुई अग्नि से सोखती हुई प्रभा वाला 'शुष्क' दृष्टि-विकार होता है । चढी हुई भौहो वाली[१५] दृष्टि से युक्त विकार 'कुटिल' कहलाता है । रूखे भाव से अन्यत्र देखना ही 'चटुल' है । जहाँ एक ही स्थान पर अस्थिर दृष्टि हो वह 'ससम्भ्रम' कहलाता है । दुर्बलता के कारण गति-शून्य दृष्टि-विकार 'जड' कहा जाता है ।

१२० व्यग्रता के साथ विषय को देखना ही 'सव्यग्र' कहलता है ।

१२१ व्यथते विषयं द्रष्टुं यत्तत्सव्यथमुच्यते ।
१२२ शुष्यद्भ्रूपुटपक्ष्माग्रं यत्तान्तं तत्समीरितम् ॥
१२३ शून्यालोकनमार्तं स्यान्म्लानं म्लायत्कनीनिकम् ।
निपतद्भ्रूपुटं शुष्यत्प्रभं तप्तमुदाहृतम् ॥
१२४ यदश्रुलुलितालोकं मलिनं तदुदाहृतम् ।
मन्थरं तत्समाख्यातं यावच्छ्रुति विकस्वरम् ॥
१२५ तदेव बन्धुरं ख्यातं किञ्चिदुत्फुल्लतारकम् ।
स्फुरत्प्रभावं गम्भीरं धीरमित्युच्यते बुधैः ॥
अनिश्चलं यच्छस्त्रास्त्रघातेऽपि तदविक्रियम् ।
स्वभावालोकितं यत्र तदकृत्रिममुच्यते ॥
१२६ अविकारि विकारस्य हेतौ यत्तदनुल्बणम् ।
१२७ गृह्यते येन सूक्ष्मार्थस्तदसम्भ्रान्तमुच्यते ॥
अव्याजं तदिति प्राहुर्यदच्छलविलोकनम् ।
प्रौढरागारुणापाङ्गं यत्स्यात्तदनुपस्कृति ॥
भाषमाणमिवाभाति यत्सहर्षं तदुच्यते ।

---

१२१ विषय को देखने के लिए कष्ट होता है वह 'सव्यथ' कहा जाता है ।

१२२ सूखे हुए भ्रकुटी, पलक तथा बरौनी के अग्रभाग वाले दृष्टि-विकार को 'तान्त' कहते हैं ।

१२३ शून्य दृष्टि को 'आर्त' कहा जाता है । मलिन पुतली वाले दृष्टि-विकार को 'म्लान' कहते है । झुकी हुई भ्रुकुटी[१६] तथा पलको वाले, सूखी हुई प्रभा वाले दृष्टि-विकार को 'तप्त' कहा जाता है ।

१२४ आँसुओ से चचल दृष्टि-विकार को 'मलिन' कहा जाता है । कानो तक खुले हुए दृष्टि-विकार को 'मन्थर' कहा जाता है ।

१२५ कुछ खिले हुए तारो वाले दृष्टि-विकार को 'बन्धुर' कहा जाता है । फडकते हुए, प्रभावशाली तथा गम्भीर दृष्टि-विकार को विद्वानो द्वारा 'धीर' कहा जाता है । अस्त्र शस्त्र से घायल होने पर भी जो चचल हो उसे 'अविक्रिय' कहते हैं । स्वाभाविक स्थिति में देखने को 'अकृत्रिम' कहा जाता है ।

१२६ विकार के हेतु होने पर भी विकार-रहित हो उसे 'अनुल्बण' कहते है ।

१२७ जिससे सूक्ष्म अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे 'असम्भ्रान्त' दृष्टि-विकार कहा जाता है । कपट-रहित दृष्टि[१७] को 'अव्याज' कहते है । बढे हुए (प्रौढ) राग के कारण लाल कोरो वाले दृष्टि-विकार को 'अनुपस्कृति' कहते है । जो बोलता हुआ सा प्रतीत होता है उसे 'सहर्ष' दृष्टि-विकार कहते है ।

१२८ सगर्वं तद्यदुत्फुल्लतारं स्थिरकनीनिकम् ॥

१२९ अपाङ्गकूणनं यत्र तदरोचकमुच्यते ।
यद्विनम्रपुटापाङ्गं तदनुत्सेकमुच्यते ॥

१३० ऊर्ध्वाधःक्षिप्तसञ्चारो व्याविद्धमिति कथ्यते ।

१३१ अपाङ्गयोरधस्ताराविक्षेपो विद्धमुच्यते ॥
विकृष्टं तच्छून्यमेव यदाकाशावलोकनम् ।

१३२ अन्तर्बाष्पस्फुरत्तारं विनिगीर्णमुदाहृतम् ॥

१३३ बहिस्ताराविनिष्क्रान्तैर्विनिष्क्रान्तमुदाहृतम् ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो यस्य लोहितं तद्विलोभितम् ॥
एते दृष्टिविकारास्तु सम्यग्लक्षणलक्षिताः ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्ते तद्विलोक्यताम् ॥

१३४ भावजा रसजाश्चापि तथा सञ्चारिभावजाः ।
षट्त्रिंशद्भरतेनोक्तास्ताः कथ्यन्तेऽत्र दृष्टयः ॥

१३५ स्निग्धा हृष्टा च दृप्ता च विस्मिता क्रोधिताऽपि च ।
दीना जुगुप्सिता चैव सभया भावदृष्टयः ॥

---

१२८ खिले हुए तारो वाले तथा स्थिर पुतली वाले दृष्टि-विकार को 'सगर्व' कहते है।

१२९ तिरछे कोरो वाले दृष्टि-विकार जो 'अरोचक' कहा जाता है। झुके हुए पलको तथा कोरो वाले दृष्टि-विकार को 'अनुत्सेक' कहा जाता है।

१३० ऊपर नीचे आक्षिप्त गति वाले दृष्टि-विकार को 'व्याविद्ध' कहा जाता है।

१३१ कोरो के नीचे तारो के विक्षेप को 'विद्ध' कहा जाता है। शून्य मे तथा आकाश की ओर देखने को 'विकृष्ट' कहते है।

१३२ अन्दर-अन्दर आँसुओ से फडकते हुए तारो वाले दृष्टि-विकार को 'विनिगीर्ण' कहते है।

१३३ तारो के बाहर निकल आने[१८] से 'विनिष्क्रान्त' कहा जाता है। जो वस्तु नही है उसका ग्रहण करना—ऐसे लोहित दृष्टि-विकार को 'विलोभित' कहते है। ये दृष्टि-विकार है, इनके लक्षण भलीभाँति कह दिये। महाकवियो के प्रबन्धो (रचनाओ) मे ये देखे जाते है उन्हे वही देखे।

१३४ भरत-मुनि के मतानुसार भावजा, रसजा तथा सञ्चारिभावजा ३६ (छत्तीस) प्रकार की दृष्टियाँ कही जाती हैं। उन दृष्टियो को यहाँ कहते है।

१३५ स्थायी-भावो से उत्पन्न दृष्टि के आठ भेद होते हैं—स्निग्धा, हृष्टा, तृप्ता, विस्मिता, क्रोधिता (क्रुद्धा), दीना, जुगुप्सिता तथा भयान्विता।

१३६ कान्ता सहास्या वीरा च साद्भुता रौद्रिका पुनः ।
करुणासहिता दृष्टिर्बीभत्सा सभयानका ।।
दृष्टयो रसजा ह्येताः कथिता भरतादिभिः ।

१३७ दीना ज मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा ।।
ग्लाना ज शङ्किता चव विषण्णा मुकुला तथा ।
कुञ्चिता चाभितप्ता च जिह्मा च ललिताऽपि च ।।
वितर्किताऽर्धमुकुला विभ्रान्ता विप्लुताऽपि च ।
आकेकरा विशोका च त्रस्ता च मदिरा तथा ।।
इति विंशतिरुद्दिष्टा दृशः सञ्चारिभावजाः ।

१३८ हर्षप्रसादललिता कान्ता मन्मथशालिनी ।
विलसद्भ्रूकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरुच्यते ।

१३९ आकुञ्चितपुटापाङ्गा विभ्रान्तस्वल्पतारका ।।
अव्यक्तसञ्चारवती दृष्टिर्हास्ये प्रकीर्तिता ।

१४० तप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका ।।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु धीरा वीररसाश्रया ।
रोषरक्तान्तनयना स्फुरत्तारा विकस्वरा ।।
अक्षुब्धा स्यादचकिता वीरा युद्धप्रहर्षणी ।

---

१३६ भरत आदि के कथनानुसार रसजा दृष्टि के आठ भेद होते है—कान्ता, हास्या, वीरा, अद्भुता, रौद्रा, करुणा, बीभत्सा तथा भयानका ।

१३७ सचारी-भावो से उत्पन्न दृष्टि के बीस भेद होते है—दीना, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, ग्लाना, शकिता विषण्णा, मुकुला, कुचिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा (विकोशा) त्रस्ता तथा मदिरा ।

(शृगार-रस की दृष्टि)

१३८ जो हर्षित, प्रसाद, ललित, कान्त, काम के युक्त तथा चचल भ्रू और कटाक्ष वाली दृष्टि होती है वह शृगार-रस मे कही जाती है ।

(हास्य की दृष्टि)

१३९ जो सिकुडी हुई पलको[१] के कोरो वाली, मन्द-मन्द घूमते हुए तारो वाली तथा अव्यक्त रूप से चलने वाली दृष्टि होनी है वह 'हास्य-रस' मे कही जाती है ।

(वीर-रस की दृष्टि)

१४० जो तप्न, विकसित, क्षुब्ध, गम्भीर, समतारो वाली, विकसित मध्य भाग वाली, धीर, वीरोचित रोप के कारण लाल कोरो वाली, फडकते हुए तारो वाली, खिली हुई, क्षोभरहित, अचकित तथा युद्ध में हर्षित दृष्टि होती हे वह 'वीरा' कहलाती है ।

१४१ कुञ्चिताञ्चितपक्ष्माग्रा किञ्चिदुद्वृत्ततारका ॥
सद्यो विकस्वरान्ता च साऽद्भुता दृष्टिरुच्यते ।
१४२ क्रूरा रूक्षारुणोद्वृत्ता निष्टप्तपुटतारका ॥
भ्रुकुटीकुटिला दृष्टी रौद्रा रौद्ररसे स्मृता ।
१४३ पतितोर्ध्वपुटा सास्रा मन्युमन्थरतारका ॥
नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ।
१४४ निकुञ्चितपुटापाङ्गा घृणोपप्लुततारका ॥
संश्लिष्टस्थिरपक्ष्मा च बीभत्सा दृष्टिरुच्यते ।
१४५ प्रोद्वृत्तनिष्टब्धपुटा स्फुरदुद्वृत्ततारका ।
दृष्टिर्भयानकाऽत्यन्तभीता ज्ञेया भयानके ।
१४६ विशेषणाश्रया व्याख्या दृष्टीनां कथ्यते पुरः ॥
१४७ हर्षे निश्चलतारत्वं प्रसादे स्निग्धतारका ।

(अद्भुत-रस की दृष्टि)

१४१ कुछ सिकुडी हुई बरौनियो के अग्रभाग वाली, कुछ घूमते हुए तारो[१०] वाली तथा शीघ्र ही खिले हुए कोरो वाली दृष्टि 'अद्भुता' कहलाती है।

(रौद्र-रस की दृष्टि)

१४२ जो दृष्टि क्रूर, रुक्ष, अरुण, उद्वृत (खुली हुई), तप्त पलको तथा तारो वाली, तथा टेढी भौंहो वाली होती है वह 'रौद्रा' कहलाती है तथा उसका विनियोग 'रौद्र-रस' मे होता है।

(करुण-रस की दृष्टि)

१४३ जो दृष्टि नीचे गिरी होती है, पलकें ऊपर उठी होती हैं, आँसू बहा रही होती है, क्रोध के कारण जिसकी पुतली शिथिल पड जाती है तथा नाक के अग्र-भाग पर जमी होती है वह 'करुणा' कहलाती है। करुण रस मे उसका विनि-योग होता है।

(बीभत्स-रस की दृष्टि)

१४४ सिकुडी हुई पलको के कोरो वाली, घृणा से फुदकती तारो वाली तथा सटी हुई और स्थिर पलको वाली दृष्टि 'बीभत्सा' कहलाती है।

(भयानक-रस की दृष्टि)

१४५ खुले हुए एव स्तब्ध पलको वाली, फडकते हुए तथा घुमते हुए तारो वाली तथा अत्यन्त डरी हुई दृष्टि 'भयानका' कहलाती है। भयानक रस के अभि-नय मे उसका विनियोग होता है।

१४६ आगे विश्लेषण के आश्रित दृष्टियो की व्याख्या कहते है।

१४७ 'हर्ष मे निश्चल तारो वाली दृष्टि होती है। 'प्रसाद' मे स्निग्ध तारो वाली दृष्टि होती है। अनुराग (प्रीति) व्यक्त करने वाली दृष्टि कान्ता, ललिता

व्यक्तप्रसक्तिः कान्ता स्याल्ललिता सा च मन्थरा ॥
सन्नतापाङ्गसञ्चारवती दृष्टिः समन्मथा ।
अपाङ्गे तारविक्षेपः कटाक्ष इति कथ्यते ॥

१४८ अव्यक्तविकृतिर्दृष्टिर्गम्भीरेति प्रकीर्तिता ।
पक्ष्मणोरन्यसंश्लेषःकुञ्चितं विनतेऽञ्चितम् ॥
ऊर्ध्वप्रवृत्ततारं यत्सौम्यं समविलोकने ।
दुरालोका भवेत्क्रूरा रूक्षा स्नेहविवर्जिता ॥

१४९ निश्चलायत निष्टब्धा कुटिला सोग्रतारका ।
मन्थरा मन्दसञ्चारा कुञ्चिता त्र्यश्रवीक्षणा ॥
बलात्कारेण विषयान् गृह्णती स्यादुपप्लुता ।

१५० व्याकोशमध्या मधुरा स्थिरताराभिलाषिणी ॥
सानन्दाश्रुकृता दृष्टिः स्निग्धेयं रसभावजा ।

१५१ चला हसितगर्भा च विशात्ताराऽनिमेषिणी ॥

तथा मन्थरा कहलाती है। झुके हुए कोरो मे सचरण करने वाली दृष्टि 'समन्मथा' कहलाती है। कोरो के बीच होने वाले तारो के विक्षेप को कटाक्ष कहते हैं।

१४८ विकार व्यक्त न करने वाली दृष्टि 'गम्भीरा' कहलाती है। बरौनियो के सट जाने तथा सिकुड जाने पर दृष्टि 'विनता' कहलाती है। समान देखन पर ऊपर की ओर प्रवृत्त तारो वाली दृष्टि 'सौम्य' कहलाती है। कष्ट देने वाली बुरी दृष्टि 'क्रूरा' तथा स्नेह रहित 'रुक्षा' दृष्टि होती है।

१४६ निश्चल दृष्टि 'निष्टब्धा' कहलाती है। उग्र तारो वाली दृष्टि 'कुटिला' कहलाती है। झुकी हुई (शिथिल), मन्द गति वाली तथा सिकुडी हुई दृष्टि 'त्र्यश्र' कहलाती हे। शक्तिपूर्वक विषय को ग्रहण करने वाली दृष्टि 'उपप्लुता' होती है।

(रस-भावजा दृष्टि का स्वरूप)

(स्निग्धा)

१५० मध्यम-अवस्था मे विकसित अर्थात् न अधिक न कम विकसित, मधुर, स्थिर तारो वाली, अभिलापिणी तथा आनन्द के आँसुओ से युक्त दृष्टि 'स्निग्धा' कहलाती है, यह शृगार-रस के 'रति'-भाव से उत्पन्न होती है।

(हृष्टा)

१५१ चचल, हास्य युक्त तथा कुछ सिकुडी हुई जिसमे तारे पूरी तरह से दिखाई नही देते है, ऐसी दृष्टि 'हृष्टा' कहलाती है। हास्य-रस के अभिनय मे उसका

किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ।
अपाङ्गे शौक्ल्यभूयिष्ठा हासगर्भेति कथ्यते ॥

१५२ सस्मिते तारके यस्याः स्थिता विकसितान्तरा ।
सत्त्वमुद्गिरती दृप्ता दृष्टिरुत्साहसंभवा ॥
अवज्ञागर्भिणी दृष्टिर्दृप्तेति परिभाष्यते ।
अनभिव्यक्तविकृतिः विषये सत्त्वभूयसी ॥
यन्नापह्रियते दृष्टिर्विषयैरपहारिभिः ।
तदेव स्थैर्यमित्युक्तं दृष्टेः सर्वत्र कोविदैः ॥

१५३ विस्मयोत्फुल्लतारा च हृष्टोभयपुटाञ्चिता ।
समा विकसिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता ॥

१५४ रूक्षा स्थिरोद्वृत्तपुटा विष्टब्धोद्वृत्ततारका ।
कुटिला भ्रुकुटीदृष्टिः क्रुद्धा क्रोधेऽभिधीयते ॥

१५५ उत्तब्धपक्ष्मरुद्धा या स्रस्तारा च जलाविला ।
मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते ॥
रुच्येऽपि विषये दृष्टेरौदासीन्यं ह्यदीनता ।

विनियोग होता है। कोरो मे अधिक शुक्लता होने से दृष्टि 'हास-गर्भा' कहलाती है।

(दृप्ता)

१५२ मुस्कराती हुई तारो वालो, स्थिर, बीच-बीच मे विकसित तथा सत्त्व (धैर्य) को उगलती हुई दृष्टि 'दृप्ता' कहलाती है।उत्साह के अभिनय मे उसका विनियोग होता है। अवज्ञा-युक्त दृष्टि 'दृप्ता' कहलाती है। विषय के प्रति विकार को व्यक्त न करने वाली दृष्टि सत्त्वशालिनी होती है। जो दृष्टि गुप्त विषयो से नही छिपाई जाती है उसे विद्वान दृष्टि की स्थिरता कहते है।

(विस्मिता)

१५३ विस्मय के कारण घूमने वाली तारो वाली हृष्ट (प्रसन्न) दोनो पलको वाली, तथा समान विकसित दृष्टि 'विस्मिता' कहलाती है। विस्मय के भावो के अभिव्यजन मे उसका विनियोग होता है।

(क्रुद्धा)

१५४ रुखी, स्थिर और उठे हुए पलको वाली, स्तब्ध और चचल तारो वाली तथा टेढी भौहो वाली दृष्टि 'क्रुद्धा' कहलाती है। क्रोध के भावो को व्यक्त करने के लिए उसका विनियोग होता है।

(दीना)

१५५ स्तब्ध तथा अवरुद्ध बरौनियो वाली, झुकी हुई पुतलियो वाली, आँसुओ से भी भरी और मन्द-मन्द सचरण करने वाली दृष्टि 'दीना' कहलाती है। शोक मे उसका विनियोग होता है। रुचिकर विषयो के प्रति भी दृष्टि की उदासीनता दीनता कहलाती है।

१५६ सङ्कोचितपुटा श्यामा दृष्टिर्मीलिततारका ।
पक्ष्मोन्मेषात्समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥
विस्तारः स्यात्ततो ह्रासः सङ्कोच इति कथ्यते ॥
छायावैगुण्यमेव स्याद्दृष्टेः श्यामत्वमुच्यते ।
तारापुटभ्रुवां कम्पादुद्विग्नेति विभाव्यते ॥
जुगुप्सिता च विज्ञेया विषयादपरागिणी ।
१५७ विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका ॥
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ।
१५८ इति स्वरूपतः प्रोक्ता दृष्टयो रसभावजाः ॥
१५९ तारा समपुटा स्निग्धा निष्कम्पा शून्यदर्शना ।
बाह्यार्थाग्राहिणी श्यामा शून्या दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥
१६० प्रस्पन्दमानपक्ष्माग्रा नात्यन्तमुकुलैः पुटैः ।
मलिनान्ता च मलिना दृष्टिः पिहिततारका ॥
मलिना कथ्यते दृष्टिः क्षरदुष्णाश्रुदूषिता ।

(जुगुप्सिता)

१५६ सकुचित पलको वाली, मीलित (बन्द) पुतलियो वाली तथा बरौनियो के खुलने से उद्विग्न (व्याकुल) हुई धुधली (श्यामा) दृष्टि 'जुगुप्सिता' कहलाती है। जुगुप्सा मे उसका विनियोग होता है। पहले विस्तार (बढना) बाद मे ह्रास (घटना) ही 'सकोच' कहलाता है। छाया की न्यूनता की तरह दृष्टि की 'श्यामलता' कही जाती है। पुतली, पलको तथा भौहो के कम्पन से दृष्टि 'उद्विग्न' जानी जाती है। विषयो से अपराग करने वाली दृष्टि 'जुगुप्सिता' जानी जाती है।

(भयान्विता)

१५७ दोनो खुली हुई पलको वाली, भय से काँपती हुई तारो वाली तथा मानो भय से बाहर निकली हुई मध्य-भाग वाली दृष्टि 'भयान्विता' कहलाती है। भय के भावो को अभिव्यक्त करने के लिए उसका विनियोग होता है।

१५८ इस प्रकार रसो के स्थायी-भावो से उत्पन्न दृष्टियो को स्वरूपत कह दिया।

१५९ सम तारो वाली, सम पलको वाली,[२१] स्निग्ध, निष्कम्प, शून्य दिखायी पडने वाली, बाह्य विषय को ग्रहण करने वाली तथा श्याम (धुँधली) दृष्टि 'शून्या' कहलाती है।

१६० बरौनियो के अग्रभाग से कम्पित और अन्तिम भाग से मलिन (धुधली), अर्ध-मुकुलित पलको वाली तथा बन्द पुतलियो वाली दृष्टि 'मलिना' कहलाती है। बहुते हुए गर्म आँसुओ से दूषित दृष्टि 'मलिना' कही जाती है।

१६१ श्रमप्रम्लापितपुटा क्षामान्ताञ्चितलोचना ॥
सन्ना पतिततारा च दृष्टिः श्रान्तेति कथ्यते ।
प्रम्लापनं भवेच्छोषः क्षामत्वमविकासिता ॥
निश्चेष्टता तारकाभ्रूपुटानां साद उच्यते ।

१६२ किञ्चिदञ्चितपक्ष्मा या पतितोर्ध्वपुटा ह्रिया ॥
त्रपाऽधोगततारा च दृष्टिर्लज्जावती भवेत् ।

१६३ म्लानभ्रूपुटपक्ष्मा च शिथिला मन्दचारिणी ॥
क्लमप्रविष्टतारा च ग्लाना दृष्टिरुदाहृता ।
अस्पष्टतारासञ्चारो दृष्टेः शैथिल्यमुच्यते ॥

१६४ किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चिदुन्नता तिर्यगायता ।
गूढा चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरुच्यते ॥

१६५ विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्तान्ताऽनिमेषिणी ।
किञ्चिन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥

१६६ स्फुरिताश्लिष्टपक्ष्माग्रा मुकुलोर्ध्वपुटान्विता ।
सुखोन्मीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥

---

१६१ श्रम से म्लान पलको वाली, कृश तथा सकुचित कोरो वाली, स्तब्ध तथा नीचे गिरते हुए तारो[२२] वाली दृष्टि 'श्रान्ता' कहलाती है। शोष (सूखे) को 'म्लान' कहते है। अविकसित को 'क्षाम' कहते है। पुतली, भ्रकुटी तथा पलको की निश्चेष्टता 'साद' कहलाती है।

१६२ कुछ सिकुडी हुई बरौनियो वाली, लज्जा से नीचे झुके हुए ऊपर के पलको वाली तथा लज्जा से गिरी हुई पुतलियो वाली दृष्टि 'लज्जावती' होती है।

१६३ मलिन भ्रकुटी, पलको तथा बरौनियो वाली, शिथिल, मन्द-मन्द चलने वाली तथा थकान के कारण अन्दर घुसे हुए तारो[२३] वाली दृष्टि 'ग्लाना' कही जाती है। पुतलियो की अस्पष्ट गति (चलना) दृष्टि की 'शिथिलता' कही जाती है।

१६४ कुछ चचल, स्थिर, कुछ ऊपर उठी हुई, तिरछी खुली हुई, गूढ (गुप्त) और चकित तारो वाली दृष्टि 'शकिता' कहलाती है।

१६५ विषाद मे फैली हुई दोनो पलको वाली, चारो ओर से अनिमेषिणी तथा कुछ निश्चल पुतली वाली दृष्टि 'विषादिनी' कही जाती है।

१६६ जिसमे बरौनियो के अग्रभाग फडकते हुए तथा मिले हुए होते है, ऊपर के पलक खिले हुए होते हैं और पुतलियाँ सुख के कारण उन्मीलित होती है वह दृष्टि 'मुकुला' कहलाती है।

१६७ अनिकुञ्चितपक्ष्माग्रा पुटैराकुञ्चितैस्तथा ।
सन्ना पतिततारा च कुञ्चिता दृष्टिरिष्यते ।।

१६८ मन्दायमानतारा या पुटैः प्रशिथिलैस्तथा ।
सन्तापोपप्लुता दृष्टिरभितप्ता तु सव्यथा ।।

१६९ लम्बिताकुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षिणी ।
गूढोद्वर्तिततारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ।।

१७० मधुरा कुञ्चितान्ता च सस्मिताऽन्तर्विकासिनी ।
समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता भवेत् ।
वितर्कोद्वर्तितपुटा तथैवोत्फुल्लतारका ।
अधोगतविकारा च दृष्टिरिष्टा वितर्किता ।।
अर्धव्याकोशतारा च ह्लादार्धमुकुलैः पुटैः ।
स्मृताऽर्धमुकुला दृष्टिः किञ्चिल्ललिततारका ।।
अनवस्थिततारा च विस्तीर्णोत्फुल्लमध्यमा ।
विभ्रान्ततारका दृर्टिविभ्रान्तेति हि कथ्यते ।।

१७१ पुटौ प्रस्फुरितौ यस्या निष्टब्धौ पतितौ पुनः ।
विप्लुतोद्वृत्ततारा च दृष्टिरिष्टा तु विप्लुता ।।

---

१६७ सिकुडे हुए पलको के कारण झुके हुए बरौनियो के अग्रभाग वाली, स्थिर तथा नीचे गिरती हुई तारो वाली दृष्टि 'कुचिता' कहलाती है ।

१६८ पलको के शिथिल होने के कारण मन्द-मन्द चलती हुई पुतलियो वाली तथा सताप और दुख को प्रकट करने वाली दृष्टि 'अभितप्ता' कहलाती है ।

१६९ लटके हुए और सिकुडे हुए पलको वाली, धीरे-धीरे चितवन डालने वाली तथा गूढ और चचल पुतलियो वाली दृष्टि 'जिह्मा' कहलाती है ।

१७० मधुर, सिकुडी हुई कौरो वाली, मुस्कराती हुई, अन्तर्विकसित तथा काम-विकार को प्रकट करने वाली दृष्टि 'ललित' कही जाती है । वितर्क (सशय) मे लगी हुई पलको वाली, पूर्ण खिले हुए तारो वाली और नीचे की ओर सचरण करने वाली दृष्टि 'वितर्किता' जानी जाती है । हर्प के कारण अर्ध-मुकुलित पलको से अर्धमुकुलित तारो वाली और कुछ ललित तारो वाली दृष्टि 'अर्धमुकुला' कहलाती है । अस्थिर (चचन) पुतलियो वाली, विस्तीर्णा, विकसित मध्य भाग वाली तथा विभ्रान्त (चचल) तारो वाली दृष्टि 'विभ्रान्ता' कहलाती है ।

१७१ जो दृष्टि क्रमश क्षुब्ध, स्थिर तथा गिरी हुई दोनो पलको को धारण करती है और जो दृष्टि विप्लुता (व्याकुलता) के कारण चचल पुतलियो वाली होती है उसे 'विप्लुता' कहते है । जिसकी पलके तथा कोरे कुछ सिकुडी हुई और

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ।।
१७२ विकोशितोभयपुटा प्रोत्फुल्ला चानिमेषिणी ।
अनवस्थिततारा च विकोशा दृष्टिरिष्यते ।।
त्रासादुद्वर्तितपुटा मुहुः कम्पिततारका ।
त्रासादुत्फुल्लमध्या च त्रस्ता दृष्टिरुदाहृता ।।
१७३ भयचिन्ताश्रुशून्या स्याद्वैवर्ण्ये मलिना भवेत् ।
१७४ निर्वेदे च श्रमे श्रान्ता स्वेदे लज्जासु लज्जिता ।।
ग्लाना दृष्टिरपस्मारव्याधिग्लानिषु वर्तते ।
१७५ शङ्काविषादयोर्ज्ञेया शङ्किता च विषादिनी ।।
१७६ दृष्टिर्मुकुलिता स्वप्नसुखनिद्रासु वर्तते ।
कुञ्चिता सूचितानिष्टा दुष्प्रेक्षाऽक्षिव्यथासु च ।।
अभितप्ता च निर्वेदे त्वभिघाताभितापयोः ।

जुडी हुई होती है, आधी खुली हुई होती है तथा जिसकी पुतलियाँ बार-बार घूमती है, वह दृष्टि 'आकेकरा' कहलाती है ।

१७२ जिसकी दोनो पलके खिली हुई होती है, जो अत्यन्त विकसित होती है, जिसकी पलके निर्निमेष (अपलक) होती है और पुतलियाँ घूमती है, वह दृष्टि 'विकोशा' कहलाती है जिसकी दोनो पलके भय से घूमती है, पुतलियाँ बार-बार काँपती है और जिसका मध्य भाग त्रास (भय) से विकसित होता है उसे 'त्रस्ता' दृष्टि कहा जाता है ।

१७३ भय, चिन्ता तथा अश्रु का भाव प्रकट करने मे 'शून्या' दृष्टि का विनियोग होता है । वैवर्ण्य (मालिन्य) का भाव प्रकट करने मे 'मलिना' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७४ निर्वेद और श्रम के अभिनय मे 'श्रान्ता' दृष्टि का विनियोग होता है । स्वेद तथा लज्जा भाव के प्रकट करने मे 'लज्जिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अपस्मार, व्याधि तथा ग्लानि के भावो के अभिव्यजन मे 'ग्लाना' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७५ शका और विषाद का भाव प्रकट करने मे 'शकिता' और 'विषादिनी' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७६ स्वप्न, सुख और निद्रा के भावो को व्यक्त करने मे 'मुकुलिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अनिष्ट, कठिनाई से दिखायी देने वाली वस्तु को देखने तथा नेत्र-पीडा के अभिनय मे 'कुचिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अवसाद, चोट और रोग (अभिताप) के अभिनय मे 'अभितप्ता' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७७ जिह्मा दृष्टिरसूयायां जडतालस्ययोर्भवेत् ॥
ललिता हर्षधृत्योः स्यात्स्मृता तर्के वितर्किता ।

१७८ आह्लादेष्वर्धमुकुला गन्धस्पर्शसुखादिषु ॥
विभ्रान्तदृष्टिरावेगे सम्भ्रमे विभ्रमेऽपि च ।

१७९ विप्लुता चापलोन्मादद्ुःखार्तिमरणादिषु ॥
आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रेक्षितेषु च ।
विबोधामर्षगर्वौग्र्यमतिषु स्याद्विकासिता ॥

१८० त्रस्ता त्रासे भवेद्दृष्टिर्मदेषु मदिरा भवेत् ।

१८१ यथा नेत्रं प्रसर्पेत मुखभ्रूदृष्टिसंयुतम् ॥
तथा भावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत् ।

१८२ स्वरूपं विनियोगश्च दृष्टीनां प्रतिपादितः ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थातदाश्रय-
रसभावदृष्टिविकारादिवर्णनं
नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥

---

१७७ असूया, जडता तथा आलस्य के भाव को व्यक्त करने मे 'जिह्मा' दृष्टि का विनियोग होता है। हर्ष तथा धृति के भाव को व्यक्त करने मे 'ललिता' दृष्टि का विनियोग होता हे। तर्क के भाव को व्यक्त करने मे 'वितर्किना' दृष्टि का विनियोग होता है।

१७८ आह्लाद, गन्ध, स्पर्श तथा सुख आदि के भावो के अभिव्यजन मे 'अर्ध-मुकुला' दृष्टि का विनियोग होता है। आवेग, सम्भ्रम तथा विभ्रम (बैचेनी) के भाव-प्रदर्शन मे 'विभ्रान्ता' दृष्टि का विनियोग होता है।

१७९ चपलता, उन्माद, दुख, पीडा तथा मरण आदि के अभिनय मे 'विप्लुता' दृष्टि का विनियोग होता है। कठिनाई से देखने तथा स्नेह-भग पूर्वक दृष्टि-पात करने मे 'आकेकरा' दृष्टि का विनियोग होता है। विबोध, अमर्ष, गर्व, उग्रता तथा मति के भावो के अभिव्यजन मे 'विकासिता' दृष्टि का विनि-योग होता है।

१८० त्रास (भय) के अभिनय मे 'त्रस्ता' दृष्टि का विनियोग होता है। मद के अभिनय मे 'मदिरा' दृष्टि का विनियोग होता है।

१८१ मुख, भ्रकुटी तथा दृष्टि से युक्त जैसे नेत्र हो वैसे ही भाव तथा रस मे युक्त मुखराग का प्रयोग करना चाहिए।

१८२ इस प्रकार दृष्टियो का स्वरूप तथा विनियोग कह दिया।[१४]

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थातदाश्रय—
रसभावदृष्टिविकारादिवर्णन नामक पचम अधिकार हुआ।

श्रीः

अथ षष्ठोऽधिकारः

---

१ अनुभूतिप्रकाराश्च रसाना गतयोऽपि च ।
आभासाश्च रसानाञ्च तेषामन्योन्यमेलनम् ॥
तद्विकल्पादयोऽन्येऽपि भावा वाक्यार्थताऽपि च ।
अत्राभिधीयतेऽस्माभिः कल्पवल्लयनुसारतः ॥

२ उत्पन्ना रतिरेकत्र प्रथमं दर्शनादिभिः ।
दीप्यमाना विभावैः स्वैस्तत्सान्निध्यादिकल्पितैः ॥
कटाक्षवीक्षणोद्यानगमनाद्यनुबन्धिनी ।
तद्दर्शनोपजनितैः स्मृतिहर्षमदादिभिः ॥
वागारम्भानुभावेन दीप्यमानाऽनुवर्धते ।
तद्दर्शनाद्दीप्यमानकम्परोमोद्गमादिभिः ॥
हृदारम्भानुभावेन शृङ्गारं विशिनष्टि सा ।
त्रिधाऽनुभावानुबन्धा रसोत्कर्ष यथारति ॥
पुष्यन्त्यन्यत्र विद्वद्भिरेवमेव विलोक्यताम् ।

---

१ अब हम कल्पवल्ली के अनुसार रसानुभूति के प्रकार, रसो की गति, रसाभास तथा उनका पारस्परिक मिश्रण, रसो के विकल्प आदि अन्य भाव तथा रसो की वाक्यार्थता कहते है ।

(रसानुभूति-प्रकार)

२ रति एक स्थान पर पहले दर्शन आदि विभावो से उत्पन्न होती है। अपने और उसके सान्निध्य आदि कल्पित विभावो से उद्दीप्त होती है। कटाक्ष से देखना, उद्यानगमन आदि से सम्बन्धित रति, उसके दर्शन से उत्पन्न स्मृति, हर्ष, मद आदि—वागारम्भानुभाव से उद्दीप्त रति और वृद्धि को प्राप्त होती है। उसके दर्शन से उद्दीप्त होती हुई कम्पन, रामोद्गम आदि—हृदयारम्भानुभाव से वह रति शृ गार-विशेप हो जाती है, इस प्रकार त्रिविधा अनुभाव से सम्बन्धित रति रस के उत्कर्प को पुष्ट करती है। इस प्रकार से ही अन्यत्र रसानुभूति को विद्वान देखे ।

३ अष्टधा गतिरेतेषां रसानां कथ्यते बुधैः ॥
आश्लेषलीनविच्छेदसूक्ष्मव्यतिकरस्थिराः ।
शोभनश्च समश्चेति सर्वत्राभिनयाश्रयाः ॥

४ रसस्य वर्तमानस्य स्वसामग्रीसमेन च ।
अन्येन सङ्गतिः स्याच्चेदयमाश्लेष उच्यते ॥

५ रसोऽनुभूयमानश्चेद्रसान्तरतिरस्कृतः ।
अन्यरागान्निवृत्तो वा स लीन इति संज्ञितः ॥

६ विच्छिन्नमध्यः प्रबलैर्विरुद्धैर्हेतुभिः क्वचित् ।
पुनश्चेन्नानुवृत्तः स्यात्स विच्छेद इतीरितः ॥

७ आलम्बनगुणस्थैर्यात्संस्कारस्यानुवर्तनात् ।
योऽनुयाति विलीनो यः स सूक्ष्म इति कथ्यते ॥

८ समकालसमुत्पन्नैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामथापि वा ।
रसश्चेद्व्यतिकीर्येत स तु व्यतिकरः स्मृतः ॥

९ आविर्भूय तिरोभूय रसमध्ये क्वचिद्रसाः ।
आपादयन्ति प्रथमे स्थैर्य चेत्स स्थिरः स्मृतः ॥

(रसो की गतियाँ)

३ विद्वान इन रसो की आठ गतियाँ कहते है (१) आश्लेप (२) लीन (३) विच्छेद (४) सूक्ष्म (५) व्यतिकर (६) स्थिर (७) शोभन (८) तथा मम— ये रसो की अभिनय के आश्रित आठ गतियाँ होती है।

४ वर्तमान रस की अपनी सामग्री की समानता से अन्य रस के साथ जो सगति होती है वह'आश्लेप' कहलाती है।

५ जो रस का अनुभव करने वाला, दूसरे रस से तिरस्कृत या अन्य राग से निवृत्त होता है, वह 'लीन' कहलाता हे।

६ जब कही कोई प्रबल विरुद्ध कारणो से रस के बीच मे विच्छिन्नता आ जाती है फिर वह नही जुडती है, वह 'विच्छेद' कहलाता है।

७ आलम्बन के गुणो की स्थिरता से तथा सस्कार के अनुसरण से जो अनुसरण करता है, जो विलीन होता है वह 'सूक्ष्म' कहलाता है।

८ समकाल मे उत्पन्न दो या तीन रस मिल जाते है तो 'व्यतिकर' कहलाता है।

९ कही रस के बीच मे अन्य रस आविर्भूत तथा तिरोभूत होकर प्रथम रस मे ही स्थिरता को प्राप्त होते है तो वह 'स्थिर' कहलाता है।

१० समकालसमुत्पत्तेः समकालानुभूतिभिः ।
स्थायिनोः सात्त्विकादीनां साम्याच्च सम ईरितः ॥

११ विरोधिमित्रशत्रूणां रसानां सङ्करेऽपि च ।
महिम्ना शोभते स्वेन यः स शोभन ईरितः ॥

१२ हास्याभिभूतः शृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति ॥
हास्यो बीभत्समिलितो हास्याभास उदाहृतः ॥
वीरो भयानकाविष्टो वीराभास इतीरितः ।
बीभत्सकरुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते ॥
रौद्रः शोकभयाविष्टो रौद्राभास इतीरितः ।
हास्यशृङ्गारस्वचितः करुणाभास उच्यते ॥
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते ।
रौद्रवीरानुषक्तश्चेदाभासः स्याद्भयानके ॥

१३ रक्तापरक्तयोश्चेष्टा यतो हासकरी नृणाम् ।
दृष्टा श्रुता सूचिताऽपि शृङ्गाराभासकारिका ॥

१४ पूयशोणितमांसादिविष्ठालेपादयोऽपि च ।
हास्यं भिन्दन्ति यत्रैते स हास्याभास ईरितः ॥

---

१० समकाल मे उत्पन्न होने से तथा समकाल मे अनुभूति होने से स्थायी-भाव तथा सात्त्विक आदि भावो मे जो साम्य होता है, उसे 'सम' कहा जाता है ।

११ विरुद्ध, मित्र तथा शत्रु रसो मे सकर भाव होने पर भी जो अपनी महिमा से सुशोभित होता है उसे 'शोभन' कहा जाता है ।

(रसाभास)

१२ हास्य से अभिभूत शृगार—'शृगार–रसाभास' होगा । हास्य और बीभत्स का सम्मिश्रण—'हास्य–रसाभास' कहलाता है । वीर तथा भयानक का सम्मिलन—'वीर–रसाभास' कहा जाता है । बीभत्स तथा करुण का सश्लेषण—'अद्भुत रसाभास' कहलाता है । शोक एव भय से आविष्ट रौद्र—'रौद्र–रसाभास' कहा जाता है । हास्य तथा शृगार से खचित करुण—'करुण रसाभास' कहा जाता है । अद्भुत तथा शृगार का सम्मिलन बीभत्स—'बीभत्स–रसाभास' कहलाता है । वीर तथा रौद्र का सयोग—'भयानक-रसाभास' कहलाता है ।

१३ जब रति मे मनुष्य के राग तथा अपराग की हासकारी (हास्यास्पद) चेष्टाएँ देखी जाती हैं, सुनी जाती है, या सूचित की जाती है तो 'शृगाराभास' कहलाता है ।

१४ जहाँ ये पूय (पस), खून, मास, आदि तथा विष्ठालेप आदि भी हसी को भग कर देते है, वह 'हास्याभास' कहा जाता है ।

१५ सभासु योषितां मध्ये शूरमानस्य कस्यचित् ।
भयात्पलायनं युद्धाद्वीराभास उदीरितः ॥

१६ दिव्यादिदर्शनेऽस्त्रादिलेपोरस्ताडनादयः ।
अद्भुतं घ्नन्ति यत्तस्माददद्भुताभास इष्यते ॥

१७ अवज्ञाक्षेपवाक्यादिरौद्रकर्मकृतोद्यमः ।
बिभेति शोचति यदि स रौद्राभास उच्यते ॥

१८ शोचतो हास्यशृङ्गारभूयिष्ठं चेष्टितं यदि ।
स एव करुणाभासस्तद्भावश्चेत्स्वभावजः ॥

१९ यत्तु बीभत्सरूपस्य सम्भोगो वनिताजनैः ।
रूपयौवनसम्पन्नैर्बीभत्साभास उच्यते ॥

२० बिभ्यतो यत्र दृश्येत वीररौद्रादिभाषितम् ।
भयानकाभास इति कविभिः प्रविविच्यते ॥

२१ भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता ।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम् ॥

२२ प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यतेऽपि वा ।
तत्प्रधानमिति प्राहू रसप्राधान्यवेदिनः ॥

---

१५ सभाओ मे, नारी समाज के मध्य किसी पुरुष का वीरता प्रदर्शन, युद्ध के भय के कारण किसी वीर का पलायन 'वीर-रसाभास' कहलाता है।

१६ दिव्य (वस्तुओ) आदि के देखने पर अस्त्रादि का लेप तथा उरताडनादि आश्चर्य को नष्ट करते है तो 'अद्भुताभास' कहलाता है।

१७ अवज्ञा, आक्षेप-वाक्य आदि रौद्र कर्म करने पर जो यदि डरता है, शौक करता है, वह 'रौद्राभास' कहलाता है।

१८ हास्य और शृंगार की अधिकता से युक्त यदि शोक की चेष्टाएँ हो, तो उसे 'करुणाभास' कहते है, और उसका भाव स्वभाव से उत्पन्न होता है।

१९ रूप कथा यौवन सम्पन्न स्त्रियो के साथ बीभत्स रूप का सम्भोग होता है तो 'बीभत्साभास' कहलाता है।

२० जहाँ डरते हुए व्यक्ति वीर तथा रौद्र आदि भाव से बोलते हुए देखे जाते हैं तो कविजन उसे 'भयानकाभास' कहते हैं।

(रसाभास का लक्षण)

२१ जहाँ प्रधान रस एक हिस्सा तथा अप्रधान या अगभूत रस दो हिस्सा प्रयोग किया जाता है वहाँ 'रसाभास' होता है।[1]

२२ जो सर्व प्रथम देखा जाता है, सुना जाता है, या सूचित किया जाता है उसे रसप्राधान्यवेत्ता 'प्रधान' कहते हैं।

२३　सममन्तरितो भावैरपि वाद्यन्तगैर्यदि ।
एकरूपप्रवृत्तो यः स प्रधानो भविष्यति ॥

२४　आद्यन्तयोर्द्विगुणितः स्वेतरैः स्वयमादिमः ।
मध्यगो वा भवेत्सम्यक्स रसाभासतामियात् ॥

२५　पौर्वापर्येण भावाः स्युः समा यदि मिथो द्वयोः ।
तदेव रसविद्वद्भीरसमेलनमुच्यते ॥

२६　शृङ्गारवीरयोः सम्यग्भवेदन्योन्यमेलनम् ।
रौद्रबीभत्सयोस्तद्वत्तथैवाद्भुतहास्ययोः ॥
भयानकस्य करुणस्य स्यादन्योन्यमेलनम् ।

२७　रसाः कार्यवशात्सर्वे मिलन्त्येव परस्परम् ॥
प्रथमं यो रसः ख्यातः स प्रधानो भविष्यति ।

२८　द्वयोः प्रवेशे संसर्गो भावो यदि समो भवेत् ॥
द्वित्राणामपि संसर्गसाम्ये सङ्कर उच्यते ।

२९　तेषामेकत्र बाहुल्यं प्रधाने यत्र दृश्यते ॥
आद्यन्तयोः प्रगुणितः स प्रधानो भविष्यति ।

२३　जो रस यदि आदि या अन्त के भावो के द्वारा बीच मे समानता के कारण एक रूप मे प्रवृत्त रहता है वह 'प्रधान' होगा ।

२४　जहाँ प्रधान रस आदि तथा अन्त मे अपने से भिन्न अर्थात् अन्य अगभूत रसो से दो हिस्सा तथा स्वय आदि मे या मध्य मे भलीभाँति रहता है तो 'रसाभास' कहलाता है ।

२५　यदि परस्पर दो रसो का पौर्वापर्य से समभाव रहता है तो वही रसवेत्ताओ द्वारा 'रसमेलन' कहलाता है ।

२६　शृ गार तथा वीर रस का पारस्परिक मिश्रण भलीभाँति रहता है । रौद्र तथा बीभत्स रस का, अद्भुत तथा हास्य रस का, भयानक तथा करुण रस का पारस्परिक मिश्रण रहता है ।

२७　सभी रस कार्यवश परस्पर मिलते ही है । सर्वप्रथम जो रस आता है वह प्रधान होगा ।

२८　यदि दो रसो के प्रवेश मे ससर्ग-भाव समान होता है तो दो, तीन (रसो) के भी ससर्ग के साम्य में 'सकर' कहा जाता है ।

२९　जहाँ उन सभी की एक स्थान पर प्रधान (रस) मे बहुलता देखी जाती है तो आदि और अन्त मे बढा हुआ वह 'प्रधान' होगा ।

३० इत्थं स्वतन्त्रैराभासैर्मिलितैः सङ्करै रसैः ॥
तारतम्यं विजानीयात्सम्यग्रागापरागयोः ।
एवं विभाव्य कविभिः काव्यबन्धो विरच्यताम् ॥
विलोकिताः काव्यबन्धा रसभावविवेचकैः ।
कवेः प्रयत्नसाफल्यं कीर्ति पुष्णन्ति शाश्वतीम् ॥

३१ एवंरूपं प्रकारञ्च देशं कालमृतुं वयः ।
प्रकृति भावलिङ्गं च ज्ञात्वा विद्याद्रसस्थितिम् ॥

३२ एवंप्रकारानालोक्य समाकर्ण्यानुभूय च ।
परेभ्यो दर्शयन्नेवं श्रावयन्ननुभावयन् ॥
सर्वप्रकारैः सम्पूर्णकामः सन्तुष्टमानसः ।
प्राप्नोति मुक्ति चरमे शान्तेनैव रसेन सः ॥

३३ शान्तो विषयहेयत्वदर्शनश्रवणादिभिः ।
धर्माख्यानपुराणैश्च पुण्यतीर्थावगाहनैः ॥
पुण्याश्रमनिवासैश्च योगिभिर्नित्यसङ्गमैः ।
जडान्धबधिरादीनां तारतम्यावलोकनैः ॥
व्याधिदारिद्रयमरणैर्नारक्यायातनाश्रुतैः ।
पुण्यक्षयप्रपतनकुयोनिश्रयणादिभिः ॥

---

३० इस प्रकार स्वतन्त्र रसाभासो से, मिले हुए, सकर रसो से राग तथा अपराग का तारतम्य अच्छी तरह जानना चाहिए। कविजनो को इस प्रकार यह सब जानकर काव्य-प्रबन्ध की रचना करनी चाहिए। रस-भावज्ञो द्वारा काव्य-प्रबन्धो को देखा जाता है। कवि-प्रयत्न की सफलता शाश्वत कीर्ति को पुष्ट करती है।

३१ इस प्रकार रस का रूप, प्रकार, देश, काल, ऋतु, अवस्था, प्रकृति (स्वभाव), भाव तथा लिंग को जानकर रस की स्थिति समझनी चाहिए।

३२ इस प्रकार स्वय रसानुभूति के प्रकारो को देखकर, सुनकर तथा अनुभव करके, और इस प्रकार दूसरो को दिखाकर, सुनाकर तथा अनुभव कराकर, सभी प्रकार से सम्पूर्ण काम वाला, सन्तुष्ट मन वाला वह (सहृय) शान्त रस से ही अन्त मे मुक्ति को प्राप्त करता है।

(शान्त-रस के उत्कर्ष मे विभाव)

३३ विषयो की हेयता के दर्शन और श्रवण आदि, धर्म आख्यान-रूप-पुराण, पुण्य-तीर्थ-स्थान पर स्नान, पुण्य-आश्रम मे निवास, योगीजनो के साथ नित्य सगति, जड, अन्धे, बहरे आदि के तारतम्य को देखने, व्याधि (रोग), दरिद्रता, मरण, नरक की यातनाओ (दु ख) का श्रवण, पुण्यो के नाश के कारण पतित होने से

क्लेशप्रयत्नवैफल्याद्दुःखत्रितयघातनैः ।
इत्यादिभिर्विभावैः स्याच्छमात्मा कस्यचिद्रसः ।

३४ यथाशक्ति परित्राणं दुःखिनामविशेषतः ।
विना रागेण सर्वत्र सुखिनामनुमोदनम् ॥
शाकमूलफलैरन्यैः शरीरस्थितिसाधनम् ।
व्रतोपवासनियमो वल्कलाजिनधारणम् ॥
अहिंसा सर्वभूतानामविशेषादनुग्रहः ।
अङ्गेषु कार्श्यं कार्कश्यं स्नानं त्रिषवणोचितम् ॥
ऋज्वायतासनं ध्यानं नासाग्राहितलोचनम् ।
विषयेभ्यो नियमनमिन्द्रियाणां निवृत्तये ॥
इत्यादयो विशेषाः स्युः प्रायः शान्तेषु योगिषु ।

३५ मानापमानयोः शोकहर्षयोः सुखदुःखयोः ॥
समवृत्तितया प्रायो नानुभावा भवन्ति हि ।
आनन्दबाष्परोमाञ्चस्वेदस्तम्भाः स्युरेकदा ॥
शान्तानुभावो रोमाञ्च एक एवेति केचन ।
नोपकुर्वन्ति शान्तस्य भावाः सञ्चारिणो यतः ॥

बुरी योनि का आश्रय, क्लेश और प्रयत्न की विफलता से दु ख-त्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) का उच्छेद—इत्यादि विभावो से किसी का 'शम' स्वरूप 'शान्त-रस' उत्पन्न होता है ।

(शान्त-रस के विशेष कथन)

३४ सामान्यत दु खी-जनो की यथाशक्ति रक्षा करना, बिना राग के सर्वत्र सुखी-जनो का अनुमोदन करना, शाक, मूल तथा फल और ऐसे ही अन्य साधनो से शरीर को स्थिर रखना, व्रत, उपवास आदि नियमो का पालन करना, बल्कल तथा खाल पहनना, सभी प्राणियो के प्रति अहिंसा का भाव रखना, सामान्य रूप से दया का भाव रखना, अगो मे कृशता, कर्कशता, त्रिषवणोचित (त्रिकालोचित) स्नान, सरल आसन, ध्यान, नासिका के अग्रभाग पर लगाये हुए नेत्र तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिए विषयो से इन्द्रियो को रोकना इत्यादि विशेष बाते प्राय शान्ति-योगियो मे होती है ।

(शान्त रस मे अनुभाव के अभाव का कथन)

३५ प्राय शान्त-रस में मानापमान, शौक-हर्ष तथा सुख-दु ख मे समप्रवृत्ति रहने से अनुभाव नही होते है । लेकिन कोई आनन्द से निकले हुए आँसू, रोमाच, स्वेद तथा स्तम्भ को अनुभाव बताते है । कोई केवल रोमाच को ही शान्त-रस का अनुभाव कहते है । वास्तविकता यही है कि शान्त-रस में अनुभाव नही होते है क्योकि सचारी भाव शान्त-रस का उपकार नही करते है ।

३६ तस्माच्छान्तरसस्यैवं विकलाङ्गत्वमुच्यते ।
निवृत्ते विषयासङ्गे स्वान्ते शान्तिमुपेयुषि ।।
निर्वेदादेरनुदयादनुभावो न दृश्यते ।
अतो हर्षाद्यनुभवराहित्याद्विकलाङ्गता ।।
अस्तीति सत्तामात्रेण प्रायः शान्तो विभाव्यते ।
यतो न भावोऽभिनयो न शक्यो नाट्यकर्मणि ।।
शमे स्थायिनि तत्र स्युर्भावा हर्षादयः कथम् ।
३७ अतोऽयं विकलप्रायस्तथापि श्रेष्ठ उच्यते ।।
प्रकृष्टस्योपयोगित्वात्पुरुषार्थस्य देहिनाम् ।
३८ यथाविभवमाख्याता रसा भावास्तदुद्भवाः ।।
अथैषा देशकालादिदर्शनश्रवणादिभिः ।
अनुभावाः स्वसंवेद्यास्तान्सम्यगभिजानते ।।
देशादयो विभावास्तु हर्षादीन्व्यभिचारिणः ।
आलम्बनविभावेषु जनयन्ति यथाबलम् ।।
जनयन्ति हि ते तत्तच्चेष्टां तेषु परस्परम् ।
चेष्टाभिरनुमीयन्ते ह्यनुभावा विशारदैः ।।

---

३६ इसलिए शान्त-रस की इस प्रकार विकलागता कही जाती है। विषयो के प्रति विमुखता होने पर तथा अन्त करण मे शान्ति प्राप्त हो जाने पर निर्वेद आदि का उदय न होने के कारण अनुभाव दिखाई नही देता है। अत हर्ष आदि के अनुभव से रहित होने से (शान्त है—रस की) विकलागता सिद्ध होती है। इस प्रकार सत्ता मात्र से प्राय शान्त-रस जाना जाता है। क्योकि नाट्य-कर्म मे न भाव हो सकता है न अभिनय हो सकता है, वहाँ 'शम' स्थायी भाव मे हर्षादि भाव कैसे हो सकते है ?

३७ अत यह शान्त-रस प्राय विकलाग ही है फिर भी शरीरधारियो के पुरुषार्थ चतुष्टय मे सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ-मोक्ष के लिये उपयोगी होने से यह श्रेष्ठ कहा जाता है।

३८ जिस प्रकार वैभव को श्रेष्ठ कहा गया है और रस-भाव उससे उत्पन्न होते है, उसी प्रकार इनके देश, काल आदि के दर्शन एव श्रवण आदि के द्वारा स्वसवेद्य अनुभाव होते है, उन्हे अच्छी तरह से जाना जाता है। देशादि विभाव आलम्बन विभावो मे हर्षादि व्यभिचारी भावो को यथाशक्ति उत्पन्न करते है। वे उनमे परस्पर उस-उस चेष्टा को उत्पन्न करते है । विद्वान चेष्टाओ मे

भावा विनैव चेष्टाभिर्न दृश्यन्ते कदाचन ।
तस्माच्चेष्टाविशेषज्ञो भावुको रसिको भवेत् ॥

३९ कृत्रिमोऽकृत्रिमश्चेति द्विधा देशो विभाव्यते ।
कृत्रिमा नगरग्रामपल्लीजनपदादयः ॥
अकृत्रिमाः सरिच्छैलवेलाऽरण्यादयस्तथा ।
अकृत्रिमास्तु शिल्पज्ञः क्रियन्ते कृत्रिमाः क्वचित् ॥
कृत्रिमा अपि तद्वत्तैर्विरच्यन्तेऽप्यकृत्रिमाः ।

४० कालो बसन्तवर्षादिर्बहुभेदः प्रकल्प्यते ॥
लवादिभेदादेतेषु विनोदाः स्युर्महोदयाः ।
विनोदा बहवः सन्ति शृङ्गारे हास्यवीरयोः ॥
रौद्रेऽपि क्रमशोऽन्यूना भवन्ति सुखिनां नृणाम् ।
बीभत्से नायकाभासविनोदः शस्यते क्वचित् ॥
भयानके च शान्ते च विनोदो नैव दृश्यते ।
एतौ विनोदनीयौ स्तः सुहृदादिभिरेकदा ॥

४१ अष्टमीचन्द्रशक्रार्चावसन्तमदनोत्सवाः ।
बकुलाशोकविहृतिः शाल्मलीमूलखेलनम् ॥
एते वासन्तिकाः प्रायो विनोदा रसिकोचिताः ।

अनुभावो का अनुमान कर लिया करते है। चेष्टाओ के बिना भाव कभी नही दिखायी देते है। इसलिये चेष्टा-विशेषज्ञ भावुक तथा रसिक होता है।

३९ कृत्रिम तथा अकृत्रिम भेद से 'देश' दो प्रकार का जाना जाता है। 'कृत्रिम'—नगर, ग्राम, वस्ती, जनपद (शहर) आदि है। अकृत्रिम'—नदी, पर्वत, सागर का तट, अरण्य (जगल) आदि हैं। अकृत्रिम को शिल्पज्ञ कही कृत्रिम बना देते हैं। उसी प्रकार उनके द्वारा कृत्रिम भी अकृत्रिम बना दिये जाते है।

४० 'काल' वसन्त, वर्षा ऋतु आदि के भेद से बहुत प्रकार का होता है। 'लव' आदि के भेद से इन कालो मे प्रेमियो के बहुत से विनोद होते है। विनोद बहुत हैं, शृगार, हास्य, वीर, रौद्र रसो मे क्रमश सुखी मनुष्यो के बहुत प्रकार के विनोद होते हैं। कही बीभत्स मे नायकाभास विनोद अच्छा होता है। भयानक और शान्त-रस मे विनोद नही दिखाई देता है। कोई एक कहते हैं कि भयानक और शान्त—ये दोनो मित्रो द्वारा विनोदनीय होते है।

(वासन्तिक)

४१ अष्टमी का चन्द्रमा, इन्द्रपूजा, वसन्तोत्सव, कामोत्सव, बकुल और अशोक का फूलना, शाल्मली वृक्ष की जडों मे खेलना—ये प्राय वसन्त-ऋतु मे होने वाले रसिकोचित विनोद हैं।

४२ उद्यानयात्रा सलिलक्रीडा पुष्पापचायिका ॥
नवाम्रखादिका चूतमाधवीनवसङ्गमः ।
एते प्रायो विनोदाः स्युर्निदाघे सुखभोगिनाम् ॥

४३ क्रीडाशिखण्डिलास्यञ्च कादम्बकलहो मिथः ।
नवाम्बुदाभ्युद्गमनं नवोदाभ्युद्गमोत्सवः ॥
कालागरुद्रुमोल्लासिनवपल्लवभञ्जनम् ।
एते विनोदाः कथिताः प्रावृषि प्रीतिमेयुषाम् ॥

४४ चतुर्थीकन्दुकक्रीडा चन्द्रिकालालनोद्यमः ।
मृणालवारिकङ्केलिर्हंसलीलावलोकनम् ॥
यक्षरात्रिबलिक्रीडासरित्पुलिनकेलयः ।
एते विनोदाः कविभिः प्रायः शरदि कल्पिताः ॥

४५ प्राबोधिका देवताना दोलालीलावलोकनम् ।
मातुलुङ्गफलैस्तत्तत्पानकासवकौशलम् ॥
क्रीडाशकुन्तसङ्घातबालातपविनोदम् ।
एते विनोदाः कथिता हेमन्ते काव्यवेदिभिः ॥

(निदाघ)

४२ उद्यान-यात्रा, जलक्रीडा, पुष्पावचयन, नवीन आमो का खाना, आम्र तथा माधवीलता का सगम—ये प्राय ग्रीष्म ऋतु मे होने वाले सुख-भोगियो के विनोद है।

(प्रावृषि)

४३ क्रीडा मे लगे हुए मयूर का नृत्य, परस्पर झगडते हुए कादम्ब (कलहस, बतख), नये-नये बादलो का ऊपर उठना, नये जल के उद्गम का उत्सव, काला अगरु, विकसित वृक्ष, नवीन पल्लवो का गिरना—ये प्राय वर्षा ऋतु मे होने वाले प्रेमियो के विनोद कहे जाते है।

(शरदि)

४४ चतुर्थी, कन्दुक क्रीडा, चाँदनी मे प्यार को उद्यत, मृणाल—जलकेलि, हसलीला देखना, यज्ञ-रात्रि, वलि-क्रीडा, नदी किनारे केलि—ये प्राय शरद ऋतु मे होने वाले विनोद कहे जाते है।

(हेमन्त)

४५ देवताओ मे प्राबोधिका (जागरण), झूला-झूलना-देखना, मातुलुग (जभीरी नीबू) फलो से उस-उस पानक को तैयार करने की कुशलता, पक्षियो के साथ क्रीडा, प्रात कालीन विनोद—ये प्राय हेमन्त ऋतु मे होने वाले विनोद कवि-जनो द्वारा कहे जाते है।

४६ आलापाभ्यसनक्रीडा शुकशारिकयोर्मिथः ।
बालकुक्कुटमेषादियुद्धनैपुणदर्शनम् ॥
पुराणशीथुपानादिनवान्नोत्सवकल्पना ।
इत्यादयो विनोदाः स्युः शिशिरे रागदीपनाः ॥

४७ स्थिरानुरागयोर्यूनोर्विनोदैरेवमादिभिः ॥
परस्परोपचारैश्च सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।

४८ स सम्भोगश्चतुर्धा स्याद्भुजिधात्वर्थयोगतः ।
भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ॥

४९ नवरागानन्तरजः पाल्योऽभीष्टोपचारतः ।
मानानन्तरसम्भोगः कौटिल्यं न त्यजेत्क्वचित् ॥
हृद्यः प्रवासानन्तर्यो हृद्यान्नाभ्यवहारवत् ।
करुणानन्तरभवः सविस्रम्भानुभूतिकृत् ॥

(शिशिर)

४६ तोता तथा मैना मे परस्पर वार्तालाप का अभ्यास कराने वाली क्रीडा, छोटे-छोटे मुर्गे, मेडा आदि का युद्ध-कौशल दिखाना, पुराने शीथु (आसव) के पानादि से नवीन अन्नोत्सव मनाना—ये प्राय शिशिर ऋतु मे राग उद्दीप्त करने वाले विनोद है ।

४७ इस प्रकार स्थिर-अनुरक्त-युवक-युवती के बीच इन सभी विनोदो से तथा परस्पर उपचारो से सम्भोग पुष्टि को प्राप्त होता है ।

(सम्भोग)

४८ 'भुज्' धातु के अर्थ-योग से वह सम्भोग चार प्रकार का होता है । 'भुज्' धातु के चार अर्थ होते है

(1) 'भुज् पालने' अर्थात् 'भुनक्ति इति'—जो रक्षा करता है ।
(2) 'भुज् कौटिल्ये' अर्थात् 'भुजति इति'—जो मोडता है या टेढा करता है।
(3) 'भुज् अभ्यवहारे' अर्थात् 'भुङ्क्ते इति'—जो खाता है या उपभोग करता है ।
(4) 'भुज् अनुभूत्याम्' अर्थात् 'भुङ्क्ते इति'—जो अनुभव करता है ।

४६ नवीन राग के बाद होने वाला सम्भोग अभीष्ट उपचार से 'पाल्य' होता है । मान के बाद सम्भोग कही कुटिलता नही छोडता है अत 'कौटिल्य' होता है । प्रिय के प्रवास के बाद सम्भोग प्रिय के उपवास की पारणा (व्रतान्त भोजन) की तरह होता है अत वह 'अभ्यवहार्य' होता है । करुणा के बाद होने वाला मम्भोग विश्वास के साथ 'अनुभूति' के योग्य होता है ।[२]

५० स मितः सङ्करश्चैव सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।
इत्याद्याः कवयः प्रायः चतुर्णा च प्रयुञ्जते ॥

५१ नवानुरागे युवभिरुपचारः ससाध्वसैः ॥
मितं प्रयुज्यते यस्मात्ततस्स मित उच्यते ॥

५२ मानानन्तरसम्भोगो व्यलीकादिस्मृतेः पुनः ।
सङ्कीर्यते यतस्तस्मात्स सङ्कर इतीरितः ॥

५३ सम्पन्नकामैरायातैः प्रोषितैरुपभुज्यते ।
सम्पन्न एव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते ॥

५४ प्रत्युज्जीवनहर्षादेः प्रवृद्धो मृतजीवतोः ।
दीपनातिशयैर्दीप्तः सम्भोगः स्यात्समृद्धिमान् ॥

५५ स्नेहो यत्र भयन्तत्र यत्रेर्ष्या मदनस्ततः ।
वैमनस्यं व्यलीकञ्च स्नेहतो भयतो भवेत् ॥
ईर्ष्याया मदनाच्चापि विप्रियं मन्युरुद्भवेत् ।

५६ यन्म्लायति मनस्तापादातपम्लानसस्यवत् ॥
तद्वैमनस्यं स्नेहेऽपि स्नेहालम्बनदोषतः ।

---

५० वह सम्भोग मित, सकर, सम्पन्न तथा समृद्धिमान भेद से चार प्रकार का कविजनो द्वारा प्रयुक्त किया जाता है ।

५१ (१) प्रथम अनुराग मे युवक भय के साथ कम उपचार का प्रयोग करता है तो 'मित' सम्भोग कहलाता है ।

५२ (२) मान के बाद होने वाला सम्भोग अपराध आदि के स्मरण करने से पुन· सकीर्ण हो जाता है तो 'सकर' कहलाता है ।

५३ (३) काम से सम्पन्न आये हुये प्रवासी के द्वारा खूब उपभोग किया जाता है वह 'सम्पन्न' कहलाता है ।

५४ (४) मरे और जीवित के पुनरुज्जीवन एव हर्ष आदि से बढा हुआ और उद्दीपन भाव के अतिशय से उद्दीप्त सम्भोग 'समृद्धिमान' कहलाता है ।[१]

(शृंगार के भाव-कथन)

५५ जहाँ स्नेह होता है वहाँ भय होता है, जहाँ ईर्ष्या होती है वहाँ काम होता है । वैमनस्य तथा व्यलीक क्रमश स्नेह तथा भय से होते हैं । ईर्ष्या तथा काम से क्रमश विप्रिय तथा क्रोध (मन्यु) उत्पन्न होते है ।

(वैमनस्य)

५६ जैसे धूप से खेती मलिन हो जाती है वैसे ही जो मन दु ख (ताप) से मलिन हो जाया करता है वह 'वैमनस्य' कहलाता है । स्नेह में भी स्नेहालम्बन के दोष से, सरस घाव से युक्त तथा रात्रि के जागरण के कारण आलसी प्रिय

सरसव्रणसम्भिन्नं रात्रिजागरणालसम् ॥
प्रियं प्रभाते पश्यन्त्या वैमनस्यं प्रजायते ।
रोषः स्वेदश्च कम्पश्च मुखे वैवर्ण्यमेव च ॥
मा स्प्राक्षीः शोभनं साधु गच्छेति वचनं भवेत् ।
५७ अभीप्सितार्थानुत्पत्तिर्व्यलीकमिति कथ्यते ॥
निवार्यमाणोऽपि पुनः पुनरायाति यो बलात् ।
सङ्घर्षान्मत्सरात्तस्या व्यलीकमुपजायते ।
निधाय वामं हृदये करमन्यं विधून्वती ।
त्वमिहास्स्व वयं याम इति रोषाद्ब्रवीति च ॥
५८ प्रतिश्रुतार्थानिर्वहणं यत्तद्विप्रियमुच्यते ।
यावज्जीवमहं दासस्त्वमेव च मम प्रिया ॥
इत्युक्त्वा योऽन्यथा कुर्याद्विप्रियं तत्र जायते ।
रुदितं क्रोधहसितं तादिप्रेषणं मुहुः ॥
सबाष्पं सशिरःकम्पं कृतं साध्विति वक्ति च ।

को प्रात देखने वाली (नायिका) का 'वैमनस्य' उत्पन्न हो जाता है। वैमनस्य मे रोप, स्वेद, कम्पन, मुख की विवर्णता होती है तथा मत छुओ, सुन्दर, अच्छा जाओ—इस प्रकार के वाक्य बोले जाते हैं।

(व्यलीक)

५७ अभीप्सित वस्तुओ की अनुत्पत्ति 'व्यलीक' कहलाती है। मना किये जाते हुए भी नायक नायिका के समीप बलपूर्वक बार-बार आता है तो इस प्रकार सघर्ष तथा मत्सर से उस नायिका का 'व्यलीक' उत्पन्न हो जाया करता है और हृदय पर बाये हाथ को रखकर दूसरे हाथ को झटकती हुई क्रोध के कारण ऐसा बोलती है कि 'तुम यहाँ बैठो' हम जाये'।

(विप्रिय)

५८ किसी बात को स्वीकार करके उसका पालन नही करना 'विप्रिय' कहलाता है—अर्थात् प्रतिज्ञा करके उसको पूरी नही करना 'विप्रिय' कहलाता है। 'जब तक जीवित रहूँगा तब तक मै तुम्हारा दास रहूँगा और तुमही मेरी प्रिया हो'—ऐसा कहकर नायक अन्यथा (विपरीत) करे तो नायिका का 'विप्रिय' भाव उत्पन्न हो जाता है और नायिका रोती है, क्रोध से हँसती हैं, बार-बार दूत आदि को भेजती है, आँसुओ तथा शिर-कम्पन के साथ साधु ! (अच्छा किया)—इस प्रकार बोलती है।

५९ मान्यावमानिता मन्युरवबोधनिरोधकृत् ।।
सपत्नीरतिसम्भोगे सौभाग्यं बहुशो वदन् ।
दृश्यते च पतिर्यस्यास्तत्र मन्युः प्रजायते ।।
६० शङ्कते वाष्पपूर्णाक्षी रशनादि क्षिपत्यधः ।
वलयादि मुहुर्बाह्वोः परिवर्तयति द्रुतम् ।।
अभाषमाणा शयने तूष्णीं शेतेऽवकुण्ठिता ।
एवं प्रवृद्धमन्यूनां स्त्रीणां भवति विक्रिया ।।
सापराधे प्रिये दृष्टे सलज्जे च सशङ्किते ।
सोपालम्भैर्वचोभिस्तमीर्ष्यार्थैः खेदयेन्मृदु ।।
न निष्ठुरं वचो ब्रूयान्नातिक्रुध्येत्कदाचन ।
न चातिपरिहासः स्यात्सखीभिस्तेन वा क्वचित् ।।
बाष्पोन्मिश्रैर्वचोभिस्तमात्मनिक्षेपमन्थरैः ।
प्रतिब्रूयादुरस्स्थेन पाणिना स्निग्धवीक्षितैः ।।
निश्वासैः सशिरःकम्पैः कटीहस्ततयाऽपि च ।
अपराधैर्महीलेखागणितैस्तर्जनैरपि ।।
एभिरेव रतिर्यूनोर्भूयः स्याद्भूयसी मिथः ।

(मन्यु)

५६ माननीय का अपमान करना 'मन्यु' कहलाता है और वह ज्ञान को रोकने वाला होता है अर्थात् वह ज्ञान को नष्ट करने वाला होता है। सपत्नी के साथ प्रेम करने से मम्भोग मे सौभाग्य को बहुत बार कहता हुआ जिसका पति देखा जाता है वहाँ नायिका का 'मन्यु' भाव उत्पन्न हो जाता है।

६० और आँसुओ से पूर्ण आँखो वाली नायिका शका करती है, रशना (कर्धनी) आदि को नीचे फेक देती है, बलय (ककण) आदि को बार-बार शीघ्रता के साथ भुजाओ मे बदलती रहती है। वान न करती हुई शय्या पर चुपचाप सोती है, कुठित रहती है। इस प्रकार बढे हुए मन्यु भाव वाली स्त्रियो की क्रिया होती है। पुन अन्य स्त्री के साथ सम्भोग करने के कारण प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को लज्जित तथा शकित देखने पर वह नायिका उलाहना के शब्दो से उस नायक को ईर्ष्या से पूर्ण बातो से थोडा दु खी करती है। वह नायिका न कठोर वचन बोलती है, न कभी क्रोध करती है, कही सखियो या नायक के माथ न अधिक उपहास करती है। आत्म-निक्षेप से मन्थर तथा अश्रुमिश्रित वाणी से हृदय पर हाथ रखकर नायिका नायक को उत्तर देती है। स्निग्ध दृष्टि, विश्वास, शिर-कम्पन, कमर पर हाथ रखने, अपराध, महीलेखा-गणित (पृथ्वी खोदने) तथा तर्जन (ताडने) आदि से युवक-युवती के बीच परस्पर रति बार-

एवं प्रणयरोषैश्च भूयोभूयः समागमैः ।।
प्रवृद्धो दीपनैर्दीप्तः शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते ।
वैमनस्यादयो भावाः शृङ्गारस्योपयोगिनः ।।
प्रयुञ्जते चेदन्यत्र गौण्या लक्षणयाऽथ वा ।

६१ यदैकत्रानुभूयन्ते युगपत्तत्तदिन्द्रियैः ।।
विषयाः सुखरूपेण पुष्यन्ति हि तदा रतिम् ।

६२ शिरः पार्श्वोन्नतं दृष्टिः किञ्चित्साचीकृता भवेत् ।।
तर्जनी कर्णदेशस्था शब्दस्य श्रवणे नृणाम् ।
हस्तौ गण्डाश्रितो नेत्रे किञ्चिदाकुञ्चिताञ्चिते ।।
उत्क्षेपश्च भ्रुवोः कम्पः स्पर्शे रोमाञ्चविक्रिया ।
त्रिपताकः करो मूर्ध्नि चलनं किञ्चिदानने ।।
आकेकरा भवेद्दृष्टी रूपालोकनकर्मणि ।
उत्फुल्ला नासिका किञ्चित् नेत्रे किमपि कुञ्चिते ।।
एकोच्छ्वासश्च भवति रसगन्धसमागमे ।
इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यतेत्वनुभावितः ।।

६३ मनसस्त्रिविधो भावः कथ्यते सर्वसूरिभिः ।
इष्टोऽनिष्टश्च मध्यश्चेत्येवं त्रेधा विभिद्यते ।।

बार होती है। इस प्रकार प्रणय तथा क्रोध से होने वाले बार-बार समागम से बढा हुआ, उद्दीपन से उद्दीप्त हुआ शृगार पुष्टता को प्राप्त होता है। वैमनस्य आदि भाव शृगार-रस के उपयोगी होते है। अन्यत्र भी ये भाव गौणी या लक्षणा वृत्ति से प्रयुक्त होते है।

६१ जब एक ही स्थान पर एक साथ उन-उन इन्द्रियो से सुख-स्वरूप विषयो का अनुभव किया जाता है तब वे विषय रति को पुष्ट करते है।

६२ भ्रम के कारण बगल मे उठी हुई दृष्टि कुछ तिरछी हो जाती है, मनुष्यो के शब्द के श्रवण मे (सुनने मे) कानो मे तर्जनी अगुली लगी रहती है। हाथ गण्डस्थल पर रखा रहता है, नेत्र बन्द होने पर सिकुड जाते है। भ्रकुटी तन जाती है।[४] स्पर्श करने पर कम्पन व रोमाच होता है। त्रिपताक हाथ[५] सिर पर, कभी मुँह पर चलता है। रूप देखने पर आकेकरा दृष्टि[६] हो जाती है। नासिका कुछ फूल जाती है, नेत्र कुछ सिकुड जाते है। रस तथा गन्ध के सयोग पर उच्छ्वास एक हो जाता है। उन-उन इन्द्रियो के विषय मे मन से, अनु-भाव से जाने जाते है।

(मनोभाव के तीन प्रकार)

६३ सभी विद्वान तीन प्रकार के मनोभाव कहते हैं। इष्ट, अनिष्ट तथा मध्य भेद से मनोभाव तीन प्रकार से विभाजित होते है।

६४ इष्टे तु विषये गात्राह्लादनैः पुलकोद्गमैः ।
मनोहराभिश्चेष्टाभिरिष्टं भावं विनिर्दिशेत् ॥

६५ अनिष्टे विषये तत्र नासाग्राञ्चितकूणनम् ।
शिरसश्च परावृत्तिरप्रदानञ्च चक्षुषः ॥
गात्रस्तम्भो जुगुप्सा च भावेऽनिष्टे भवन्ति हि ।

६६ न सौमुख्यं न वैमुख्यं नातिहर्षो न कुत्सनम् ॥
माध्यस्थ्यं मनसो ह्येवं मध्यस्थे विषये भवेत् ।

६७ कथिता ये त्वभिनया विषयानुभवात्मकाः ॥
तेऽपि दूरसमीपस्थसूक्ष्मव्यवहितात्मना ।
पृथक्स्थितास्त्वेकदा स्युः कदाचित्स्युः समुच्चिताः ॥

६८ प्रियापराधे याः काश्चिदवस्थाः कथिता अपि ।
विशेषः कथ्यते तासां कल्पवल्यनुसारतः ॥

६९ यूनोस्तु रक्तयोर्मानविरहे गोत्रवैकृते ।
विवेष्टनं प्रियस्पर्शे निर्भर्त्सनमभाषणम् ॥
शय्यान्ते च पराक्शय्या स्वेदो गद्गदभाषणम् ।
एते प्रायेण भावाः स्युर्भोगाङ्के श्रेष्ठयोषिताम् ॥

---

६४ (१) इष्ट विषय के प्रति शरीर की प्रसन्नता, पुलकित होने तथा मनोहर चेष्टाओ से 'इष्ट-भाव' निर्दिष्ट होता है ।

६५ (२) अनिष्ट-विषय के प्रति नासिका के अग्रभाग का सिकुडना, सिर को घुमा लेना, नेत्रो को नही लगाना, गात्र-स्तम्भ तथा जुगुप्सा आदि अनिष्ट भाव मे अनुभाव होते है ।

६६ (३) मध्यस्थ मन का मध्यस्थ विषय मे न सामुख्य, न विमुखता, न अधिक हर्ष और न अधिक तिरस्कार ही होता है ।

६७ जो ये विषय के अनुभाव-रूप अभिनय कहे गये है, वे दूर, समीप तथा सूक्ष्म रूप मे पृथक्-पृथक् रहते है, अकेले रहते हैं, कभी एकसाथ रहते है ।

६८ प्रिय के अपराध करने पर जो कुछ अवस्थाएँ कही जाती है उनमे विशेष अवस्थाओ को कल्पवल्ली के अनुसार कहते है ।

६९ अनुरक्त युवक-युवती के बीच मान से उत्पन्न विरह मे गोत्रस्खलन के समय प्रिय को दूर हटा देना, प्रिय के स्पर्श करने पर भर्त्सना करना, नही बोलना, शय्या पर अलग बैठना, स्वेद, गद्-गद भाषण आदि—प्राय ये भाव श्रेष्ठ स्त्रियो के भोग के चिह्न होते हैं ।

७० अवाङ्मुखमवस्थानं निश्श्वासो बाष्पमोचनम् ।
विलोकनञ्च सख्यादेः साधु साध्विति भाषणम् ॥
एते भावाः स्युरुत्स्वप्नापराधे गोत्रवैकृते ।

७१ उत्थानं शयनाद्दूरशयनञ्च विवेष्टनम् ॥
अपाङ्गविगलद्बाष्पमन्तस्स्तम्भितरोदनम् ।
एते विशेषतः स्वप्नापराधे स्युर्मनोहराः ॥

७२ एवं मानवियोगे स्युः प्रवासविरहे पुनः ।

७३ आकस्मिके तु हृत्कम्पो मूर्च्छा संज्ञा भ्रमः स्मृतिः ॥
तदन्वेषणचिन्ता च तत्पथाशाविलोकनम् ।

७४ विरहे सम्भ्रमोत्थे तु विषयापरिनिश्चयः ॥

७५ दैविके कार्श्यसन्तापदेवतार्चनजागराः ।
वैवर्ण्यमङ्गदाहश्च प्रलापोऽश्रुविनिर्गमः ॥
आकस्मिकवियोगे स्युर्विकाराश्चैवमादयः ।
विरहे बुद्धिपूर्वे तु जाड्यनिर्वेददीनताः ॥
वैवर्ण्यकार्श्यमालिन्यसन्तापज्वरमूर्च्छनाः ।
व्याध्युन्मादविषादाश्च शापेऽप्येते च कीर्तिताः ॥

---

७० मुँह फेरकर बैठना, नि श्वास, आँसू निकलना (भाप छोड़ना), सखी आदि को देखना, साधु ! साधु ! कहना आदि—प्राय ये भाव प्रिय के स्वप्न मे अपराध करने पर तथा गोत्रस्खलन मे होते है ।

७१ शय्या से उठना, दूर सोना, विवेष्टन (दूर हटा देना), कोरो से निकलते हुए आँसू, अन्दर ही रोका हुआ रोदन आदि—ये मनोहर भाव विशेषत प्रिय के स्वप्न मे अपराध करने पर होते हैं ।

७२ इस प्रकार मान से उत्पन्न वियोग मे ये भाव रहते है । पुन प्रवास से उत्पन्न विरह में रहने वाले भावो को कहते हैं ।

७३ हृदय-कम्पन्न, मूर्च्छा, चेतना, भ्रम, स्मृति, प्रिय के अन्वेषण की चिन्ता, प्रिय के मार्ग को आशा से देखना आदि—भाव तो आकस्मिक वियोग मे होते है ।

७४ घबराहट से उत्पन्न विरह मे विषय का निश्चय नही होता है ।

७५ दैविक विरह मे कृशता, सताप, देवता-अर्चना, जागरण, वैवर्ण्य, अगदाह, प्रलाप, आँसू निकलना आदि—विकार होते है, इसी प्रकार ये विकार आकस्मिक वियोग में होते हैं । पूर्व ज्ञात विरह मे जडता, निर्वेद, दीनता, वैवर्ण्य कृशता, मलिनता, सताप, ज्वर, मूर्च्छा, व्याधि (रोग), उन्माद तथा विषाद आदि विकार होते हैं । ये विकार शापजविरह मे भी कहे जाते हैं ।

७६ मध्यमानान्तु नारीणामीर्ष्यारोषोत्तरं वचः ।
सोपालम्भञ्च परुषं मानादिषु विभाव्यते ॥

७७ अधमानां तु नारीणां केशाकर्षणताडनम् ।
बन्धनं परुषं वाक्यं प्रायः सर्वत्र दृश्यते ॥

७८ आस्ववस्थासु कथिता ये ये भावाः पृथक्पृथक् ।
अयोगविरहस्यैते कथ्यन्ते भावकोविदैः ॥

७९ एवं विभाव्य बध्नन्तु प्रबन्धान्कविपुङ्गवाः ।
अन्यथा यदि वैरस्यं जनयन्ति मनीषिणाम् ।

८० एवमुक्तस्वरूपाणां रसानामर्थतत्त्वतः ।
वाक्यार्थता व्यङ्ग्यता च कथ्यते शास्त्रवर्त्मना ।

८१ रसवन्ति हि काव्यानि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयोगेण निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥

८२ यथा गङ्गादिसलिलं नानारूपरसात्मकम् ।
आत्मभावं नयेदन्तः प्रविष्टं लवणाकरः ॥
भावो भावान्तराण्यात्मभावं स्थायी तथा नयेत् ।

---

७६ मानादि मे मध्यम स्त्रियो के ईर्ष्या तथा क्रोध से उत्तर देना, उलाहना से पूर्ण तथा कठोर वचन बोलना आदि विकार जाने जाते हैं ।

७७ अधम स्त्रियो मे प्राय बाल खीचना, पीटना, बॉध देना, कठोर वाक्य बोलना आदि—भाव प्राय सर्वत्र देखे जाते है ।

७८ इन अवस्थाओ मे जो-जो भाव अलग-अलग कहे गये है ये सब भावज्ञो द्वारा अयोग-विरह के कहे जाते हैं ।

७९ इन सभी भावो को समझकर कविपुगवो को अपनी रचना तैयार करनी चाहिए अन्यथा-भाव विद्वानो मे शत्रुता उत्पन्न कर देते हैं ।

८० इस प्रकार उक्त-स्वरूप—रसो की अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से वाक्यार्थता और व्यग्यता शास्त्रानुसार कहते हैं ।

८१ रस-युक्त काव्य, कुछ अलकार-युक्त काव्य—सभी महाकवि के एक ही प्रयोग से तैयार किये जाते है ।

८२ जैसे समुद्र के अन्तर्गत विभिन्न रूप तथा रस वाला अर्थात् कोई भी खारा या मीठा गगा आदि नदी का जल मिलकर तद्रूप हो जाता है अर्थात् समुद्र समस्त जल को आत्मसात करके, आत्मरूप (खारा) बना लेता है । वैसे ही स्थायी-भाव भी सभी भावो को आत्मरूप बना लेता है । स्थायी-भाव उसे कहते है

वेधकैः स्वेतरेषाञ्च भावैः स्वैरतिरस्कृतः ।।
यावत्प्रबन्धानुवृत्तः स्थायी रत्यादिरुच्यते ।

८३ एकस्मिन्नसयोर्वाक्ये मुक्तके कुलकादिषु ।।
द्वयोरुपनिपातेऽन्यः प्रधानमितरो गुणः ।
द्वयोस्तुल्यवदुत्पत्तौ संसर्गालङ्कृतिस्तु सा ।।

८४ काक्वा विशेषणेनाथ विभावादिबलेन वा ।
प्राबल्यं यस्य दृश्येत तस्य प्राधान्यमिष्यते ।।
यत्र काकुविशेषोऽपि न स्यात्तद्दुष्टमेव हि ।
तुल्यवद्भावयुगलप्रतीतिर्यत्र दृश्यते ।
श्लेषरूपेण तद्वाक्ये वाक्यद्वित्वस्य दर्शनात् ।
रसभेदप्रतीतिस्तु यदि स्याद्गुण एव सः ।।

८५ निर्वेदादेरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषः तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।।

८६ प्रकाशानन्दचिद्रूपां रसतां प्रतिपद्यते ।

जो रत्यादि स्थायी-भाव काव्य (प्रबन्ध) मे प्रयुक्त होने तक अपने तथा अपने से भिन्न के वैधिक (अविरुद्ध) भावो से तिरस्कृत नही हो पाते हैं ।[७]

८३ एक वाक्य मे, मुक्तक मे, कुलकादि मे दो रसो के रहने पर एक प्रधान होगा और दूसरा गौण । दोनो के समानरूप होने पर 'ससर्गालकार' होगा ।

८४ उन दोनो रसो मे काकु से, विश्लेषण से या विभावादि के बल से जिस रस की प्रबलता दिखाई जाती है उसे 'प्रधान' कहा जाता है । जहाँ काकु विशेष भी नही होता है तो वह दुष्ट ही होता है । जहाँ एक समान दो भावो की प्रतीति दिखाई जाती है । उस वाक्य मे श्लेष से वाक्य के द्वित्व के दर्शन होने के कारण रस-भेद की प्रतीति होती है तो वह गुण ही होता है ।

८५ इस प्रकार स्थायी-भाव विरुद्ध या अविरुद्ध भावो से तिरस्कृत नही होता है बल्कि सभी को आत्मसात् कर लेता है, लेकिन यह ताद्रूप्य निर्वेदादि मे नही पाया जाता है अत स्थायी-भाव का गुण न होने से निर्वेदादि को स्थायी कैसे मान सकते हैं तथा उसकी चर्वणा कैसे हो सकती है ? यदि निर्वेदादि की काव्य नाटकादि मे पुष्ट होगी भी तो वह रस के स्थान पर वैरस्य (रस-विकार) उत्पन्न करेगी । अत उन्हे रस के स्थायी नही माना जा सकता है, इसीलिए आठ ही स्थायी भाव स्वीकार किये जाते हैं ।[८]

८६ ये आठ स्थायी-भाव प्रकाश-स्वरूप, आनन्दमय और चिद्रूप रस के स्वरूप (रसता) को प्राप्त होते है ।

८७ प्रकृष्यमाणो यो भावः स स्थायीति निगद्यते ॥
काव्योपात्तैर्विभावादिभावैः समुपबृंहितः ।
स्थायी रसात्मतां यातस्तत्र वाक्यार्थतामियात् ॥

८८ वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा क्रिया यथा ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥

८९ शब्दोपात्तक्रिया ज्ञाताऽथवा प्रकरणादिभिः ।
कारकादिविशिष्टैव यथा वाक्यार्थतामियात् ॥

९० तथा विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।
स्थायी विशिष्टः काव्यादिवाक्यार्थो भवति स्फुटम् ।
तेन रत्यादिशब्दानामप्रयोगेऽपि कुत्रचित् ।
रसभावप्रतीतिस्तु तत्तद्वाक्येषु सेत्स्यति ॥

९१ सम्बन्धो रसकाव्यादेस्तद्वाक्यार्थतया भवेत् ।
काव्यं सामाजिकोद्देशप्रवृत्तमिति यत्ततः ॥

---

८७ जो भाव श्रेष्ठ (प्रकृष्यमाण) होता है वह 'स्थायी' कहलाता है। काव्य मे कहे गये विभावादि भावो से वृद्धि को प्राप्त स्थायी-भाव जो रसात्मता (रस के स्वरूप) को प्राप्त होता है, वह 'वाक्यार्थता' कहलाती है।

८८ किसी वाक्य को सुनकर या पढकर उस वाक्य के प्रकरणादि (वक्ता, श्रोता, देश, कालादि) का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा हम वाक्य मे प्रयुक्त कारको की सहायता से वाक्य मे साक्षात् उपात्त शब्द के वाच्यार्थ रूप मे क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कभी-कभी वाक्य मे क्रिया का साक्षात् वाचक शब्द उपात्त नही होता है, फिर भी प्रकरणादि के अनुकूल क्रिया का (बुद्धिस्थ क्रिया का) अध्याहार कर ही लिया जाता है। इस प्रकार वाक्य मे चाहे क्रिया वाच्य हो या बुद्धिस्थ हो वही वाक्य का 'वाक्यार्थ' होता है। ठीक इसी प्रकार विभावानुभावव्यभिचारी भाव के द्वारा स्थायी-भाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप मे प्रतीत होता है। स्थायी-भाव भी वाक्य मे बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति वाच्य न होकर प्रकरण सवेद्य है।[१]

८९ चाहे क्रियावाच्य (शब्दोपात) हो या बुद्धिस्थ (ज्ञाता) हो परन्तु प्रकरणादि के द्वारा कारकादि से पुष्ट होकर विशिष्ट क्रिया वाक्यार्थ का रूप धारण करती है अर्थात् कारक-परिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ का तात्पर्य है।

९० ठीक यही बात काव्य के विषय मे घटित होती है। काव्य मे विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावो से विशिष्ट स्थायी भाव काव्यादि का वाक्यार्थ होता है। लेकिन कही रति आदि शब्दो का प्रयोग नही होता है, फिर भी उन-उन वाक्यो मे रस-भाव की प्रतीति होती है।

९१ अत रस तथा काव्यादि का सम्बन्ध उनकी वाक्यार्थता से सिद्ध होता है। जो सामाजिक के उद्देश्य (तात्पर्य) से प्रवृत्त होता है, वह काव्य कहलाता है। वहाँ

तत्रत्यरसमेवास्य वाक्यार्थमिव मन्यते ।
काव्यादिबन्धबद्धस्य रसस्य स्थायिनोऽपि च ।।
वाक्यार्थत्वञ्च शब्दार्थसम्बन्धादवगम्यते ।
सम्बन्धो द्वादशविधः स्मृतः शब्दार्थयोर्बुधैः ।।
द्वादशधा सम्बन्धः शब्दस्यार्थस्य यः स साहित्यम् ।
त्रिस्कन्धः स चतुर्भिस्तनुभिः स्याच्चतुश्चतुर्भिश्च ।।
वृत्तिर्विवक्षा तात्पर्यप्रविभागाविहोदितौ ।
ततो व्यपेक्षासामर्थ्यान्वयाश्चैकार्थभावना ।।
दोषहानं गुणादानं तथाऽलङ्कारयोगिता ।
रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिता बुधैः ।।
९२ वृत्तिस्त्रिधा पदार्थेषु पदानामुच्यते बुधैः ।
अभिधा लक्षणा गौणीत्येतासां रूपमुच्यते ।।
शब्दशक्तिपरामर्शात्तद्व्यापारात्मिका बुधैः ।
अभिधेये प्रवृत्तिर्या सा वृत्तिरभिधोच्यते ।।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।

रस ही उस काव्य का वाक्यार्थ जैसा माना जाता है। काव्यादि प्रबन्धो मे निबद्ध रस तथा स्थायी भाव की वाक्यार्थता शब्दार्थ-सम्बन्ध से जानी जाती है। शब्दार्थ-सम्बन्ध विद्वानो द्वारा बारह प्रकार का कहा जाता है। शब्द तथा अर्थ का जो बारह प्रकार का सम्बन्ध है, वह 'साहित्य' कहलाता है। यह द्वादशधा शब्दार्थ-सम्बन्ध चार-चार के भेद से तीन प्रकार का होता है

(१) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग।
(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थ-भावना।
(3) दोषहान, गुणोपदान (गुणदान), अलकार—योग तथा रसावियोग।[१०]

(वृत्ति)

९२ विद्वानो द्वारा पदार्थो मे पदो की वृत्ति तीन प्रकार की कही जाती है—अभिधा, लक्षणा तथा गौणी—इनका रूप कहा जाता है।

(१) अभिधा—अभिधेय (मुख्य) अर्थ मे शब्द-शक्ति के परामर्श से उसकी व्यापार-रूपा जो प्रवृत्ति होती है, वह वृत्ति विद्वानो द्वारा 'अभिधा' कहलाती है।

(२) लक्षणा—अभिधेय (मुख्य) अर्थ से अविनाभूत (सम्बन्धित) अर्थ की प्रतीति 'लक्षणा' कहलाती है। यह लक्षणा विदग्ध (कुशल) लोगो की वक्रोक्ति से युक्त वृत्ति होती है। 'क्रोशन्ति मञ्चा' अर्थात् 'मच चिल्ला रहे हैं' इत्यादि उदाहरण मे 'लक्षणा' जानी जाती है।

क्रोशन्ति मञ्चा इत्यादौ सा वृत्तिरवगम्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥
सा सिंहो देवदत्तोऽयमित्यादाववगम्यते ।

९३ रूढचा यत्रासदर्थोऽपि लोके शब्दो निवेशितः ॥
स मुख्यस्तत्र तत्साम्याद्गौणोऽन्यत्र स्खलद्गतिः ।
आसां स्वरूपं वक्ष्यामः परस्ताच्च सविस्तरम् ।

९४ शब्दार्थयोः समन्यूनाधिकताभेदतस्त्रिधा ।
विवक्षा सा तु सन्दर्भे कविभिस्तु नियम्यते ॥
क्वचिदर्थस्य विस्तारः क्वचिच्छब्दस्य विस्तरः ।
तुलाधृतमिवैकत्र साम्यं शब्दार्थयोः क्वचित् ॥
क्वचित्स्वल्पेऽप्यर्थे प्रचुरवचनैरेव रचना
क्वचिद्वस्तु स्फारं कतिपयपदैरर्पितरसम् ।
यथावाच्यं शब्दाः क्वचिदपि तुलायामिव धृताः
त्रिभिः कल्पैरेवं कविवृषभसन्दर्भनियमः ॥

---

(३) गौणी—लक्ष्यमाण-गुण-योग से होने से 'वृत्ति' मे गौणता चली जाती है अर्थात् लक्ष्य-माण (जाड्यमान्द्य आदि) गुणो के (वाहीक मे रहने रूप) योग से इस लक्षणा-वृत्ति की 'गौणता' हो जाती है। 'सिंहो देवदत्तोऽयम्' इत्यादि उदाहरण मे वह वृत्ति जानी जाती है। इस उदाहरण मे 'सिंह' शब्द गौणी वृत्ति से क्रोर्यादि विशिष्ट प्राणी का बोधक होता है और उसका देवदत्त पद के साथ सामानाधिकरण्य है। अत सिंह और देवदत्त दोनो 'देवदत्त' अर्थ का ही बोधन करते है। इसलिए यह गौणी है।

९३ लोक मे जहाँ शब्द रूढि से असद अर्थ को भी बताता है, वह 'मुख्य' होता है, वहाँ उसकी समानता से अन्यत्र स्खलद्गति वाली वृत्ति 'गौणी' होती है। इनके स्वरूप को विस्तारपूर्वक आगे कहेगे।

(विवक्षा)

९४ शब्द और अर्थ मे सम, न्यून तथा अधिकता के भेद से 'विवक्षा' तीन प्रकार की होती है। कविजनो द्वारा वह (विवक्षा) सन्दर्भ मे नियमित की जाती है। कही अर्थ का विस्तार, कही शब्द का विस्तार और कही शब्द तथा अर्थ का तराजू मे तोलने की तरह साम्य होता है। कही अल्प अर्थ मे अधिक वाक्यो का प्रयोग होता है। कही अधिक विषय-वस्तु थोडे पदो से ही रस प्रदान करती है। कही तराजू मे तोले गये के समान जितना अर्थ उतने ही शब्दो का प्रयोग होता है, इस प्रकार कविजन तीन विकल्पो से सन्दर्भ को नियमित करते है।

९५ असावुन्नीयते सद्भिः त्रिप्रकारैश्च हेतुभिः ।
एकः स्यात्काकुविच्छेदादिना प्रकरणादिना ॥
कश्चित्तथैवाभिनयादिना कोऽपि यथाक्रमम् ।
९६ भिन्नकण्ठो ध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ॥
प्रश्नगर्भाभ्युपगमोपहासाक्षेपकादिकाः ।
बहुधा काकवः प्रोक्तास्तत्तदर्थानुसारतः ॥
गतः स काल इत्यादौ प्रश्नगर्भोऽभिधीयते ।
युष्मच्छासनलङ्घादौ ज्ञेयाऽभ्युपगमात्मिका ॥
मथ्नामि कौरवेत्यादावुपहासात्मिका भवेत् ।
लाक्षागृहानलेत्यादौ विवादाक्षेपकात्मिका ॥
वितर्कगर्भा काकुः स्याद्यथोन्मत्तपुरूरवाः ।
९७ वाक्यान्यथात्वादेकः स्यादेको वाक्यासमाप्तिकः ॥
वाक्यसम्भेदरूपोऽन्यो वाक्यानुच्चारणादपि ।
इत्यादिभेदा बहुधा विच्छेदस्येरिता बुधैः ॥
सहभृत्यगणेत्यादौ ज्ञेयो वाक्यान्यथात्मकः ।
वत्से त्वं जीवितेत्यादौ ज्ञेयो वाक्यासमाप्तिकः ॥
दिङ्मातङ्गघटेत्यादौ वाक्यसंभेदरूपकः ।

---

९५ यह 'विवक्षा' विद्वानो द्वारा तीन प्रकार के हेतुओ से बढाई जाती है। काकुविच्छेदादि से, प्रकरणादि से तथा अभिनय आदि से बढाई जाती है।

९६ धीर पुरुषो द्वारा बदली हुई कण्ठ-ध्वनि 'काकु' कहलाती है। प्रश्नगर्भ, अभ्युपगम, उपहास, आक्षेप आदि के भेद से उस-उस अर्थ के अनुसार 'काकु' बहुत प्रकार का कहा जाता है।

(१) [११]गत स काल इत्यादि उदाहरण मे 'प्रश्न-गर्भ' जाना जाता है।

(२) [१२]युस्मच्छासनलघानामसि इत्यादि मे 'अभ्युपगमात्मिका-काकु' जाना जाला है।

(३) [१३]मथ्नामि कौरव ··· ·· इत्यादि मे 'उपहासात्मिका—काकु' जाना जाता है।

(४) [१४]लाक्षागृहानले ·· इत्यादि मे 'आक्षेपात्मिका'—काकु जाना जाता है।

(५) जब उन्मत पुरुरवा कहता है '[१५]नव जलधर. ··· ।'इत्यादि मे वितर्क-युक्त काकु है।

९७ वाक्यान्यथा, वाक्यासमाप्ति, वाक्य से भेद तथा वाक्यानुच्चारण इत्यादि भेद से 'विच्छेद' के विद्वानो ने बहुत भेद कहे है।

(१) [१६]सहभृत्यगण··· इत्यादि मे 'वाक्यान्यथात्मक' विच्छेद जाना जाता है।

अत्र वदन्त एवेत्यादिवाक्यसम्भेदो रोमाञ्चेन वक्तुर्गुणविशेष-ज्ञानं प्रकाशयति ।

प्रत्यग्रारिक्तेत्यादौ वाक्यानुच्चारणात्मकः ॥

तत्र हा वत्सेति वाक्यानुच्चारणं कृतप्रक्रियस्यानुचितं परिदेवितमिति सूचयति ॥

९८ विवक्षा सा बहुविधा व्यङ्ग्या प्रकरणादिना ।
तथा बहुप्रकारैव व्यङ्ग्यात्वभिनयादिना ॥

९९ हठाच्चुम्बति मानिन्या यन्निषेधपरं वचः ।
तदेव मानश्लथनाच्चुम्बनादिविधायकम् ॥

१०० एवं विलोक्यतां व्यङ्ग्यो बुधैः प्रकरणादिना ।

१०१ एवं मद्देहमेतेति वाक्यादावभिधी[नी]यते ॥

१०२ वाक्यार्थं प्रति शेषत्वं यत्स्यादुच्चारणस्य तु ।

---

(२) [17]वत्से ! त्व जीवित · इत्यादि मे 'वाक्यासमाप्तिक' विच्छेद जाना जाता है ।

(३) [18]दिङ्मातगघटा इत्यादि मे 'वाक्यसभेद' रूपक विच्छेद जाना जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक मे 'वदन्त एव हि वय रोमाचिता पश्यत' इत्यादि वाक्य-सम्भेद रोमाच से वक्ता के गुण विशेष का ज्ञान करा रहा है ।

(४) [19]प्रत्यग्रारिक्ता · · इत्यादि उदाहरण मे वाक्यानुच्चारणात्मक विच्छेद है ।

इसी श्लोक मे 'हा वत्सेति गिर स्फुरन्ति न पुनर्नियान्ति कण्ठाद्वहि यह 'वाक्यानुच्चारण' प्रक्रिया करने वाले के अनुचित दुख की सूचना देता है ।

(प्रकरणादि)

९८ प्रकरणादि से व्यग्या—'विवक्षा' बहुत प्रकार की होती है तथा अभिनयादि से व्यग्या-'विवक्षा' बहुत प्रकार से जानी जाती है ।

९९ जो मानिनी (नायिका) के निषेध युक्त वचनो पर भी हठपूर्वक चुम्बन करता है तो वह मान के शिथिल होने के कारण चुम्बनादि जाना जाता है । अर्थात् मानिनी नायिका के मना करने पर भी चुम्बन करता है तो इसका अर्थ होता है कि मान समाप्त हो गया है तभी चुम्बनादि करता है ।

१०० इस प्रकार विद्वानो को प्रकरण आदि से व्यग्य देखना चाहिए ।

(अभिनयादि)

१०१ '[20]एद्दहमेत्तत्थणिया · इत्यादि मे 'अभिनय' जाना जाता है ।

(तात्पर्य)

१०२ वाक्यार्थ के प्रति उच्चारण का जो शेष रूप रहता है वह 'तात्पर्य' कहलाता

तत्तात्पर्यं त्रिधा तत्स्याद्वाक्यार्थत्रिविधत्वतः ॥
स चाभिधेयः प्रत्याय्यो ध्वनिरूप इति त्रिधा ।
१०३ कारकादिविशिष्टो यः सोऽभिधेयः क्रियादिकः ॥
१०४ यथाऽभिधीयमानार्थादन्यथाऽनुपपत्तितः ।
प्रतीयमानो वाच्यार्थो यः स प्रत्याय्य ईरितः ॥
१०५ विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यादावेष तादृक्प्रतीयते ।
१०६ ध्वनिर्द्विधा स चैकः स्यादर्थतः शब्दतोऽपरः ॥
१०७ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
१०८ शब्दे द्विविधो ध्वरियमनुनादरूप एकः स्यात् ।
प्रतिशब्दरूप एकस्तयोर्विशेषो विविच्यतेऽस्माभिः ॥
१०९ तत्र कोणाहतिस्फूर्जत्कांस्यक्रेङ्कारनादवत् ।

है। तीन प्रकार के वाक्यार्थ-भेद से वह 'तात्पर्य' तीन प्रकार का होता है। वह अभिधेय, प्रत्याय्य तथा ध्वनि-रूप से तीन प्रकार का होता है।

(अभिधेय)

१०३ कारक आदि से विशिष्ट क्रिया आदि वाला जो तात्पर्य होता है, वह 'अभिधेय' कहलाता है।

१०४ अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) से तथा अन्यथा अनुपपत्ति से जो प्रतीयमान वाक्यार्थ होता है, वह 'प्रत्याय्य' कहलाता है।

१०५ 'विष भुङ्क्ष्व' अर्थात् 'विष खालो' इस वाक्य मे 'प्रत्याय्य' तात्पर्य प्रतीत होता है। क्योकि 'विष खा लेना परन्तु इसके घर भोजन नही करना' तो 'विष भुङ्क्ष्व' से 'इसके घर भोजन नही करना'—इस अर्थ मे तात्पर्य होता है। यही प्रतीयमान वाक्यार्थ कहलाता है जो कि 'विष भुङ्क्ष्व' से सिद्ध हुआ है जिसमे कोई वाचक शब्द उपात्त नही है अपितु अन्यथा अनुपपत्ति है। अत यहाँ 'प्रत्याय्य' तात्पर्य वाक्यार्थ है।

(ध्वनि)

१०६ ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्रथम अर्थ-ध्वनि, दूसरी शब्द-ध्वनि।

१०७ जहाँ अर्थ अपने को अथवा अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग 'ध्वनि' काव्य कहते हैं।

१०८ शब्द मे ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) अनुनाद-रूप (२) प्रतिशब्द-रूप। हम दोनो का विशेष विवेचन करते है।

१०९ जो नगाडे पर चोट करने से उत्पन्न शब्द की तरह तथा घिसे हुए काँसे के

अर्थान्तरं प्रतीतानुस्यूतमेव व्यनक्ति यत् ॥
सोऽनुनादध्वनिरिति कथ्यते ध्वनिकोविदैः ।
११० प्रतीतार्थं त्यजन्यत्र गुहादिप्रतिशब्दवत् ॥
पृथगेवोपलभते स एव स्यात्प्रतिध्वनिः ।
१११ प्रत्यायस्तंत्तदर्थं तत्र तत्र ध्वनिं ध्वनिः ॥
११२ शान्त्यै वोऽस्तु कपालेति वाक्यादावादिमो ध्वनिः ।
कपालदामलिखितां स्त्रक्ष्यत्यादिपदात्मिकाम् ॥
लिपिं गणाः पठन्तीति वाक्यार्थो योऽभिधीयते ।
तेन सृष्ट्यादिकर्तृणां देवानां दाम गम्यते ॥
प्रतीतेन प्रतीता स्याच्छम्भोर्देवादिसंसृतिः ।
तयाऽस्यनित्यतैकत्वस्वातन्त्र्यादिः प्रतीयते ॥
तत्तत्रानुस्यूतमेव ध्वनन्यत्रावसीयते ।
सोऽनुनादध्वनिर्नाम तस्योदाहृतिरीदृशी ॥
११३ भम धम्मिअ वीसत्थो इत्यादिर्वाऽनुनादभाक् ।
भ्रमेति विधिरूपो यो वाक्यार्थोऽभिहितः पुरः ॥

पात्र की आवाज की तरह प्रतीत होने वाले अर्थ से सबधित अर्थान्तर को व्यक्त करती है, वह ध्वनि-वेत्ताओ द्वारा 'अनुनाद'——ध्वनि कहलाती है ।

११० जो प्रतीत होने वाले अर्थ को छोडते हुए गुफा आदि के प्रति-शब्द के समान पृथक् ही अर्थ को प्राप्त करती है, वही 'प्रति-ध्वनि' कहलाती है ।

१११ प्रतीयमान तद्-तद् अर्थ को तद् तद ध्वनि के नाम से कहा जाता है । अर्थात् आर्थ-अनुनाद-ध्वनि, आर्थ-प्रति-शब्द-ध्वनि तथा शाब्द-अनुनाद-ध्वनि, शाब्द-प्रति-शब्द-ध्वनि ।

(आर्थानुनाद-ध्वनि का उदाहरण)

११२ [२२]शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम——इत्यादि वाक्य मे आर्थ-अनुनाद ध्वनि है ।
" ' कपालदाम द्वारा लिखित, 'स्त्रक्ष्यति' इत्यादि पद वाली लिपि को गण पढते हैं' यह जो वाक्यार्थ है, इससे सृष्टि आदि करने वाले देवताओ का ससार (दाम) जाना जाता है । उस प्रतीति से शम्भु के देव आदि की ससृति प्रतीत होती है, उस ससृति से नित्यता, एकत्व, स्वातन्त्र्य आदि की प्रतीति होती है । इसीलिए उससे अनुस्यूत ध्वनि जहाँ समाप्त होती है, उसे अनुनाद ध्वनि कहते है । उसका यही उदाहरण है ।

(दूसरा उदाहरण)

११३ [२३]"भम धम्मिअ वीसत्थो"' इत्यादि मे अर्थ-अनुनाद-ध्वनि है ।
'भ्रमण करो' यह जो विधि-रूप वाक्यार्थ कहा गया है, इस वाक्य से निषेध

न गन्तव्या च गोदेति निषेधोऽनेन गम्यते ।
तेन सङ्केतभूमिस्तदनुस्यूतं प्रतीयते ॥
११४ लावण्यसिन्धुरित्यादि प्रतिशब्दनिदर्शनम् ।
यतः सिन्धूत्पलाद्यर्थाननुस्यूतः स्वनन्नपि ॥
तत्तत्समानावयवान्रूपातिशयबोधकान् ।
पृथगेवोपलभते स एव स्यात्प्रतिध्वनिः ॥
११५ भक्तिप्रह्वयदेत्यादावनुनादः प्रतीयते ।
विशेषणानां तुल्यत्वात्सामर्थ्यात्कर[त्कुरु]शब्दजात् ॥
क्रियासुरिति वाक्यार्थो हस्तानुस्यूतमेव यत् ।
अनुनादं प्रजनयन्नूपैः [नेत्रे]पुरुषरूपताम् ।
तेजस्विताञ्च ध्वनयत्यनुनादोऽत्र दृश्यते ।
११६ दत्तानन्देतिवाक्यादौ प्रतिनादध्वनिर्यथा ॥
विशेषणानां तुल्यत्वात्सामर्थ्यादपि यो गिरः ।
प्रतिशब्दं प्रजनयन्धेनुषु स्वविशेषणैः ॥
माहात्म्यं ध्वनयत्यासां प्रतिनादो भवेत्ततः ।

व्यजित होता है अर्थात् 'गोदावरी नदी पर नही जाना'। इस वाक्य से किसी का तत्सबधित सकेत स्थान प्रतीत होता है। अत इस श्लोक का वाच्यार्थ तो विधि-रूप है परन्तु उससे प्रतीयमान जो अर्थ है, वह निषेध-रूप है।

(आर्थ-प्रतिशब्द-ध्वनि)

११४ [३४]'लावण्यसिन्धु ' इत्यादि उदाहरण मे प्रतिशब्द ध्वनि निर्दिष्ट की गयी है। क्योकि सिन्धु-कमल आदि अर्थ से सबधित होते हुए भी तद्-तद् समान अवयवो के रूप की अतिशयता का पृथक ज्ञान करा रहे है, वही प्रतिध्वनि है।

(शाब्द-अनुनाद-ध्वनि)

११५ [३५]भक्तिप्रह्वाय दातु—इत्यादि उदाहरण मे शाब्द-अनुनाद-ध्वनि प्रतीत होती है। विशेषणो के समान होने से, सामर्थ्य से तथा 'कुरु' शब्द से उत्पन्न 'क्रियासु' इति-जो हाथ से सम्बन्धित वाक्यार्थ है, वह अनुनाद को उत्पन्न करता हुआ अनूप नेत्रो से पुरुष की रूपता तथा तेजस्विता को ध्वनित करता है, अत यहाँ अनुनाद-ध्वनि दिखाई देती है।

(शाब्द-प्रतिध्वनि)

११६ [३६]दत्तानन्द—इत्यादि उदाहरण मे शाब्द-प्रतिनाद-ध्वनि है। विशेषणो के समान होने से तथा सामर्थ्य होने के कारण जो वाणी गायो मे अपने विशेषणो से प्रतिशब्द को उत्पन्न करती हुई उनकी महिमा को ध्वनित करती है वह 'प्रतिनाद' कहलाती है।

११७ शब्दध्वनिर्द्विधाभूतः शब्दादेवावगम्यते ॥
ध्वनितात्पर्ययोः कैश्चित्पृथक्त्वं कथ्यते बुधैः ।

११८ "अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ॥
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ।
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठा तावदागतम् ॥
तत्प्रसर्पति तत्तस्मात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥"

११९ ध्वनितात्पर्ययोर्भेदं केचिन्नेच्छन्ति तन्मते ।
समानलक्षणत्वाच्च तयोर्न च पृथक्स्थितिः ।
उक्तञ्च टीकाकारैश्च तयोरैक्यं प्रति क्वचित् ॥

१२० "एतावतैव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्य[न]तुलया[ला]धृतम्॥" इति॥

---

११७ शब्द-ध्वनि दो प्रकार की होती है जो शब्द से ही जानी जाती है। कोई विद्वान ध्वनि तथा तात्पर्य की पृथक्ता कहते है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा भी है—

११८ "जब तक वाक्य अपने अर्थ पर समाप्त नही होता है तथा पूर्णत प्रतिष्ठित या उत्पन्न नही होता है तब तक उस अर्थ तक वाक्य का वाक्यार्थ माना जायेगा। अर्थात् वाक्यार्थ के पूर्णत प्रतिष्ठित न होने पर जहाँ कही वाक्यार्थ उत्पन्न हो वही तक तत्परता-वाक्यार्थ-परता स्वीकार की जायेगी।

लेकिन जहाँ वाक्य, वाक्यार्थ मे आकर समाप्त हो जाता है तथा अर्थ पूर्णत प्रतिष्ठित या उपपन्न हो जाता है और वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए फिर से आगे बढता है तो ऐसे स्थलो पर वाक्यार्थ तो पूर्णत· विश्रान्त हो चुका है, अत यह अन्य अर्थ ध्वनि का ही विषय होता है।"[२७]

११९ कुछ अपने मत मे ध्वनि तथा तात्पर्य के भेद को नही चाहते हैं। क्योकि समान लक्षण होने के कारण दोनो की पृथक् स्थिति नही होती है। कही अर्थात् दश रूपक की अवलोक टीका मे टीकाकार धनिक ने ध्वनि तथा तात्पर्य की एकता के प्रति कहा है—

१२० "किसी भी वाक्य मे तात्पर्य यही तक है, बस इसके आगे नही, इसकी यहाँ विश्रान्ति हो जाती है इस बात का निर्धारण किसने कर दिया है? वस्तुत किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नही की जा सकती है। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होता है वही तक फैला रहता है। इसीलिए तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नही कहा जा सकता है कि इतना तात्पर्य है बाकी अन्य वस्तु। इसीलिए ध्वनि भी तात्पर्य मे ही अन्तर्निविष्ट हो जाती हैं।"[२८]

१२१ ध्वनितात्पर्ययोर्भेदो ब्राह्मणब्रह्मचारिवत् ।
तदवान्तरभेदो हि प्रायेण पृथगुच्यते ॥
तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य ।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥
अतो ध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः ।
काव्ये रसालङ्कारादिर्वाक्यार्थो भवति ध्रुवम् ॥
एवं त्रिरूपं तात्पर्यं तत्तत्तात्पर्यवेदिभिः ।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्म एवेति परिकीर्त्यते ॥

१२२ अर्थस्यैतावतः शब्द एतावानलमित्ययम् ।
प्रविभागोऽर्थभागेषु शब्दभागविभागता ॥

१२३ महावाक्यार्थदेहस्य य एवावयवाः स्मृताः ।
ते चावान्तरवाक्यार्थास्तत्र तत्र यथाक्रमम् ॥
महावाक्यस्यावयवभूतावान्तरवाक्यभाक् ।
विभागः प्रविभागः स्यात्पदानामप्यवान्तरे ॥
वाक्ये पदार्थेषु पदे प्रकृतिः प्रत्ययस्ततः ।
तदर्थेषु विभागो यः प्रविभाग इतीरितः ॥

---

१२१ ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी के समान ध्वनि तथा तात्पर्य का भेद होता है। उन दोनो के बीच का भेद प्राय पृथक् कहा जाता है। लोक-वाक्य मे जो तात्पर्य होता है वही वाक्य काव्य मे ध्वनि होती है, जैसे—अगना के शरीर मे जो लावण्य का स्वाद लिया जाता है वही नायक के गुणो मे सौभाग्य होता है, माननीय पुरुष के हृदय मे शृगार होता है। अत सिद्ध होता है कि ध्वनि नामक तात्पर्य के स्वत गम्यमान होने से काव्य मे रस, अलकार आदि वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार उन-उन तात्पर्य-वेत्ताओ द्वारा त्रिरूप तात्पर्य को वक्ता द्वारा प्रयुक्त वाक्य-धर्म ही कहा जाता है।

(प्रविभाग)

१२२ इस अर्थ का यह शब्द पर्याप्त है—इस प्रकार यह विभाजन 'प्रविभाग' कहलाता है तथा अर्थ-भागो मे शब्द-भाग का विभाजन 'प्रविभाग' कहा जाता है।

१२३ महावाक्यार्थ रूपी शरीर के जो अवयव कहे जाते है, वे बीच-बीच के वाक्यार्थ होते है, वहाँ-वहाँ यथाक्रम महावाक्य के अवयवभूत अवान्तर वाक्य वाला विभाग 'प्रविभाग' होता है। पदो का बीच-बीच मे विभाग 'प्रविभाग' होता है। वाक्य मे, पदार्थों मे, पद मे प्रकृत्ति और प्रत्यय तदनन्तर उनके अर्थों मे जो विभाग होता है वह 'प्रविभाग' कहलाता है।

१२४ अपि यद्वयतिरेकेण निष्कृष्टं प्रविभागतः ।
प्रत्यायनं पदार्थानां पदे न प्रथमं ततः ॥
विवक्षा चैव तात्पर्य प्रविभाग इति क्रमात् ।
एवं शब्दे चानुरूप्यं वक्तृद्वारा निरूप्यते ॥

१२५ सा व्यपेक्षा पदार्थानामाकाङ्क्षा या परस्परम् ।

१२६ या च क्रियाकारकादिभावेनान्वययोग्यता ॥
वाक्ये पदपदार्थानां तत्सामर्थ्यमितीरितम् ।
परस्परस्य ग्रथनं पदानामन्वयः स्मृतः ॥
स नीरक्षीरवत्क्वापि तिलतण्डुलवत्क्वचित् ।
पांसूदकवदन्यत्र दृश्यते बहुधाऽन्वयः ॥
अविभागेन भवनमेकार्थीभाव इष्यते ।
अनेनैव प्रकारेण व्याख्याता मुक्तकादयः ॥

१२७ द्वाभ्यां चतुष्पदीभ्यान्तु युगलं तिसृभिः पुनः ।
सन्दानितं चतसृभिः कथितञ्च कलापकम् ॥

१२८ एकप्रघट्टकेनैव निबद्धो वाक्यविस्तरः ।

---

१२४ जिसके व्यतिरेक से प्रविभाग से निकला हुआ पदार्थों का प्रत्यायन पद मे पहले नही रहता है, तब विवक्षा होती है, उसी को तात्पर्य कहते है, इसी क्रम से प्रविभाग होता है। इसी प्रकार शब्द मे अनुरूपता वक्ता के द्वारा निरूपित की जाती है।

(व्यपेक्षा)

१२५ पदार्थों की जो परस्पर आकाक्षा होती है, वह 'व्यपेक्षा' कहलाती है।

(सामर्थ्य)

१२६ वाक्य मे पद तथा पदार्थो की जो क्रिया, कारक आदि के भाव से अन्वय की योग्यता होती है, वह 'सामर्थ्य' कहलाती है। पदो के परस्पर के ग्रन्थन को 'अन्वय' कहते हैं। वह (अन्वय) कही नीर-क्षीर के समान, कही तिल-तण्डुल के समान तथा कही पाँसु-उदक के समान—बहुत प्रकार से देखा जाता है। अविभाग से होने वाला 'एकार्थी-भाव' कहा जाता है। इसी प्रकार से मुक्तक आदि कहे जाते है।

१२७ यदि दो श्लोको मे वाक्य-पूर्ति होती है तो 'युगल' कहलाता है तथा दो-दो से चतुष्पदी भी 'युगल' कहलाती है। तीन पद्यो का 'सन्दानित' होता है। चार पदो का 'कलापक' कहलाता है।

१२८ एक घटना से ही निबद्ध जो वाक्य-विस्तार होता है, उसे 'सघात' कहते है। अनेक वाक्यो का सग्रह और अनेक प्रकार के प्रघट्टको की रचना विद्वानो

स सङ्घातो भवेत्कोशो नानावाङ्‌मयोपसङ्ग्रहः ॥
नानाप्रघट्टकैर्बन्धः कोश इत्युच्यते बुधैः ।
स एवोद्यानसलिलक्रीडादिभिरनेकधा ॥
प्रबन्धमध्ये नद्धश्चेदेतत्प्रकरणं भवेत् ।
तत्समूहः प्रबन्धः स्यात्तत्र रामादिवद्भवेत् ॥
न रावणवदित्यत्र विधितश्च निषेधतः ।
सिद्धो महावाक्यार्थो यः स चतुर्वर्गसाधनः ॥
अतः स्कन्धो व्यपेक्षादिः वाक्यवाक्यार्थयोरपि ।
स्मृतोऽन्तरङ्गभूतश्चेत्येवं निर्णीयते बुधैः ॥

१२९ एवंविधस्य वाक्यस्य सुप्रयोगार्हतोच्यते ।

१३० निर्गुणत्वं सदोषत्वं रसालङ्कारशून्यता ॥
एतानि घ्नन्ति वाक्यस्य सुप्रयोगार्हतां ध्रुवम् ।
प्रयोगयोग्यतां कुर्युः ये चत्वारो गुणादयः ॥
उक्तञ्च—
"सगुणं सरसं काव्यं सालङ्कारञ्च यद्भवेत् ।
तन्निर्दोषं सदोषन्तु तद्विपर्ययतो भवेत् ॥"
दोषास्त्रिधा पदे वाक्ये वाक्यार्थे च यथाक्रमम् ।
तत्र तत्रैव भिन्नाः स्युस्तेऽपि षोडशधा पुनः ॥

द्वारा 'कोश' कहलाती है । वह उद्यान-क्रीडा, जल-क्रीडा आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है । इसे प्रबन्ध के बीच मे निबद्ध कर दे तो 'प्रकरण' होता है । उन (प्रकरणो) का समूह 'प्रबन्ध' होता है । विधि-निषेध से जो 'रामादि के समान होना चाहिए, रावणादि के समान नही होना चाहिए' सिद्ध-महावाक्यार्थ होता है, वह चतुर्वर्ग का साधन होता है । अत व्यपेक्षादि शाखा वाक्य तथा वाक्यार्थ की अन्तरग-भूत कही जाती है, विद्वान ऐसा ही निर्णय करते है ।

१२९ इसी प्रकार के वाक्य की सुप्रयोग-योग्यता कही जाती है ।

१३० निर्गुणता, सदोषता, रस तथा अलकार की शून्यता—यह निश्चय ही वाक्य की सुप्रयोग-योग्यता को नष्ट कर देती है । जो चार गुण आदि हैं वे प्रयोग-योग्यता को बढाते हैं । कहा भी है कि "जो काव्य सगुण, सरस तथा सालंकार होता है, वह निर्दोष होता है, सदोष तो उनकी विपरीतता से होता है । अर्थात् सदोष-काव्य गुणरहित, रसरहित तथा अलकाररहित होने पर होता है ।" दोष क्रमश पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ मे होने से तीन प्रकार का

भोजादिभिरलङ्कारा गुणा दोषाश्च दर्शिताः ।
अतो विरम्यते तेषां रूपं कथयितुं मया ॥
रसस्य वाक्यतात्पर्यगोचरत्वाद्यथार्थतः ।
अतोऽनेन प्रकारेण वाक्यार्थत्वञ्च सिध्यति ॥

१३१ रसाश्रये विगायन्ति केचित्तेषां निराक्रिया ।
भरतादिमतेनैव क्रियते सोपपत्तिका ॥

१३२ प्रोक्तः सदाशिवेनास्य स्वरूपाश्रयनिर्णयः ।
"रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ॥
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ।
द्रष्टुः प्रमोदव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ॥
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्यैव दर्शनात् ।"

१३३ रत्यादिरेव स्थाय्याख्यः तत्तदालम्बनाश्रयः ॥
स्वविभावादिसंसृष्टरूपेणैव रसो भवेत् ।

होता है । वहाँ-वहाँ भिन्न होते है, वे भी पुन सोलह प्रकार के होते है । आचार्य भोज आदि ने अलकार, गुण तथा दोष कह दिये है, अत उनके स्वरूप को कहने से मै रुक जाता हूँ (अर्थात् उनके स्वरूप को मै नही कहता हूँ) । अत इस प्रकार वाक्य के तात्पर्य-गोचर-रूप होने से यथार्थत रस की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।[२९]

१३१ कोई रसाश्रय के विषय मे कहते है, उनका निराकरण भरत आदि के मत से ही उपपत्ति-सहित हम कहते है ।

१३२ सदाशिव रस के स्वरूप के आश्रय का निर्णय कहते है कि "लौकिक स्वाद के विषय 'रस' की तरह रत्यादि स्थायी-भाव स्वाद्य होने के कारण 'रस' कहलाता है । यह रस रसिक हृदय मे ही पाया जाता है अनुकार्य रामादि मे नही । काव्य का प्रयोजन सामाजिको को रसास्वाद कराना ही होता है । काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के है, उन्हे रस चर्वणा हो ही कैसे सकती है । वस्तुत रस-चर्वणा नाटकादि काव्य के दृष्टा सामाजिक मे ही मानी जा सकती है । यदि अनुकार्य रामादि मे मानी जायेगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होगे जैसे प्राय व्यावहारिक ससार-क्षेत्र मे अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखा जाता है । तदनन्तर किन्ही दो प्रेमिका की शृगारी चेष्टा देखकर, सामाजिको को रसास्वाद नही हो सकेगा प्रत्युत उनके हृदय मे प्रमोद, लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी । अत अनुकार्य नाय-कादि मे रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक मे ही रस स्थिति माननी होगी ।"[३०]

१३३ उस-उस आलम्बन के आश्रित रत्यादि स्थायी-भाव अपने विभावादि के

व्यापारेण च काव्यस्य तदीयाभिनयेन च ॥
रसात्मकत्वनियमात्स्थायी स्वाद्यत्वमेष्यति ।
सामाजिकादिरेवास्य रसस्याश्रय उच्यते ॥
रसस्य वर्तमानत्वान्नानुकार्यस्य सम्भवः ।
अनुकार्यस्य रामादेः कालातिक्रमदर्शनात् ॥
नातिक्रान्तानुकार्यस्य रसभावनया कविः ।
करोति काव्यं रसिकान्रञ्जयेयमितीच्छया ॥
बध्नाति काव्यं यत्तस्माद्रसः सामाजिकाश्रयः ।
अतः सामाजिकोद्देशप्रवृत्तत्वाद्यथार्थतः ॥
काव्यस्यातत्परत्वेन तात्पर्यं तद्रसे भवेत् ।
अतो रसस्य तात्पर्यगम्यत्वं सम्यगीरितम् ॥
अतोऽस्तु जन्यजनकसम्बन्धो रसकाव्ययोः ।
अतः सामाजिकस्यैव रसस्याश्रयता स्थिता ॥

१३४ ननु स्वदयितासक्तं पश्यतो न रसोदयः ।
तर्हि रामादिरसिकान् शृण्वतो जायते कथम् ॥
रामादिरर्थो न भवेद्विभावोऽस्य रसस्य तु ।

ससृष्ट-रूप से ही 'रस' होते है। काव्य के व्यापार से और उनके अभिनय से रसात्मकता के नियम के कारण स्थायी-भाव स्वाद्यत्व को प्राप्त होता है। सामाजिक आदि ही इस रस के आश्रय कहे जाते हैं। रस वर्तमान होता है, अनुकार्य रामादि अतीत काल से सम्बद्ध होते है, अतः अनुकार्य रामादि मे रस का आश्रय सम्भव नही हो सकता। कवि अनुकार्य रामादि की रस-प्रतीति के लिए काव्य की रचना नही करते हैं। कवि काव्य की रचना इस इच्छा से करते है कि रसिक-सहृदयो को रसास्वाद हो। इसलिये रस सामाजिक के आश्रित होता है। अत काव्य वस्तुत सामाजिक को उद्देश्य करके रचा जाता है। काव्य का प्रयोजन सामाजिको को रसास्वाद कराना ही होता है, इससे उस रस मे तात्पर्य रहता है, अत रस की तात्पर्य-गम्यता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। रस और काव्य मे जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होता है, अत सामाजिक की ही रसाश्रयता स्थिर हो जाती है।

१३४ सामाजिको मे रस की स्थिति स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके विभाव कौन है? जब अपनी नायिका से युक्त नायक को देखने से रस उदय नही होता तो अनुकार्य रामादि के श्रवण से रसिक हृदय को रसोदय कैसे होगा? अनुकार्य रामादि इस रस का विभाव नही होना चाहिए। यह ठीक है कि रामादि के अविद्यमान रहने से रस उत्पन्न नही होता है

अविद्यमानत्वादेव रामादेर्न रसोद्भवः ॥
अत्राऽविवक्षितस्वार्थविशेषोऽतत्परत्वतः ।
धीरोदात्ताद्यवस्थानां प्रतिपादनवर्त्मना ॥
रामादिशब्दो रत्यादेः विभावो भवति स्फुटम् ।
इममेवार्थमुद्दिश्य कथितं भरतादिभिः ॥

१३५ शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्ष इव रामादीन्कारणत्वेन मन्यते ॥
रामादिगतभोगादिप्रतिपादनवर्त्मना ।
सुदृढाहितसंस्कारातिशयास्ते सभासदः ॥
शश्वद्विधूतस्वपरविवेकाश्च विशेषतः ।
सम्भोगाद्यनुसन्धानप्रवणाहङ्कृतित्वतः ॥
निर्विकल्पं निरुपमं स्वादं तत्रोपभुञ्जते ।

१३६ एवमुक्तं भवति—स्वतोऽविद्यमानैरपि रामादिभिः कविसन्दर्भकौशलेन प्रत्यक्षवच्छब्दोपनीतैः तद्व्यापारानुसन्धानैकचित्ततया श्रोतृभिः स्वपरविवेकविधूननेन प्रतिपन्नो रसो जायते ॥

काव्यानुसन्धानवशाच्छ्रोतृसामाजिकौ रसे ॥

लेकिन काव्य मे वर्णित रामादि ही जब अपने विशेप अर्थ (व्यक्तित्व) को छोडकर सामान्य (नायक-मात्र) रूप धारण कर लेते है तो सहृदय के हृदय मे प्रतीति कराने के कारण हो जाते है तथा रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतिपादक है, अत ये रामादि सामाजिक मे रत्यादि स्थायी-भाव को विभावित करते है। इसी अर्थ को उद्देश्य करके भरतादि आचार्य कहते हैं।

१३५ शब्दोपहित राम के रूप को बुद्धि का विषय बनाकर रामादि को प्रत्यक्ष के समान रसानुभूति का कारण (विभाव) जाना जाता है। रामादि-गत भोग आदि के प्रतिपादन मार्ग से वे सभासद सुदृढ सस्कारातिशय से युक्त होते हैं। तब वे निरन्तर स्वगत-परगत विवेक को भूल जाते हैं। सम्भोग आदि के अनुसधान की प्रवणता (श्रेष्ठता) से अहकृति (अहभाव) होती है। तब निर्विकल्प, निरुपम (अद्वितीय) स्वाद का उपभोग होता है।

१३६ इस प्रकार कहा जाता है कि स्वत रामादि के अविद्यमान होने पर भी कवियो की सन्दर्भ-कुशलता से, प्रत्यक्ष के समान शब्दोपहित उनके व्यापारो के अनुसन्धान से, एकचित्त होने से और स्वपर-विवेक-शून्य होने से श्रोता के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है। काव्य के अनुसन्धानवश ही श्रोता और सामाजिक

रसिकौ तद्वदेव स्यान्नटोऽपि च रसाश्रयः ।
इति प्रष्टुः प्रतिवचः पुरस्तादेव दर्शितम् ।।

१३७ अतः सामाजिकस्यापि काव्यस्य च रसस्य च ।
भाव्यभावकरूपोऽपि सम्बन्धोऽस्तीति दर्शितः ।।
प्रतिपाद्यप्रतिपादकसम्बन्धः पूर्वमेवोक्तः ।
तत्रैव जन्यजनकसम्बन्धोऽपि प्रकाशितप्रायः ।।
नटाभिनयचातुर्यात्प्रबन्धे कविकल्पिते ।
प्रयोगानुभवो ज्ञेयः श्रोतुः सामाजिकस्य च ।।
तत्तच्छब्दार्थसम्बन्धनिर्णीतिद्वारपूर्वकः ।
स्वस्वशब्दार्थसम्बन्धवित्तिर्निर्णीतिरुच्यते ।।

१३८ सर्वस्यैव हि शब्दस्य स्वार्थवृत्तिविभागतः ।
षोढा विभागो भवति तत्तदर्थवशादपि ।
स वाचको लाक्षणिको व्यञ्जको गमकोऽपि च ।
प्रत्यायकद्योतकाख्याविति षोढा विभिद्यते ।।
तत्तच्छब्दोपाधितया षोढा सोऽर्थो विभज्यते ।
अर्थज्ञापकसामर्थ्यसम्बन्धः सोऽपि षड्विधः ।।
एतेभ्यो भिन्न एतेभ्यस्तात्पर्यार्थोऽपि दृश्यते ।

मे रस उत्पन्न होता है । इसीलिए वे दोनो रसिक कहे जाते हैं, उसी प्रकार नट भी रस का आश्रय होता है । इस प्रकार प्रष्टा (प्रश्न करने वाले) का उत्तर सामने ही दे दिया गया ।

१३७ अत सामाजिक का, रस और काव्य का भाव्य-भावक रूप सम्बन्ध होता है, यह दिखाया गया । प्रतियाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध पहले ही कह दिया गया है, वही प्राय जन्य-जनक सम्बन्ध भी कह दिया गया है । कवि-कल्पित प्रबन्ध मे नट के अभिनय के चातुर्य से श्रोता और सामाजिक के उन-उन शब्दो और अर्थों के सम्बन्ध से निर्णीतिपूर्वक प्रयोग का अनुभव जानना चाहिए । अपने-अपने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान 'निर्णीति' कहा जाता है ।

१३८ सभी शब्द के अपनी अर्थवृत्ति के विभाग से ६ भेद होते है । उस-उस अर्थ से वह शब्द वाचक, लाक्षणिक, व्यजक, गमक, प्रत्यायक तथा द्योतक नाम से ६ प्रकार का होता है । उस-उस शब्द के नाम से अर्थ ६ प्रकार के होते हैं । अर्थ का ज्ञापक, सामर्थ्य-सम्बन्ध भी ६ प्रकार का होता है । इनसे भिन्न इनके लिए 'तात्पर्यार्थ' भी माना जाता है ।

१३९ अर्थे गृहीतसम्बन्धः शब्दो वाचकसंज्ञकः ॥
यद्गुणाद्यविशेषेण वस्तुमात्रं प्रतीयते ।
तद्वस्तु वाच्यसंज्ञोऽर्थ इति विद्वद्भिरीरितः ॥
सा शब्दस्याभिधा वृत्तिः वस्त्वेकज्ञापकक्रिया ।

१४० स्वार्थे स्ववृत्त्ययोगेन तत्सम्बन्धिनि वस्तुनि ॥
तद्रूपेण तु बोद्धव्यः शब्दो लाक्षणिको भवेत् ।
तादृगर्थो भवेल्लक्ष्यो लक्षणावृत्तिसंश्रयः ॥
स्वाभिधेयाविनाभूतप्रतीते वस्तुनि क्वचित् ।
शब्दव्यापारविश्रान्तिहेतुता लक्षणोच्यते ॥

१४१ सम्बन्धमत्यजन्वाच्यलक्ष्यतद्धर्मतद्गुणैः ।
तत्तद्विशिष्टातिशयं व्यञ्जयन्व्यञ्जको भवेत् ॥
रसालङ्कारवशतो गुणधर्मवशात्तु वा ।
वाच्यादतिशयो वाऽपि लक्ष्यादतिशयोऽपि वा ।
दृश्यते यत्र तद्रूपमर्थं व्यङ्ग्यं विवृण्वते ॥
स्वपदार्थधर्मगुणगतरसादिसहकारिकर्मसामर्थ्यात् ।
अतिशयवदर्थकल्पितविश्रान्तिर्व्यक्तिरित्युक्ता ॥

(वाच्य-वाचक सम्बन्ध)

१३९ जिस शब्द का जिस अर्थ मे सम्बन्ध ग्रहण होता है वह शब्द 'वाचक' कहलाता है। गुण आदि की विशेषता से जिस वस्तु-मात्र की प्रतीति होती है वह वस्तु विद्वानो द्वारा 'वाच्यार्थ' कहलाती है। उस वस्तु का ज्ञान कराने वाली जो क्रिया होती है, वह शब्द की अभिधा-वृत्ति कहलाती है।

१४० स्वार्थ मे अपना ज्ञान न होने से (अपने ज्ञान के अयोग से अर्थात् अपने अर्थ-ज्ञान के सम्बन्ध न होने से) लेकिन उससे सम्बन्धित वस्तु मे उस रूप से ज्ञान कराने वाला शब्द 'लाक्षणिक' होता है। उसी प्रकार का अर्थ 'लक्ष्य' होता है और उसकी वृत्ति 'लक्षणा' होती है। कही अपने अभिधेय अर्थ से अविनाभूत प्रतीत होने वाली वस्तु मे शब्द-व्यापार की विश्रान्ति-हेतु-रूप 'लक्षणा' कही जाती है।

१४१ सम्बन्ध को न छोडते हुए वाच्य, लक्ष्य, उनके धर्म, उनके गुणो से उस-उस विशिष्ट अर्थ को 'व्यजित' करने वाला शब्द 'व्यजक' होता है। रस और अलकार के वश, गुणो के धर्म के वश, वाच्य के अतिशय से या लक्ष्य के अतिशय से जहाँ पर तद्रूप अर्थ दिखायी देता है, उसे 'व्यग्यार्थ' कहते है। अपने पदार्थ, तद्गत धर्म, गुण, तद्गत रसादि के सहकारी कर्म की सामर्थ्य से अतिशय अर्थ की कल्पना की विश्रान्ति हो, उसे 'व्यक्ति' कहते हैं।

१४२ विशिष्टे वाच्यलक्ष्यार्थे तद्विशेष्यैकदेशतः ।
विवक्षितार्थं क्रमशो गमयन् गमको भवेत् ॥
विशिष्टवाच्यलक्ष्यार्थविशेषणसमाश्रितम् ।
गुणभावरसादीनां [गमनं] गम्य ईरितः ॥
विशिष्टे वाच्यलक्ष्येऽर्थे विशेषणविशेष्ययोः ।
यावदर्थ विवृण्वन्ती या वृत्तिर्गतिरीरिता ॥
गम्ये गमकशब्दस्य वृत्तिर्गतिरिति स्मृता ।

१४३ स्ववृत्तिद्वारतः स्वार्थविशेषणगुणादित. ॥
अर्थान्तरमनुस्यूतं द्योतयन्द्योतको भवेत् ।
गुणधर्मरसादिभ्यः प्रतीतेभ्यः पृथक्पृथक् ॥
तत्तद्विशेषसामर्थ्यकल्प्योऽर्थो द्योत्य ईरितः ।
वाक्यार्थावयवीभूतपदार्थान् जिघ्रती क्रमात् ॥
विवक्षिते द्योतमाना या वृत्तिर्द्युतिरुच्यते ।
द्योत्ये द्योतकशब्दस्य व्यापृतिर्द्युतिरीरिता ॥

१४४ प्रतीतोऽतिशयो यत्र वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु ।
प्रत्याययंस्तमेवार्थं शब्दः प्रत्यायको भवेत् ॥
गुणे रसे वाऽलङ्कारे पदवाक्यार्थसंश्रये ।

---

१४२ विशिष्ट वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ मे उन-उन की विशेषता से क्रमश विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द 'गमक' होता है। विशिष्ट वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ के विशेषण के आश्रित गुण, भाव और रसो का जो ज्ञान है, वह 'गम्य' होता है। विशिष्ट वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ मे विशेषण और विशेष्य सम्बन्ध से जो वृत्ति जितने अर्थ को प्रकट करती हो, उसे 'गति' कहते है। गम्य मे गमक शब्द की जो वृत्ति होती है, वह 'गति' कहलाती है।

१४३ अपनी वृत्ति के द्वार से और स्वार्थ के विशेषण और गुण आदि से सम्बद्ध अन्य अर्थ को द्योतित करने वाला शब्द 'द्योतक' कहलाता है। गुण, धर्म, रस आदि से अलग-अलग प्रतीत, तद्-तद् विशेष के सामर्थ्य से कल्पित अर्थ 'द्योत्य' कहा जाता है। वाक्यार्थ के अवयवीभूत पदार्थो को ग्रहण करती हुई विवक्षित अर्थ मे द्योतित होने वाली वृत्ति 'द्युति' कहलाती है। द्योत्य मे द्योतक शब्द की वृत्ति 'द्युति' कहलाती है।

१४४ वाच्य, लक्ष्य आदि वस्तुओ मे जहाँ अधिक अर्थ की प्रतीति हो, उस अर्थ को प्रत्यायित कराने वाला शब्द 'प्रत्यायक' होता है। गुण, रस अथवा अलकार मे, वाक्यार्थ के सम्बन्ध मे, वाच्य और लक्ष्य मे अधिक प्रतीयमान अर्थ

प्रतीयमानोऽतिशयः प्रत्याय्यो लक्ष्मवाच्ययोः ॥
अविश्रमेण व्यापारो रसाद्यतिशयावधिः ।
प्रत्यायकस्य प्रत्याय्ये प्रतीतिरिति कथ्यते ॥

१४५ देशकालक्रियाजातिरूपवाच्यादिवस्तुषु ।
षट्पदार्थविचाराय गुणा धर्माश्च कल्पिताः ॥
कविभिः स्वीक्रियन्ते ते तज्ज्ञैः काव्यादिसम्पदे ।
अत्रैवाऽप्यभिधीयन्ते वाच्याद्यर्थोपलब्धये ॥

१४६ देशे निम्नोन्नतत्वादिराकारो धर्म ईरितः ।
तस्मिन्मृदुत्वकाठिन्यकार्ष्ण्यशौक्ल्यादयो गुणाः ॥

१४७ नक्तंदिवविभागेन द्विधा कालः प्रकीर्तितः ।
तमस्तेजश्च तद्धर्मौ गुणास्तत्रार्तवादयः ॥

१४८ यः संयोगविभागादिः क्रियाधर्मः स कथ्यते ।
तत्र वैफल्यसाफल्यसुसाधुत्वादयो गुणाः ॥

१४९ निवृत्तिश्च प्रवृत्तिश्च जातिधर्माविती रितौ ।
धैर्यादयो गुणास्तत्र सहजाहार्यरूपतः ॥

'प्रत्याय्य' कहलाता है। प्रत्याय्य मे प्रत्यायक का रसाद्यतिशय-प्रतीति-पर्यन्त होने वाला अविश्रम-व्यापार 'प्रतीति' कहलाता है।[११]

(देशादि वाच्यादि के गुण तथा धर्म)

१४५ उपर्युक्त षट्-पदार्थ के विचार के लिए देश, काल, क्रिया तथा जाति-रूप वाच्यादि वस्तुओ मे गुण तथा धर्म कहे जाते है। काव्यादि सम्पत्ति के लिए उनके ज्ञाता कवियो द्वारा वे स्वीकार किये जाते है। वाच्यादि अर्थों की उपलब्धि के लिए यही कहते हैं।

(देश)

१४६ देश मे निम्नता तथा उन्नतता आदि आकार 'धर्म' कहे जाते है। इस (देश) मे मृदुलता, कठिनता, श्यामलता तथा शुक्लता आदि 'गुण' होते हैं।

(काल)

१४७ रात तथा दिन विभाग से 'काल' दो प्रकार का होता है। अन्धकार तथा तेज उसके धर्म है, तथा आर्तव आदि उसके 'गुण' है।

(क्रिया)

१४८ जो सयोग-विभाग आदि हैं, वह क्रिया के 'धर्म' कहे जाते हैं। वहाँ विफलता सफलता तथा सुसाधुता आदि गुण होते हैं।

(जाति-धर्म)

१४९ निवृत्ति तथा प्रवृत्ति—ये दोनो 'जाति-धर्म' होते है। इसमे सहज तथा आहार्य-

ते भवेयुस्त्रिधा तत्र वाङ्‌मनःकायरूपतः ।
शोभनाशोभनत्वेन ते भवेयुर्द्विधा पुनः ॥
धैर्यादयोऽत्र सहजा आहार्योऽभ्याससम्भृतः ।
१५० माधुर्यनिष्ठुरत्वादिगुणो वाचि प्रकल्पितः ॥
क्रूरत्वशान्तिमत्त्वादिगुणाः स्युर्मानसा गुणाः ।
लावण्यसौकुमार्यादिः शरीरः कल्पितो गुणः ॥
१५१ गुणत्रयोपाधिभिन्ना त्रिधा प्रकृतिरुच्यते ।
अर्भकत्वाद्यवस्थैव तासु धर्मतयोच्यते ॥
जात्याश्रया गुणा एव तासु प्रकृतिषु स्वतः ।
१५२ आकारवत्त्वादिरेव द्रव्यधर्म इतीर्यते ॥
गुणः शोभाऽऽभिरूप्यादिः द्रव्ये कविभिरुच्यते ।
१५३ व्यक्तताऽव्यक्ततादिस्तु गुणे धर्म इतीर्यते ॥
वस्तुशोभाकरत्वं यत्स गुणः कल्पितो गुणे ।
१५४ धर्मो गुणो यः क्रियायास्स स एवेह कर्मणि ॥
१५५ धर्मः स एव कविभिः सामान्ये परिकल्पितः ।

रूप से धैर्यादि गुण होते है। वे (धैर्यादि) गुण तीन प्रकार के होते हैं—वाचिक, मानसिक तथा कायिक। ये तीनो पुन शोभन तथा अशोभन रूप से दो प्रकार के और होते है। यहाँ सहज तथा आहार्य धैर्यादि गुण अभ्यास से इकट्ठे किये जाते है।

१५० माधुर्य तथा निष्ठुरता आदि 'वाचिक' गुण कहे जाते है। क्रूरता, शान्तिमत्ता आदि 'मानसिक' गुण कहे जाते हैं। लावण्य, सुकुमारता आदि 'शारीरिक' गुण कहे जाते हैं।

१५१ इन गुणत्रय की उपाधि की भिन्नता से 'प्रकृति' तीन प्रकार की कही जाती है। उनमे अर्भकत्व (बचपन) आदि अवस्थायें ही 'धर्म' कही जाती है, तथा उन प्रकृतियो मे जाति के आश्रित 'गुण' होते है।

(द्रव्यादि मे गुण-धर्म)

१५२ आकारवत्ता आदि ही द्रव्य-धर्म कहे जाते हैं। द्रव्य मे कविजनो द्वारा शोभा, आभिरूप्य आदि गुण कहे जाते है।

१५३ 'गुण' मे व्यक्तता तथा अव्यक्तता आदि 'धर्म' होते हैं। जो वस्तु की शोभा करते हैं, वे गुण मे 'गुण' कहे जाते हैं।

१५४ जो धर्म तथा गुण 'क्रिया' के होते है, वे ही 'कर्म' मे होते है।

१५५ 'सामान्य' मे कविजनो द्वारा 'धर्म' वही कहा जाता है जिसमे अवान्तर

यदवान्तरसामान्यभेदाश्रयसहिष्णुता ॥
व्यक्तिषु व्याप्यवृत्तित्वं सामान्ये कल्पितो गुणः ।

१५६ स्वाश्रयाभिन्नरूपत्वं धर्मः स्यात्समवायभाक् ॥
गुणद्रव्यैकघटनासामर्थ्यं गुण ईरितः ।

१५७ मुग्धत्वादिविशिष्टत्वं यत्स धर्मो विशेषभाक् ॥
विनियोगार्हता तेषां गुण एवेति कल्प्यते ।

१५८ ये धर्मा ये गुणाः क्लृप्ता वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु ॥
तैस्तैस्तदर्थातिशयो ग्राह्यः काव्यादिसम्पदे ।

१५९ वर्णेन च पदेनापि पदाभ्याञ्च पदैरपि ॥
वाक्येन वाक्यार्थेनैते ह्यर्थाः षोढा विकल्पिताः ।
विवक्षितार्थसम्पत्तिहेतवः स्युर्यथोचितम् ॥

१६० कारकेण कदाचित्स्यादभिधायाः कदाचन ।
तद्धितेन समासेन सर्वनाम्ना कदाचन ॥
प्रकृत्या प्रत्ययेनापि धातुकाकूपसर्गतः ।
वक्तुर्विवक्षाऽलङ्काररसादिभ्यः कदाचन ॥
वाक्यो लक्ष्यत्वमायाति लक्ष्यो वाच्यत्वमेति च ।
एवं विनिमयञ्चापि व्यत्ययञ्च परस्परम् ॥

सामान्य भेद के सम्बन्ध की सहिष्णुता हो। समस्त व्यक्तियो मे व्याप्य-वृत्ति-रूप गुण सामान्य मे 'गुण' कहा जाता है।

१५६ अपने आश्रय का अभिन्न-रूपत्व 'समवाय' का धर्म होता है। द्रव्य-गुण के एक-रूप करने की सामर्थ्य ही उसका गुण होता है।

१५७ मुग्धता आदि जो विशेषता है, वह 'विशेष' के धर्म है। विनियोग (प्रयोग) की योग्यता उनमे 'गुण' कही जाती है।

१५८ वाच्य, लक्ष्य आदि वस्तुओ मे जो धर्म, जो गुण कहे गये है। उन-उन के द्वारा काव्यादि सम्पति के लिए उनके अर्थातिशय को ग्रहण करना चाहिए।

१५९ वर्ण, पद, दो-पद, अनेक पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ से ये अर्थ ६ प्रकार के होते हैं। ये यथोचित विवक्षित-अर्थ-सम्पत्ति के हेतु होते हैं।

१६० ये (हेतु) कभी कारक से, कभी अभिधा से होते है। कभी तद्धित, समास, सर्वनाम, प्रकृति-प्रत्यय, धातु, काकु तथा उपसर्ग से होते हैं। कभी वक्ता की विवक्षा, अलकार तथा रस आदि से होते हैं। वाच्य लक्ष्यता को प्राप्त होता है, और लक्ष्य वाच्यता को प्राप्त होता है। स्वोचित अतिशय की प्राप्ति के

वाच्यादयोऽर्था यास्यन्ति स्वोचितातिशयाप्तये ।
एतद्रूपेण बोद्धव्यं तत्तदर्थविवेक्तृभिः ॥

१६१ विवक्षितमभिप्रायः फलं भावः प्रयोजनम् ।
तात्पर्यमिति पर्यायशब्दा वाक्यार्थगोचराः ॥

१६२ प्रयुज्यमानोऽभीष्टार्थः कारकादिसमन्वितः ।
नीयते यत्प्रबोधाय तत्प्रयोजनमुच्यते ॥

१६३ योऽर्थो बुद्धिस्थितोऽभीष्टो वक्तृवाक्येन गम्यते ।
तद्विवक्षितमित्युक्तं दर्पणादौ मुखादिवत् ॥

१६४ यदर्थस्याभिमुख्येन पदार्था ह्युपकुर्वते ।
सोऽभिप्रायस्तदुत्कर्षः प्रायशशब्देन कथ्यते ॥

१६५ प्रधानमुपकार्योऽर्थः पदार्था ह्युपकारकाः ।
तत्परत्वं पदार्थानां तात्पर्यं तदितीरितम् ॥

१६६ अभीष्टार्थपरीपाको नेत्रादेरथवा कवेः ।
द्रुमादिफलवद्यत्र स्वाद्यते तत्फलं भवेत् ॥

१६७ व्यापारो यत्र नेत्रादेः शृङ्गारादिर्विभाव्यते ।
अर्थसन्दर्भचातुर्यात्स भाव इति कथ्यते ॥

लिए वाच्यादि अर्थ इस प्रकार परस्पर विनिमय तथा व्यत्यय (विरोध) को प्राप्त होते हैं । इसी रूप से उन-उन अर्थ के विवेचको को जानना चाहिए ।

१६१ विवक्षित, अभिप्राय, फल, भाव, प्रयोजन तथा तात्पर्य—ये वाक्यार्थ-गोचर पर्यावाची शब्द हैं ।

१६२ ज्ञान के लिए जो कारकादि से युक्त प्रयुक्त हुआ अभीष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह 'प्रयोजन' कहलाता है ।

१६३ जिस प्रकार दर्पण आदि मे मुखादि को जाना जाता है उसी प्रकार बुद्धिस्थ जो अभीष्ट-अर्थ वक्ता के वाक्य से माना जाता है, वह 'विवक्षित' कहलाता है।

१६४ अर्थ के उद्देश्य से जो पदार्थ उपकार करते है, वह 'अभिप्राय' कहलाता है, उसका उत्कर्ष प्राय शब्द से कहा जाता है ।

१६५ प्रधान अर्थ उपकार्य होता है तथा पदार्थ उपकारक, पदार्थों की तत्परता (अर्थात् अन्य अर्थ का ज्ञान कराना) ही 'तात्पर्य' कहलाता है ।

१६६ द्रुमादि के फल की तरह नेता आदि अथवा कवि के परिपाक अभीष्ट-अर्थ का स्वाद लिया जाता है, वह 'फल' होता है ।

१६७ अर्थ तथा सदर्भ की चतुरता से जहाँ नेता आदि का व्यापार शृगारादि का ज्ञान कराता है, वह 'भाव' कहा जाता है ।

१६८ भाट्टैः प्राभाकरैरेष वाक्यार्थः कथ्यते द्विधा ।
१६९ पदार्थान्योन्यसंसर्गो वाक्यार्थ इति भट्टवाक् ॥
१७० पदार्थ एव वाक्यार्थ इति प्राभाकारा विदुः ।
१७१ कवेर्विवक्षया यस्य प्राधान्यं परिकल्प्यते ॥
भवेत्स एव वाक्यार्थ इति निर्णीयते बुधैः ।
१७२ अर्थाः पदैरभिहिताः स्वातन्त्र्येण पृथक्पृथक् ॥
अन्योन्ययोग्यसंसर्गमाकाङ्क्षन्ते परस्परम् ।
संसर्गयोग्यैः कथितैः संसृष्टास्ते विमृश्य च ॥
कस्योपकुर्म इति च प्रधानस्योपकुर्वते ।
प्रधानं यत्परं तेऽपि पदार्थास्तत्परा यतः ॥
भवन्ति तस्मात्तात्पर्यमित्यर्थान्तरमुच्यते ।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्मस्यैव वाक्यार्थकल्पनम् ॥
विशेषणानि सर्वत्र विशिंषन्त्यपि सर्वतः ।
विशेष्यस्य प्रधानत्वं स्वाश्रयत्वं विवृण्वते ॥
अतो रसालङ्कारादेः प्राधान्यं यत्र दृश्यते ।
तत्तदन्यतमस्तत्र वाक्यार्थत्वं प्रयास्यति ॥

---

१६८ प्रसिद्ध मीमासक विद्वान कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के अनुसार यह वाक्यार्थ दो प्रकार का कहा जाता है ।

१६९ मीमासक भट्ट के अनुसार पदार्थो का परस्पर ससर्ग या सम्बन्ध ही 'वाक्यार्थ' कहलाता है । अर्थात् इनके मत मे पहले पदों से पदार्थो की प्रतीति होती है । उनके बाद उन पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध होता है, जो वक्ता के 'तात्पर्य' के अनुसार होता है, अत यह 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है, वही 'वाक्यार्थ' कहलाता है ।

१७० प्रभाकर के अनुसार पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' है अर्थात् यह बात नही है कि पहले केवल पदार्थ अभिहित होते हैं और बाद मे उनका ससर्ग या सम्बन्ध, बल्कि पहले से ही 'अन्वित' पदार्थ ही अभिहित होते है, अत परस्परान्वित पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' है । इस प्रकार मीमासक भट्ट का मत 'अभिहितान्वय-वाद' कहलाता है और प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है ।

१७१ कवि की विवक्षा से जिसकी प्रधानता कही जाती है, वही 'वाक्यार्थ' होता है, ऐसा विद्वान लोग निर्णय करते है ।

१७२ पदो से स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् अर्थ अभिहित होते है । वे परस्पर अन्योन्य के योग्य ससर्ग या सम्बन्ध की आकाक्षा करते हैं । ससर्ग-योग्य कहे गये (अर्थों) द्वारा ससृष्ट वे अर्थ यह सोचकर कि 'किसका उपकार करूँ', तब वे

इति शब्दार्थयो रूपं सिद्धं शब्दार्थनिर्णये ।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेवं प्रदर्शितम् ॥
एवं विभाव्य कविभिस्तत्तदर्थो निबध्यताम् ।
१७३ अपरैः कैश्चिदाचार्यैः प्रकारान्तरकल्पितम् ॥
शब्दार्थयोः स्वरूपन्तु तद्विविच्याभिधीयते ।
१७४ शब्दस्त्रिधा वाचकश्च तथा लाक्षणिकोऽपि च ॥
व्यञ्जकश्च तदर्थश्च त्रिधा वाच्यादिभेदतः ।
१७५ तात्पर्यार्थः पदार्थेभ्यो वाक्यार्थोऽस्तीति केचन ॥
१७६ वाच्यादिरर्थो वाक्यार्थ इति प्राभाकरादयः ।

प्रधान अर्थ का उपकार करते है, क्योकि जो परम प्रधान होता है, वे पदार्थ भी उसी अर्थ को बताते है, इसीलिए तात्पर्य 'अर्थान्तर' कहलाता है। वक्ता द्वारा वाक्य-धर्म का (तात्पर्य) ही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। सर्वत्र विशेषण विशेषता बताते है, सर्वत विशेष्य की प्रधानता स्वाश्रयता कही जाती है। अत रस-अलकार आदि की जहाँ प्रधानता देखी जाती है, वह-वह एक (अन्यतम) वाक्यार्थता को प्राप्त होता है। इस प्रकार शब्दार्थ-निर्णय मे शब्द तथा अर्थ की रूप-मिद्धि आचार्य भट्ट अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार कह दी। इसी प्रकार जानकर कविजनो को उस-उस अर्थ का प्रयोग करना चाहिए।

(आचार्य मम्मट के अनुसार शब्दार्थ-स्वरूप)

१७३ कोई दूसरे आचार्य (मम्मट) ने शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है, उसी का हम विवेचन करते हैं।

१७४ शब्द तीन प्रकार के होते है—वाचक, लाक्षणिक तथा व्यजक। वाच्यादि अर्थात् वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य भेदो से उन (वाचक, लाक्षणिक तथा व्यजक) के अर्थ तीन प्रकार के होते है।

१७५ किन्ही (कुमारिल भट्ट) के मत मे उक्त वाच्यादि अर्थो के अतिरिक्त चौथे प्रकार का पदार्थो से होने वाला 'तात्पर्यार्थ' रूप वाक्यार्थ होता है। अर्थात् इस मत मे पहले पदो से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध होता है, जो कि पदो से नही अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, अत यह 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है, वही 'वाक्यार्थ' कहलाता है।

१७६ लेकिन प्रभाकर आदि के अनुसार वाच्यादि अर्थ ही वाक्यार्थ होता है। इनके मत मे पदो द्वारा अन्वित पदार्थ ही अभिहित होते है न कि 'अनन्वित' पदार्थ, अतः वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, तात्पर्या-शक्ति से बाद को प्रतीत नही होता है।

(अत मीमासक भट्ट का मत 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है और प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।

१७७ यस्य यत्राव्यवहितसङ्केतो गृह्यते स्फुटम् ॥
स तस्य वाचकः शब्द इति शब्दानुशासनम् ।

१७८ जातिक्रियागुणद्रव्यभेदात्सङ्केतितः पुनः ॥
चतुर्धा भिद्यते तेषु जातिरेकेति केचन ।

१७९ गोरित्येव हि शब्दस्य प्रवृत्तिर्जातिगा स्मृता ॥
गच्छतीत्यस्य शब्दस्य प्रवृत्तिः स्यात्क्रियागता ।
शुक्ल इत्यस्य शब्दस्य प्रवृत्तिर्गुणगामिनी ॥
डित्थादिसंज्ञाशब्दस्य प्रवृत्तिर्द्रव्यगामिनी ।

१८० प्रवृत्तेश्च निवृत्तेश्च व्यक्तिर्योग्या स्वभावतः ॥
अर्थक्रियाकारितया वृत्तिस्तस्यामवस्यति ।

(वाचक)

१७७ जिस शब्द का जहाँ जिस अर्थ मे अव्यवधान से सकेत ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का 'वाचक' होता है—इस प्रकार शब्दानुशासन है ।

१७८ सकेतिक अर्थ जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा (द्रव्य) भेदो से चार प्रकार का होता है । कोई (मीमासक) इन चारो मे से केवल जाति-रूप एक प्रकार के ही सकेतित अर्थ को स्वीकार करते हैं ।

१७९ 'गौ' इस शब्द की प्रवृत्ति 'जाति-गत' कहलाती है । 'गच्छति' इस शब्द की प्रवृत्ति 'क्रिया-गत' होती है । 'शुक्ल' इस शब्द की प्रवृत्ति 'गुण-गत' होती है । 'डित्थ' आदि सज्ञारूप शब्द की प्रवृत्ति 'द्रव्य-गत' है ।

१८० स्वभावत अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, अत व्यवहार द्वारा होने वाला सकेत-ग्रह उस व्यक्ति मे ही होगा । लेकिन व्यक्ति मे सकेत-ग्रह सभव नही हो सकता क्योकि व्यक्ति मे सकेत-ग्रह स्वीकार करने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकार के दोषो की सम्भावना रहती है । सकेत-ज्ञान के असमर्थ होने पर उपाधि से सकेत-ग्रह होता है ।

(**आनन्त्य दोष**—जिस शब्द का जिस अर्थ मे सकेत होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है । सकेत-ग्रह के न रहने पर अर्थ की प्रतीति नही होती । अत यदि व्यक्ति मे सकेत ग्रह-स्वीकार करे तो जिस व्यक्ति-विशेप मे सकेत-ग्रह हुआ है, उस शब्द से उस व्यक्ति-विशेष की ही उपस्थिति होगी । अन्य व्यक्तियो की प्रतीति के लिए प्रत्येक मे अलग-अलग सकेत-ग्रह स्वीकार करना होगा, सभी व्यक्तियो मे अलग-अलग सकेत-ग्रह स्वीकार करने पर अनन्त सकेत स्वीकार करने होंगे । यही 'आनन्त्य-दोष' का अभिप्राय है । व्यभिचार-दोष—इस आनन्त्य-दोष से बचने के लिये यदि यह कहा जाय कि सभी व्यक्तियो मे अलग-अलग सकेत-ग्रह की आवश्यकता नही होती है, दो

आनन्त्याद्व्यभिचाराच्च व्यक्तीनां तत्र तत्र तु ।
सङ्केतकरणाशक्तेः सङ्केतस्स्यादुपाधितः ।

१८१ गौः शुक्लश्चलतीत्यादिशब्दानां नैव संभवेत् ॥
क्वचित्कदाऽपि विषयविभाग इति यत्ततः ।
उपाधावेव सङ्केतः स्वतः शब्दस्य गृह्यते ॥

१८२ उपाधिर्वस्तुधर्मस्स सिद्धः साध्य इति द्विधा ।
सिद्धोऽपि स्यात्पदार्थस्य प्राणदो वा विशेषकृत् ॥
उपाधिः सिद्धरूपो यः सा जातिरिति कथ्यते ।
उक्तो वाक्यपदीयेऽपि जात्युपाधिः स तद्यथा ॥
स्वरूपतो गौर्न गौः स्यान्नागौरपि च तत्त्वतः ।
तत्र गोत्वाभिसंबन्धाद्गौरित्येवाभिधीयते ॥
यतः शुक्लादिना वस्तु लब्धसत्त्वं विशिष्यते ।
स सिद्धो वस्तुधर्मोऽत्र गुणोपाधिरितीरितः ॥

चार व्यक्तियो मे व्यवहार से सकेत-ग्रह हो जाता है, अन्य व्यक्तियो की प्रतीति बिना सकेत-ग्रह के ही होती रहती है, तो 'व्यभिचार-दोष' होगा ।)

१८१ दूसरी बात यह है कि व्यक्ति मे सकेत-ग्रह स्वीकार करने पर 'गौ, शुक्ल, चलति, डित्थ'—आदि चारो शब्दो से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिए 'गौ' शब्द जातिवाचक है, 'शुक्ल' पद गुण-वाचक है, 'चलति' पद क्रिया-वाचक है और 'डित्थ' पद उस व्यक्ति का नाम होने से 'यदृच्छा' वाचक है—इस प्रकार का विषय-विभाग कभी भी कहो भी सभव नही हो सकता है । इसलिए भी सकेत-ग्रह व्यक्ति मे सम्भव नही हो सकता । अत व्यक्ति मे नही अपितु उसके उपाधि [भूत धर्म-जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य (यदृच्छा)] मे ही शब्द के सकेत का स्वत ग्रहण होता है ।

१८२ उपाधि का प्रथम प्रकार 'वस्तु-धर्म' होता है । यह दो प्रकार का होता है—एक सिद्ध रूप और दूसरा साध्य रूप । सिद्ध रूप भी दो प्रकार का होता है—एक पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषता का आधान करने वाला या विशेषकृत । जो प्रथम सिद्ध-रूप उपाधि है वह 'जाति' कहलाती है । जैसा कि वाक्य-पदीय मे कहा है—'जो स्वरूपत न गौ होती है, न अ-गौ । 'गौत्व' जाति के सम्बन्ध से ही 'गौ' कहलाती है, इसीलिए वस्तु का प्राणप्रद वस्तु धर्म 'जाति' कहलाता है । वह दूसरा सिद्ध वस्तु धर्म 'गुण' उपाधि वाला होता है, क्योंकि सत्ता प्राप्त वस्तु मे शुक्ल आदि गुणो द्वारा विशेषता लाई जाती है ।

१८३ साध्यः पूर्वापरीभूतावयवादिक्रियात्मकः ।
गच्छतीत्यत्र विद्वद्भिः क्रियोपाधितयोच्यते ।।

१८४ यत्संहृतक्रमं वक्त्रा संज्ञारूपो यदृच्छया ।
उपाधित्वेन डित्थादिष्वर्थेषूपनिवेशितः ।।
स शब्दः सिद्धसाध्यान्यो द्रव्योपाधिरिति स्मृतः ।

१८५ शुक्लश्चलति गौर्डित्थ इत्यादौ तु चतुष्टयी ।।
प्रवृत्तिरिति शब्दानां महाभाष्यकृदभ्यधात् ।

१८६ गुणत्वं यदणुत्वादेः पाठाच्च गुणमध्यतः ।।
पारिभाषिकमेवेति कणादमतिकल्पितम् ।

१८७ गुणक्रियायदृच्छादेरैकरूप्येऽपि तत्त्वतः ।।
तत्तदाश्रयभेदेन भेदः प्रायेण लक्ष्यते ।

---

१८३ 'साध्य-रूप' उपाधि क्रियात्मक होती है, जिसमे एक के बाद एक करके अनेक अवयव रहते है । 'गच्छति'—इसे विद्वान क्रियारूप उपाधि कहते है ।

१८४ जो (पूर्व-पूर्व-वर्णानुभव-जनित-सस्कार-सहकृत चरमवर्ण के श्रवण से ग्रहीत होने वाला) क्रम-भेद से रहित सज्ञारूप को वक्ता की अपनी इच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थो मे (उसके वाचक) उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है । वह शब्द सिद्ध-साध्य से अन्य 'द्रव्य' रूप उपाधि कहलाता है । यह उपाधि का दूसरा प्रकार होता है ।

१८५ महाभाष्यकार ने इसीलिए शब्दो को चार दिशाओ मे जाता बताया है और उसके लिये उदाहरण दिया है—"शुक्लश्चलति गौर्डित्थ " इत्यादि अर्थात् "सफेद रग की" डित्थ "नाम की गाय चलती है" इत्यादि वाक्य मे जाति रूप मे "गौ" पद का, गुण शब्द के रूप मे "शुक्ल " पद का, क्रिया शब्द के रूप मे "चलति" पद का, और द्रव्य (यदृच्छा) शब्द के रूप मे "डित्थ" पद का प्रयोग हुआ है ।

१८६ अणु परिमाण आदि के वाचक परमाणु आदि जो शब्द है वे भी जाति शब्द ही हैं (क्योकि परिमाण भी जाति के ही समान वस्तु के साथ आता है और जाति के ही समान वस्तु को व्यवहार योग्य बनाने का कारण होता है) । अत कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन मे जो परमाणु आदि की गणना परिमाण नामक गुण के अन्तर्गत की है, वह केवल उन्हे (परमाणु आदि को) पारिभाषिक 'गुण' नाम दिया गया है । फलत परमाणु आदि शब्द गुण-वाचक शब्द न होकर जाति वाचक शब्द ही है ।

१८७ यहाँ गुण-रूप, क्रिया-रूप और सज्ञा-रूप उपाधियो को सकेत का विषय स्वीकार किया गया है । लेकिन भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे शुक्लादि रूप भिन्न-भिन्न है जैसे शख, दूध और चीनी के शुक्ल-वर्ण भिन्न-भिन्न हैं, तब इनमे

एकं मुखं यथाऽऽदर्शाद्यालम्बनविभेदतः ॥
भिन्नं भिन्नमिवाभाति तथैव स्युर्गुणादयः ।
१८८ भिन्ने हिमपयश्शङ्खाद्याश्रये परमार्थतः ॥
अभिन्न इव शुक्लादौ यद्वशादुपजायते ।
शुक्लः शुक्लोऽयमित्यादिरभिन्नप्रत्ययक्रमः ॥
तद्धि शुक्लत्वसामान्यं तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम् ।
यथा डित्थादिशब्देषु बालवृद्धशुकादिभिः ॥
उदीरितेषु प्रत्येकं भिद्यमानेषु तत्त्वतः ।
डित्थादित्वं तत्तदर्थे डित्थादावनुवर्तते ॥
अतश्च सर्वशब्दानां जातिरेकैव तत्त्वतः ।
स्वप्रवृत्तिनिमित्तं तन्न व्यक्तिरिति निश्चिता ॥
१८९ तद्वानपोहः शब्दार्थ इति कैश्चन कथ्यते ।
प्रकृतानुपयोगित्वादत्रास्माभिर्न कथ्यते ॥

सकेत स्वीकार करना कैसे सम्भव है ? शुक्लादि विविध व्यक्ति ही हैं, इनमे सकेत स्वीकार करने से वही आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा जो व्यक्ति मे सकेत स्वीकार करने पर ही होता है ।

इसका समाधान यह है कि (भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले) गुण, क्रिया और यदृच्छा के एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से उनमे भेद सा दिखायी देता है, वह वास्तविक भेद नही है—जैसे एक ही मुख दर्पण आदि आलम्बन के भेद से भिन्न सा प्रतीत होने लगता है, वह वास्तविक नही, औपाधिक भेद है । इसी प्रकार गुणादि मे प्रतीत होने वाला भेद भी केवल औपाधिक है । अत गुण आदि मे सकेत-ग्रह स्वीकार करने पर 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषो के होने की सभावना नही है ।

१८८ मीमासक का मत है कि हिम, दूध तथा शख आदि मे रहने वाले शुक्ल आदि गुण वस्तुत भिन्न-भिन्न है । अभिन्न की तरह उन भिन्न-भिन्न शुक्ल आदि गुणो मे जिसके कारण 'शुक्ल -शुक्ल ' इस प्रकार का एकाकार कथन और प्रतीति की उत्पत्ति होती है वह ''शुक्लत्व'' आदि सामान्य या जाति है । जो उसकी प्रवृत्ति-निमित्त है । इसी प्रकार बालक, वृद्ध तथा शुक आदि के द्वारा उच्चारित (अतएव भिन्न-भिन्न) 'डित्थ' आदि शब्दो मे अथवा प्रति-क्षण-भिद्यमान-परिवर्तन-शील 'डित्थ' आदि पदार्थो मे 'डित्थत्व' सामान्य रहता है । अतः यह निश्चित होता कि सब शब्दो का प्रवृत्ति-निमित्त केवल एक 'जाति' ही है न कि व्यक्ति ।[३२]

१८९ किन्ही लोगो ने 'तद्वान'[३३] 'अर्थात् जाति-विशिष्ट-व्यक्ति (जातिमान्) और 'अपोह'[३४] अर्थात् अतद्-व्यावृत्ति या तद्भिन्न-भिन्नत्व शब्द का अर्थ है—

अतः सर्वस्य शब्दस्य मुख्योऽर्थो जातिरेव सा ।
व्यापारस्तत्र शब्दस्य मुख्यो यः साऽभिधा भवेत् ।।

१९० शब्दस्य मुख्येऽर्थेवृ त्तिस्तत्तद्व्यक्तिष्ववस्यति ।

१९१ लक्षणेत्यत्र शब्दस्य व्यापारान्तरमुच्यते ।।

१९२ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ।

१९३ कुशलः कर्मणीत्यत्र कुशलावाद्ययोगतः ।
रूढितो लक्षयत्येव शब्दः कर्मणि कौशलम् ।।

१९४ घोषाधिकरणत्वस्य गङ्गादीनामसम्भवात् ।
मुख्यार्थबाधे तत्तीरे रूढितः सुप्रसिद्धितः ।।
यतो घोषस्य वसतिर्लक्ष्यते सापि लक्षणा ।

यह कहा हे (ये दोनो मत क्रमश नैयायिक तथा बौद्धो के हैं) । प्रकृत मे उपयोग न होने से उनको हम विस्तारपूर्वक नही कहते है । अत सभी शब्द का मुख्य-अर्थ वह जाति ही है । उस मुख्य-अर्थ के विषय मे इस शब्द का जो मुख्य-व्यापार है, वह 'अभिधा' कहलाता है ।

१९० मुख्य अर्थ मे शब्द की वृत्ति तद्-तद् व्यक्तियो मे होगी ।

१९१ अब 'लक्षणा' नामक शब्द का दूसरा व्यापार कहते है ।

(लक्षणा)

१९२ मुख्य-अर्थ का बाध[३५] होने पर और उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध[३६] होने पर रूढि से या प्रयोजन[३७] से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है। वह मुख्य रूप से अर्थ मे रहने के कारण शब्द का आरोपित व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है ।[३८]

(उदाहरण)

१९३ 'कर्मणि कुशल ' अर्थात् 'कार्य मे कुशल है'—इस उदाहरण मे (कुशान् लाति आदत्ते इति कुशल इस व्युत्पत्ति के अनुसार) कुश-ग्रहण आदि का उपयोग न होने से (मुख्यार्थ का बाध हो जाता है) तथा विवेकशीलता कुशग्राहक तथा चतुर दोनो मे है अत मुख्यार्थ से सम्बन्ध भी है), अन्त मे 'कुशल' शब्द का 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ रूढ है । इस प्रकार 'कर्मणिकुशल ' मे 'कुशल' शब्द की 'दक्ष' अर्थ मे लक्षणा होती है ।

१९४ दूसरा उदाहरण है 'गगायाघोष ' अर्थात् 'गगा पर घोप अर्थात् घोसियो की बस्ती है ।' इस उदाहरण मे 'गगा' (पद के जल प्रवाह रूप मुख्यार्थ) आदि में घोष आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होने पर (सामीप्य सम्बन्ध होने पर) रूढि से, प्रसिद्धि से 'गगा' शब्द से 'गगा का तीर' और 'गगा के तीर पर घोसियो की बस्ती' लक्षित होती है, वह 'लक्षणा'

गङ्गातटे घोष इति शब्दो मुख्यार्थभागपि ॥
पावनत्वं लक्षयति धर्मस्या[न्ना]तिप्रयोजनात् ।
प्रयोजनादमुख्योऽर्थो मुख्येनार्थेन लक्ष्यते ॥
यस्मिन्नारोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थभाक् ।

१९५ शुद्धेयं लक्षणा सैव भवेदर्थवशाद्द्विधा ॥
उपादानाभिधा काचिदन्या लक्षणलक्षणा ।

१९६ आरोपिता क्रिया यत्र सोपादानार्थलक्षणा ॥

१९७ कुन्तः प्रविशतीत्युक्ते स्वसंयोगिनमेव सः ।
स्वस्य प्रवेशसिद्ध्यर्थं यदाक्षिपति पूरुषम् ॥
कुन्तप्रवेशो मुख्यार्थः कुन्तस्य तदसम्भवात् ।
स्वक्रियाऽऽरोपिताऽन्यस्मिन्युक्ते सारोपिता क्रिया ॥
सान्तरार्थोऽत्र शब्दस्य व्यापारोऽर्थान्तराश्रयः ।

१९८ गौरनूबन्ध्य इत्यत्र स्वानुबन्धनसिद्धये ॥
व्यक्तिराक्षिप्यते जात्या न शब्देनाभिधीयते ।

है। 'गगातटे घोष' इत्यादि मुख्यार्थभाक् शब्द के प्रयोग से जिन पावनत्वादि धर्मों की उस रूप मे प्रतीति नही है उन पावनत्वादि धर्मो के उस प्रकार के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का व्यवहितार्थ (सान्तरार्थ) विषयक आरोपित शब्दव्यापार 'लक्षणा' कहलाता है।[१९]

१९५ यह "शुद्धा" लक्षणा है, वह (शुद्धा) अर्थवश दो प्रकार की होती है। उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

१९६ जहाँ क्रिया आरोपित हो, उसे "उपादान" लक्षणा कहते है।

(उदाहरण)

१९७ "कुन्त प्रविशति"—"भाला आ रहा है", इस वाक्य मे वह (कुन्त-पद) अपने (अचेतनरूप मे) प्रवेश (क्रिया) की सिद्धि के लिए अपने से सयुक्त (अर्थात् कुन्तधारी) पुरुष का आक्षेप ग्रहण करता है। "कुन्त-प्रवेश"—मुख्यार्थ है, "कुन्त"—"भाले" का प्रवेश असम्भव होने से, क्योकि प्रविष्ट होना चेतन का धर्म है, मुख्यार्थ बाध हो जाता है। अन्य से युक्त होकर वह (कुन्त-पद) अपनी क्रिया (प्रवेश) को आरोपित करता है, अत वह सारोपित क्रिया कहलाती है। यहाँ शब्द का व्यापार अर्थान्तर के आश्रित है, अत सान्तरार्थ है।

१९८ "गौरनुबन्ध्य." इत्यादि वाक्य मे (उस "गौ" पद के मुख्यार्थ) "गौत्व" जाति से अपने "अनुबन्धन" की सिद्धि के लिए "गौ" व्यक्ति का आक्षेप

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे ॥'
इतिन्यायादुपादानलक्षणा नात्र शङ्क्यताम् ।
१९९ रूढिप्रयोजनाभावाज्जातिव्यक्त्योरभेदतः ॥
क्रियादीनामभावाच्च नैवोपादानलक्षणा ।
अकारि कारय कुरु क्रियतामिति यद्वचः ॥
भावः कारयिता कर्म कर्ता चाक्षिप्यते यतः ।
इत्यादावप्युपादानलक्षणा नैव शङ्क्यताम् ॥
२०० तत्तदर्थस्वरूपाप्तेरन्यथानुपपत्तितः ।
अर्थापत्तिप्रमाधीना क्रियाकर्त्रादिकल्पना ॥
यत्र स्यादर्थसामर्थ्यं तत्रार्थापत्तिरुच्यते ।
श्रुतसामर्थ्ययोगेन श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥
देवदत्तादिपुरुषपीनत्वानुपपत्तितः ।
भोजनस्य निषिद्धस्य दिवा रात्रौ प्रकल्प्यते ॥

कराया जाता है। (गौ—व्यक्ति) को शब्द से (अमिधा द्वारा) नही कहा जाता, क्योकि यह नियम है कि 'विशेषण' (गोत्वादि) का बोध कराने मे जिसकी शक्ति क्षीण हो गई हैं वह अमिधा विशेष्य को स्पर्श नही करती अर्थात् विशेष्य या व्यक्ति को नही कह सकती। अत यहाँ उपादान लक्षणा है, अन्य शका नही करनी चाहिए।

१९९ (आचार्य मम्मट उपर्युक्त मुकुल भट्ट के उदाहरण का खण्डन करते हुए कहते है कि) यह उपादान लक्षणा का उदाहरण नही है क्योकि न यह रूढि है, न यहाँ कोई प्रयोजन ही है तथा जाति मे क्रियादि का अभाव होने से (व्यक्ति के बिना जाति रह नही सकती है इसलिए) जाति से व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है। (अत यह लक्षणा का उदाहरण नही है)। (यदि हम मुकुल भट्ट की तरह उपादान लक्षणा का उदाहरण स्वीकार करते है तो फिर यह होगा कि जैसे) 'अकारि' यहाँ पर क्रिया, 'कारय' यहाँ पर कराने वाला (कारयिता), "कुरु" यहाँ पर कर्म तथा "क्रियताम्" यहाँ पर कर्त्ता आदि का आक्षेप कराया जाता है, क्योकि इत्यादि मे उपादान लक्षणा है, यहाँ भी कोई शका नही करनी चाहिए। (जबकि इन सभी उदाहरणो मे लक्षणा नही मानी जाती है। अत इन उदाहरणो की तरह "गौरनुबन्ध्य" मे भी किसी प्रकार की लक्षणा नही है, यह सिद्ध होता है।)

२०० (मुकुल भट्ट ने इसी प्रकार "उपादान-लक्षणा" का दूसरा उदाहरण "पीनो-देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" यह दिया है। इस उदाहरण मे लक्षणा का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट "रात्रि-भोजन" को "श्रुतार्थापत्ति" अथवा "अर्थार्थापत्ति का विषय कहते है।)

अर्थापत्तिर्भवेद्यद्वा श्रुतार्थापत्तिरेव वा ।
गौरनूबन्ध्य इत्यत्र श्रुतार्थापत्तिरेव सा ।।

२०१ घोषाधिकरणत्वस्य सिद्धये स्वतटोपरि ।
स्वार्थं समर्पयत्येव गङ्गाशब्दो यतस्ततः ।।
इत्यादिलक्षणेनैव शुद्धेयमुभयात्मिका ।

२०२ आरोप्यारोपविषयौ सिद्धभेदौ परस्परम् ।।
सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते यदि क्वचित् ।
सारोपाऽन्या विषयिणाऽऽरोप्यमाणेन कुत्रचित् ।।
अन्तःकृते निगीर्णेऽस्मिन्नारोपविषये सति ।
एषा साध्यवसानात्मा लक्षणेति विभाव्यते ।।

किसी अन्यथा अनुपपत्ति से तद्-तद् अर्थ-स्वरूप की प्राप्ति की क्रिया, कर्त्ता आदि की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसको "अर्थापत्ति" कहते है। जहाँ अर्थ-सामर्थ्य होता है, वहाँ "अर्थापत्ति" कहलाती है। जहाँ श्रुत के सामर्थ्य के योग से अर्थ होता है, वहाँ "श्रुतार्थापत्ति" कहलाती है। जैसे—"दिन मे भोजन न करने वाला देवदत्तादि पुरुष मोटा है" इस अनुपपद्यमान अर्थ मे "रात्रि-भोजन" की कल्पना की जाती है। (यहाँ रात्रि-भोजन लक्षणा से उपस्थित नही होता है) यहाँ 'अर्थापत्ति' ही है या श्रुतार्थापत्ति ही है। इसी प्रकार "गौरनुबन्ध्य" मे भी वह "श्रुतार्थापत्ति" ही है।

(लक्षण-लक्षणा का उदाहरण)

२०१ "गगाया घोप" अर्थात "गगा पर घोष अर्थात् घोसियो की बस्ती है।" इस इस उदाहरण मे घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए "अपने तट के ऊपर घोसियो की बस्ती है" ऐसा मानकर "गगा" शब्द अपने (जल-प्रवाह रूप मुख्य) अर्थ का परित्याग पर देता है, इस प्रकार के उदाहरणो मे "लक्षण-लक्षणा" ही होती है।

यह दोनो प्रकार की (उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा) "लक्षणा शुद्धा" कहलाती है।

(लक्षणा के भेद)

(सारोपा-साध्यवसानिका)

२०२ यदि कही आरोप्यमाण (आरोप्य) तथा आरोप-विषय—दोनो परस्पर सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट किये जाते है, वह दूसरी "सारोपा-लक्षणा" होती है। कही विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा अन्य आरोप के विषय का अन्तर्भाव कर लिए जाने पर अर्थात् निगीर्ण कर लिए जाने पर, यह "साध्यवसानिका-लक्षणा" जानी जाती है।

२०३ इमौ भेदौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणाभेदवेदिभिः ॥

२०४ सादृश्यहेतू भेदौ स्तः सारोपाध्यवसानिकौ ।
गौर्बाहिको गौरयं चेत्युक्तोदाहृतिरेतयोः ॥

२०५ लक्ष्यमाणा अपि स्वार्थसहचारिगुणा यतः ।
गोशब्दस्य परार्थाभिधाने यान्ति निमित्तताम् ॥
गवि स्वार्थे सहचरा गुणा जाड्यादयश्च ये ।
गुणास्तेषामभेदेन लक्ष्यन्तेऽत्र परार्थगाः ॥
न परार्थोभिधीयेतेत्येवं केचन जानते ।
लक्ष्यमाणा अपि स्वार्थे जाड्यमान्द्यादयो गवि ॥
वाहिकाख्यापरार्थाभिधाने वृत्तिनिमित्तताम् ।
गोशब्दस्य प्रयान्तीति केचिदूचुर्विचक्षणाः ॥
द्वयोः साधारणीभूतगुणादेराश्रयत्वतः ।
परार्थो वाहिको लक्ष्यः स्वार्थेनेत्यपरे विदुः ॥

---

२०३ लक्षणा-भेद के जानने वालो को ये (सारोपा-साध्यवसाना रूप) दोनो भेद सादृश्य से तथा (सादृश्य को छोडकर) अन्य सम्बन्ध से (सम्पन्न) होने पर क्रमश गौण तथा शुद्ध लक्षणा के भेद समझने चाहिए ।

(गौणी सारोपा, साध्यवसाना के उदाहरण)

२०४ ये दोनो सारोपा और साध्यवसानिका नामक लक्षणा के सादृश्य के कारण होने वाले भेद क्रमश "गौर्वाहीक" (वाहीक गौ है) तथा "गौरयम" (यह गौ है)—इन दोनो उदाहरणो मे होते है ।

२०५ यहाँ ("गौरयम्" आदि उदाहरण मे गौ शब्द के) अपने अर्थ के सहचारी गुण लक्षणा द्वारा बोधित होने पर भी "गौ" शब्द के द्वारा (बाहीक रूप) दूसरे अर्थ को अभिधा से बोधित करने मे प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते है ।

(१) कुछ आचार्य "गौ" शब्द की लक्षणा अपने मुख्य अर्थ "गौ" के साथ रहने वाले "जाड्यादि" जो गुण है, उनसे अभिन्न परगत गुणो मे स्वीकार करते हैं और परार्थ मे अभिधा स्वीकार नही करते है ।

(२) कुछ आचार्य "गौ" शब्द की लक्षणा मुख्य अर्थ के साथ रहने वाले जाड्यमान्द्यादि गुणो मे स्वीकार करते है, और तब उन गुणो के आधार पर बाहीक-रूप दूसरे अर्थ को उसी "गौ" शब्द की अभिधावृत्ति से प्रतिपादित बतलाते है ।

(३) कुछ आचार्य दोनो मे रहने वाले अतएव साधारण कहे जाने वाले गुणो के आधार पर मुख्य-अर्थ से परार्थ 'वाहीक' मे ही लक्षणा स्वीकार करते है ।

२०६ अपि चेदविनाभावे सति क्रोशतिमञ्चयोः ।
आक्षेपेणैव मर्त्यादिसिद्धेर्नैवात्र लक्षण ॥

२०७ यदायुर्घृ तमित्यादौ सादृश्यादन्यदेव हि ।
कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरमुच्यते ॥

२०८ भेदे सत्यपि ताद्रूप्यप्रतीतिगौणभेदयोः ।
तद्भे[अभे]दावगतिः क्वापि प्रयोजनवती भवेत् ॥
शुद्धयोर्भेदयोरन्यवैलक्षण्येन यद्भवेत् ।
अर्थक्रियाकारितादि तत्प्रयोजनवद्भवेत् ॥

२०९ तादर्थ्यादुपचाराख्या लक्षणा क्वापि दृश्यते ।
इन्द्रार्थे स्थूण इन्द्रोऽयमित्यादौ सा विलोक्यते ॥

---

२०६ (इन तीनो मतो की पुष्टि के लिए तीनो वादी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—जैसा कि कहा गया है—
"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृतेरिष्टा तु गौणता ॥"
अर्थात् अभिधेय अर्थ से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति "लक्षणा" कही जाती है । लक्ष्यमाणगुणयोग से होने से वृत्ति मे गौणता चली आती है। कारिका मे प्रयुक्त "अविनाभाव" शब्द से यहाँ सम्बन्ध-मात्र समझना चाहिए। नान्तरीयकत्व अर्थात् व्याप्ति नही । क्योकि ?—)
व्याप्ति अर्थ होने पर "मच चिल्ला रहे हैं"—इत्यादि मे लक्षणा नही होगी क्योकि अविनाभाव का व्याप्ति अर्थ करने पर आक्षेप से ही मचस्थ पुरुषादिकी सिद्धि हो जायेगी । (इस प्रकार आक्षेप से ही लक्ष्यमाण अर्थ के सिद्ध हो जाने पर लक्षणा की आवश्यकता ही नही रहेगी ।)

(शुद्धा-सारोपा-साध्यवसाना के उदाहरण)

२०७ "आयुर्घृतम्—घी आयु है" इत्यादि मे सादृश्य से भिन्न कार्य-कारण भाव आदि अन्य सम्बन्ध कहलाते है ।

२०८ ये जो गौण भेद है, इनमे से प्रथम—(गौणी सारोपा) मे प्रयोजन है "भिन्नता होने पर भी अभिन्नता (ताद्रूप्य-प्रतीति) और द्वितीय—(गौणी साध्यवसाना) मे सर्वथा अभेद की प्रतीति । शुद्ध भेदो मे से प्रथम (शुद्धा-सारोपा) मे अन्य कारणों की अपेक्षा विलक्षणता के साथ कार्य-निष्पादकता आदि प्रयोजन होता है और दूसरी (शुद्धासाध्यवसाना) मे नियम से कार्य-निष्पादकता आदि प्रयोजन होता है ।
(ये चारों भेद प्रयोजनवती-लक्षणा के अन्तर्गत आते है इनमे रूढि-लक्षणा नही होती ।)

२०९ कही तादर्थ्य (उसके लिए होने) से (आरोप और अध्यवसाय रूप) उपचार (अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग) नामवाली लक्षणा देखी जाती है । जैसे—यज्ञ मे इन्द्र की पूजा के लिए बनाया हुआ खम्भा (स्थूणा) भी (तादर्थ्य) सम्बन्ध मे "इन्द्र" कहलाता है ।

२१० क्वचित्स्वस्वामिभावेन लक्षणाऽपि भवेद्यथा ।
राजकीयः स पुरुषः इत्यादौ दृश्यते स्फुटम् ।।

२११ हस्त इत्यपि यथैव कराग्रं लक्षयत्यथ न वक्ति करं तम् ।
अवयवावयविभावनिबन्धा लक्षणाऽपि च तथैव सुधीभिः ।।

२१२ स[अ]तक्षाऽतक्षदित्यत्र तात्कर्म्यात्क्वापि लक्षणा ।

२१३ एवं षोढा समुद्दिष्टा लक्षणा लक्ष्यवेदिभिः ।।

२१४ लक्षणायां गौणवृत्तिर्नान्तर्भवति कर्हिचित् ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।

२१५ अग्निर्माणवकेत्यादौ गुणवृत्तिं प्रचक्षते ।
अग्निशब्दः स्वमुख्यार्थबाधान्माणवके स्वतः ।।
तद्गुणे पिङ्गलत्वादौ यां वृत्तिं प्रतिपद्यते ।
तां गौणीवृत्तिरित्याहुः शब्दवृत्तिविचक्षणाः ।।

---

२१० कही स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध से यह (उपचार) लक्षणा होती है, जैसे—राजा से सम्बन्धित पुरुष को "राजा" कह दिया जाता है ।

२११ कही यह अवयवावयविभाव से (उपचार) लक्षणा होती है, वह विद्वानो द्वारा उसी प्रकार है, जैसे कि हाथ के अगले भाग को—"हस्त" कह दिया जाता है, जबकि उसको हाथ नही कहते है ।

२१२ कही तात्कर्म्य (उसका काम करने) से यह लक्षणा होती है, जैसे—जो बढई नही होता है, उसे (बढई का काम करने से) "बढई" कह दिया जाता है ।

२१३ इस प्रकार लक्ष्यविदो के अनुसार लक्षणा ६ प्रकार की होती है । (अर्थात् इन चारो भेदो की प्रथम दो (उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन) भेदो के साथ गणना करने पर लक्षणा ६ प्रकार की होती है ।[४०]

(गौणी-वृत्ति की पृथक्ता)

२१४ लक्षणा मे गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव नही होता है । (यह तो पृथक् ही है क्योकि—) लक्ष्यमाण गुणो के योग से इस लक्षणा-वृत्ति की "गौणता" हो जाती है ।

२१५ जैसे—"अग्निर्माणवक." अर्थात् "बालक अग्नि है ।" इस उदाहरण मे "गौणी-वृत्ति" कही जाती है । यहाँ मुख्यार्थ-बाध होता है कि बालक अग्नि कैसे है ? तब अग्नि का गुण रूप अर्थ "पिंगलत्व" आदि गौणी शक्ति मे प्रतीत होता है, यहाँ "पिंगलत्व" रूप गुण प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि के लिए "अग्नि" यह प्रयोग किया गया है । इस प्रकार "पिंगलत्व" आदि गुण की सिद्धि के लिए जिस वृत्ति का प्रतिपादन किया जाता है, वह शब्द-वृत्ति-विदो द्वारा "गौणी" वृत्ति कही जाती है ।

२१६ भेदः साध्यवसानात्मा सारोपात्मा च यो भवेत् ।
तयोरन्यतरैवेयं वृत्तिर्गौणीति केचन ॥

२१७ तत्तादृग्लक्षणोपेतलक्षणाविषये क्वचित् ।
प्रयोजने सति व्यङ्ग्यं भवेद्रूढौ न संभवेत् ॥
यत्र रूढिः प्रसिद्धा स्यात्तत्र व्यङ्ग्यं न सेत्स्यति ।
यत्र प्रयोजनं नास्ति तत्र व्यङ्ग्यं न दृश्यते ॥
ध्वनिव्यापारहेतुर्यस्तद्व्यङ्ग्यञ्च प्रयोजनम् ।
प्रयोजनं विना क्वापि न व्यङ्ग्यं व्यज्यते स्फुटम् ॥
अभिधालक्षणामूलं व्यङ्ग्यं सिध्येत्प्रयोजनात् ।
अगूढं गूढमित्येतद्व्यङ्ग्यं द्वेधा विभिद्यते ॥

२१८ अगूढं तत्स्फुटं यस्य प्रतीतिरभिधेयवत् ।
अनुस्यूता यदव्यक्ता प्रतीतिर्गूढमुच्यते ॥
गूढागूढात्मकं व्यङ्ग्यमेकमस्तीति केचन ।
व्यक्ताव्यक्तप्रतीतिर्यत्तद्गूढागूढमुच्यते ॥
भाविकात्मनि (?) पद्ये तु तत्तद्व्यङ्ग्यं विलोक्यते ।

---

२१६ अत. सारोपा तथा साध्यवसाना जो भेद होते है उनसे पृथक् ही यह "गौणी" वृत्ति होती है, ऐसा कोई विद्वान कहते है ।

(प्रयोजन की व्यंग्यता)

२१७ कही उस प्रकार के लक्षणो से युक्त (पूर्वोक्त) लक्षणा के विषय मे कहा जाता है कि—प्रयोजन (मूलक-भेदो) मे व्यग्य होता है, रूढि (गत भेदो) मे वह सभव नही होता है। जहाँ रूढि या प्रसिद्धि गत लक्षणा होती है वहाँ व्यग्य नही होगा। जहाँ प्रयोजन नही होता है वहाँ व्यग्य नही देखा जाता है। ध्वनि-व्यापार का जो हेतु है, वह व्यग्य और प्रयोजन है। कही भी प्रयोजन के बिना व्यग्य व्यजित नही होता है। प्रयोजन से अभिधा तथा लक्षणा-मूल व्यंग्य सिद्ध होता है। वह व्यग्य गूढ तथा अगूढ भेद से दो प्रकार से विभाजित होता है।

२१८ जिस (व्यग्य) की प्रतीति अभिधेय के समान होती है, वह "अगूढ" कहलाता है। जो अनुस्यूत (सम्बन्धित) अव्यक्त-प्रतीति होती है, वह "गूढ" कहा जाता है। "गूढ-गूढात्मक" एक और व्यग्य होता है—ऐसा कोई विद्वान कहते है। जो व्यक्ताव्यक्त की प्रतीति होती है, वह "गूढागूढ" कहलाता है। भाविक-रूप पद्य मे वह-वह व्यग्य देखा जाता है।

२१९ व्यङ्ग्ये लाक्षणिकस्यात्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥
लक्षणा तादृशी गूढव्यङ्ग्याव्यङ्ग्यार्थयोगतः ।
पश्चादगूढव्यङ्ग्येति त्रेधा व्यङ्ग्यप्रतीतितः ॥

२२० तद्भूर्लाक्षणिकः शब्दस्तद्व्यापारोऽञ्जनात्मकः ।

२२१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

२२२ यत्र प्रत्याययितुं प्रयोजनं लक्षणाशब्दः ।
वाक्ये प्रयुज्यतेऽस्मान्नान्यो हेतुः प्रयोजनावाप्तेः ॥
तस्मादेव च शब्दात्तद्व्यापारस्तथाञ्जनात्मैव ।
तेन व्यापारेण व्यङ्ग्यं तत्र प्रयोजनं भवति ॥

२२३ गङ्गायां घोष इत्यादिवाक्ये तत्तीरसङ्गतः ।
पावनत्वादिधर्मो यः प्रतीतो व्यङ्ग्यमेव तत् ॥

---

२१९ उस व्यग्य (रूप प्रयोजन के विषय) मे लाक्षणिक (शब्द) का (लक्षणा से भिन्न) व्यजनात्मक व्यापार होता है। उस प्रकार की लक्षणा गूढ व्यग्यार्थ तथा अव्यग्यार्थ के योग से (अर्थात् (१) गूढ व्यग्या (२) अव्यग्या अर्थात् व्यग्य-रहिता-रूढिगत-लक्षणा) पुन (३) अगूढ व्यग्या भेद से व्यग्य की प्रतीति से तीन प्रकार की होती है।

२२० उस लक्षणा का आश्रयभूत शब्द 'लाक्षणिक' शब्द कहलाता है। उस (व्यग्य-रूप-प्रयोजन के विषय) मे लाक्षणिक (शब्द) का (लक्षणा से भिन्न) व्यजनात्मक व्यापार होता है।

(व्यंजना)

२२१ जिस (प्रयोजन विशेष) की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा (अर्थात् लाक्षणिक शब्द) का आश्रय लिया जाता है, (अनुमान आदि से नही अपितु) केवल शब्द से गम्य फल (प्रयोजन) के विषय मे व्यजना के अतिरिक्त (शब्द का) अन्य कोई व्यापार नही हो सकता है।

२२२ प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन के लिए जहाँ लक्षणा (लाक्षणिक) शब्द का वाक्य मे प्रयोग किया जाता है, वहाँ इस प्रयोजन की प्रतीति का इस (लाक्षणिक शब्द) के अतिरिक्त अन्य (अनुमानादि) कोई हेतु नही होता है अपितु वह (लाक्षणिक) शब्द ही होता है और इस प्रयोजन-प्रतीति के विषय मे (लाक्षणिक-शब्द का लक्षणा से भिन्न) व्यजनात्मक व्यापार ही होता है। उस व्यजना व्यापार से प्रयोजन-प्रतीत होती है।

(उदाहरण)

२२३ 'गगायाघोष' इत्यादि वाक्य मे उसके (लक्ष्यार्थ) तीर के सम्बन्ध से पावनत्वादि धर्म जो प्रतीत होते है वे व्यग्य ही है।

२२४ पावनत्वादिधर्मस्य गङ्गाशब्दस्य च क्वचित् ।
गृह्यते नच सङ्केतस्तस्मान्नात्राभिधा भवेत् ॥

२२५ मुख्यार्थबाधादिहेतोरभावान्नैव लक्षणा ।

२२६ अतस्तल्लक्षणाशब्दव्यापाराद्व्यञ्जनात्मकात् ॥
ऋते न पावनत्वादिधर्मः क्वापि प्रतीयते ॥
उक्तञ्च—

२२७ "नाभिधा समयाभावाद्धेत्वभावान्न लक्षणा ।

२२८ लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ।"

२२९ गङ्गाशब्दो यथा स्रोतोबाधात्तीरलक्षकः ॥
तद्वत्तटे सबाधश्चेल्लक्षयेत्तत्प्रयोजनम् ।
मुख्योऽर्थो न तटं तत्र स्वार्थबाधो न दृश्यते ॥
गङ्गाशब्दार्थतीरस्य पावनत्वादिभिः क्वचित् ।
लक्षणीयैर्न संबन्धो नापि लक्ष्यं प्रयोजनम् ॥

---

२२४ वहाँ पावनत्वादि धर्म का और गगा शब्द का सकेत-ग्रह नही होता है । अत (सकेत-ग्रह न होने से) अभिधा (प्रयोजन की बोधिका) नही होती है ।

२२५ (लक्षणा के प्रयोजक) मुख्यार्थ-बाध आदि हेतुओ के न होने से लक्षणा (भी प्रयोजन की बोधिका) नही हो सकती है ।

२२६ अत लक्षणा (लाक्षणिक) शब्द से व्यजनात्मक व्यापार के बिना पावनत्वादि धर्म प्रतीत नही होते है । जैसा कि कहा गया है—

२२७ सकेत-ग्रह न होने से 'अभिधा-वृत्ति' (प्रयोजन की बोधिका) नही है । (लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थ-बाध आदि) हेतुओ के न होने से 'लक्षणा' (भी प्रयोजन की बोधिका) नही है ।

२२८ (तट रूप) लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नही है, न उसका यहाँ बाध होता है, और न उसका (पावनत्वादि) फल के साथ सम्बन्ध है; और न इस (प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने) मे कोई प्रयोजन है । और न (प्रयोजन के विषय मे लाक्षणिक) शब्द स्खलद्गति (अर्थात् प्रयोजन के प्रतिपादन मे असमर्थ) है ।

२२९ जैसे—गगा शब्द प्रवाह-रूप अर्थ मे बाधित होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है, उसी प्रकार यदि तट (लक्ष्यार्थ) मे भी बाधित होता तो प्रयोजन को लक्षणा द्वारा बोध कराता । किन्तु प्रथम तो तट मुख्यार्थ नही, न तट रूप लक्ष्यार्थ मे बाध ही दिखाई देता है, गगा शब्द के (लक्ष्य) अर्थ तट का पावनत्वादि (यदि उन्हे लक्ष्य माना जाय) लक्ष्यार्थों से सम्बन्ध भी नही है और

तस्मिन्प्रयोजने लक्ष्ये तेन लक्ष्यं प्रयोजनम् ।
इत्येवमनवस्था स्यात्सा मूलक्षतिकारिणी ॥

२३० पावनत्वादिभिस्तीरं युक्तमेव हि लक्ष्यते ।
गङ्गाशब्देनाधिकार्थप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् ॥
विशिष्टलक्षणैषा स्याद्व्यज्यते नात्र किञ्चन ।

२३१ इति वादिनमुद्दिश्य प्रत्युत्तरमुदीर्यते ॥
"प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥"

२३२ प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयो हि स्वभावतः ।
प्राकट्यं वाऽथ संवित्तिः फलत्वेनोपयुज्यते ॥
अतो विशिष्टे कस्मिंश्चिल्लक्षणा नोपयुज्यते ।

२३३ अतो गङ्गादिशब्देन तत्तटे लक्षिते पुनः ॥
पावनत्वादयो धर्मविशेषास्तत्र संभवाः ।
प्रतीयन्तेऽभिधाद्यन्यव्यापाराद्व्यञ्जनात्मकात् ॥

२३४ अभिधालक्षणारूपात्तथा तात्पर्यरूपतः ।
एभ्यो भिन्नो भवेदत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥
ध्वननव्यञ्जनेत्यादिशब्दवाच्यो भवत्यसौ ।

प्रयोजन को लक्ष्य मानने मे कोई और प्रयोजन भी नही है। प्रयोजन को लक्ष्य मान लेने पर भी अनवस्था होगी जो कि मूल का विनाश करने वाली हैं।

२३० शका होती है कि 'गगाया घोष' मे पावनत्वादि धर्म युक्त ही 'तट' लक्षित होता है और 'गगा' शब्द से अधिक अर्थ की प्रतीति कराना (लक्षणा का) प्रयोजन है। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट (पावनत्वादि विशिष्ट तट) मे लक्षणा होती है। यहाँ व्यजना बिलकुल नही हैं।

२३१ वादी को उद्दिष्ट कर (आचार्य मम्मट) उत्तर देते हे—(कि पावनत्वादि) प्रयोजन सहित तट को लक्ष्य मानना उचित नही है। क्योकि ज्ञान का विषय ज्ञान से अन्य होता है और फल या प्रयोजन भी (ज्ञान से) अन्य कहा गया है।

२३२ स्वभावतः प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल (मीमासक के मत मे) ज्ञातता[४१] (प्राकट्य) अथवा (नैयायिक के मत मे) अनुव्यवसाय[४२] (सवित्ति) है। अत किसी विशिष्ट मे लक्षणा नही हो सकती है।

२३३ अत 'गगा' आदि शब्द से पहले (लक्षणा से) केवल तट की प्रतीति होती है, पुन उस तटादि-रूप लक्ष्य अर्थ मे पावनत्वादि विशेष धर्म अभिधा आदि के अतिरिक्त व्यजनात्मक व्यापार से प्रतीत होते है।

२३४ अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-रूप व्यापार से भिन्न व्यजनात्मक व्यापार होता है और यह ध्वनन, व्यजन आदि शब्दो से वाच्य होता है।

२३५ एवं हि लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुदाहृतम् ॥

२३६ अभिधामूलमप्यत्र व्यञ्जकत्वं प्रचक्षते ।

२३७ बहुधा चाभिधामूल व्यञ्जकं कथ्यते बुधैः ॥

२३८ "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥"

२३९ 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥'

२४० हरिशब्दोऽपि सिंहादेरनेकार्थस्य वाचकः ।
शङ्खचक्रादिसंयोगाद्विष्णुमेव व्यनक्ति च ॥

२४१ रामं विहायार्जुनं च रामार्जुनपदं यथा ।
विरोधं कार्तवीर्यस्य भार्गवस्य व्यनक्ति च ॥

२४२ शङ्खाद्ययोगः शक्रादौ हरिशब्देन गम्यते ।

२४३ रामलक्ष्मणशब्देन साहचर्याभिधायिना ॥
पुमन्तरे गौरवादि विनयादि व्यनक्ति च ।

---

२३५ इस प्रकार 'लक्षणा-मूला' व्यजना का वर्णन समाप्त हुआ ।

(अभिधा-मूला व्यंजना)

२३६ अब अभिधामूला व्यजना का निरूपण करते है ।

२३७ विद्वान लोग अभिधामूला व्यजना को बहुत प्रकार की कहते हैं ।

२३८ मयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दो के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ मे) नियन्त्रित हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (शब्द का) व्यापार व्यजना (अर्थात् अभिधा-मूला व्यजना) कहलाता है ।

२३९ सयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिग, अन्य शब्द की निकटता, सामर्थ्य, योग्यता (औचिती) देश, काल, व्यक्ति तथा स्वरादि किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ के बोध के कारण होते हैं।

(उदाहरण)

२४० 'हरि' शब्द सिह आदि अनेक अर्थों का वाचक है लेकिन शख चक्रादि के सयोग से 'हरि' शब्द 'विष्णु' को व्यक्त करता है ।

२४१ 'रामार्जुनौ' अर्थात् 'राम' और 'अर्जुन' इन दोनो शब्दो की विरोधिता के कारण क्रमश. परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ मे नियन्त्रण होता है ।

२४२ शख आदि के विप्रयोग से 'हरि' शब्द से 'इन्द्र' आदि अर्थ गम्य होता है ।

२४३ 'रामलक्ष्मणौ' अर्थात् 'राम और लक्ष्मण' यहाँ साहचर्य से ' राम तथा लक्ष्मण' शब्द से अन्य पुरुष मे 'गौरवादि विनयादि' व्यक्त होते हैं ।

२४४ भवच्छिदं भज स्थाणुमित्यर्थाद्व्यज्यते शिवः ।।

२४५ सर्व जानाति देवोऽयं युष्मदर्थ इतीरिते ।
भृत्येष्टकारिता भर्तुर्व्यङ्ग्या प्रकरणादिह ।।

२४६ मकरध्वज इत्युक्ते तल्लिङ्गाद्व्यज्यते स्मरः ।

२४७ देवः पुरजिदित्युक्ते देवशब्दस्य सन्निधेः ।।
पुरजित्त्वं शिवस्येति व्यज्यते शिव एव हि ।

२४८ मधुमत्तः पिक इति वसन्तो व्यज्यते स्फुटम् ।।

२४९ भात्यत्र देव इत्युक्ते राजधानी प्रतीयते ।

२५० मित्रं भातीति सुहृदि मित्रो भातीति भास्करे ।।

२५१ स्वाहेन्द्रशत्रुरित्यत्र स्वरेणार्थान्तरध्वनिः ।

२५२ एवमादिप्रयोगेषु तत्तदर्थो विलोक्यताम् ।।

---

२४४ 'ससार से पार उतरने के लिए स्थाणु का भजन कर'। यहाँ 'स्थाणु' शब्द प्रयोजन-रूप अर्थ के कारण 'शिव' को व्यक्त करता है।

२४५ 'देव सब जानते हैं' यहाँ 'देव' शब्द से 'आप' अर्थ कहा गया है। क्योकि राजा को सम्बोधित करके आज्ञाकारी सेवक कहता है, अत प्रकरण के कारण यहाँ देव शब्द से 'आप' व्यग्य है।

२४६ (मकरध्वज पद समुद्र, औषधि विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थों का वाचक है। लेकिन 'मकरध्वज कुपित हो रहा है।') यहाँ लिंग अर्थात् कोप रूप चिह्न से 'मकरध्वज' पद से 'कामदेव' व्यक्त होता है।

२४७ 'पुरजित् देव'—यहाँ अनेकार्थक 'देव' शब्द पुरजित्-रूप अन्य शब्द के सन्नि-धान के कारण और शिव का पुरजित्व प्रसिद्ध है, इसलिए 'शिव' को ही व्यक्त करता है।

२४८ 'मधुमत्त पिक' अर्थात् 'कोकिल मधु से मत्त हो रहा है' यह (कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त मे होने से) 'मधु' शब्द सामर्थ्य-वश 'वसन्त' अर्थ को व्यक्त करता है।

२४९ 'यहाँ देव शोभित होते हैं', इसमे राजधानी-रूप देश के कारण 'देव' शब्द से 'राजा' अर्थ प्रतीत होता है।

२५० 'मित्र शोभित होता है', यह नपुसकलिंग मे प्रयुक्त हुआ 'मित्र' शब्द लिग के कारण 'सुहृत्' अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है।
'मित्रो भाति'—पुलिंग मे प्रयुक्त हुआ यह 'मित्र' शब्द लिग के ही सामर्थ्य से 'सूर्य' अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है।

२५१ 'स्वाहा इन्द्र शत्रुः' यहाँ वैदिक—'स्वर' मे भिन्नता का प्रयोग करने से अर्थान्तर की प्रतीति होती है।

२५२ इस प्रकार इन सभी प्रयोगों मे उस-उस अर्थ को देख ले।

२५३ संयोगादिभिरेतैस्तु वाचकत्वे निवारिते ।
अनेकार्थस्य शब्दस्य यदर्थान्तरदर्शनम् ।।
अभिधा नात्र वर्तेत तस्याः स्वार्थे नियामनात् ।
मुख्यार्थबाधाद्यभावाल्लक्षणा नात्र वर्तते ।।
अतोऽत्र शब्दव्यापारः पारिशेष्यात्तदञ्जनम् ।

२५४ तद्व्यञ्जनयुतः शब्दो यः सोऽर्थान्तरयुक्तथा ।।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तद्वत्सहकारितया मतः ।

२५५ वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभूता येऽर्थाः पूर्वमुदाहृताः ।।
तेषां तद्वाचकादीनामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।

२५६ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।

२५७ बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः स्यात्काकुः स्याद्विकृतिर्ध्वनेः ।
प्रस्तावः स्यात्प्रकरणमर्था वाच्यादयस्तथा ।।

---

२५३ इस प्रकार सयोग आदि के द्वारा अन्य अर्थ के बोधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थ शब्द जो कही दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है। वहाँ अभिधा नही हो सकती है क्योकि उसका अपने मुख्य अर्थ मे नियन्त्रण हो चुका है और मुख्यार्थ बाध आदि के न होने से लक्षणा भी नही हो सकती है। अत यहाँ इन सभी के अतिरिक्त अजन अर्थात् व्यजना शब्द-व्यापार ही होता है।

२५४ उस व्यजना (व्यापार) से युक्त शब्द (व्यजक शब्द) कहलाता है क्योकि वह (व्यजक-शब्द) दूसरे अर्थ के योग से (अर्थात् अपने मुख्यार्थ को बोधन करने के बाद) उस प्रकार का (अर्थात् दूसरे अर्थ का व्यग्य) होता है, इसलिए उसके साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यजक होता है।

२५५ उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक तथा व्यजक शब्दो के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य-भूत जो अर्थ हैं, वे पहले कह दिये गये है। अब यहाँ पर अर्थो की व्यजकता को कहते है।

२५६ वक्ता, बौद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से सहृदयो को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता हे, वह 'आर्थी-व्यजना' ही कहलाता है।

२५७ बौद्धव्य का अर्थ प्रतिपाद्य (अर्थात् जिससे बात कही जाय) है। 'काकु'— ध्वनि के विकार को कहते हैं। प्रस्ताव का अर्थ प्रकरण होता है। अर्थ अर्थात

इङ्गिताकारचेष्टादिरादिशब्देन चोदितः ।
क्रमाद्वाच्यस्य लक्ष्यस्य व्यङ्ग्यस्योदाहृतिः कृता ॥

२५८ अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणं ॥
अत्र चौर्यरतस्यैव गोपनं गम्यते स्फुटम् ।
खेदो मयि न योग्यः स्यात्कर्तुं योग्यः कुरुष्विति ॥

२५९ तथाभूतादिवाक्यादा स्वरकाकुः प्रकाश्यते ।
वाच्यसिद्धयङ्गमत्रोक्तः स्वरः काकुर्भवेदिति ।

२६० नैवं शङ्क्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं काकुवेदिभिः ।
प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरत्र दर्शनात् ॥

२६१ तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठि ण णेसि अण्णत्तो ।

वाच्यादि (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य) है तथा आदि शब्द से अन्तर्बाह्य चेष्टादि को कहा गया है। अब क्रमश वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य के उदाहरण देते है।

२५८ (१) "हे सखि, मै बहुत बडे जल के घडे को लेकर शीघ्रता से आई हूँ, परिश्रम के कारण पसीना और नि श्वास से परेशान हो गयी हूँ, अत क्षण भर विश्राम करू गी।"
यहाँ (वक्तृ-वैशिष्ट्य से) चोरी से की गई रति का छिपाना प्रतीत होता है।

२५९ (२) [४१]"तथाभूता दृष्ट्वा · ·· ·नाद्यापि कुरुषु।"
"राजसभा मे द्रोपदी की (केशाकर्षण रूप) दुर्दशा को देखकर (गुरु नाराज नही हुए, उनको क्रोध नही आया) फिर वन मे बल्कल वस्त्र धारण करते हुए चिरकाल (बारह वर्ष) तक कोलभिल्लो के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नही आया) फिर विराट के घर मे (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यो को करके छिपकर जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नही आया) और आज भी उनको कौरवो पर तो क्रोध नही आ रहा है, पर मै कौरवो पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते है।"
इस पद्य मे 'काकु' से यह प्रकट किया जा रहा है कि मुझ पर क्रोध करना उचित नही, अपितु, कौरवो पर क्रोध करना उचित है।

२६० काकुवेत्ताओ को इस पद्य मे यह शका नही करनी चाहिए कि यहाँ काकु (से लभ्य अर्थ) वाच्य की सिद्धि का अग है अत गुणीभूतव्यग्य (काव्य) है (ध्वनिकाव्य नही है) क्योकि प्रश्नमात्र से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है। अर्थात् यहाँ काकु केवल प्रश्न-मात्र मे ही विश्रान्त हो जाता है। उससे व्यग्यार्थ आक्षिप्त नही होता है।

२६१ (३) उस समय मेरे कपोल पर गडायी हुई (अपनी) दृष्टि को अन्यत्र नही

एण्हि सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥
अत्र प्रच्छन्नकामित्वं कान्तया व्यज्यते प्रिये ।

२६२ मलयानिलसम्फुल्लकुसुमामोदमेदुरम् ॥
आरामं पश्य सुमुखि मनोभवनिकेतनम् ।
कामिनि प्रविशात्रेति व्यज्यते सुरतार्थिता ॥

२६३ णोल्लेइ अणद्दमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संज्झाए होइ ण व होइ वीसामो ॥
सङ्केतकालः सन्ध्येति व्यज्यतेऽत्र कयाचन ।

२६४ सुव्वइ समागमिस्सइ तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥
कस्याश्चिज्जारसम्भोगे निषेधोऽत्र प्रतीयते ॥

२६५ निमील्य लोचने काचित्प्रिये गुरुजनावृता ।
पश्यति स्वस्तिकाकारकरेणालिङ्गति स्तनौ ॥
निमीलनादीङ्गितेन यामिनीति प्रतीयते ।
चेष्टया स्वस्तिकाकृत्या गाढाश्लेषः प्रतीयते ॥

ले जा रहे थे । अब मे वही हूँ, मेरे कपोल भी वही है किन्तु तुम्हारी वह (मेरे कपोल पर ही गडी रहने वाली) दृष्टि नही है ।
यहाँ नायिका के 'वाक्य-वैशिष्ट्य' से प्रिय की प्रच्छन्न कामुकता व्यक्त होती है।

२६२ (४) "हे सुमुखि ! मलयज पवन से उडाये हुए पुष्पो की सुगध से युक्त, काम देव के भवन-रूप बगीचे को देखो ।"
यहाँ सुरत के इच्छुक नायक के 'वाच्य-वैशिष्ट्य' से यह व्यक्त होता है कि कामिनि सुरत के लिए (इस बगीचे मे) प्रवेश करो ।

२६३ (५) "निर्दया सास घर के सारे काम मुझसे ही कराती है, यदि क्षण भर को अवकाश मिलता है तो सायकाल ही, नही तो मिलता ही नही ।
यहाँ सन्ध्या का समय सकेत-काल है (यह बात गुरुजन की सन्निधि के वैशिष्ट्य से उपनायक-रूप किसी तटस्थ के प्रति) कोई (नायिका) व्यजना द्वारा प्रकट करती है ।

२६४ (६) "हे सखि ! सुना जाता है कि तेरा प्रिय आज पहर-भर मे ही आ जायेगा। इसलिए तू यो ही क्यो बैठी है, जो करना है वह कर ले ।"
यहाँ (प्रस्ताव-वैशिष्ट्य से) किसी का जार-पुरुष के साथ सम्भोग करने से निषेध प्रतीत होता है ।

२६५ (७) "गुरुजनो से घिरी हुई कोई (नायिका) प्रिय के आ जाने पर नेत्रो को बन्द करके देखती है । स्वस्तिकाकार हस्त से स्तनो का आलिगन करती है ।"
यहाँ (समागम हेतु) निमीलन आदि इशारे से 'रात्रि' प्रतीत होती है तथा स्वस्तिकाकार चेष्टा से (नायिका का) 'गाढालिंगन' प्रतीत होता है ।

२६६ द्वित्रादिभेदे वक्त्रादिमिथोयोगे सति क्वचित् ।
क्रमाद्व्यङ्ग्यस्य लक्ष्यस्य व्यञ्जकत्वं निदर्श्यताम् ॥

२६७ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥

२६८ शब्देनैव निवेद्योऽयं न प्रमाणान्तरेण च ।

२६९ एवंप्रकारैर्बहुभिः कृते शब्दार्थनिर्णये ॥
स्वरूपं दोषगुणयो रसालङ्कारयोरपि ।
अवश्यमभिधातव्यमपि तत्रापि धर्मिणि ॥
प्रदर्शिते तद्धर्माणां हेयोपादेयतास्थितिः ।
ज्ञायते यत्ततः काव्यभेदान्प्रागभिदध्महे ॥

२७० अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥

२७१ प्रधाने लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्ये सति क्वचित् ।

---

२६६ कही वक्ता आदि के परस्पर सयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से (अर्थव्यजकता के उदाहरण जान लेने चाहिए) तथा इसी क्रम से लक्ष्य और व्यग्य (अर्थो) की अर्थव्यजकता के उदाहरण भी जान लेने चाहिए ।

२६७ क्योकि शब्द प्रमाण के द्वारा जाना हुआ (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यग्य) अर्थ ही व्यजना द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराता है, इसलिए अर्थ की व्यजकता मे शब्द की सहकारिता मानी जाती है ।

२६८ शब्द (प्रमाण) से ही वेद्य यह (अर्थ) व्यजक होता है, अन्य (अनुमानादि) प्रमाणो से वेद्य अर्थ व्यजक नही होता है ।

२६९ इस प्रकार बहुत प्रकार से शब्द और अर्थ का निर्णय कर लेने के पश्चात् दोष, गुण तथा रस-अलकार का स्वरूप पहले कहा जाना चाहिए था, लेकिन धर्मी (मुख्य-भूतकाव्य) का निरूपण करने पर ही उन (दोष, गुण आदि) धर्मो की हेयता या उपादेयता का ज्ञान हो सकता है, इसलिए पहले काव्य के भेदो को कहते हैं—

२७० अविवक्षित-वाच्य (अर्थात् लक्षणा-मूल) जो (ध्वनि-भेद) है, उस ध्वनि (भेद) मे वाच्य या तो अर्थान्तर मे सक्रमित हो जाता है या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है । (इस प्रकार अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूल ध्वनि के दो भेद होते हैं—१ अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य २ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ।)

२७१ लक्षणामूल गूढव्यग्य की प्रधानता होने पर ही जहाँ वाच्य अविवक्षित होता है, वह 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' काव्य कहलाता है । (यहाँ प्रश्न यह होता है कि जबकि 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' काव्य-भेद मे प्रकृत मे 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग नही हुआ है तो हम यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग

यत्राविवक्षितं वाच्यं तत्र ध्वनिरिति ध्वनौ ॥

२७२ तदेवानुपयुक्त्यादेर्वाच्यमर्थान्तरे यदि ।
नमितं तद्भवेदर्थान्तरसङ्क्रमिताख्यया ॥
यथा त्वां वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमादाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥
उपदेशादिरूपेण गम्यते वचनादि यत् ।

२७३ तदेवानुपपत्त्यादेः क्वाप्यत्यन्ततिरस्कृतम् ॥
मयि चोपकृतं सुभ्रु सौजन्यं प्रथितं त्वया ।
कुर्वीदृशं परमपि सुखमास्स्व शरच्छतम् ॥
अत्रापकारिणीं चेटीं विपरीतलक्षणया कथयति ॥

२७४ विवक्षितं व्यङ्ग्यनिष्ठं वाच्यं यत्र प्रकाशते ।
तत्रालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥

२७५ रसस्तु न विभावादिस्तैरेवासाविति क्रमः ।
स चेन्न लक्ष्यः सोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य उदाहृतः ॥

क्यो करते है ? उत्तर है कि यहाँ (कारिका मे) 'य' शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका अर्थ ही है 'य ध्वनि' क्योकि यत् और तत् साकाक्ष होते हैं तथा 'तत्र' के विशेषण रूप मे 'ध्वनि' का सप्तम्यन्त 'ध्वनौ' प्रयुक्त किया गया है। अत 'य' का विशेषण 'ध्वनि' शब्द स्वत सिद्ध ही है।

२७२ यदि वही वाच्य अनुपयुक्त होने मे अर्थान्तर मे परिणत हो जाता है, तो उसे 'अर्थान्तर-सक्रमित-वाच्य-ध्वनि' कहते हैं। जैसे—
"मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानो का समुदाय रहता है, इसलिए तुम अपनी बुद्धि को ठीक करके यहाँ सावधानी से व्यवहार करना।
यहाँ वचन आदि उपदेश आदि रूप मे परिणत हो जाता है।"

२७३ कही वही (वाच्यार्थ) अनुपपद्यमान होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। जैसे—
"हे सुभ्रू ! तूने मेरे ऊपर बडा उपकार किया है, सज्जनता दिखलाई है, इसलिए ऐसा ही करती हुई (तू) सैकडो वर्षों तक परम सुखी रहे।"
यहाँ अपकार करने वाली चेटी के प्रति विपरीत लक्षणा से (कोई) कहता है।

२७४ जहाँ वाच्य विवक्षित होने पर भी व्यग्यनिष्ठ अर्थ को प्रकाशित करता है, वहाँ दो प्रकार का होता है—पहला अलक्ष्यक्रम-व्यग्य तथा दूसरा सलक्ष्यक्रम-व्यग्य।

२७५ विभावादि की प्रतीति ही रस नही है, अपितु उन विभावादि की प्रतीति से यह रस उत्पन्न होता है, इसलिए (रस की प्रतीति में भी) क्रम तो है लेकिन वह लक्षित नही होता है, इसीलिए उसे "अलक्ष्यक्रमव्यग्य" कहा जाता है।

२७६ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥

२७७ आभासभावशान्त्यादेः क्रमो नैवात्र लक्ष्यते ।
तेषां व्यङ्ग्यक्रमे लक्ष्ये लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमो भवेत् ॥
भावोदयादिः प्राधान्यादलङ्कार्यतया स्थितः ।
रसादिर्यत्र तत्रैष व्यङ्ग्य एव भविष्यति ॥

२७८ प्राधान्याद्यत्र वाक्यार्थस्याङ्गभूतो रसादिकः ।
काव्यभेदो गुणीभूतव्यङ्ग्य इत्यभिधीयते ॥
भावशान्त्यादयोऽङ्गित्वं रसे मुख्ये प्रयान्ति च ।

२७९ अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥
इति द्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽङ्गाङ्गित्वमेष्यतः ।

२८० यत्रातिशायी व्यङ्ग्योऽर्थो वाच्यात्काव्यं ध्वनिर्भवेत् ॥

२८१ प्रधानभूतस्फोटाख्यव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्तु यः ।
शब्दस्तत्र ध्वनिरिति व्यवहारः कृतो बुधैः ॥

---

२७६ रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास तथा भावाभास) और भाव-शान्ति आदि (अर्थात् भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता) अलक्ष्य-क्रम होते है। जहाँ कि ये अलकार्य होने से "रसवत्" आदि (अर्थात् रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वित् तथा समाहित) अलकारो से भिन्न रूप मे स्थित हैं।

२७७ आभास (रसाभास तथा भावाभास), भाव-शान्ति आदि का यहाँ क्रम लक्षित नही होता है, यदि उनका व्यग्य-क्रम लक्षित हो तो "सलक्ष्यक्रम-व्यग्य" होगा। भावोदय आदि प्राधान्य तथा अलकार्य होने से स्थित है। जहाँ रसादि होगे, वहाँ यह व्यग्य ही होगा।

२७८ जहाँ वाक्यार्थ की प्रधानता से रसादि अगभूत होते है, तो वह "गुणीभूत-व्यग्य" काव्य-भेद कहलाता है। और मुख्य रस के विद्यमान होने पर भी भाव-शान्ति आदि प्रधानता (अगित्व) को प्राप्त हो जाते है। (उस दशा मे ये सब "रसवत् अलकार" कहलाते है।)

२७९ अर्थान्तर-सक्रमित तथा अत्यन्त-तिरस्कृत—ये दोनो गुणीभूतव्यग्य मे अगागित्व को प्राप्त होते हैं।

(उत्तम काव्य)

२८० जहाँ वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा व्यग्य-अर्थ अधिक चमत्कार-युक्त होता है, वह "ध्वनि-काव्य" कहलाता है।

२८१ "बुध" अर्थात् वैयाकरणो ने प्रधानभूत "स्फोट" रूप व्यग्य का जो व्यजक-शब्द होता है, उस शब्द के लिए "ध्वनि"—इस शब्द का व्यवहार (प्रयोग)

यन्न्यग्भावितवाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनक्षमम् ।
शब्दार्थयुगलं तच्च ध्वनिरित्यभिधीयते ॥

२८२ ध्वनिः स्यादुत्तमं काव्यं स प्रबन्धः सुदुर्लभः ।

२८३ वाच्यादनतिशायी च व्यङ्ग्योऽर्थो यत्र दृश्यते ।
तत्काव्यं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं तन्मध्यमं भवेत् ।

२८४ यत्र शब्दस्य वैचित्र्यं यत्रार्थस्य विचित्रता ॥
यत्र व्यङ्ग्यं न प्रतीतं तत्काव्यमधमं स्मृतम् ।

२८५ अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो बुधैः ।
यः शब्दशक्तिमूलानुरणनात्मा स च ध्वनिः ॥
तथार्थशक्तिमूलानुरणनात्मापि च ध्वनिः ।
शब्दार्थशक्तिमूलानुरणनात्मापि च ध्वनिः ॥

किया है। (इसी मत का अनुकरण कर, साहित्य शास्त्र मे) वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले, व्यग्यार्थ की अभिव्यक्ति (व्यजन) कराने मे समर्थ शब्द तथा अर्थ—दोनो को "ध्वनि" कहा जाता है।

२८२ यह ध्वनि काव्य "उत्तम-काव्य" होता है। वह प्रबन्ध (उत्तम-काव्य) अत्यन्त दुर्लभ होता है।

(मध्यम)

२८३ जहाँ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी व्यग्यार्थ नही होता है, वह "गुणीभूत-व्यग्य" काव्य कहलाता है और वह "मध्यम-काव्य" होता है।

(अधम)

२८४ जहाँ शब्द की विचित्रता और अर्थ की विचित्रता होती है तथा व्यग्य (अर्थ) प्रतीत नही होता है, वह "अधम-काव्य" कहलाता है।

(अलक्ष्यक्रम-ध्वनि के भेद)

२८५ जो अनुस्वानाभ सलक्ष्यक्रम-व्यग्य-ध्वनि भेद है वह विद्वानो द्वारा—१ शब्द-शक्त्युत्थ २. अर्थ-शक्त्युत्थ ३ उभय-शक्त्युत्थ होने से तीन प्रकार कहा गया है

१ जो शब्द-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "शब्द-शक्त्युत्थ-सलक्ष्यक्रम-व्यग्य-ध्वनि" कहलाता है।

२ जो अर्थ-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "अर्थशक्त्युत्थ-सलक्ष्यक्रम-व्यग्य-ध्वनि" कहलाता है।

३. जो शब्द और अर्थ-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "उभय-शक्त्युत्थ-सलक्ष्यक्रम-व्यग्य-ध्वनि" कहलाता है।

२८६ अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।

२८७ परस्परस्य प्राधान्यात्प्रधानेतरकल्पना ॥
व्यङ्ग्ये रसालङ्कारादौ ध्वनिकाव्यं तदुत्तमम् ।
स चेल्लक्ष्यो भवेन्मध्यस्तस्मिन्वाच्ये तथाऽधमः ॥

२८८ अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धचङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
उदाहरणमेतेषां काव्यबन्धेषु दृश्यते ॥

२८९ एवं ध्वनिकृदाचार्यैर्व्यङ्ग्यभेदाः समीरिताः ।
स्वरूपमुक्तं वाच्यादेस्तत्तद्भेदाश्च दर्शिताः ॥

२९० एतेभ्योऽन्यत्तु तात्पर्य वाक्यार्थोऽस्तीति जानते ।
एतेभ्योऽन्यस्तु कथितस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥

२९१ समन्वये पदार्थानां पदार्थोऽपि च तत्त्वतः ।
विशेषरूपो वाक्यार्थस्तात्पर्यमिति मन्वते ॥

(शब्द-शक्त्युत्थ के भेद)

२८६ जहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलकार प्रधान-रूप से प्रतीत होते हैं (वहाँ वस्तु तथा अलकार के आश्रय से ध्वनि के अनेक भेद हो जाते हैं) ।

२८७ (इस प्रकार) परस्पर की प्रधानता से प्रधान और गौण की कल्पना होती है । रस-अलकारादि मे व्यग्य प्रधान होने पर 'ध्वनि-काव्य'—'उत्तम काव्य', लक्ष्य होने पर 'मध्यम' तथा वाच्य होने पर 'अधम-काव्य' कहलाते है ।

(गुणीभूत के भेद)

२८८ १—अगूढ २—अपरस्याग ३—वाच्य-सिद्धच ग ४—अस्फुट ५—सन्दिग्ध-प्राधान्य ६—तुल्य-प्राधान्य ७—काक्वाक्षिप्त तथा ८—असुन्दर । इस प्रकार गुणीभून-व्यग्य रूप मध्यम-काव्य के आठ भेद कहे गये है। इनके उदाहरण काव्य-प्रबन्धो मे देखे जाते हैं ।

२८९ इस प्रकार ध्वनिकार-आचार्यो ने व्यग्य-भेद कहे है । वाच्यादि के स्वरूप को कह दिया और उस-उस के भेदो को कह दिया गया ।

२९० इनसे भिन्न दूसरा तात्पर्य वाला वाक्यार्थ होता है ऐसा जाना जाता है, तथा इनसे भिन्न किन्ही के मत मे अन्य 'तात्पर्यार्थ' होता है ।

२९१ किन्ही (भट्टमीमासक) के मत मे पहले पदो से पदार्थों की प्रतीति होती है, पुन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होने पर पदार्थ भी तत्त्वत विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थ—रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है, ऐसा माना जाता है ।

२९२ पदार्था ये पदानां स्युरन्वितानां परस्परम् ।
त एव वाक्यार्थात्मानो नान्योऽर्थोऽस्तीति केचन ॥

२९३ सर्वस्यैव च शब्दस्य स्वार्थवृत्तिविभागतः ।
तात्पर्यार्थो भवेच्छ्रोतुः विवेक्तुः प्रीतिकारकः ॥

२९४ श्रोतृत्वं तदिति प्राहुः शब्दतात्पर्यवेदिनः ।
शब्दशक्तिमहिम्ना यद्व्यङ्ग्याद्यर्थविवेचनम् ॥
तदेव च विवेक्तृत्वमाहुरर्थविवेचकाः ।

२९५ व्यङ्ग्यतात्पर्यतद्भेदशब्दशक्तिनिरूपणम् ॥
कवेर्विवक्षितार्थो यः तत्तात्पर्यमुदाहृतम् ।

२९६ तात्पर्यस्य स्वरूपं यत्तद्विशेषश्च तद्भिदा ॥
यथाऽवगतमस्माभिः परस्तात्कथयिष्यते ।

२९७ इत्थं कल्पलतायां तु वाच्याद्यर्थचतुष्टयम् ॥
निर्णीतं वाचकादेश्च शब्दस्यापि चतुष्टयम् ।
तच्च काव्यप्रकाशेन मयाऽप्यत्र प्रदर्शितम् ॥

२९८ दोषा गुणाश्चालङ्काराः शब्दार्थोभयरूपतः ।
क्वचिद्रसाश्च तद्योग्या योग्यताऽत्र विचार्यते ॥

---

२९२ किन्ही (प्रभाकर) के मत मे अन्वित-पदो का जो परस्परान्वित पदार्थ होता हे । वह ही अपना वाक्यार्थ होता है, अन्य कोई अर्थ नही होता है ।

२९३ सभी शब्द का अपनी अर्थवृत्ति के विभाग से श्रोता का, विवेचक का प्रीति-कारक तात्पर्यार्थ होता है ।

२९४ शब्द-तात्पर्यविदो ने 'श्रोतृत्व' उसको कहा है—जो शब्द-शक्ति की महिमा से व्यग्यार्थ का विवेचन करता हे और वही अर्थविवेचको द्वारा 'विवेक्तृत्व' कहा जाता है ।

२९५ व्यग्य, तात्पर्य, उसके भेद तथा शब्द-शक्ति का निरूपण हो गया । कवि का जो विवक्षित अर्थ होता हैं वह 'तात्पर्य' कहलाता है ।

२९६ तात्पर्य का स्वरूप, उसकी विशेषता और उसके भेद यथा-ज्ञान हमारे द्वारा आगे कहे जायेंगे ।

२९७ इस प्रकार कल्पलता मे वाच्यार्थ आदि (वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य तथा तात्पर्यार्थ) चतुष्टय का तथा वाचक आदि (वाचक, लाक्षणिक, व्यजक, तात्पर्यक) शब्द के चतुष्टय का निर्णय किया गया है । और वह (निर्णय) काव्य-प्रकाश तथा मेरे (शारदातनय) द्वारा यहाँ कहा गया है ।[४४]

२९८ अब शब्दगत और अर्थगत दोष, गुण, अलकार तथा कही रस और उनकी योग्यता व अयोग्यता का विचार करते हैं ।

२९९ आक्षेपतः समाधानादर्थेष्वतिशयो भवेत् ।
आक्षेपश्च च समाधानमतोऽर्थस्याभिधीयते ॥

३०० स्वतः शुद्धस्य वर्णस्य को दोषः को गुणो भवेत् ।
रसादेराश्रयत्वं तदमूर्तस्य कथं भवेत् ॥
विभुत्वात्तस्य वर्णस्य क्वाचित्कत्वं कथं भवेत् ।
अलङ्कारोऽपि नैव स्यादलङ्कार्याविनिश्चयात् ॥
दोषादेराश्रयो वर्णः पदं वाऽथ किमुच्यते ।
वाक्यं वा किमलङ्कारो नैव वर्णस्य युज्यते ॥
पदे चेत्तत्पदं कीदृक्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् ।
वर्णः पदं किं वर्णौ वा वर्णा वा पदमुच्यते ॥
अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेः पदं दुष्यति लक्षणे ।
सुप्तिङन्तं पदमिति यदि स्यात्पदलक्षणम् ॥
सुबन्तं पदमस्तीस्ति तिङन्तमपि चापरम् ।
समुच्चयेन न पदं सुप्तिङन्तात्मकं भवेत् ॥
लक्षणं व्यभिचारि स्यादतिव्याप्त्यादिदोषतः ।
पदे वाक्ये च वाक्यार्थे दोषः कीदृक्स्वरूपवान् ॥

---

२९९ आक्षेप से तथा समाधान से अर्थो मे अधिक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। अत अर्थ के आक्षेप और समाधान को कहते हैं।

३०० स्वत शुद्धवर्ण का क्या दोष होता है, क्या गुण होता है ? रसादि से उस अमूर्त (वर्ण) की आश्रयता कैसे सिद्ध होती है ? उस वर्ण के विभु होने से क्वचित्कत्व कैसे सिद्ध होता है ? अलकार्य का निश्चय न होने से अलकार भी नही होता है। दोषादि का आश्रय क्या वर्ण या पद कहा जाता है ? अथवा वाक्य या अलकार कहा जाता है ? दोषादि का आश्रय वर्ण मानना उचित नही है। यदि पद मे (आश्रय) होता है, तो वह पद किस प्रकार का होता है उस (पद) के स्वरूप का निरूपण करो। क्या वर्ण पद होता है ? या दो वर्ण या अधिक वर्ण पद कहे जाते है ? यह (पद का) लक्षण करने पर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाता है। यदि पद का लक्षण "सुप्तिङन्त पदम्" अर्थात् सुवन्त और तिङ्न्त की पद-सज्ञा होती है"—होता है तो एक सुवन्त पद होगा और दूसरा तिङ्न्त। लेकिन दोनो के समुच्चय से 'सुप्ति-ङ्न्तात्मक' पद नही होगा। इसलिए यह लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोष से ग्रसित हो जाता है। पद में, वाक्य मे और वाक्यार्थ मे दोष किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है। स्थान मे और पदादि मे वह गुण किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है। यदि उस (वाक्य) के दोषादि होते हैं, तो वाक्य का

स्थाने पदादौ स गुणः कीदृगात्मा च वर्तते ।
वाक्यस्य लक्षणं कीदृक्तस्य दोषादयो यदि ।।
समूहो यः पदानान्तु तद्वाक्यमिति लक्षणम् ।
वाक्यं द्वाभ्यां त्रिचतुरैः पञ्च षट्सप्तभिश्च वा ।।
अष्टभिर्वा भवेत्तस्माल्लक्षणं व्यभिचारि तत् ।
एकप्रयोजनाभावादन्यथा वाक्यलक्षणम् ।।

३०१ दोषो गुणो वाऽलङ्कारो रसो वाऽथ कदाचन ।
पदे वाक्ये च वाक्यार्थे नहि शब्दात्मको भवेत् ।।
आश्रयाश्रयिसम्बन्धो न भवेच्छब्दयोः क्वचित् ।

३०२ अथ तद्व्यतिरेकश्चेद्दोषादिरिह कथ्यते ।।
भिन्नाधिकरणत्वेन सम्बन्धो न घटिष्यते ।
अतो दोषादयः शब्दे व्यर्थाः स्युः कल्पिता अपि ।।
इति ब्रुवन्तमुद्दिश्य तत्सम्बन्धोऽभिधीयते ।

३०३ वक्तृसम्बन्धवशतः शब्दे दोषादिकल्पना ।।
दोषादिर्वक्तृधर्मः स्याद्वक्त्रधीनतयाऽस्य हि ।
स्वार्थे स्ववृत्त्ययोग्यत्वं येन शब्दस्य दृश्यते ।।
स दोषः कथ्यते वक्तृप्रयोगाधीन एव सः ।

लक्षण किस प्रकार का होता है ? पदो का जो समूह है वह "वाक्य" कहलाता है—यदि वाक्य का यह लक्षण होता है तो प्रश्न यह उठता है कि वह वाक्य दो, तीन, चार, पाँच, छ, सात या आठ पदो के समूह वाला होता है—इस प्रकार का कोई निर्णय लक्षण मे न होने से वह लक्षण दोष-ग्रस्त हो जाता है तथा वाक्य का एक प्रयोजन न होने से भी वाक्य का लक्षण अन्यथा हो जाता है ।

३०१ कदाचन पद मे, वाक्य मे और वाक्यार्थ मे दोष, गुण, अलकार या रस होता है, तो वह शब्दात्मक नही होता । (क्योकि) आश्रयाश्रयि सम्बन्ध कही दो शब्दो मे नही होता ।

३०२ इस प्रकार यहाँ उस (शब्द) के व्यतिरेक तथा दोषादि को कहते है । भिन्न अधिकरण से (शब्द तथा वक्ता का) सम्बन्ध घटित नही होगा (अत शब्द मे दोषादि व्यर्थ और कल्पित हो जायेंगे ।—ऐसा सोचकर उस (शब्द और वक्ता) के सम्बन्ध को कहते हैं ।

३०३ शब्द मे वक्ता के सम्बन्ध से दोषादि की कल्पना होती है । वक्तृ-अधीनता से इस शब्द के दोषादि वक्ता के धर्म होते है । अपने अर्थ मे जिससे शब्द की स्ववृत्ति की अयोग्यता देखी जाती है । वह दोष कहा जाता है और वह वक्तृ प्रयोगाधीन ही होता है ।

३०४ स्वार्थे स्ववृत्तियोग्यत्वद्वारा शब्दस्य यद्भवेत् ।।
प्रत्यायकत्वसामर्थ्यसौलभ्यं स गुणो भवेत् ।
वाच्याद्यतिशयो येन दृश्यते शब्दहेतुकः ।।
स एवार्थगुणो ज्ञेयः तत्तदर्थेषु दृश्यते ।

३०५ येऽर्था इवादिशब्दानान्तेऽलङ्कारा इति स्मृताः ।।
प्रयुञ्जते तान्कवयः शब्दार्थोभयरूपतः ।।

३०६ कविप्रयोगचातुर्यात्स नीरक्षीरवद्रसः ।।
शब्दार्थेषूपयुज्येत प्रायो व्यङ्ग्यः स सर्वदा ।
वर्णे गुणो न दोषो वा तौ स्यातां पदवाक्ययोः ।।
रसादयोऽपि वाक्यादिप्रबन्धेषूपयोगिनः ।
कविसन्दर्भवशतो दृश्यन्ते यत्रतत्रतः ।।
तस्मादमी वक्तृधर्मा नैते स्युः शब्दगोचराः ।
वक्तुर्विवक्षाधीनं यच्छब्दे दोषाधिरोपणम् ।।
तस्माद्दोषादयो वक्तृपराधीना न शब्दगाः ।

३०७ तस्मादलङ्कृतिगुणरसवत्काव्यनिर्मितिः ।।
ध्वनिरूपैव कर्तव्या निर्दोषा कीर्तिसम्पदे ।

---

३०४ अपने अर्थ मे स्ववृत्ति की योग्यता से शब्द की जो प्रत्यायकता, समर्थता तथा सुलभता देखी जाती है वह "गुण" कही जाती है । जिससे शब्द-हेतुक वाच्यादि का अतिशय (चमत्कार) देखा जाता है, वही "अर्थ-गुण" जानना चाहिए । उन-उन अर्थो मे (वह गुण) देखा जाता है ।

३०५ इवादि शब्दो के जो अर्थ है, वे "अलकार" कहे जाते है । कविजन उनको शब्दगत और अर्थगत प्रयुक्त करते है ।

३०६ कवि की प्रयोग-चातुरी से वह (अलकार) नीर-क्षीर के समान "रस" कहलाता है । वह व्यग्य प्राय शब्दो और अर्थों मे उपयुक्त होता है। गुण या दोष सर्वदा वर्ण मे नही होते, वे दोनो पद और वाक्य मे होते हैं । रस आदि भी वाक्यादि प्रबन्धो मे उपयोगी होते है । कवि के सन्दर्भ से वे यत्र-तत्र देखे जाते हैं । इसलिए ये (दोषादि) वक्ता के धर्म होते है न कि शब्द-गोचर । शब्द मे वक्ता की विवक्षा के अधीन जो दोषादि का आरोपण होता है, वह दोषादि वक्ता के ही आधीन है न कि शब्दगत ।

३०७ इसलिए यश की प्राप्ति के लिए निर्दोष, अलकार, गुण तथा रसयुक्त ध्वनिरूप ही काव्य की रचना करनी चाहिए ।

३०८ ध्वनिर्निरूप्यतेऽत्रैव व्यञ्जकत्वेन चोदितः ॥
क्रमेणोच्चार्यमाणेषु वर्णेष्वर्थस्य वाचकः ।
आदिमः किं द्वितीयः किं तृतीयः कि तथाऽन्तिमः ॥
प्रत्यायकत्वशक्तिस्तु कस्मिन्नेतेषु दृश्यते ।
क्रमेण श्रूयमाणत्वाद्वर्णानां नश्वरत्वतः ॥
समुच्चयेन वर्णानां वाचकत्वं न युज्यते ।
सापेक्षत्वादादिमस्य स्वार्थे वृत्तिर्न जायते ॥
मध्यमानामपि स्वार्थप्रतीतौ स्यादनिश्चयः ।
अन्तिमश्चेदथैकस्य सम्बन्धोऽनर्थको भवेत् ॥
अर्थासंस्पर्शितैवास्माद्धेतोः शब्दस्य निश्चिता ।

३०९ मैवं मन्यस्व शब्दस्य स्वार्थस्पर्शित्वमुच्यते ॥
अर्थप्रतीतिः श्रोतॄणां शब्दोच्चारादनन्तरम् ।
जायते तस्य हेतुर्यः सोऽर्थापत्तिप्रमाणकः ॥
स वर्णव्यतिरेकात्मा कोऽपि स्यात्सोऽपि च ध्वनिः ।
ध्वनिः सामान्यरुपस्स्याद्वर्णास्तद्व्यक्तयः स्मृताः ॥
स वर्णव्यञ्जनद्वारा तमर्थं व्यञ्जयेत्स्फुटम् ।
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकैः परिभाष्यते ॥

---

३०८ यहाँ ध्वनि का निरूपण करते है, (वह) व्यजक-रूप मे कह दी गयी है। क्रम से उच्चार्यमाण वर्णों मे अर्थ का वाचक क्या प्रथम वर्ण होता है ? या द्वितीय, या तृतीय या फिर अन्तिम। इनमे से किसमे प्रत्यायकत्व शक्ति देखी जाती है। क्रम से श्रूयमाण होने से वर्णों की नश्वरता सिद्ध होती है। समुच्चय से वर्णो की वाचकता उचित नही होती है। सापेक्षता होने से प्रथम वर्ण की अपने अर्थ में वृत्ति उत्पन्न नही होती है। मध्यम वर्णों का अपने अर्थ की प्रतीति मे अनिश्चय होता है। अन्तिम एक वर्ण का सम्बन्ध अनर्थक होताहै। इसलिए शब्द की अर्थ से असस्पर्शिता ही निश्चित होती है।

३०९ ऐसा मत सोचो, शब्द की अपने अर्थ से स्पर्शिता कही जाती है। शब्दोच्चारण के बाद श्रोताओ मे अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है। उसका जो हेतु है, वह "अर्थापत्ति" प्रमाण है। वह वर्ण व्यतिरेक-रूप है, कोई भी है, वही ध्वनि है। ध्वनि सामान्य-रूप है, उसकी अभिव्यक्ति वर्ण से कही जाती है। वह वर्ण व्यजना (शक्ति) द्वारा उस अर्थ को व्यक्त करता है। अत वैयाकरण परिभाषा करते हैं कि वह स्फोट "ध्वनि" है अर्थात् प्रधान-भूत "स्फोट" का अभिव्यंजक शब्द "ध्वनि" कहलाता है।

३१० इत्थं शब्दार्थसम्बन्धो ध्वनिकृद्भिर्निरूपितः ।
तदुक्तेन प्रकारेण संक्षेपादत्र दर्शितः ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
शब्दार्थसम्बन्धतद्भेदप्रकारनिर्णयो
नाम षष्ठोऽधिकारः समाप्तः ।

---

३१० इस प्रकार ध्वनिकारो द्वारा निरूपित शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उक्त प्रकार से संक्षेप मे यहाँ कह दिया ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे शब्दार्थसम्बन्धतद्भदप्रकार-
निर्णय नामक षष्ठ अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

अथ सप्तमोऽधिकारः

१ उक्ता रसा रसव्यक्तिर्नाट्येनैवेत्युदीरिता ।
अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्यलक्षणम् ॥
रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या नाट्यमुच्यते ।
रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात्प्रेक्षकैरिदम् ॥

२ रूपकत्वं तदारोपात्कमलारोपवन्मुखे ।
दशधैवेति मुनिना तद्भेदनियमः कृतः ॥
रसाश्रयत्वमप्युक्तं रसादेराश्रयत्वतः ।
तदेवं दशधा भिन्नं वाक्यार्थाभिनयात्मकम् ॥

३ रसाश्रया यद्यपि स्युर्नाटिकातोटकादयः ।
नाटकादिष्वथैतेषामन्तर्भावान्न ते पृथक् ॥

---

१ रस कह दिये, रसाभिव्यक्ति नाट्य से ही कही गई है ।
अवस्था के अनुकरण को 'नाट्य' कहते हैं[1]—यह नाट्य का सामान्य लक्षण है । नट मे रामादि पात्रो की जो 'तादात्म्यापत्ति' होती है, उसे 'नाट्य' कहा जाता है ।[2]
यह (नाट्य) प्रेक्षको द्वारा दृश्य होने से 'रूप' कहलाता है । वही (नाट्य-रूप) 'रूपक' कहलाता है ।[3]

२ मुख पर कमल के आरोप के समान आरोप होने के कारण नाट्य को 'रूपक' कहते है । जैसे—रूपक अलकार मे मुख पर कमल का आरोप कर दिया जाता है, वैसे ही नाट्य मे नट पर रामादि पात्रो का आरोप कर दिया जाता है, अत. नाट्य को 'रूपक' कहते है ।[4]
उस (नाट्य) के मुनि (आचार्य भरत) ने दस प्रकार के भेद-नियम कहे हैं ।
रसाश्रयता भी कह दी है, रसादि की आश्रयता से वाक्यार्थ-अभिनय-रूप वह (नाट्य) दस प्रकार का कहा गया है ।

३ यद्यपि नाटिका, तोटक आदि रसो के आश्रित होते हैं लेकिन इनका नाटकादि में अन्तर्भाव हो जाता है, अत वे नाटकादि से पृथक् नही होते है ।

४ नाटके च प्रकरणे नाटिकायाः पुरातनैः ।
अन्तर्भावः कृतस्तस्यां तोटकस्यापि दर्शितः ।।

५ नाटिकाया नाटकस्याभेदः प्रकरणस्य वा ।
सट्टकस्तोटकस्यैव भेद इत्यभिधीयते ।।
तोटकस्योच्यते सद्भिरन्तर्भावोऽपि नाटके ।
नाटकादेरयं भेदो नाटिका रूपकं भवेत् ।।
नाटिकाप्रतिमत्वाच्च सट्टकोपि तथाविधः ।

६ नाटके तोटकस्यान्तर्भावाद्रूपकमेव सः ।।
दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ।
नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् ।।
तोटकं नाम तत्प्राहुर्भेदो नाटकसम्भवः ।

७ नृत्यभेदा भवेयुस्ते डोम्बीश्रीगदितादयः ।।

८ यद्यद्रसात्मकं तत्तद्वाक्यार्थाभिनयात्मकम् ।
यद्यद्भावाश्रयं तत्तत्पदार्थाभिनयात्मकम् ।।

९ नृत्यं भावाश्रयं नृत्तं रसाश्रयमुदाहृतम् ।
नृत्यनृत्तविभागश्च बहुभिर्बहुधोदितः ।।

---

४ प्राचीन विद्वानो ने नाटक और प्रकरण मे नाटिका का अन्तर्भाव किया है, उस (नाटिका) मे तोटक का भी अन्तर्भाव दिखाया है।

५ नाटिका नाटक का या प्रकरण का अभिन्न-रूप है। सट्टक तोटक का ही भेद कहा जाता है। विद्वानो द्वारा तोटक का अन्तर्भाव भी नाटक मे कहा जाता है। नाटक आदि का यह नाटिका-भेद 'रूपक' कहलाता है। नाटिका का प्रतिरूप होने से 'सट्टक' भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् 'रूपक' कहलाता है।

६ नाटक मे तोटक का अन्तर्भाव होने से वह (तोटक) 'रूपक' ही है। नाटक का अनुकरण करने वाला यह 'तोटक' दिव्य और मनुष्य (पात्रो) के सयोग वाला होता है। 'तोटक' वह कहलाता है जिसमे नौ, आठ, सात या पाँच अक होते हैं तथा दिव्य और मनुष्य पात्रो का सयोग होता है। वह (तोटक) नाटक से उत्पन्न भेद ही कहलाता है।

(नृत्य तथा नृत्त)

७ वे डोम्बी, श्रीगदित आदि नृत्य के भेद होते है।

८ जो-जो रसात्मक होता है, वह-वह वाक्यार्थ-अभिनयात्मक होता है। जो-जो भाव के आश्रित होता है, वह-वह पदार्थ-अभिनयात्मक होता है।

९ नृत्य भाव के आश्रित होता है और नृत्त रस के आश्रित कहा जाता है। नृत्य तथा नृत्त का भेद बहुत लोगो ने बहुत प्रकार से कहा है। वे (नृत्य तथा

तद्द्वयं नाटकादीनां भूयसा ह्युपकारकम् ।
नृत्यनृत्तविभागस्तु परस्तात्कथयिष्यते ।।
पूर्वरङ्गे नाटकादावुपयोगोऽत्र दृश्यते ।
नाटकाद्युपयोगोऽत्र गायकानां प्रदर्श्यते ।।
नृत्तं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम् ।
गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वा गेयमुच्यते ।।
गेयसाध्यं हि धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयम् ।
तस्माद्गेयसमुत्पत्तिः संक्षेपेणात्र कथ्यते ।।
१० इह तत्त्वानि षट्त्रिंशच्छिवः शक्तिः सदाशिवः ।
ईश्वरः शुद्धविद्येति शुद्धान्येतानि पञ्च च ।।
माया कालोऽथ नियतिः कला विद्या ततः परम् ।
रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त वै ।।
ततः प्रकृतिरेतस्याः प्रकृतेस्तु गुणत्रयम् ।
गुणत्रयेऽपि भिद्यन्ते रुपनामक्रियाः सदा ।।
ईदृग्विलक्षणां शक्तिं यदा सङ्क्रमते पुमान् ।
प्राज्ञतैजसविश्वत्वभेदत्रयमथान्वगात् ।।

नृत्त) दोनो नाटक आदि के बहुत उपकारी होते है। नृत्य तथा नृत्त के भेद आगे कहेगे। यहाँ पूर्वरग मे, नाटक के आदि मे इनका (नृत्य तथा नृत्त का) उपयोग देखा जाता है। यहाँ नाटक आदि मे गायको का उपयोग देखा जाता है। नृत्त, गीत और वाद्य—ये नाटकादि के उपकारक हैं। 'गेय' प्रयोग का प्राण है या सब कुछ 'गेय' कहा जाता है। 'गेय' का धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—यह पुरुषार्थ चटुष्टय साध्य है। इसलिए यहाँ सक्षेप मे गेय की उत्पत्ति कहते है।

१० (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार) छत्तीस तत्त्व[6] होते है। ये छत्तीस शिव-तत्त्व कहलाते हैं—(१) शिव-तत्त्व[7] (२) शक्ति-तत्त्व[8] (३) सदाशिव[9] (४) ईश्वर[10] (५) शुद्ध-विद्या[11]—ये पाँच शुद्ध तत्त्व है। (६) माया[12] (७) काल[13] (८) नियति[14] (९) कला (१०) विद्या (११) राग (१२) पुरुष[15]—ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व है। तदनन्तर (१३) प्रकृति (१४-१६) इस प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम (१७-२५) पुन. रूप, नाम तथा क्रिया-भेद से त्रिगुण (सत्त्व, रज तथा तम) विभक्त होते हैं। (२६-२८) जब पुरुष इस प्रकार की विलक्षण शक्ति को सक्रमित करता है तो प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व—इन तीन भेद-रूपो को प्राप्त होता है। इन दोनो (तैजस तथा विश्व) का प्रधान तथा अन्य वस्तुओ मे व्याप्त एक 'प्राज्ञ' ही है। शेष इसमे असम्पूर्ण है—इस प्रकार की इनकी प्रवृत्ति है। तैजस सात प्रकार का होता है—बुद्धि,

प्रधानमनयोर्व्याप्तं प्राज्ञ एकोऽन्यवस्तुनि ।
शिष्टस्त्वस्मिंस्त्वसंपूर्ण इत्थमेषां प्रवर्तनम् ॥
तैजसः सप्तधा भिन्नो बुद्धिगर्वखवायुभिः ।
वह्न्यम्भःक्षितिभिश्चैते कार्यकारणमूर्तयः ॥
एतेषां समवायात्तु विश्व आसीच्च तन्मयः ।
सोऽपि त्रैविध्यमन्विच्छन्विराट्पुरुष ईश्वरः ॥
बीजत्रयेण भिन्नः स्यात्सोमसूर्याग्निरूपिणा ।
स रुद्रोपेन्द्रपद्मोत्थगुणत्रयविभेदिना ॥
विश्वाख्ये पार्थिवे चाण्डे प्राणिनो भूतमूर्तयः ।
चतुष्प्रकारसम्भिन्ना नश्वरास्तु प्रजज्ञिरे ॥
जीवत्वमेषामपरं प्रतिभेदमियात्प्रभुः ।
कालप्रेरितयोर्वायुर्दम्पत्योः सङ्गमान्मिथः ॥
पौरुषीं प्राकृतीं शक्तिं शुक्लशोणितरूपिणीम् ।
वायुद्वयेन सहितं गर्भाशयमुपानयेत् ॥
अनादयश्च क्षेत्रज्ञा बहवः कर्मभाविताः ।
सन्ति कालार्थिनः शेषाः कश्चित्कालेन चोदितः ॥
गर्भाशयं स्वयं पित्रोर्मलाभ्यां सह संविशेत् ।
तत्र नित्यो भवेद्वायुः प्राणापानात्मकः स्वयम् ॥

अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये कार्य तथा कारण रूप है। इन सभी के समवाय से 'विश्व' तन्मय था। वह (विश्व) भी तीन प्रकार का हुआ—विराट, पुरुष तथा ईश्वर। पुन वह सोम, सूर्य तथा अग्नि-रूप बीजत्रय से विभक्त हुआ। उसने रुद्र, उपेन्द्र तथा पद्मोत्थ गुण-त्रय-भेद से विश्व नामक पार्थिव ब्रह्माण्ड मे चार प्रकार के शरीरो (जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज) से युक्त नश्वर पचभौतिक शरीरधारी प्राणियो को उत्पन्न किया। प्रभु ने इनमे जीवन एक-दूसरे से भिन्न किया है। काल से प्रेरित वायु-दम्पति (स्त्री-पुरुष) के परस्पर सम्बन्ध से शुक्ल (शुक्र) और शोणित-रूप—पौरुषी और प्राकृती शक्ति को दो वायु (प्राण) के साथ गर्भाशय मे ले जाया जाता है। क्षेत्रज्ञ (जीव) अनादि हैं, उनमे से बहुत से कर्मों से भावित होते हैं और शेष काल के आधीन होते हैं। कोई काल से प्रेरित होकर स्वय माता-पिता के मल के साथ गर्भाशय मे प्रविष्ट हो जाता है। उनमे प्राण और अपान-रूप वायु नित्य होता है। इस कारणार्थ से युक्त गुण-भूत

गुणभूतात्मके बीजे कारणार्थसमन्विते ।
सर्वव्याप्ता पराशक्तिरस्मिन् क्षेत्रज्ञतामियात् ॥

११ द्वाभ्यां त्रयाणां व्यक्तिः स्यात्त्रिभ्यो भवति पञ्चकम् ।
पञ्चभ्यः पञ्चकानान्तु चतुष्कं प्रतिपद्यते ॥
शुक्लार्तवौ द्वयं तत्र त्रितयन्तु गुणत्रयम् ।
भूतानि श्रवणादीनि शब्दवागादिपञ्चकम् ॥
भाषणादीनि वाक्यादिचतुष्टयमुदाहृतम् ।
तत्संशयप्रमातृत्वनिश्चयानुभवार्थकृत् ॥
ईदृग्विलक्षणो जन्तुः जरायुग्रस्तदेहवान् ।
कालपाकेन पूर्णाङ्गो जायतेऽयमवाङ्मुखः ॥

१२ षण्णवत्यङ्गुलायामं सर्वेषाञ्च शरीरिणाम् ।
शरीरं तस्य मध्यः स्यादाधारः कन्दसंज्ञितः ॥
वलयत्रितयाकारः सोमसूर्याग्निमण्डलैः ।
वह्नेः शिखा तस्य मध्ये नीपान्तःकेसराकृतिः ॥
परा प्रकृतिरेषा स्यादम्बिकेत्यपरे विदुः ।

बीज मे सर्वव्याप्त रहने वाली (सर्वव्यापिका) पराशक्ति 'क्षेत्रज्ञता' को प्राप्त होती है।

(पिण्डोत्पत्ति)

११ दो से तीन की अभिव्यक्ति होती है, तीन से पचक होता है। पाँच से पचको का चतुष्क प्रतिपादित होता है। वहाँ शुक्ल तथा आर्तव (वीर्य और रज) से दो, तीन गुणो से तीन, पच महाभूत, श्रवणादि—पच ज्ञानेन्द्रिय, शब्दादि पचतन्मात्रा, वागादि—पच कर्मेन्द्रिय से पचक, भाषणादि, वाक्यादि चतुष्टय, कहा जाता है। उनके संशय, प्रमातृत्व, निश्चय तथा अनुभव अर्थ वाला इस प्रकार का विलक्षण प्राणी जरायु से ग्रसित शरीर वाला, काल की परिपक्वता से पूर्ण अग वाला नीचे मुख किये जन्म लेता है।

(जरायुज-शरीर-वर्णन)

१२ सभी शरीरधारियो का शरीर ९६ अगुल-परिमाण वाला होता है, उसका मध्य-भाग (कटि-भाग) आधार होता है, जो 'कन्द' कहलाता है। चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि मण्डलो से त्रिवलि आकार होता है। उसके मध्य मे अग्नि की शिखा होती है, जो कि कदम्ब-पुष्प के अन्तर्गत पराग जैसी होती है। यह परा-प्रकृति होती है, दूसरे लोग इसे 'अम्बिका' कहते हैं।

१३ बहिस्तिर्यक्चरन्वायुः शरीरान्तः शिवाज्ञया ॥
प्राणादिभेदात्पञ्चात्मा शरीरं व्याप्य तिष्ठति ।
१४ येनप्राणिति सर्वश्च स प्राणो मूर्धनि स्थितः ॥
उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिश्वासान्तःप्रवेशकृत् ॥
१५ उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिप्रदः ॥
१६ व्यानो बहिः स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ।
गत्यवक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकृत् ॥
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन्प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ।
१७ समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वदा ॥
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति ।

(पंच-वायु)

१३ शिव की आज्ञा से शरीर के अन्दर रहने वाली वायु बाहर तिरछी सचरण करती हुई प्राणादि के भेद से पच-रूपा होकर शरीर मे व्याप्त होकर रहती हे।

(प्राण-वायु)

१४ जिसके (नाम से) सभी 'प्राणी' कहलाते है, वह 'प्राण' वायु सिर मे रहती है। यह छाती और कण्ठ मे सचरण करती है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय तथा चित्त (मन) को धारण करती है। थूकना, छीकना (खासना), उद्गार, (डकार लेना), निश्वास तथा (श्वास का) अन्दर प्रवेश करना[१६] (अन्दर ले जाना) आदि इसके कर्म होते है।

(उदान-वायु)

१५ उदान-वायु का स्थान उर (छाती) है। यह नासिका, नाभि तथा कण्ठ मे सचरण करती है। वाक्-प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण तथा स्मृति को प्रदान करती हैं।

(व्यान-वायु)

१६ व्यान-वायु बाहर स्थित[१७] रहती है, समस्त शरीर मे सचरण करती हैं, अति-वेग वाली होती है। गति (चलना), अवक्षेपण (अग को नीचे ले जाना), उत्क्षेप (अग को ऊपर ले जाना), निमेष (आँख को बन्द करना) तथा उन्मे-षण (आँख को खोलना) आदि—इसके कर्म होते हैं। प्राय शरीरधारियो की सभी क्रियाएँ इसी के अधीन होकर होती है।

(समान-वायु)

१७ समान-वायु पाचक अग्नि के समीप रहने वाली है, तथा यह सर्वदा कोष्ठ मे सचरण करती है। यह अन्न को ग्रहण करती है, पचाती है, विरेचन—सार और किट्ट मे भेद करती है, (किट्ट भाग को मल-मूत्र के रूप मे) नीचे प्रवृत्त करती है।

१८ अपानोऽपानगःश्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः ॥
शुक्लार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रामणक्रियः ।

१९ दश जीवनधामानि शिरोरसनबन्धनम् ॥
कण्ठोष्ठहृदयं नाभिः बस्तिः शुक्लो गुदौजसी ।

२० दश स्थूलशिरा हृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः ॥
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्त शतान्यासां भवन्ति तु ॥
सिराजालधरा नाम तिस्रश्चाभ्यन्तराश्रयाः ।
इडा च पिङ्गला चेति सुषुम्ना चेति नामतः ॥
सुषुम्ना मध्यमा नाडी शिखां वह्नेः समाश्रिता ।
शिखा प्राणेन संसृष्टा नादाख्यां लभते स्फुटम् ॥
सुषुम्नावर्त्मनैवोर्ध्वं याति व्योमाम्बुजावधि ।
योगिनां नादरूपेण स्वानुभूतिविधायिनी ॥

(अपान-वायु)

१८ अपान-वायु अपान-स्थान (गुदा) मे रहती है, और यह श्रोणि, बस्ति, मेढ्र तथा उरुगोचर होती है। इसकी शुक्ल (शुक्र), आर्तव, मल, मूत्र तथा गर्भ-निकालना (निष्क्रामण) क्रियाएँ होती हैं।[१८]

(स्थान)

१९ जीवन के दस स्थान होते हैं—शिरोबन्धन, रसना—जीभ के बन्धन, कण्ठ, ओष्ठ, हृदय, नाभि, वस्ति, शुक्ल (शुक्र), गुदा तथा ओज।[१९]

(नाडियां)

२० हृदय मे स्थित दस स्थूल नाडिया हैं। वे सभी (नाडियाँ, सम्पूर्ण शरीर मे सब ओर रसात्मक (रस-रूप) ओज[२०] को ले जाती हैं। उस (ओज) से शरीर की सर्वचेष्टाएँ—कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार—सम्पन्न होती है। इन (नाडियो) का विभाग होता है, तदनन्तर ये (नाडियाँ) सात सौ हो जाती हैं। इनमे जालधरा नामक नाडी होती है तथा आभ्यन्तर के आश्रित इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाम से तीन प्रकार की नाडियाँ होती हैं।[२१] (सुषुम्ना नाडी गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गयी है। इसी स्थान (गुदा-स्थान) के निकट से सुषुम्ना के वाम भाग से इडा और सुषुम्ना के दक्षिण भाग से पिंगला—दोनो नासिका-पर्यन्त चली गयी है। अत (इडा तथा पिंगला के वाम-दक्षिण भाग मे रहने से) सुषुम्ना मध्यमा नाडी कहलाती है। यह अग्नि की शिखा के आश्रित रहती है। वह अग्नि-शिखा प्राण (वायु) के साथ मिलकर नाद[२२] नामक स्फुट की प्राप्ति होती है

इतरेषां कलारूपान् वर्णान्विसृजति क्रमात् ।
नादः श्रुतिसमुत्पत्तिः श्रुतिभ्यः स्वरसम्भवः ।।
नाडीभ्यः श्रुतिसम्भूतिर्नाडीनां स्थानमुच्यते ।
२१ **स्थानानि सर्ववर्णानां सप्त व्यक्तिकराणि तु ।।**
कण्ठताल्वोष्ठमूर्धानो दन्ताश्चेति पृथक्पृथक् ।
एकं स्यात्कण्ठतालुभ्यां कण्ठोष्ठाभ्यामथापरम् ।।
दन्तोष्ठजिह्वास्थानानां सम्भवाः स्युः पृथक्पृथक् ।
चतस्रो जत्रुबन्धिन्यो नाड्यः कण्ठमुपाश्रिताः ।।
तालुमूलस्य बन्धिन्यस्तिस्रस्तत्रैव च स्थिताः ।
ओष्ठयोरुभयोर्नाड्यौ बन्धिन्यौ द्वे व्यवस्थिते ।।
चतस्रो मूर्धबन्धिन्यो नाड्यो ब्रह्मपदाश्रयाः ।
नाड्यश्चतस्रस्तिष्ठन्ति दन्तानाबध्य सर्वतः ।।
कण्ठताल्वोरन्तरा स्युर्नाड्यस्तिस्रः सुसङ्गताः ।
कण्ठोष्ठयोर्द्वे बन्धिन्यौ नाड्यौ तत्रैव तिष्ठतः ।।
एवं द्वाविंशतिर्नाड्यो मध्यनाड्यां हृदि स्थिताः ।
युगपन्मरुदाहत्या नादस्तासु प्रवेक्ष्यति ।।

(वह नाद) सुषुम्ना के मार्ग से आकाश-कमल (सहस्रार का शून्य चक्र) की ओर ऊपर को जाता है। योगियो की नाद-रूप से स्वानुभूति जानी जाती है। अन्यो का (नाद) क्रमश कला-रूप[२३] वर्णो[२४] (शब्दो) को उत्पन्न करता है। नाद श्रुतियो[२५] को उत्पन्न करता है। श्रुतियो से स्वर[२६] उत्पन्न होते है। नाडियो से श्रुतियाँ उत्पन्न होती है। नाडियो का स्थान कहा जाता है।

(वर्ण-स्थान)

२१ सभी वर्णो को व्यक्त करने वाले सात स्थान होते है—कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्धा, दन्त—ये अलग-अलग होते है, तथा एक कण्ठ और तालु का युग्म स्वरूप होता है, दूसरा कण्ठ और ओष्ठ का युग्म स्वरूप होता है। (इस प्रकार ये सात—सभी वर्णो के स्थान होते है।) दन्त, ओष्ठ तथा जिह्वा स्थानो की उत्पत्ति अलग-अलग होती है। चार प्रकार की जत्रुबन्धिनी (हँसुली को बाँधने वाली) नाडियाँ कण्ठ के आश्रित होती हैं। तालु-मूल को बाँधने वाली तीन प्रकार की नाडियाँ वही (तालु) मे ही स्थित रहती है। दोनों ओष्ठो को बाँधने वाली दोनो नाडियाँ दो प्रकार से व्यवस्थित होती है। चार प्रकार की मूर्धा—बन्धिनी नाडियाँ ब्रह्म-पद (सहस्रार-चक्र) के आश्रित होती है। चार प्रकार की नाडियाँ सर्वत दाँतो को बाँधकर रहती हैं। सुसगत (अच्छी तरह मिली हुई) तीन प्रकार की नाडियाँ कण्ठ और तालु के बीच मे

त्रुटिकालमिताः स्युस्तु श्रुतयः श्रुतिगोचराः ।
यदूर्ध्वं हृदयग्रन्थेः कपालफलकादधः ॥
प्राणाश्चरन्ति तत्रैता व्यज्यन्ते श्रुतयः पृथक् ।
व्यक्तिस्थानेषु वर्णानां स्वसंज्ञा भवन्ति ताः ॥

२२ कण्ठे सज्जति यो नादः स षड्जः स्याच्चतुश्श्रुतिः ।
ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तालुमूले तस्य त्रिसम्भवात् ॥

२३ शब्दो गौस्तां बिभ्रदोष्ठे गान्धारो द्विश्रुतिर्भवेत ।
मूर्धमध्यस्थितो नादो मध्यमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ॥

२४ पञ्चभिर्जायते दन्ततालुकण्ठोष्ठमूर्धभिः ।
चतुश्श्रुतिः पञ्चमः स्याद्दन्तपङ्क्तिसमाश्रयः ॥

२५ कण्ठतालुधृतो नादो धैवतस्त्रिश्रुतिर्भवेत् ।
नादो निषण्णः कण्ठोष्ठे निषादो द्विश्रुतिर्भवेत् ॥

रहती है। कण्ठ तथा ओष्ठ को बाँधने वाली दो प्रकार की नाडियाँ वही (कण्ठ और ओष्ठ मे) रहती है। इस प्रकार मध्य-नाडी मे बाईस प्रकार की नाडियाँ हृदय मे स्थित रहती हैं। उनमे (अर्थात् बाईस प्रकार की नाडियो मे) एक साथ वायु से आहत नाद प्रवेश करता है। श्रुतिगोचर श्रुतियाँ त्रुटि-काल-परिमाण वाली होती है। जहाँ हृदय-ग्रन्थि के ऊपर, कपालफलक के नीचे प्राण-वायु सचरण करती हे, वहाँ ये श्रुतियाँ पृथक् व्यक्त होती हैं। व्यक्त स्थानो मे वर्णो की वे स्वर-सज्ञा होती है।

(सप्त-स्वर)

२२ जो नाद कण्ठ मे सचरण करता है, वह 'षड्ज'[२७] होता है और (षड्ज) चतु-श्रुति होता है।
'ऋषभ'[२८] त्रिश्रुति होता है, तालु-मूल मे उसकी तीन (नाडियो) से उत्पत्ति होती है।

२३ जो ओष्ठ पर 'गो' शब्द को धारण करता है, उसे 'गान्धार'[२९] कहते है, यह द्विश्रुति होता है।
जो नाद 'मूर्धा' के मध्य मे स्थित रहता है, वह 'मध्यम'[३०] कहलाता है, वह चतु.श्रुति होता है।

२४ जो (नाद) दन्त, तालु, कण्ठ, ओष्ठ तथा मूर्धा से उत्पन्न होता है, वह 'पचम'[३१] होता है तथा यह चतुश्रुति होता है और यह दन्त-पक्ति के आश्रित रहता है।

२५ जो नाद कण्ठ तथा तालु पर धारण किया जाता है, यह 'धैवत'[३२] कहलाता है, यह 'त्रिश्रुति' होता है।
जो नाद कण्ठ तथा ओष्ठ पर रखा जाता है, वह 'निषाद'[३३] कहलाता है, यह द्विश्रुति होता है।

२६ स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहृतेः ।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तन्नामपुरस्कृताः ॥

२७ अन्ये धातुभ्य उत्पन्नाः स्वरा इत्येव जानते ।
धातवः सप्त भूतानामन्तः सप्ताग्नयः स्थिताः ॥
केचिदग्नय इत्येवं केचिदूष्मेति मन्वते ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः ॥

२८ धमन्यः स्युश्चतुर्विंशदरवन्नाभिमाश्रिताः ।
शरीरमनुगृह्णन्ति ताः सर्वा ह्यत्र सर्वतः ॥
तासूर्ध्वमेका मूर्धानमेकाऽधःकोष्ठमश्रिता ।
ओजांसि सप्तधातूनां वर्धयन्त्यन्तरा स्थिता ॥

२९ उरस्योधातुरन्योऽपीत्येके प्राहुर्हृदाश्रयः ।
आयुर्वेदे तत्स्वरूपं त्रिप्रकारमुदाहृतम् ॥

३० चतस्रः शुक्लवर्धन्यस्तास्तु कन्दसमाश्रयाः ।
तिस्रो धमन्यो वर्धन्यो मज्जाया नाभिमाश्रिताः ॥
अस्थीनि वर्धयन्त्यौ द्वे धमन्यौ हृदयं श्रिते ।

---

२६ वायु से आहत उन-उन स्थानो पर स्वर्यमाण होने से वे (म्वर) उस-उस नाम से पुरस्कृत होकर 'स्वर-सज्ञा' को प्राप्त होते है।

२७ अन्य (कोई) ऐसा मानते है कि स्वर धातुओ से उत्पन्न होते है।[34] धातुये[35] सात होती हैं, प्राणियो के अन्दर सात अग्नियाँ[36] रहती हैं। कोई अग्नियाँ कहते हैं, कोई इन्ही को 'ऊष्मा' मानते हैं। त्वचा[37], रक्त, मास, चर्बी (मेदा) हड्डी (अस्थि), मज्जा तथा शुक्ल (शुक्र)—ये सात धातुएँ हैं।[38]

२८ पहिये के अरो की तरह नाभि[39] के आश्रित रहने वाली २४ धमनियाँ होती हैं। वे सभी यहाँ शरीर को चारो ओर से घेरे रहती हैं।[40] उनमे से एक ऊर्ध्वगता मूर्धा के आश्रित रहती है, एक अधोगता कोष्ठ के आश्रित रहती है। ये सभी धमनियाँ बीच मे स्थित होकर सप्त-धातुओ के ओज की वृद्धि करती हैं।

२९ किन्ही ने एक और उरस्य[41] धातु को भी कहा है, जो कि हृदय के आश्रित रहती है। आयुर्वेद मे उसका स्वरूप तीन प्रकार का कहा जाता है।

३० चार प्रकार की धमनियाँ शुक्ल (शुक्र) की वृद्धि करती हैं, वे धमनियाँ कन्द के आश्रित होती हैं। तीन प्रकार की धमानियाँ मज्जा की वृद्धि करती है जो कि नाभि के आश्रित रहती हैं। हृदय के आश्रित रहने वाली दो प्रकार की धमनियाँ हड्डियो की वृद्धि करती हैं। कण्ठ के आश्रित चार प्रकार की धमनियाँ चर्बी की वृद्धि करती हैं। तालु-मूल-गता चार प्रकार की धमनियाँ

कण्ठे चतस्रो वर्धन्यो धमन्यो मेदस श्रिताः ॥
चतस्रो मांसवर्धन्यो धमन्यस्तालुमूलगाः ।
मूर्ध्नि तिस्रोऽस्रुवर्धन्यो धमन्योऽधोमुखाश्रिताः ॥
भ्रुवोर्मध्ये धमन्यौ द्वे त्वग्वर्धन्यौ व्यवस्थिते ।
दहराकाशमध्यस्थसहस्रदलशोभिते ॥
विस्फुरत्केसराश्लिष्टकर्णिके पङ्कजोदरे ।
निवातदीपवत्स्थायी सोमसूर्याग्निमण्डले ॥

३१ आत्मा निस्सङ्ग एवैकः साक्षी सर्वस्य कर्मणः ।
तस्य स्वामीति सङ्कल्पो मन आख्यां लभेत सः ॥
विषयेभ्यः प्रयत्नेन मन आत्माऽधितिष्ठति ।
मनोऽधितिष्ठति प्राणपूर्वान्पञ्चसमीरणान् ॥
ते धातून्व्याप्य धमनीमुखेभ्यस्तत्र सम्भवान् ।
अग्नीन्प्रज्वलयन्त्येव तेभ्यो नादः प्रवर्तते ॥
धमनीनामनेकत्वाद्ध्वनयः स्युरनेकधा ।
ध्वनयः श्रुतिसंज्ञन्तु लभन्ते तत्र तत्र च ॥
श्रुतिसङ्ख्याऽपि तत्रत्यधमनीसङ्ख्यया भवेत् ।

मास की वृद्धि करती है। मूर्धा के आश्रित अधोमुखी तीन प्रकार की धमनियाँ रक्त की वृद्धि करती है। दोनो भ्रुकुटियो के बीच मे रहने वाली दो धमनियाँ 'त्वचा' की वृद्धि करती है। ये दोनो धमनियाँ बहुत पतली होती है, आकाश (शून्य-चक्र) के मध्य मे रहती है, सहस्रार-चक्र के सहस्रदल से सुशोभित है तथा कमलोदर मे रहने वाले केसर (पराग) से मिले हुए कणो से कम्पित है। चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि-मण्डल वाली ये दोनो धमनियाँ निष्कम्पित शिखा वाले दीपक की तरह स्थिर रहने वाली है।

३१ सभी कर्मो का एकमात्र निसग आत्मा ही साक्षी होता है, उसका स्वामी सकल्प होता है, जो 'मन' कहलाता है। विषयो से, प्रयत्न से, मन आत्मा के ऊपर रहता है। मन प्राणादि पच वायुओ के ऊपर रहता है। वे (प्राणादि पच-वायु) सभी धातुओ को व्याप्त कर धमनियो द्वारा वहाँ सम्भावित अग्नियो को प्रज्वलित करती हैं, तब अग्नियो से नाद (शब्द) प्रवृत्त होता है। धमनियो के अनेक होने से ध्वनियाँ अनेक होती हैं। (अग्नियो से प्रवृत्त होने वाली वे) ध्वनियाँ वहाँ-वहाँ 'श्रुति' सज्ञा को प्राप्त होती हैं। धमनियो की सख्या से ही श्रुतियों की सख्या भी निर्धारित होती है। उन-उन स्थानो के

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचयाविति ॥
आख्यां लभन्ते श्रुतयस्तत्तत्स्थानाश्रयाः क्रमात् ।
३२ शुक्लधात्वग्निजो नादः स्वरः षड्जश्चतुःश्रुतिः ॥
मज्जाधात्वग्निजो नादो ऋषभस्त्रिश्रुतिस्वरः ।
३३ अस्थिधात्वग्निजो नादो गान्धारो द्विश्रुतिस्वरः ॥
मेदोधात्वग्निजो नादो मध्यमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ।
३४ मांसधात्वग्निजो नादः पञ्चमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ॥
रक्तधात्वग्निजो नादः त्रिश्रुतिर्धैवतस्वरः ।
३५ त्वग्धातुवह्निजो नादो निषादो द्विश्रुतिस्वरः ॥
३६ आधारगः शुक्रधातुर्मज्जाधातुस्तु नाभिगः ।
हृदाश्रयोऽस्थिधातुः स्यान्मेदोधातुस्तु कण्ठगः ॥
मांसधातुस्तालुमूले रक्तधातुस्तु मूर्धगः ।
भ्रूमध्यगः स्यात्त्वग्धातुः क्रमादेवं स्थिताः स्वराः ॥

आश्रित वे श्रुतियाँ क्रम से उदात्त[42], अनुदात्त[43], स्वरित[44] तथा प्रचय[45] नाम वाली होती है।

३२ शुक्ल (शुक्र) धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'षड्ज' स्वर कहलाता है, वह चतु श्रुति होता है।
मज्जा-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'ऋषभ' कहलाता है, वह त्रिश्रुति होता है।

३३ हड्डी धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'गान्धार' स्वर कहलाता है, वह द्विश्रुति होता है।
चर्बी-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'मध्यम' स्वर कहलाता है, वह चतु श्रुति होता है।

३४ मास-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'पचम' स्वर कहलाता है, वह चतु श्रुति होता है।
रक्त-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'धैवत' स्वर कहलाता है, वह त्रिश्रुति होता है।

३५ त्वचा-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'निषाद' स्वर कहलाता है, वह द्विश्रुति होता है।

३६ शुक्र धातु आधार (मूलाधार) गत होती है, मज्जाधातु नाभिगत होती है, अस्थि (हड्डी) धातु हृदय के आश्रित होती है, चर्बी धातु कण्ठगत होती है। मास-धातु तालु-मूल मे रहती है, रक्त-धातु मूर्धा के आश्रित होती है। त्वचा धातु दोनो भ्रकुटियो के मध्य मे रहती है। इसी क्रम से धातुओ के स्थानोः पर स्वरो की स्थिति रहती है अर्थात् धातुएँ जहाँ-जहाँ रहती है वही क्रमश स्वर रहते हैं।

३७ शुक्लस्यावरणं मज्जा तदावरणमस्थि च ।
अस्थ्नामावरणं भेदो मांसं तस्यावृतिर्भवेत् ।।
मांसावरणमस्रं स्यात्त्वक्चास्रावरणं भवेत् ।
तस्मात्त्वज्जः स्वरस्तारो मन्दः स्याच्छुक्लजः स्वरः ।
एवमुच्चैष्ट्वनीचैष्ट्वभावस्तेषां विलोक्यताम् ।
श्रुतीनां च स्वराणां च स्थितिरेषां स्वभावतः ।।
स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहृतेः ।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तत्षड्जादिनामभिः ।।

३८ ध्वनेर्विवक्षावशतो ग्रामभेदप्रकल्पना ।
विवक्षयैव रागाणां मूर्च्छना तानकल्पना ।।

३९ मध्यमस्वरतो नादो यो निर्वर्तितुमीहितः ।
स एव मध्यमग्रामः षड्जग्रामो यथास्थितः ।।

४० त्रिचतुश्श्रुतिकौ मध्यग्रामे पञ्चधैवतौ ।

४१ अन्त्यादिक्रमयोगेन व्यत्ययात्सप्त मूर्च्छनाः ।।

---

३७ शुक्ल (शुक्र) का आवरण मज्जा, मज्जा का आवरण अस्थि (हड्डियाँ), अस्थि का आवरण चर्बी, चर्बी का आवरण मास, मास का आवरण रक्त (खून) तथा रक्त का आवरण त्वचा होती है। अत त्वचा से उत्पन्न स्वर उच्च (तार) होता है, शुक्ल (शुक्र) से उत्पन्न स्वर मन्द (निम्न) होता है। इसी प्रकार उन (सभी धातुओ से उत्पन्न) स्वरो के उच्च तथा नीच (मन्द) इष्ट भावो को देखना चाहिए। इन सभी श्रुतियो और स्वरो की स्थिति स्वभावत रहती है। वायु से आहत उन-उन स्थानो पर स्वर्यमाण होने से वे (स्वर) उस-उस षड्जादि नाम से 'स्वर-सज्ञा' को प्राप्त होते है।

३८ ध्वनि की विवक्षा से 'ग्राम-भेद'[४६] की कल्पना की जाती है तथा रागो[४७] की विवक्षा से मूर्च्छना[४८] और तान[४९] की कल्पना की जाती है।

(ग्राम)

३९ जो नाद मध्यम स्वर से निवृत्त होता है, वह 'मध्यम' ग्राम कहा जाता है। इसी प्रकार 'षड्ज' ग्राम होता है—अर्थात् जो नाद षड्ज स्वर से निवृत्त होता है, वह 'षड्ज' ग्राम कहलाता है।

४० मध्यम ग्राम मे 'पचम' तीन श्रुति का रह जाता है और धैवत चतुश्रुतिक हो जाता है।

(मूर्च्छना)

४१ अन्त और आदि क्रम-योग से, इसके विपरीत (आदि और अन्त क्रम-योग) होने से सात स्वर 'मूर्च्छना' कहे जाते हैं।

४२ ग्रामयोरुभयोस्तानत्रये ताः सप्त सप्त च ।
तानत्रये द्वादशभिः स्वरैर्द्वादश मूर्च्छनाः ॥
गतागतीर्वितन्वन्ति तेन तास्तिर्यगायताः ।
श्रुतयो गानकालेऽत्र संयोगैक्यं भजन्ति ताः ॥

४३ स्मृतिव्यवसितारम्भस्पर्शभिन्नलयक्रमात् ।
षड्भिरङ्गैः सुसम्पन्नाः श्रुतयः परिकीर्तिताः ॥

४४ स्मृतिर्ध्वनेस्तारतम्यविमर्श इति कथ्यते ।
नाडीमुखेभ्यो नादस्य व्यक्तिर्व्यवसितं भवेत् ॥
श्रुत्यैक्यभावनौत्सुक्यमारम्भ इति कीर्तितः ।
स्पर्शस्तत्तद्ध्वनिस्पर्शो व्यक्तिस्थानेषु सप्तसु ॥
भिन्नो ध्वनेः प्रभेदः स्याच्चतुस्त्रिद्विप्रकारतः ।
श्रुतीनां लीयमानत्वं लयो नीचोच्चभावतः ॥

४५ तास्त्रिधा स्युः पुनर्भिन्नन्यूनाधिकविभागतः ।
भिन्ना द्विश्रुतिकास्तत्र न्यूनास्त्रिश्रुतिसिञ्ज्ञताः ॥
चतुःश्रुतीका अधिकाः स्वरांशा श्रुतयस्त्विमाः ।

---

४२ दोनो ग्रामो की तीन तानो मे वे मूर्च्छनाएँ सात-सात प्रकार की होने से चौदह प्रकार की होती हैं—अर्थात् मध्यम-ग्राम तथा षड्ज-ग्राम मे मूर्च्छनाएँ सात-सात प्रकार की होती है ।
तीन तानो मे बारह स्वरो से युक्त होने से 'द्वादश-स्वर-मूर्च्छना' कहलाती है । उससे वे मूर्च्छनाएँ तिरछी होकर गति और अवगति का वितरण करती है अर्थात् गति और अवगति को फैलाती है । यहाँ गान-काल मे वे श्रुतियाँ एकतानता को प्राप्त हो जाती हैं ।

(श्रुति)

४३ स्मृति, व्यवसित, आरम्भ, स्पर्श, भिन्न तथा लय क्रम से—छै अंगो से युक्त श्रुतिया ६ प्रकार की होती हैं ।

४४ ध्वनि के तारतम्य की भावना (विमर्श) को 'स्मृति' कहा जाता है । नाडियो द्वारा नाद (स्वर) की अभिव्यक्ति 'व्यवसित' कहलाती है । श्रुति की एक-भावना (एकतानता) की उत्सुकता 'आरम्भ' कही जाती है । सप्त स्वरो की अभिव्यक्ति के सात स्थानो पर उस-उस ध्वनि का स्पर्श 'स्पर्श' कहलाता है । चार, तीन तथा दो प्रकार से होने वाले ध्वनि के भेद को 'भिन्न' कहते हैं। उच्च तथा नीच भाव से होने वाली श्रुतियो की लयता को 'लय' कहते है ।

४५ पुन वे श्रुतियाँ भिन्न, न्यून तथा अधिक विभाग से तीन प्रकार की होती है। द्विश्रुति वाली 'भिन्न' श्रुति होती है । त्रिश्रुति 'न्यून' कहलाती है । चतुश्रुति वाली 'अधिक' कहलाती है ।
स्वराशा (स्वर से होने वाली) श्रुतियाँ ये है—

४६ स्वरितेनानुदात्तेन भिन्नसंज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥
उदात्ताच्चानुदात्ताच्च स्वरितान्न्यूनसंज्ञिताः ।
उदात्तानुदात्त (?) स्वरितप्रचयेनाधिकाः स्मृताः ॥

४७ यथाश्रुतिभवाः शुद्धरागा इति समीरिताः ।
भिन्नाधिकाः क्रमभवा गौडरागाः प्रकीर्तिताः ॥
अधिकन्यूनसंसृष्टिमया वेसरसंज्ञिताः ।
भिन्नन्यूनोपगमनाद्भिन्नरागा इति स्मृताः ॥
साधारणास्स्युर्व्यत्यस्तभिन्नन्यूनाधिकात्मकाः ।

४८ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचयावपि ॥
निहतं कम्पितञ्चैव तथाऽकम्पितमेव च ।
तानि स्वराणामङ्गानि सन्ति संज्ञान्तराण्यपि ॥

४९ आद्यन्तान्वयभेदेन न्यूनभिन्नाधिकेन च ।
मन्द्रमध्यमतारेण छायासङ्ख्याक्रमेण च ॥
उदात्तेनानुदात्तेन स्वरितप्रचयेन च ।
कम्पिताकम्पितेनैव स्वरेभ्यो रागसम्भवः ॥

५० आद्यन्तान्वयभेदस्तु मूर्च्छनैवेति कीर्त्यते ।

---

४६ स्वरित तथा अनुदात्त से युक्त 'भिन्न' श्रुति कहलाती है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित होने के कारण 'न्यून' कहलाती है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय से 'अधिक' कहलाती है।

(राग)

४७ यथाश्रुति (श्रुति के क्रम से) उत्पन्न राग[50] कहलाता है। भिन्न तथा अधिक (श्रुति) के क्रम से उत्पन्न राग 'गौडराग'[51] कहा जाता है। अधिक तथा न्यून (श्रुति) के मिश्रण से उत्पन्न राग 'वैसर'[52] राग कहा जाता है। भिन्न तथा न्यून (श्रुति) से युक्त राग 'भिन्न-राग'[53] कहा जाता है। परस्पर विरुद्ध भिन्न, न्यून तथा अधिक (श्रुति) से युक्त 'साधारण'[54] राग कहा जाता है।

(स्वरो से उत्पन्न राग)

४८ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, निहत, कम्पित तथा अकम्पित-नाम वाले स्वरों के अग हैं।

४९ आदि तथा अन्त के अन्वय-भेद से, न्यून, भिन्न तथा अधिकश्रुति-भेद से; मन्द्र, मध्यम तथा (उच्च) (तार) स्वर-भेद से, छाया तथा सख्या-क्रम से, उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा प्रचय से, कम्पित तथा अकम्पित स्वरो से 'राग' उत्पन्न होता है।

५० आदि तथा अन्त का अन्वय-भेद 'मूर्च्छना' ही कहलाती है। न्यून, भिन्न तथा अधिक को पहले कहा जा चुका है। मन्द्र, मध्य तथा उच्च (तारा)—ये

न्यूनभिन्नाधिकत्वन्तु पुरस्तादेव दर्शितम् ॥
मन्द्रमध्यमतारं तत्स्थानत्रयमितीरितम् ।
रागव्यक्तिकृतालापश्छायेति परिभाष्यते ॥
षाडवौडुवसम्पूर्णभेदः सङ्ख्येति कीर्त्यते ।
अत्रोदात्तादयः सप्त प्रसिद्धा इति नेरिताः ॥

५१ ग्रहांशस्तारमन्द्रौ च षाडबौडविते अपि ।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च न्यासोपन्यास एव च ॥
एतद्रागविभागार्थं दशकं जातिलक्षणम् ।
एतैः सप्तशतं रागाः सङ्ख्याता गीतकोविदैः ॥

५२ रागाः सम्पूर्णनामानः स्वरसप्तकसंयुताः ।
तानान्येकोनपञ्चाशत्कथ्यन्ते पूर्णनामसु ॥
द्विचत्वारिंशता तानैः भाषाः षड्भिः स्वरैर्भवेत् ।
पञ्चत्रिंशन्मितैस्तानैर्विभाषाः पञ्चभिः स्वरैः ॥
अष्टाविंशतिभिस्तानैरनुभाषा चतुस्स्वरैः ।
द्वादशारसमुत्पन्ना द्वादशस्वरपूरिताः ॥
तानाः चतुरशीतिस्तु तेऽपि स्युर्मध्यमादयः ।

तीन राग के स्थान कहे जाते है। राग को व्यक्त करने वाला आलाप 'छाया' कहा जाता है। षाडव, औडुव, सम्पूर्ण-भेद 'सख्या' कहा जाता है। उदात्तादि ये सात स्वर तो प्रसिद्ध ही है, अत यहाँ नही कहे है।

(जाति)

५१ ग्रह, अश, तार, मन्द्र, षाडव, औडवित, अल्पत्व, बहुत्व, न्यास तथा उपन्यास ये राग को विभक्त करने के लिए दस प्रकार के जाति-लक्षण''[55] है।[56] इन्ही (जाति-लक्षणो) से गीतकोविदो ने सात सौ राग गिनाये है।

५२ सप्त स्वरो से युक्त 'पूर्ण' नाम के राग कहलाते है। 'पूर्ण' रागो मे उनचास (४६) ताने कही जाती है। बयालीस (४२) तानो से 'भाषा' कही जाती है। (भाषा आलाप—प्रकार का वाचक है इसी प्रकार विभाषा और अनुभाषा शब्द भी आलाप प्रकारो के वाचक है) जो छै (६) स्वरो से युक्त होती है। पैंतीस (३५) मिलतानो से 'विभाषा' कही जाती है, जो पाँच स्वरो से युक्त होती है। अठाईस (२८) तानो से 'अनुभापा' कही जाती हे, जो चार (४) स्वरो से युक्त होती है। बारह आर से उत्पन्न तथा बारह स्वरो से पूरित ताने चौराहसी (८४) होती है, वे भी मध्यम आदि होती है।

५३ पदं यतिर्गतिः स्थानं लयः कालस्तथा त्रिधा ।।
सप्तविंशदलङ्कारा गमकाः सप्त चैव हि ।
द्वाविंशन्मार्गगमका द्वाविंशच्छ्रुतिगामिनः ।।
एतेषामेकतायोगो यथा गीतेऽवगम्यते ।
तथैव ते प्रयोक्तव्या गायकैर्गीतकोविदैः ।।

५४ तद्भवं तत्समं देशीत्येतत्स्यात्पदलक्षणम् ।
पदं स्वराधिकरणमर्थप्रत्ययकारि यत् ।

५५ तिस्रः स्युर्यतयो नाम्ना द्वन्द्वभिन्नसमा इति ।
तासां मार्गास्त्रयोऽपि स्युः चित्रवार्तिकदक्षिणाः ।।

५६ आद्यन्तयोश्च मध्ये च लयपाणिपदैः समा ।
वाद्यप्राधान्यभूयिष्ठा चित्रे ज्ञेया समा यतिः ।।

५७ क्वचिच्चैवावतिष्ठेत क्वचिच्चैव प्रधावति ।
वाद्यगेयात्मिका वृत्तौ भिन्ना स्रोतोवहा यतिः ।।

(गीत में पदादि के एकता-योग की आवश्यकता)

५३ पद, यति, गति, स्थान, लय, तीन प्रकार का काल, सत्ताईस (२७) अलकार, सात गमक, बाईस (२२) मार्गगमक, बाईस (२२) श्रुतिगामी—इन सभी की एकता का योग जैसे गीत मे जाना जाता है, वैसे ही उन सभी का गायक तथा गीतज्ञो द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए ।

(पद)

५४ तद्भव, तत्सम, और देशी—यह पद का लक्षण है । स्वर के आश्रित, अर्थ का ज्ञान कराने वाला 'पद' कहलाता है ।

(यति)

५५ द्वन्द्व, भिन्न तथा समा—नाम से यदि तीन प्रकार होती है । चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण—ये उन (यति) के मार्ग होते हैं ।

५६ आदि, मध्य एव अन्त में समान लय, पाणि एव पद से युक्त, वाद्य-प्रधान तथा चित्र मार्ग मे होने वाली यति 'समा' समझनी चाहिए ।

५७ वाद्य, गेय-रूपा, वार्त्तिक मार्ग मे होने वाली तथा स्रोत कही अर्थात् जलवृद्धि से पूर्व विलम्बित गति से चलता है, परन्तु कही अर्थात् जल वृद्धि होने पर उसका वेग बढ जाता है, इसी प्रकार आदि मे बिलम्बित लय, मध्य मे मध्य लय एव अन्त मे द्रुत लय वाली स्रोतोवहा यति 'भिन्ना' नाम से जानी जाती है ।

५८ अव्यक्तवर्णा द्वन्द्वाख्या गुरुभिर्लघुभिर्युता ।
लम्बिता गेयभूयिष्ठा गोपुच्छा दक्षिणे यतिः ॥

५९ सिंहो मृगस्तथा भृङ्गो रुथश्शकट एव च ।
एतेषां गतयः पञ्च गीते गीतिविदीरिताः ।

६० स्थानमुक्तं लयस्त्रेधा द्रुतं मध्यं विलम्बितम् ।

६१ कालस्त्रिधा द्विमात्रश्च चतुर्मात्रोऽष्टमात्रिकः ॥
चित्रे च वार्तिके मार्गे दक्षिणे च नियम्यते ।

६२ प्रसन्नं मधुर रक्तं गम्भीरं विशदं लघु ॥
स्पष्टमुल्लासि ललितं गर्वोजस्वि समं मृदु ।
प्रौढं प्ररूढमात्तं च विदग्धं शुद्धमुद्धतम् ॥
विर्दभितं पल्लवितं नवं कोरकितं कलम् ।
निरपेक्षं निराकाङ्क्षं निरालम्बनमेव च ॥
सप्तविंशदलङ्कारा ह्येत एव गुणाः स्मृताः ।
द्वाभ्यां त्रिभिः चतुर्भिः स्यादलङ्कारोऽथ पञ्चभिः ॥

---

५८ अव्यक्त वर्ण वाली, गुरु तथा लघु से युक्त, लम्बी, गेय-प्रधान, दक्षिण मार्ग मे होने वाली तथा गौ की पूछ अन्त मे विस्तृत होती है, फलत आदि मे द्रुत, मध्य मे मध्य एव अन्त मे बिलम्बित लय वाली गौपुच्छा यति 'द्वन्द्वा' नाम से जानी जाती है।[५७]

(गति)

५९ गीत मे सिंह, मृग, भ्रमर, रथ तथा गाडी (शकट)—इनकी गति के समान पाँच गतियाँ गीतिज्ञो द्वारा कही जाती हैं।

(स्थान तथा लय)

६० स्थान को कहा जा चुका है, 'लय' तीन प्रकार की होती है—द्रुत, मध्य तथा बिलम्बित।

(काल)

६१ काल तीन प्रकार का होता है—द्विमात्रिक, चतु मात्रिक तथा अष्टमात्रिक। और यह काल चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग मे नियमित होता है।

अलंकार (२७)

६२ प्रसन्न, मधुर, रक्त, गम्भीर, विशद (स्वच्छ), लघु, स्पष्ट, उल्लासि, ललित, गुरु, ओजस्वि, सम, मृदु, प्रौढ, प्ररूढ, आत्त, विदग्ध, शुद्ध, उद्धत, विर्दभित, पल्लवित, नव (नवीन), कोरकित, कल, निरपेक्ष, निराकाङ्क्ष, निरालम्बन —ये (२७) अलंकार हैं, ये ही गुण कहे जाते हैं। दो, तीन, चार या पाँच के

समुच्चिलैस्त एव स्युर्गुणा गीतेः पृथक्पृथक् ।
अलङ्काराः प्रयुज्यन्ते छायालापेषु धातुषु ।।

६३ षट्त्रिंशत्स्युरलङ्कारा वर्णेषु भरतोदिताः ।
वर्णाश्रयानलङ्कारान्वदन्त्यन्ये त्रयोदश ।।

६४ कम्पितः स्फुरितो लीनः त्रिभिन्नस्त्रिरिपुस्तथा ।
आन्दोलितश्चाहतश्च गमकाः सप्त कीर्तिताः ।।
स्वरूपं कथ्यते नैषां व्याख्यातत्वादनेकशः ।

६५ निस्वानितं च स्फुरितं विततं विधुतं तथा ।।
भ्रामितं दीर्घललितमुरस्तारं शिरोगुरु ।
उल्लोलिताक्षिप्तके च लीलोत्सारितकुञ्चिते ।।
प्रतिश्रुतमुरःक्षिप्तं कण्ठाक्षिप्तकमेव च ।
समाक्षिप्तं कोमलञ्च मूर्धाक्षिप्तं विकृष्टकम् ।।
उद्वर्तितं परावृत्तमपवर्तितमेव च ।
एतानि मार्गगमका इति विद्वद्भिरीरिताः ।।
मूर्च्छनाक्रमतस्तत्तत्स्वरश्रुतिसमाश्रयाः ।

६६ मानपञ्चकसंयुक्तं तुीतिपञ्चकसंयुतम् ।।
चतुरायामसम्भिन्नं छन्दोभिश्चाष्टभिर्युतम् ।

समुच्चय से अलकार होते है और वे ही (अलकार) पृथक्-पृथक् गीति के गुण हो जाते है। छाया-आलाप धातुओ मे अलकारो का प्रयोग किया जाता है

६३ आचार्य भरत ने वर्णो मे (३६) अलकार कहे है। कोई (अन्य) वर्णाश्रित अलकारो को (१३) बताते हैं। (गमक (७))

६४ कम्पित, स्फुरित, लीन, तीन प्रकार के भिन्न, तीन प्रकार के रिपु, आन्दोलित तथा आहत—ये सात गमक कहे जाते हैं। अनेक प्रकार से व्याख्या होने से उनके स्वरूप को नही कहते हैं।

मार्ग गमक (२२)

६५ निस्वानित, स्फुरित, वितत, विद्युत, भ्रामित, दीर्घ-ललित, उरस्तार, शिरोगुरु, उल्लोलित, आक्षिप्तक, लीलोत्सारित, कुचित, प्रतिश्रुत, उर.क्षिप्त, कण्ठाक्षिप्तक, समाक्षिप्त, कोमल, मूर्धाक्षिप्त, विकृष्टक, उद्वर्तित, परावृत्त तथा अपवर्तित—ये बाईस (२२) मार्गगमक विद्वानो द्वारा कहे जाते हैं। ये (मार्गगमक) मूर्च्छना क्रम से उन उन स्वर, श्रुतियो के आश्रित होते हैं।

(गीत)

६६ पाँच प्रकार के मान से युक्त, पाँच प्रकार की रीति से युक्त, चतुरायाम से

ध्वनिशारीरसम्मिश्रं विचित्रस्वरवर्तनम् ॥
तत्तच्छायापरिष्कारललितं गीतमुच्यते ।

६७ समानमुच्छ्रितं लम्बं भिन्नं चैवापकृष्टकम् ॥
मानपञ्चकमेतत्तु कथितं गीतकोविदैः ।

६८ समानं तद्भवेत्स्थानं ध्वनिशारीरसाम्यकृत् ॥
तेषां कस्यचिदुत्सृष्टिरुच्छ्रितं परिकीर्तितम् ।
स्थाने स्थाने लम्बते चेद्ध्वनिस्तल्लम्बमीरितम् ॥
ध्वनिशारीरसंश्लेषो यस्तद्भिन्नमितीर्यते ।
यत्रापकृष्यते गीते ध्वनिस्तदपकृष्टकम् ॥

६९ रीतयो गौडपाञ्चाललाटवैदर्भमिश्रजाः ।

७० आगतिश्च गतिश्चापि व्यावृत्तिर्व्याकुलीनता ॥
एतद्गीतप्रयोगेषु चतुरायामसंज्ञिताः ।

७१ अतलं तरलं चैवमुल्लोलमलगं तथा ॥
उग्राणं लिप्सितं चैव घट्टितञ्च विघट्टितम् ।

युक्त, आठ प्रकार के छन्दो से युक्त, ध्वनि-शरीर से मिश्रित, विचित्र स्वरो वाला, उस-उस छाया के परिष्कार से ललित—'गीत' कहा जाता है ।

(मान पचक)

६७ समान, उच्छ्रित, लम्ब, भिन्न तथा अपकृष्टक—ये पाच 'मान' गीतिज्ञो द्वारा कहे जाते हैं ।

(समानादि)

६८ जो स्थान ध्वनि-शरीर की समानता करता है वह 'समान' होता है । उनमे से किसी की उत्सृष्टि अर्थात् किसी को छोड देना 'उच्छ्रित' कहा जाता है । स्थान-स्थान पर जब ध्वनि शब्द करती है या लटकने लगती है तो 'लम्ब' कहा जाता है । ध्वनि-शरीर का जो सश्लेषण (मिलना) है, वह 'भिन्न' कहा जाता है । जहाँ गीत मे ध्वनि को खीचा जाता है, वह 'अपकृष्टक' कहलाता है ।

(रीति पंचक)

६९ गौडी, पाचाली, लाटी, वैदर्भी तथा मिश्रिता—ये पाँच रीतियाँ है ।

(चतुरायाम)

७० आगति, गति, व्यावृत्ति तथा व्याकुलीनता—इन (चार) की गीत के प्रयोगो मे 'चतुरायाम' सज्ञा दी गई है ।

छन्द (८)

७१ अतल, तरल, उल्लोल, अलग, उग्राण, लिप्सित, घट्टित तथा विघट्टित—

एतानि रागगीतेषु छन्दांसीति च मन्वते ।।
छन्दोगतिविशेषोऽत्र न मात्रावर्णकल्पितः ।

७२ धातुमातृषु यो रागः तालमानविनाकृतः ।।
तत्संसृष्टवदाभाति गीते तदतलं विदुः ।

७३ तरलीक्रियते यत्र तालादिस्तारतम्यतः ।।
तरलं तत्तदुल्लोलमुल्लोलो यत्र यो ध्वनिः ।

७४ रागस्थानेष्वलग्नो यो लयतालवशानुगः ।।
तदाश्रया गतिर्गीतेरलगं कथ्यते बुधैः ।

७५ उग्राणं तद्यदुग्रेण रागतालप्रकल्पनम् ।।
रागान्तरं लिप्सते यद्रागस्तल्लिप्सितं विदुः ।

७६ रागान्तरेण व्याविद्धं गीतं घट्टितमुच्यते ।।
विघट्टितं विरुद्धेत तालेन स्याद्विघट्टितम् ।

७७ भिन्नमुच्चं तथावर्तं कोलं चाकुलमेव च ।।
मुदितञ्च द्रुतं चैव दोषाः सप्तैव गीतिजाः ।

ये (आठ) राग-गीतो मे 'छन्द' माने जाते हैं। यहाँ छन्द एक विशेष गति को कहा जाता है, मात्रा या वर्ण से नही जाना जाता।

(अतल)

७२ धातु-मात्राओ मे जो राग बिना ताल, मान के किया जाता है, और गीत मे वह मिला हुआ-सा प्रतीत होता है तो उसे 'अतल' जानो।

(तरल)

७३ जहाँ तालादि के तारतम्य से (राग को) तरल बना दिया जाता है, उसे 'तरल' कहा जाता है।

(उल्लोल)

जहाँ जो ध्वनि चचल (उल्लोल) हो जाती है, उसे 'उल्लोल' कहते है।

(अलग)

७४ जो (राग) लय, ताल के कारण राग के स्थानो पर लग्न नही होता है, उस (राग) के आश्रित गीति की गति विद्वानो द्वारा 'अलग' कही जाती है।

(उग्राण)

७५ जो राग, ताल उग्रता से कहा जाता है, वह 'उग्राण' कहलाता है।

(लिप्सित)

जो राग दूसरे राग मे लिप्त हो जाता है, उसे 'लिप्सित' जानते हैं।

(घट्टित)

७६ दूसरे रागो से आविद्ध (बधा हुआ) गीत 'घट्टित' कहा जाता है।

(विघट्टित)

विरुद्ध ताल से विघट्टित गीत 'विघट्टित' कहा जाता है।

(गीति-दोष)

७७ भिन्न, उच्च, आवर्त, कील, आकुल, मुदित तथा द्रुत—ये सात गीति से उत्पन्न दोष कहे जाते हैं।

७८ ईदृक्स्वरूपं भोजाद्यैः स्वप्रबन्धेषु नोदितम् ॥
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेतत्प्रकाशितम् ।
इतःपरं विशेषास्तु भोजसोमेश्वरादिभिः ॥
व्याख्याता भरतादीनां मतेनेति विरम्यते ।
मयापि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम् ॥
सङ्गीतं तस्य भेदाश्च तत्रैवालोक्यतां बुधैः ।
आयामभेदगत्यादेः स्वरूपं कथयिष्यते ॥

७९ नटो गीतेन वाद्येन नृत्तेनाभिनयेन च ।
रङ्गे रामाद्यवस्थाभिरनुकार्याभिरञ्जसा ॥
रामादितादात्म्यापत्तेः प्रेक्षकान्नसयिष्यति ॥
सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ॥
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते ॥
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ।

८० कला पाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ॥
पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः ।

---

७८ भोजादि ने अपने ग्रन्थो मे इस प्रकार के स्वरूपो को नही कहा है। आचार्य-भट्ट अभिनव-गुप्त ने ये कहे है। भोज, सोमेश्वर आदि ने यहाँ से अधिक विशेषताओ के साथ भरतादि के मत से व्याख्या की है, अत हम व्याख्या नही करते हैं। मैंने भी अपने 'शारदीय' नामक ग्रन्थ मे इनको अच्छी तरह कह दिया है। सगीत और उसके भेद विद्वान लोग वही देख ले। आयाम-भेद, गति आदि का स्वरूप कहा जायेगा।

(पूर्वरंग)

७९ नट रगमच पर गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय से अनुकार्य रामादि की अवस्था का अनुकरण इस ढग से करता है कि उसके आनन्द से दर्शको को नट मे रामादि की 'तादात्म्यापत्ति' का अनुभव होने लगता है और सभापति, सभा, सभ्य, गायक, वादक, नटी तथा नट सभी परस्पर आनन्द से प्रसन्न होते है। इसीलिए इसे 'रग-भूमि' कहते है, और इसका रग-भूमि मे अभिनय से पूर्व प्रयोग होता है, इसीलिए समष्टि रूप से इसे विद्वानो द्वारा 'पूर्वरग' कहा जाता है।

८० विद्वान-लोग रगभूमि मे कला, पात, पादभाग तथा परिवर्त्त का अभिनय के पूर्व प्रयोग करते है, अत समष्टि रूप से इसे 'पूर्वरग' कहा जाता है।[५८]

८१ तस्य द्वाविंशदङ्गानि प्रत्याहारमुखानि तु ॥
प्रत्याहारोऽवतरणमारम्भास्रावणे अपि ।
वक्त्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत्तु परिघट्टना ॥
सङ्घट्टना ततो मार्गासारितञ्च ततो भवेत् ।
शुष्कापकृष्टकं तत्रोत्थापनं परिवर्तनम् ॥
नान्दी प्ररोचना तत्र त्रिगतासारिते अपि ।
गीतं ध्रुवा त्रिसाम स्याद्रङ्गद्वारमतःपरम् ।
सवर्धमानकं चारिर्महाचारिस्ततःपरम् ।
एतान्यङ्गानि कथ्यन्ते पूर्वरङ्गस्य सूरिभिः ॥

८२ निमेषकालो मात्रा स्यान्मात्रे द्वे यत्कला भवेत् ।
द्विमात्रा स्यात्कला चित्रे चतुर्मात्रा तु वार्तिके ॥
अष्टमात्रा तु विद्वद्भिर्दक्षिणे समुदाहृता ।
निमेषाः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम् ॥

८३ तत्रावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशनम् ।
चतुर्विकल्प इत्येवं निश्शब्दः परिकीर्तितः ॥

---

८१ उस (पूर्वरग) के प्रत्याहारादि बाईस (२२) अग होते है—
१ प्रत्याहार २. अवतरण ३. आरम्भ ४ आश्रावणा ५ वक्त्रपाणि ६ परिघट्टना ७ सघोटना ८ मार्गासारित ९ शुष्कापकृष्टक १० उत्थापन ११ परिवर्तन १२ नान्दी १३ प्ररोचना १४ त्रिगत १५ आसारित १६ गीत १७. ध्रुवा १८. त्रिसाम १९ रग-द्वार २० वर्धमानक २१ चारी २२ महाचारी—विद्वानो द्वारा ये पूर्वरग के अग कहे जाते हैं।

(कला)

८२ जितनी देर मे आँख झपकती है, उसे 'मात्रा' कहते है अर्थात् निमेष-मात्र काल को 'मात्रा' कहते है। दो मात्राओ मे एक 'कला' होती है। चित्र (मार्ग) मे दो मात्राओ से एक कला होती है। वार्तिक (मार्ग) मे चार मात्राओं से एक कला होती है। दक्षिण (मार्ग) मे आठ मात्राओ से एक कला होती है—ऐसा विद्वान लोग कहते है। गीतकाल मे कलान्तर पच-निमेष-मात्र समझना चाहिए।

(निश्शब्द)

८३ आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेशन—चार प्रकार वाला 'निश्शब्द' कहलाता है।

८४ शम्या तालो ध्रुवश्चैव सन्निपातस्तथैव हि ।
सशब्दलक्षणा ह्येते विज्ञेयास्तु चतुर्विधाः ।।
८५ निष्क्रामश्च प्रवेशश्च द्विकलौ परिकीर्तितौ ।
एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः ।।
८६ गुरुप्लुतानि मित्वाऽथ द्विमात्रं परिकल्पयेत् ।
पादभागैश्चतुर्भिस्तैर्मात्रामपि च लक्षणैः ।।
८७ परिवर्तो भवेत्तालपरिवृत्तिः पुनः पुनः ।
८८ कुतपस्य तु विन्यासः प्रत्याहार उदाहृतः ।।
कुतपो मुरजादीनां भाण्डादीनां चयः स्मृतः ।
यदा ह्रियन्ते भाण्डाद्याः प्रत्याहारस्ततो भवेत् ।।
८९ अत्रावतरण तत्स्याद्गायकानां निवेशनम् ।
बहुकार्यसमारम्भ आरम्भ इति कथ्यते ।।
वाद्यानां मुरजादीनां प्रस्तुतिः कार्यमुच्यते ।

(सशब्द)

८४ शम्या, ताल, ध्रुव तथा सन्निपात—चार प्रकार वाला 'सशब्द' का लक्षण जाना जाता है ।

८५ निष्क्राम तथा प्रवेश—ये दोनो द्विकल कहे जाते है ।

(पात)

इन (शम्या, ताल, ध्रुव तथा सन्निपात) के अन्तरपात की 'पात' सज्ञा कही जाती है ।

(पादभाग)

८६ गुरु तथा प्लुत को दिखाकर 'द्विमात्रा' की कल्पना करनी चाहिए और मात्रा की उन (उपर्युक्त) लक्षणो मे चार पादभागो से कल्पना करनी चाहिए ।

(परिवर्त)

८७ ताल का बार-बार दुहराया जाना 'परिवर्त' होता है ।

(प्रत्याहार)

८८ कुतप (वाद्य-यन्त्रो) के विधिवत् स्थापन को 'प्रत्याहार' कहा जाता है । मुरज, भाण्ड आदि के समूह को 'कुतप' कहा जाता है । जब भाण्डादि को ले जाया जाता है तो 'प्रत्याहार' कहलाता है ।

(अवतरण)

८९ गायको की बैठने की व्यवस्था को 'अवतरण' कहा जाता है ।

(आरम्भ)

बहु-कार्य के प्रारम्भ को 'आरम्भ' कहा जाता है । मुरज आदि वाद्यो की प्रस्तुति (आलाप) को 'कार्य' कहा जाता है ।

९० आस्रावणं नाम भवेद्यस्मिन्नातोद्यरञ्जनम् ।।
तन्त्र्यादेर्दण्डहस्ताद्यैर्दीप्तिरातोद्यरञ्जनम् ।
९१ विभागो वाद्यवृत्तीनां वक्त्रपाणिरिहोच्यते ।।
समोपपरिपूर्वाश्च पाणयस्त्रिविधाः स्मृताः ।
९२ तन्त्र्योजस्करणार्थं यत्सा प्रोक्ता परिघट्टना ।।
९३ अत्र पाणिविभागो यो मतः सङ्घट्टना बुधैः ।
सङ्घट्टनाविधिर्वीणागत इत्येव केचन ।।
९४ योगोऽत्र तन्त्रीभाण्डानां मार्गासारितमुच्यते ।
कलापातविभागोऽत्र भवेदासारितक्रिया ।।
९५ अनर्थवर्णापाकृष्टिर्भवेच्छुष्कापकृष्टकम् ।
शुष्कापकृष्टकं ते न ते नेत्युच्चारणं भवेत् ।।

(आश्रावणा)

९० जिसमे वादन के पूर्व वाद्यो की एकरूपता लाई जाती है, उसे 'आश्रावणा' कहते है। तन्त्री (वीणा) आदि की दण्ड, हस्त आदि से दीप्ति वादन के पूर्व वाद्यो की एकरूपता कही जाती है।

(वक्त्रपाणि)

९१ वाद्यो की विभिन्न वृत्तियो के विभाग को 'वक्त्रपाणि' कहा जाता है। पाणि (हाथ की अगुलियाँ) तीन प्रकार की कही जाती हैं—सम्पूर्व, उपपूर्व तथा परिपूर्व।

(परिघट्टना)

९२ तन्त्री-वाद्य-यन्त्रो को ओजपूर्ण बनाने के लिए जो विधि है, वह 'परिघट्टना' कहलाती है।

(सघोटना)

९३ जो पाणि-विभाग है, उसे विद्वान 'सघोटना' कहते है।
कोई (अभिनवगुप्त) कहते है कि वीणा-गत विधि को वीणा-वाद्य मे 'सघोटना' समझना चाहिए अर्थात् सवादी स्वरो के अनुसन्धान के लिए उस पर किये गये पच प्रहारो के योग को 'सघोटना' समझना चाहिए।

(मार्गासारित)

९४ वीणा तथा भाण्ड (अवनद्ध) वाद्यो की मिश्रित ध्वनि का प्रयोग 'मार्गासारित' कहलाता है। कला-पात का विभाग 'आसारित' क्रिया कही जाती है।

(शुष्कापकृष्ट)

९५ अनर्थ (अर्थहीन) वर्णों की अपाकृष्टि 'शुष्कापकृष्ट' कहलाती है। 'ते न ते न' इति·······इस प्रकार के उच्चारण को 'शुष्कापकृष्ट' कहते हैं।

९६ यस्मादुत्थापयन्त्यादौ प्रयोगं नान्दिपाठकाः
तस्मादुत्थापकं ज्ञेयं वागङ्गव्यक्तिकारकम्

९७ यस्मात्तु लोकपालेभ्यः परिवृत्य चतुर्दिशम् ।
नमस्कुर्वन्ति तस्मात्तु परिवर्तनमुच्यते ॥

९८ नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
नृत्यतः कल्पनायोगाज्जगाम किल रङ्गताम् ॥
तस्य तद्रूपसम्बन्धात्पूजा नान्दीति कथ्यते ।

९९ देवतादिनमस्कारमङ्गलारम्भपाठकैः ॥
या क्रिया नन्द्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता ।

१०० या पूर्वरङ्गसम्बन्धाद्द्वाविंशत्यङ्गवर्तिनी ॥
सभ्यान्नन्दयतीत्येवं सापि नान्दीति कीर्त्यते ।

१०१ यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके ॥
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ।

(उत्थापना)

९६ जिससे नान्दी पाठ करने वाले रग-भूमि मे पहले प्रयोग (अभिनय) का उत्थापन (प्रारम्भ) करते है, उस वाचिक तथा आगिक अभिनय की अभिव्यक्ति का कारण 'उत्थापन' जाना जाता है ।

(परिवर्तन)

९७ जिस विधि से नाट्यकर्ता चारो दिशाओ की ओर घूम-घूमकर लोकपालो को नमस्कार करते हैं, उसे 'परिवर्तन' कहा जाता है ।

(नान्दी)

९८ जगत् के प्रारम्भ मे नृत्य करते हुए जगत्पति शकर के कल्पना-योग से वृष नन्दी आनन्द को प्राप्त हुआ, उसके तद्रूप सम्बन्ध से होने वाली पूजा को 'नान्दी' कहा जाता है ।

९९ नाटक के प्रारम्भ मे देवता आदि के लिए नमस्कारात्मक या मगलात्मक जो श्लोक-पाठ पाठको द्वारा किया जाता है, वह आनन्द प्रदान करता है, वह 'नान्दी' कहा जाता है ।

१०० बाईस अग वाले पूर्व-रग के सम्बन्ध से जो सभ्यजनो को आनन्द प्रदान करती है, वह भी 'नान्दी' कही जाती है ।

१०१ यद्यपि नाटक मे पूर्व-रग के बहुत से अग हैं, फिर भी विघ्न-शान्ति के लिए नान्दी का अवश्य प्रयोग करना चाहिए ।

१०२ नान्दीश्लोको विधातव्यश्चन्द्रनामाङ्क एव सः ॥
यथैव चन्द्रसम्बन्धो लक्ष्यते व्यज्यतेऽथवा ।
नान्दीश्लोके तथा यत्नः कर्तव्यः कविभिस्सदा ॥
चन्द्रायत्ततया नाट्ये प्रवृत्ते रससम्पदाम् ।
एतदुत्थापनाद्यङ्गचतुष्कं नान्दिपाठकैः ॥
विधेयमस्मात्प्रीयन्ते ब्रह्माद्याः सर्वदेवताः ।
१०३ सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ॥
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ।
१०४ तत्सङ्ख्यातैर्भवेन्नान्दी वाक्यैः क्वापि विवक्षया ॥
समपादाऽथवा नान्दी भवेदिति च केचन ।
१०५ प्ररोचना सा यत्रैव प्रख्यातोदात्तवस्तुनः ॥
प्रशंसया प्रेक्षकाणामुन्मुखीकरणं तु यत् ।
१०६ सूत्रधारो नटश्चैव तथा वै पारिपार्श्विकः ॥
कुर्वन्ति यत्र सल्लापं तदेतत्त्रिगतं स्मृतम् ।
१०७ आसारितं बहिर्गीतविधिरित्युच्यते बुधैः ॥

---

१०२ वह नान्दी-श्लोक चन्द्र के नाम से ही अंकित होना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रमा से सम्बन्ध लक्षित हो अथवा व्यक्त हो उसी प्रकार नान्दी श्लोक मे कविजनो को सदा यत्न करना चाहिए। नान्दी पाठको को रस-सम्पत्ति के चन्द्रमा के अधीन होने से नाट्य मे प्रवृत्त होने पर यह उत्थापनादि चार अगो से युक्त नान्दी-पाठ करना चाहिए। इससे ब्रह्मा आदि सभी देवता प्रसन्न होते हैं।[५९]

१०३ सूत्रधार को मध्यम स्वर का आश्रय लेकर बारह या आठ पदो से अलकृत नान्दी का पाठ करना चाहिए।

१०४ कही बारह या आठ वाक्यो की विवक्षा से 'नान्दी' कही जाती है, अथवा कोई यह कहते हैं कि समान-पदो वाली 'नान्दी' होती है।

(प्ररोचना)

१०५ जहाँ प्रसिद्ध-उदात्त-नाट्य-वस्तु की प्रशसा से दर्शको को अपनी ओर उन्मुख (आकर्षित) किया जाता है, वह 'प्ररोचना' कहलाती है।

(त्रिगत)

१०६ जहाँ सूत्रधार, नट तथा पारिपार्श्विक आपस मे सलाप करते है, उस प्रयोग विधि को 'त्रिगत' कहा जाता है।

(आसारित)

१०७ विद्वान-लोग बहिर्गीत[६०]-विधि को 'आसारित' कहते है।

१०८ अत्र गीतिविधिः पूर्वैर्बहुशो भरतादिभिः ।
व्याख्यातस्तत्र बैपुल्यान्नास्माभिरभिधीयते ।।
मन्द्रकादिषु गीतेषु सर्वेष्वेष विधिः स्मृतः ।

१०९ अधिका चापकृष्टा च प्रावेशिक्यावसानिकी ।।
अन्तरा चेति पञ्चैता ध्रुवा नाटकसंश्रिताः ।

११० त्रिसाम स्यात्त्रिनृतं च त्रिलयं च त्रिपाणि यत् ।।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैस्त्रिनृत्तमभिधीयते ।

१११ यस्मादभिनयो यत्र प्रथमं त्ववतार्यते ।।
रंगद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ।

११२ सुकुमारं विजानीयाच्छृङ्गाररससम्भवम् ।।
स्मराश्रये च दम्पत्योर्नृत्तं हर्षात्मकं भवेत् ।

११३ पत्यौ सन्निहिते यस्मिन्नृतुकालादिदर्शनम् ।।
गीतकार्याभिसम्बन्धं नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।

(गीति-विधि)

१०८ पूर्व के भरतादि आचार्य 'गीति-विधि' की अनेक प्रकार से व्याख्या कर चुके है, अत विस्तार-भय से हम यहाँ 'गीति-विधि' को नही कहते हैं। मन्द्रकादि सभी गीतो मे यह विधि कही जाती है।

(ध्रुवा)

१०९ नाटक के आश्रित 'ध्रुवा' पाँच प्रकार की होती है—अधिका, अपकृष्टा, प्रावेशिकी, आवसानिकी तथा अन्तरा।

(त्रिसाम)

११० त्रिनृत, त्रिलय तथा त्रिपाणि को 'त्रिसाम' कहा जाता है। वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय भेद से 'त्रिनृत्त' जाना जाता है।

(रगद्वार)

१११ क्योकि सर्वप्रथम वाचिक व आगिक अभिनय की अवधारणा इसी स्थल से प्रारम्भ होती है, अत इसको 'रगद्वार' नाम से जाना जाता है।

(नृत्तोचित देश और काल)

११२ शृगार-रस से उत्पन्न नृत्त सुकुमार जाना जाता है। कामाश्रित होने पर दम्पत्ति (नायक और नायिका) का नृत्त हर्षात्मक होता है।

११३ जहाँ पति के सन्निकट होने पर ऋतु-काल आदि का दर्शन हो, वहाँ गीत-कार्य से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११४ दूत्याश्रयं यदा च स्यादृतुकालादिदर्शनम् ॥
औत्सुक्यचिन्तासम्बन्धात्तत्र नृत्तं प्र(न)योजयेत् ।

११५ खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि वा ॥
यस्मिन्नङ्गे भवेन्नारी तत्र नृत्तं न योजयेत् ।

११६ सखीप्रवृत्ते सल्लापे दयिते प्रोषिते सति ॥
सद्भिर्नि(र्न)योज्यते नृत्तं प्रियेऽसन्निहितेऽपि च ।

११७ देवस्तुत्याश्रयं गीतं यदङ्गं यत्र दृश्यते ॥
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ।

११८ यत्र शृङ्गारसम्बन्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ॥
देव्या कृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत् ।

११९ ततस्त्रिसाम्ना देवस्य पुष्पाञ्जलिमुदीरियेत् ॥
तिरस्कृतरसोत्कर्षः किञ्चिदामोदसूचकः ।
पुष्पाञ्जलिभवः श्लोकः कार्य आशीःपुरस्सरः ॥
ततः पुष्पाञ्जलिं मुक्त्वा रङ्गपीठं परीत्य च ।
प्रणम्य देवताभ्यश्च कर्तव्योऽभिनयस्तदा ॥

---

११४ जहाँ ऋतुकाल आदि का दर्शन दूती के आश्रित हो, तब औत्सुक्य और चिन्ता से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११५ जिस रग-मच पर खण्डिता, विप्रलब्धा तथा कलहान्तरिता नारी हो, वहाँ नृत्त का प्रयोग नही करना चाहिए।

११६ सखी के द्वारा वार्तालाप मे प्रवृत्त होने पर, पति के परदेश जाने पर तथा प्रिय के सन्निहित न रहने पर सज्जनो को नृत्त का प्रयोग नही करना चाहिए।

११७ जहाँ देवताओ की स्तुति के आश्रित गीत देखा जाता है, वहाँ महेश्वर-विहित उद्धत अगहारो के द्वारा नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११८ जहाँ स्त्री-पुरुष के आश्रित शृगार-विषयक गीत हो, वहाँ देवी (पार्वती) कृत ललित अगहारो के द्वारा नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

(पुष्पांजलि)

११९ तदनन्तर त्रिसाम (त्रिनृत्त, त्रिलय तथा त्रिपाणि) से देवताओ की पुष्पाजलि कही जानी चाहिए। तिरस्कृत-रस का उत्कर्ष-रूप, कुछ प्रसन्नता का सूचक तथा आशीर्वादपूर्वक पुष्पांजलि से सम्बधित श्लोक-पाठ करना चाहिए। तदनन्तर रगपीठ पर चारो ओर पुष्पाजलि छोडकर और देवताओ को प्रणाम करके अभिनय-कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

१२० यत्राभिनेयं गेयं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत् ।
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥
समं रक्तं विभक्तञ्च स्फुटं शुद्धं प्रहारजम् ।
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्योज्यं वाद्यं तु ताण्डवे ॥

१२१ आसारितादि वा गीतं नृत्तं वाद्यमथापि वा ।
वर्धतेऽभिनयो वा स्यात्स भवेद्वर्धमानकः ॥

१२२ एकवाद्यप्रचारो यः स चारीत्यभिधीयते ।
मण्डलादिप्रचारो यः स महाचारिरिष्यते ॥

१२३ इति द्वाविंशदङ्गात्मा पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ।
एवं यः पूर्वरङ्गन्तु विधिना सम्प्रयोजयेत् ॥
नाशुभं प्राप्नुयादत्र पश्चात्स्वर्गं च गच्छति ।

१२४ इत्थं रङ्गविधानस्य सम्बन्धादिप्रसिद्धये ॥
गोत्रं नाम च बध्नीयात्पूजावाक्यं सभासदाम् ।
नायकस्य च यन्नाम गर्भनिर्दिष्टलक्षणम् ।

(वाद्य-नियम)

१२० जहाँ अभिनेय गेय हो, वहाँ वाद्य का प्रयोग नही करना चाहिए। अगहारो के प्रयोग मे भाण्ड वाद्य का प्रयोग करना चाहिए। ताण्डव (नृत्त) मे वादज्ञो द्वारा सम, रक्त, विभक्त, स्फुट, शुद्ध, प्रहारज तथा नृत्त के अगो को ग्रहण करने वाले वाद्य का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(वर्धमानक)

१२१ आसारित आदि गीत, नृत्त, वाद्य या अभिनय की जो वृद्धि करता है, वह 'वर्धमानक' कहलाता है।

(चारी)

१२२ एक वाद्य का जो सचरण होता है, वह 'चारी' कहलाती है।

(महाचारी)

मण्डल आदि का जो सचरण करता है वह 'महाचारी' कहलाता है।

१२३ इस प्रकार बाईस-अग-रूप पूर्वरग को कह दिया गया। इस प्रकार जो पूर्वरग का विधिपूर्वक प्रयोग करता है, वह अशुभ को प्राप्त नही करता और बाद मे स्वर्ग को जाता है।[६१]

(गोत्रादि-कथन)

१२४ इस प्रकार रग-भूमि के विधान के सम्बन्ध आदि की प्रसिद्धि के लिए सभासदो के गोत्र, नाम तथा पूजावाक्य बाधने चाहिए। गर्भ से निर्दिष्ट लक्षण

वाञ्छाकलापः प्रथमः कलाविधिरनन्तरः ।
वाञ्छाशून्या न दृश्यन्ते व्यवहाराः कदाचन ॥

१२५　वाञ्छाकलापस्तु कवेरभीष्टार्थप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगतत्वेन तद्द्विधा परिपठ्यते ॥

१२६　स्वगतं तु स्वगोत्रादि स्वस्य कीर्तिप्रकाशनम् ।
अभिधेयगतं तत्तत्काव्यनाम्ना प्रकाशनम् ॥
तन्नाम नाटकाद्यन्तर्गर्भितार्थोपसूचकम् ।
यदा हि रामाभ्युदयं नाम नाटकमित्यतः ॥
वाच्यवाचकसम्बन्धो नाट्यविद्भिर्विभाव्यते ।
कीर्तिः फलं तया स्वर्गस्थितिरत्र प्रयोजनम् ॥

१२७　यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके ।
'नान्द्यन्ते' शब्दबोधार्थमुक्तान्यङ्गानि लेशतः ॥

१२८　प्ररोचनार्थो नान्द्यन्तः प्रत्याहारादि कथ्यते ।
अथ नान्द्यन्तशब्दोऽत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽपि वा ॥

१२९　इत्थं रङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।

वाला नायक का जो नाम है, उसमे प्रथम 'वाञ्छाकलाप' है, दूसरा 'कला-विधि' है । वाञ्छाशून्य व्यवहार (नाम) कभी नही देखे जाते ।

१२५　'वाञ्छाकलाप' तो कवि के अभीष्ट अर्थ को प्रकट करता है । वह दो प्रकार का कहा जाता है । ·　　　स्वगत और अभिधेयगत ।

१२६　'स्वगत' अपने गोत्रादि तथा अपनी कीर्ति को प्रकट करता है । 'अभिधेयगत' उस-उस काव्य के नाम से प्रकट होता है । वह नाम नाटकादि के अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट करता है । जैसे—'रामाभ्युदय' नामक नाटक है, इससे नाट्य-विद् वाक्य-वाचक सम्बन्ध को जानते हैं । कीर्तिफल है, और उससे स्वर्ग की प्राप्ति प्रयोजन है ।

(नान्द्यन्ते)

१२७　यद्यपि नाटक मे पूर्व-रग के बहुत से अग कहे गये है लेकिन 'नान्द्यन्ते'—शब्द के ज्ञान के लिए अशत· (कुछ) अग कहे गये है ।

१२८　प्ररोचना और प्रत्याहारादि से 'नान्द्यन्त' कहा जाता है, क्योकि पूर्व-रगो के अगो मे प्ररोचना नान्दी के पश्चात् आती है और नान्दी प्रत्याहारादि (११ अगो) के पश्चात् आती है अथवा 'नान्द्यन्त' शब्द से यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास (नान्द्या अन्ते अर्थात् नान्दी पाठ के पश्चात्) से भी जाना जाता है ।

१२९　इस प्रकार सूत्रधार पूर्वरग का विधान करके चला जाता है । उसके पीछे

तद्वन्नटः प्रविश्यान्यः सूत्रधारसमाकृतिः ॥
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ।
१३० अत्र वस्तुस्वरूपन्तु प्रथमं सम्यगुच्यते ॥
१३१ वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम् ।
इतिवृत्तं तदेवाहुर्नाट्याभिनयकोविदाः ॥
१३२ चरितं नायकादीनामितिवृत्तमिति स्मृतम् ।
प्रयोजनवशात्तत्तु वर्तमानमपि क्वचित् ॥
वृत्तवत्कल्प्यमिति यदितिवृत्तं तदुच्यते ।
१३३ गोपुच्छवद्विधातव्यं काव्यादि कविभिः सदा ॥
पश्चाद्भागे प्रबन्धस्य कर्तव्यास्ते रसादयः ।
१३४ इतिवृत्ताभिधं वस्तु यत्काव्ये तद्द्विधा भवेत् ॥
आधिकारिकमेकन्तु प्रासङ्गिकमथापरम् ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥
वृत्तान्तो नायकादीनामत्र स्यादाधिकारिकः ।
उपनायकवृत्तान्तः प्रासङ्गिक उदाहृतः ।

सूत्रधार के समान आकृति वाला कोई अन्य नट प्रवेश करके वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है।[६२]

१३० अब यहाँ सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप भली प्रकार कहते हैं।

(वस्तु)

१३१ वस्तु (कथावस्तु) नाटक (प्रबन्ध) का कवि-कल्पित शरीर कही जाती है। नाट्य तथा अभिनय के ज्ञाताओ ने उसे 'इतिवृत्त' कहा है।

(इतिवृत्त)

१३२ नायक आदि का चरित-वर्णन 'इतिवृत्त' कहा जाता है। कही प्रयोजनवश जो वर्तमान (चरित) भी वृत्त (कहानी) की तरह कल्पित होता है तो वह 'इति-वृत्त' कहा जाता है।

१३३ कविजनो को सदा काव्यादि की रचना 'गोपुच्छ' की तरह करनी चाहिए और उनको नाटक (प्रबन्ध) के पीछे के भाग मे रसादि का उल्लेख करना चाहिए।

१३४ काव्य मे जो इतिवृत्त नाम से वस्तु कही जाती है, वह दो प्रकार की होती है। एक आधिकारिक, दूसरी प्रासगिक। प्रधान (कथावस्तु) को आधि-कारिक तथा उसके अगभूत जो कथावस्तु होती है, उसे प्रासगिक कहते है।[६३] नायक आदि का वृत्तान्त 'आधिकारिक' कथावस्तु कही जाती है और उप-नायक का वृत्तान्त प्रासगिक कथावस्तु कही जाती है। नायिका-नायक आदि का वृतान्त जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) से युक्त हो और

नायिकानायकादीनां वृत्तान्तो यस्त्रिवर्गभाक् ।
काव्यव्यापी स एवैष आधिकारिक उच्यते ॥
यश्चोपनायकादीनां वृत्तान्तो नायकार्थकृत् ।
स नान्तरीयकश्चार्थः प्रासङ्गिक उदाहृतः ॥
आजन्मनोऽभिषेकान्तं रामस्यैवाधिकारिकम् ।
प्रासङ्गिकन्तु सुग्रीवविभीषणविचेष्टितम् ॥

१३५ प्रासङ्गिकाभिधं वस्तु नाटके भवति त्रिधा ।
पताकाप्रकरीयुक्तपताकास्थानकक्रमात् ।

१३६ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ।

१३७ उपनायकवृत्तान्तो नायकस्य फलार्थिनः ॥
साधको लभ्यते स्वार्थे सा पताकेति कथ्यते ।
नायकस्य कथामध्ये तत्समानस्य या कथा ॥
आफलोदयपर्यन्ता सा पताकेति कथ्यते ।
पताका मद्रराजस्य शल्यस्य चरितं यथा ॥

१३८ फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम् ।
अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ॥

वह नाट्य के प्रारम्भ से फल-प्राप्ति पर्यन्त चलने वाला हो, वही 'आधि-कारिक' कथावस्तु कहलाती है। उपनायक आदि का वृतान्त जो नायक के प्रयोजन के लिए हो और वह प्रयोजन अपृथक् हो, उसे 'प्रासगिक' कथावस्तु कहा जाता है। जन्म से लेकर अभिषेक-पर्यन्त राम की कथा 'आधिकारिक'—कथा-वस्तु है और सुग्रीव तथा विभीषण की चेष्टाएँ 'प्रासगिक'—कथावस्तु है।

१३५ नाटक मे प्रासगिक नाम की कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—वह क्रमश पताका, प्रकरी तथा पताकास्थानक है।

(पताका, प्रकरी)

१३६ जो प्रासगिक-कथा अनुबन्ध सहित होती है तथा नाटक मे दूर तक चलती है, वह 'पताका' कहलाती है तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह 'प्रकरी' कहलाती है।[६४]

१३७ उपनायक का वृत्तान्त फल की इच्छा वाले नायक के स्वार्थ मे साधक होता है तो वह 'पताका' कहलाती है। नायक की कथा के बीच मे जो उसके समान की कथा फल-प्राप्ति पर्यन्त चलती रहती है, वह 'पताका' कहलाती है। जैसे—मद्रराज शल्य का चरित 'पताका' का उदाहरण है।

१३८ जिसका फल केवल दूसरे के लिए ही कल्पित किया जाता है, उस अनुबन्ध-विहीन 'प्रकरी' को निर्दिष्ट करना चाहिए। जो कथावस्तु पूर्व मे किसी बड़े

येन केनाप्यनल्पेन हेतुना पूर्वमुद्गतम् ।
पश्चान्न दृश्यते यत्तु तद्वस्तु प्रकरी भवेत् ।।
प्रकरी कुलपत्यङ्के जटायोश्चरितं यथा ।

१३९ यथा पताका कस्यापि शोभाकृच्चिह्नरूपतः ।।
स्वस्योपनायकादीनां वृत्तान्तस्तद्वदुच्यते ।
शोभायै वेदिकादीनां यथा पुष्पाक्षतादयः ।।
तथाऽत्र वर्णनादिस्तु प्रबन्धे प्रकरेर्भवेत् ।

१४० आगन्तुकेन भावेन यदभिव्यक्तिकारणम् ।।
वस्तुनो भाव्यवस्थस्य पताकास्थानकन्तु तत् ।
तत्पताकाप्रकर्यादेर्भाव्यवस्थस्य वस्तुनः ।।
सूचनोपायमेवाहुः पताकास्थानकं बुधाः ।
अतीतानागते कार्ये कथ्येते यत्र वस्तुना ।।
अन्यापदेशव्याजेन पताकास्थानकन्तु तत् ।
यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तद्वदन्यः प्रवर्तते ।।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ।
तत्तुल्यसंविधानञ्च तथा तुल्यविशेषणम् ।।

हेतु से अर्थात् किसी बडे प्रयोजन के लिए कही जाये और बाद मे दिखायी न पडे, वह 'प्रकरी' कहलाती है। जैसे—'कुलपत्यक'[६५] मे जटायु का चरित 'प्रकरी' का उदाहरण है।

१३९ जिस प्रकार पताका किसी की चिह्न-रूप होने से शोभा-कारक होती है, उसी प्रकार अपने उपनायक आदि का वृत्तान्त कहा जाता है। जैसे वेदिका आदि की शोभा के लिए पुष्प, अक्षत, आदि होते हैं, वैसे ही नाटक मे वर्णन आदि प्रकरी की शोभा के लिए होते हैं।

(पताका स्थानक)

१४० सादृश्यादि के कारण 'आगन्तुक' अर्थात् प्रतीयमान अचिन्तितोपनत पदार्थ द्वारा जो भावी वस्तु की अभिव्यक्ति का कारण होता है, वह 'पताका-स्थानक' कहा जाता है। विद्वान लोग पताका तथा प्रकरी आदि की भावी वस्तु की सूचना के उपाय को ही 'पताका स्थानक' कहते है। जहॉं किसी अन्य बहाने से वस्तु द्वारा अतीत तथा अनागत (भविष्य) कार्य कहे जाते हैं, उसे 'पताका-स्थानक' कहते हैं। जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को तो अन्य अर्थ अभिलषित हो, लेकिन सादृश्यादि के कारण 'आगन्तुक' अर्थात् प्रतीयमान अचिन्तितोपनत पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाय, उसे 'पताकास्थानक' कहते

इति द्विधा यदन्योक्तिरूपं तत्प्रथमं भवेत् ।
यत्समासोक्तिरूपन्तु तत्स्यात्तुल्यविशेषणम् ॥

१४१ पताकास्थानकस्यान्ये चातुर्विध्यं प्रजानते ।
"सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवृत्त्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥
वचःसातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते ॥
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
उपन्याससुयुक्तं यत् तच्चतुर्थमुदाहृतम् ॥"

१४२ आदितस्त्रितयं तुल्यसंविधानात्मकं भवेत् ॥
चतुर्थं न भवेत्तुल्यविशेषणसमन्वितम् ।

१४३ उद्दामोत्कलिकेत्यादि लतारत्नावलीगतम् ॥
यदुच्यते द्वितीयेऽङ्के तत्स्यात्तुल्यविशेषणम् ।

है ।[66] यह 'तुल्य इतिवृत्त' और 'तुल्य-विश्लेषण' भेद से दो प्रकार का होता है। जो अन्योक्ति-रूप है, वह प्रथम भेद होता है तथा जो समासोक्ति-रूप है, वह 'तुल्य-विशेषण' होता है।

१४१ कोई (भरतमुनि) 'पताकास्थानक' को चार प्रकार का मानते है ।

जहाँ उप-चार के द्वारा सहसा ही अधिक गुणयुक्त अर्थ-सम्पत्ति उत्पन्न हो, वह प्रथम 'पताकास्थानक' होता है ।

जहाँ काव्य-बन्धो मे आश्रित अतिशय श्लिष्ट-वचन हो, वहाँ दूसरा 'पताकास्थानक' होता है ।

जो किसी दूसरे अर्थ का 'उपक्षेपक' (सूचना देने वाला), 'लीन' (अव्यक्तार्थक) और विनय (विशेष निश्चय) से युक्त वचन हो, जिसमे उत्तर भी श्लेषयुक्त हो, वह तीसरा 'पताकास्थानक' होता है ।

जहाँ काव्योचित सुन्दर श्लेषयुक्त द्वयर्थक वचनो का उपन्यास हो, जो सुन्दर उपन्यास होता है, वह चौथा 'पताकास्थानक' होता है ।[67]

१४२ इन चारो भेदो मे प्रथम से लेकर तीसरे तक—तीनो 'तुल्य-सविधानात्मक' है, चौथा 'तुल्य विशेषण' से युक्त है ।

१४३ (रत्नावली नाटिका) के द्वितीय अक मे[68] 'उद्दामोत्कलिका' इत्यादि उदाहरण मे जो लता के विशेषण कहे गये हैं, वे विशेषण (अन्य प्रेमातुरा नायिका) रत्नावली के भी होते हैं। अत यहाँ जो कहा है, वह 'तुल्य-विशेषण' के कारण है।

१४४ यत्सिद्धिचिन्ता यत्काले तत्काले तस्य सिद्धये ॥
विधीयते यदन्योक्तिस्तत्तुल्यं संविधानकम् ।

१४५ 'अपि नाम स गृह्येत' इति कौटिल्यचिन्तया ॥
'गहीदो' इति सिद्धार्थकोक्तिस्तुल्यविधानकम् ।

१४६ यदाधिकारिकं वस्तु द्विधैव परिकीर्तितम् ॥
प्रत्येकं तत्त्रिकं त्रेधा भिद्यते कार्ययोगतः ।
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रिविधमुच्यते ॥

१४७ प्रख्यातमितिहासादिरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।
मिश्रं च सङ्करादेवं नवधा वस्तु कल्पितम् ॥

१४८ तस्मादपीह वस्त्वन्यद्दिव्यमर्त्योभयात्मकम् ।
अनन्तत्वादथैतेषामूह्या लक्ष्यानुसारतः ॥

१४९ अत्राधिकारिकस्यापि तथा प्रासङ्गिकात्मनः ।
वस्तुनो भरतः प्राह फलं तस्य भिदा अपि ॥

---

१४४ जिस समय जिसकी सिद्धि की चिन्ता होती है उस समय उसकी सिद्धि के लिए जो अन्योक्ति का विधान किया जाता है, वह 'तुल्य-इतिवृत्त' (सविधान) होता है ।

१४५ 'अपि नाम स गृह्येत' इति-अर्थात् 'क्या उसे ग्रहण करना चाहिए ।' इस प्रकार कौटिल्य की चिन्ता से सिद्धार्थक की उक्ति है कि 'गृहीत (गहीदो)' अर्थात् ग्रहण कर लिया (यह 'तुल्य-विधानक' है ।)

१४६ जो कथावस्तु आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासगिक के दो भेद) भेद मे तीन प्रकार की कही गयी है वह प्रत्येक फिर से कार्ययोग के कारण तीन-तीन प्रकार की होती है । प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र भेद से वे तीन प्रकार जाने जाते है ।

१४७ 'प्रख्यात' इतिहास, पुराण आदि से ग्रहीत होता है, 'उत्पाद्य' कवि की स्वय की कल्पना से होता है तथा 'मिश्र' मे दोनो (प्रख्यात तथा उत्पाद्य) का मिश्रण रहता है ।[६९]
इस प्रकार कथावस्तु नौ प्रकार की कही गयी है ।

१४८ साथ ही वह 'कथावस्तु' दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होती है । इस प्रकार इन सभी के अनन्त भेद हो जाने से ये लक्ष्य के अनुसार ही कही गयी है ।

१४९ यहाँ आधिकारिक तथा प्रासगिक कथावस्तु के फल और उमके भेद भी भरत ने कहे हैं ।

१५० फलं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामथैकेन तेषामन्योन्यसङ्करात् ।।
एवं द्वादशधा वस्तुफलभेदाः प्रकल्पिताः ।
१५१ बीजमस्येतिवृत्तांशः त्रिवर्गस्येरितं बुधैः ।।
फलं यदितिवृत्तस्य स त्रिवर्ग इतीरितः ।
१५२ उपक्षिप्तन्तु यत्स्वल्पं विस्तारं यात्यनेकधा ।।
हेतुर्यत्स्यात्त्रिवर्गस्य तद्बीजमिति कथ्यते ।
१५३ विस्तारो बहुधा तस्य नायकादिविभेदतः ।।
स स्वामात्योभयायत्तसंसिद्धेर्नायकस्य तु ।
तत्तदुत्साहरूपोऽयं विस्तार इति कथ्यते ।।
बीजमुप्तं यथा स्कन्धशाखापुष्पादिरूपतः ।
बहुधा विस्तृतिं गच्छेत्फलायान्तेऽवकल्पते ।।
तथा नायकमित्रादिरूपोऽन्ते फलवान् भवेत् ।
बीजञ्च वेणीसंहारे सत्पक्षा इति दर्शितम् ।।

---

१५० धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनो की प्राप्ति कथावस्तु का फल है। यह फल कही तीनो, कही दो और कही एक के परस्पर मिश्रण से शुद्ध, एक और अनेकानुबन्धी होता है।[70] इस प्रकार कथावस्तु के फल-भेद बारह प्रकार के कहे गये है।

(बीज)

१५१ विद्वानो द्वारा इस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के इतिवृत्ताश को 'बीज' कहा जाता है।
जो इतिवृत्त का फल है, वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) कहा जाता है।

१५२ जो रूपक के प्रारम्भ मे निर्दिष्ट होता है और आगे चलकर अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त होता है, तथा जो मुख्य फल त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) का साधक (हेतु) होता है, वह 'बीज' कहलाता है।

१५३ नायक आदि के भेद से उसका बहुत प्रकार से विस्तार होता है।
अपने मन्त्री और अपने तथा अपने मन्त्री—दोनो के आश्रित होकर कार्य-सिद्धि के लिए नायक का वह-वह उत्साह-रूप 'विस्तार' कहा जाता है। जैसे—बोया हुआ 'बीज' तना, शाखा तथा पुष्पादि रूप से अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त हो जाता है, और अन्त मे फल को उत्पन्न करता है, वैसे ही मित्रादि-रूप नायक अन्त मे फलवान (फल को प्राप्त करने वाला) होता है। वेणी सहार नाटक मे[71] 'सत्पक्षा'—इत्यादि उदाहरण 'बीज' कहा जाता है।

१५४ फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरैः फलैः ।
तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः ॥
बिन्दुर्मानविपत्तिभ्यां द्विरूपः कथ्यते बुधैः ।
क्रोधेन मानजो बिन्दुः शोकेन स्याद्विपत्तिजः ॥

१५५ लाक्षागृहानलेत्यादि बिन्दोः सामान्यलक्षणम् (?) ।

१५६ कृष्टा येनेति पाञ्चाली व्याहृता गौरिति क्रुधा ॥
शोकेन द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणपातकिन् ।
इति बिन्दोर्द्विरूपत्वमन्यत्रोह्यमिदं यथा ॥

१५७ बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथाभेदस्य हेतवः ॥
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।

१५८ साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ॥
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वान्ते तत्प्रयोजयेत् ।
अविच्छेदाय रचयेद्बिन्दुं मध्ये तयोरपि ॥
तत्र तत्र यथायोगं पताकाप्रकरीर्न्यसेत् ।

(बिन्दु)

१५४ बीज के अवान्तर फलो से प्रधान फल के विच्छिन्न हो जाने पर उस फल का अविच्छेदक हेतु 'बिन्दु' कहलाता है—ऐसा कोहल ने कहा है। मान तथा विपत्ति भेद से 'बिन्दु' विद्वानो द्वारा दो प्रकार का कहा जाता है। क्रोध से 'मानज' बिन्दु होता है और शोक से 'विपत्तिज' बिन्दु होता है।

१५५ 'लाक्षागृहानल'[७२]—'इत्यादि उदाहरण मे 'बिन्दु' का सामान्य लक्षण घटित होता है।

१५६ 'कृष्टा येन—' इत्यादि उदाहरण मे पाचाली को गौ-रूप मे जो कहा गया है, वह क्रोध-भाव से कहा गया है तथा शोक-भाव से कहा गया है कि 'अरे ! द्रौपदी के वस्त्र और केश के आकृष्ट करने वाले महापापी !'
बिन्दु का यह द्विरूपत्व (मानज तथा विपत्तिज) अन्यत्र भी कहा गया है।

१५७ कथा-भेद की हेतु-रूप पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। यह कथा-शरीर की हेतु कही जाती है।

१५८ बीज के साधन होने से सर्वप्रथम 'बीज' को कहना चाहिए। कार्य के साध्य होने से सबसे अन्त मे 'कार्य' को कहना चाहिए। कथा की अविच्छिन्नता के लिए 'बिन्दु' को बीज तथा कार्य के मध्य मे कहना चाहिए तथा यथायोग्य वहाँ-वहाँ 'पताका' और 'प्रकरी' का प्रयोग करना चाहिए।

१५९ उक्ता ह्यर्थप्रकृतयस्तत्प्रवृत्तिश्च दर्शिता ॥
यथा हि विश्वामित्रस्य प्रोत्साहोपचितः स्वतः ।
रामाद्युत्साहरूपोऽर्थो बीजमित्यभिधीयते ॥
यद्द्वितीये तृतीयेऽङ्के जात्याद्यच्छेदकारणम् ।
अनुयायी भवेद्बिन्दुश्चतुर्थाङ्कावधि क्वचित् ॥
यथा हि वीरचिते चतुर्थेऽङ्के विलोक्यते ।
विष्कम्भे माल्यवद्वाक्ये सा वत्सा इत्युदीरिते ॥

१६० सुग्रीवादेर्य उत्साहो रामाद्युत्साहसाह्यकृत् ।
सानुबन्धः फलप्राप्तेः सा पताकेति कथ्यते ॥

१६१ यथा जटायोर्वृत्तान्तः सीतापहरणे कृतः ।
हनूमतो वा प्रकरी यथा सागरलङ्घने ॥

१६२ ताताज्ञामधिमौलीति वाक्ये कार्यं विलोक्यते ।
ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिमणिं कृत्वा महापोत्रिणो
दंष्ट्राविध्य[द्ध]विलासपत्रकबरी दृष्टा भृशं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्निर्मितः
कल्पान्तं च कृतं समस्तमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥

---

१५९ इस प्रकार अर्थ प्रकृतियाँ कह दी, अब इनकी प्रवृत्ति कहते है। जैसे—विश्वामित्र की स्वत उत्साहवृद्धि रामादि के उत्साह-रूप के लिए 'बीज' कही जाती है। द्वितीय और तृतीय अक मे जात्यादि की अविच्छिन्नता का जो कारण होता है, वह 'बिन्दु' होता है। यह कही चौथे अक मे भी प्राप्त होता है जैसा कि 'महावीरचरित' के चतुर्थ अक मे देखा जाता है। विष्कम्भ मे माल्यवान वाक्य कहता है—'हा वत्सा'[७१]—इत्यादि।

१६० सुग्रीव आदि का जो उत्साह रामादि की उत्साह-वृद्धि मे सहायता करता है, वह सानुबन्ध फल-प्राप्ति के कारण 'पताका' कहा जाता है।

१६१ जैसे—सीताहरण के समय जटायु का वृत्तान्त या सागर-लघन के समय हनुमान का वृतान्त 'प्रकरी' कहा जाता है।

१६२ 'ताताज्ञामधिमौलि—' इत्यादि उदाहरण मे 'कार्य' देखा जाता है।
(राम ने) पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके वराहावतार-रूप विष्णु के दाढो से विद्ध शोभा से चित्रित पृथ्वी को बार-बार देखा, समुद्र की दक्षिणी और पश्चिमी सीमा निर्धारित करते हुए सेतु का निर्माण किया और सृष्ट्यन्त तक के लिए जगत् को रावण के उपद्रवो से मुक्ति दी। (अनर्घराघव, ७.१५०)।

१६३ अत्र धर्मार्थनिष्पत्तिः फलत्वेन प्रकल्पिता ॥
अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥

१६४ कार्यस्य नायकादीनां व्यापारापेक्षया पुनः ।
पञ्चावस्था भवन्तीति भरतादिभिरुच्यते ॥

१६५ औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु यद्बीजस्य नियुज्यते ।
महतः फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते ।

१६६ अपश्यतः फलप्राप्तिं यो व्यापारः फलं प्रति ।
परं चौत्सुक्यगमनं स प्रयत्नः प्रकीर्तितः ॥

१६७ ईषत्प्राप्तिश्च या काचिदर्थस्य परिकल्प्यते ।
सत्तामात्रेण नं प्राहुर्विधिवत्प्राप्तिसंभवम् ॥

१६८ नियुक्ता नु फलप्राप्तिर्यदा ह्येवं प्रपश्यति ।
नियतां नु फलप्राप्तिं सगुणां तां विनिर्दिशेत् ॥

---

१६३ यहाँ फलरूप मे धर्म तथा अर्थ की निष्पत्ति कही गयी है। फल चाहने वाले पुरुषो के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम।

१६४ नायक आदि के व्यापार की अपेक्षा से कार्य की पुन पाँच अवस्थाये होती है—ऐसा भरतादि आचार्य कहते है।

(आरम्भ)

१६५ जो बीज के अत्यन्त फलभाग का उत्सुकता-मात्र बन्ध (रचना) होता हे, वह 'आरम्भ' कहलाता है।

(प्रयत्न)

१६६ उस फल की प्राप्ति को न देखते हुए, उस फल के प्रति बडी उत्सुकता के साथ (नायक का) जो उपाय योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, वह 'प्रयत्न' कहलाती है।

(प्राप्त्याशा)

१६७ जहाँ (नायक के) भाव मात्र से कुछ-कुछ फल प्राप्ति कही जाती है उसे विधिवत् 'प्राप्तिसभव' (प्राप्त्याशा) कहते है।

(नियताप्ति)

१६८ जब फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है अर्थात् जब नायक फल की प्राप्ति को निश्चित देख लेता है, तो उसे गुण-युक्त 'नियत-फल प्राप्ति' कहते है।

१६९ अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
दृश्यते यन्निवृत्तेति फलयोगः स उच्यते ॥

१७० सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
यथानुक्रमशो ह्येताः पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥

१७१ शकुन्तलायाः क्षत्रेण परिग्राह्यक्षमत्वतः ।
आरम्भोऽसंशयं क्षत्रेत्यादिदुष्यन्तभाषिते ॥

१७२ प्रयत्नो माधवेनैव मालत्याः सङ्गमाशया ।
प्राणैस्तपोभिरित्यादि यत्तत्कामन्दकीवचः ॥

१७३ प्रीते विधातरीत्यादि प्राप्त्याशा माल्यवद्वचः ।

१७४ सन्देहनिर्णयो जातः साभिलाषं भवेति च ॥
दुष्यन्तभाषितं यत्र नियताप्तिरियं भवेत् ।

१७५ भीमस्य वेणीसंहारे फलयोगोऽत्र दर्शितः ॥

१७६ अवस्थापञ्चकं ह्येतदर्थप्रकृतिभिस्सह ।
निबन्धनीयं कविभिर्यथैवान्योन्यमन्वितम् ॥

१७७ तदन्वयवशादर्थप्रकृतीनां यथाक्रमम् ।
एकैकस्य भवेत्सन्धिरेकैक इति निर्णयः ॥

(फलयोग)

१६९ नाटक की समाप्ति के समय जब सम्पूर्ण अभिप्रेत प्रतिरूप-क्रियाफल दिखाई देता है, वह 'फलयोग' कहा जाता है ।

१७० फल चाहने वाले पुरुषो के द्वारा आरम्भ किये गये समस्त कार्य की, जैसी कि क्रमश कही गई हैं, ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं ।[७४] उदाहरण के लिए—

१७१ 'असशय क्षत्र—'[७५]इत्यादि श्लोक मे दुष्यन्त के बचन का कहना 'आरम्भ' है क्योकि शकुन्तला क्षत्रिय के द्वारा पत्नी-रूप मे स्वीकार करने योग्य है ।

१७२ मालती का माधव के साथ सगम होने की आशा से 'प्राणैस्तपोमि'[७६]—इत्यादि उदाहरण मे जो कामन्दकी का वचन है वह 'प्रयत्न' है ।

१७३ 'प्रीते विधातरि'[७७]—इत्यादि उदाहरण मे माल्यवान का वचन 'प्राप्त्याशा' है ।

१७४ जहाँ दुष्यन्त कहता है कि 'हे हृदय तू अभिलाषा कर । अब सन्देह का निर्णय हो गया है'[७८] । यह 'नियताप्ति' है ।

१७५ 'वेणीसहार' मे भीम का वचन 'फलयोग' कहा गया है ।

१७६ कविजनो को पच अर्थ-प्रकृतियो के साथ परस्पर अन्वित पच अवस्थाओ को कहना चाहिए ।

१७७ अर्थ प्रकृतियों के उस अन्वय के कारण अर्थप्रकृतियो से क्रमश एक-एक से एक-एक सन्धि का निर्णय किया जाना चाहिए ।

१७८ अथार्थप्रकृतीनां तदवस्थापञ्चकस्य च ।
अन्वयो ह्यु पसंहारक्रमारम्भक्रमाश्रयः ॥

१७९ पञ्चावस्थासमेतार्थप्रकृतीनां यथाक्रमम् ।
यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ॥

१८० अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।
अन्वितानां कथांशानां परमे तु प्रयोजने ॥
संबन्धस्सन्धिरित्युक्तोऽवान्तरैकप्रयोजनः ।

१८१ एककार्यान्वितेष्वत्र कथांशेषु प्रयोगतः ॥
अवान्तरैककार्यस्य सम्बन्धः सन्धिरिष्यते ।

१८२ मुखं प्रतिमुखं गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ॥
विवक्षितोऽयमुद्देशक्रमोऽवस्थाक्रमो यथा ।

१८३ नानार्थरसहेतुस्तु बीजोत्पत्तिर्मुखं भवेत् ॥
अंहो अअं सो राओत्ति रत्नावल्यां मुखं स्मृतम् ।

---

१७८ इस प्रकार पच अर्थप्रकृतियो तथा पंच अवस्थाओ •का अन्वय (मिश्रण) उप-सहार-क्रम तथा आरम्भ-क्रम के आश्रित होता है ।

१७९ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य—ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ जब क्रम से आरम्भ यत्व, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम—इन पाँच अवस्थाओं से मिलती है तो क्रमश· मुख, प्रति-मुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसहृति (उप-सहार)—इन पाँच सन्धियो की रचना होती है ।[७९]

(सन्धि)

१८० किसी एक परम प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध (अन्वित) कथाशो का जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्ध किया जाय, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कह-लाता है ।[८०]

१८१ यहाँ किसी एक कार्य से परस्पर सम्बन्ध (अन्वित) कथाशो मे जब प्रयोगत किसी दूसरे एक कार्य का सम्बन्ध जोडा जाय, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहा जाता है ।

१८२ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति—ये पाँच सन्धियाँ है। यह सन्धियों का क्रम वैसा ही कहा गया है जैसा कि पच अवस्थाओ का क्रम है ।

(मुख)

१८३ जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसो की उत्पत्ति के हेतु बीज (अर्थ प्रकृति-विशेष) की उत्पत्ति हो, उसे 'मुख-सन्धि' कहते है । जैसे—
रत्नावली मे सागरिका का यह बचन 'अहो अअ सो राओ' · ·।'[८१] इत्यादि 'मुख-सन्धि' कहा गया है ।

१८४ बीजोत्पत्तिर्न हेतुः स्याद्रसानां मुखसन्धिभाक् ।।
तेषां त्रिवर्गसम्बन्धः प्रायो यस्मान्न दृश्यते ।
मैवं कामोपयोग्यत्र शृङ्गारो दृश्यते रसः ।।
अर्थोपयोगी वीरः स्याद्रौद्रोऽपि स्यात्क्वचित्क्वचित् ।
रक्षारुपेण धर्मार्थोपयोगी करुणो भवेत् ।।
अद्भुतोऽपि मनः प्रीतिप्रदत्वात्कामसाह्यकृत् ।
ते भयानकबीभत्सहास्याः काव्येषु योजिताः ।।
तत्तन्नेतृमनोवृत्तिवशात्प्रायस्त्रिवर्गगाः ।
अतो रसानां हेतुत्वं मुखसन्धेर्भवेदपि ।।

१८५ बीजारम्भोदाहृतिर्या मुखसन्धेश्च सा भवेत् ।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।।
उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।।
उद्भेदः करणं भेद इत्यङ्गानि मुखस्य तु ।

१८६ बीजन्यास उपक्षेपस्तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।
तन्निष्पत्तिः परिन्यासो गुणाख्यानं विलोभनम् ।

(बीज की रसोत्पत्ति-हेतुता)

१८४ मुख-सन्धि कहलाने वाली बीज की उत्पत्ति रसो की उत्पत्ति का हेतु नही होती, क्योकि उन (रसो) का प्राय त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) सम्बन्ध नही दिखाई देता। लेकिन ऐसा नही है—शृगार-रस कामोपयोगी देखा जाता हे। अर्थोपयोगी वीर-रस होता है, कही-कही रौद्र भी अर्थोपयोगी होता है। रक्षा-रूप मे धर्म तथा अर्थ का उपयोगी करुण-रस होता है। अद्भुत-रस मन को प्रसन्नता प्रदान करने के कारण काम का सहायक होता है। तथा काव्य मे कहे गये वे भयानक, बीभत्स तथा हास्य-रस उस-उस नेतृगत मनोवृत्ति के कारण प्राय त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के उपयोगी होते है। अत' मुख-सन्धि की भी रसोत्पत्ति-हेतुता होती है।

१८५ बीज तथा आरम्भ के जो उदाहरण हैं, वह मुख-सन्धि के भी है। बीज तथा आरम्भ के सम्बन्ध से इस मुख-सन्धि के बारह अग है। उपक्षेप, परिकर, न्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण—ये बारह मुख-सन्धि के अग है।

१८६ बीज के न्यास (रखना) को 'उपक्षेप' कहते है, बीज की वृद्धि को 'परिक्रिया' या 'परिकर' कहते है। बीज की निष्पत्ति 'परिन्यास' कहलाती है। गुण-कथन को 'विलोभन' कहते हैं। प्रयोजन के सम्यक् निर्णय को 'युक्ति' कहते

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते ॥
बीजागमः समाधानं प्राप्तिः कोऽपि सुखागमः ।
परिभावोऽद्भुतावेशो विधानं सुखदुःखकृत् ॥
करणं प्रकृतारम्भ उद्भेदो गूढभेदनम् ।
भेदः प्रोत्साहनाऽङ्गानि कथितानि यथार्थतः ॥

१८७ वस्तुनेतृरसादीनामानुगुण्येन योजयेत् ।
विवक्षितोऽत्र नाङ्गानां क्रम इत्येव निर्णयः ॥

१८८ लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
दृश्यादृश्यतया बीजव्यक्तिः प्रतिमुखं भवेत् ॥
प्रत्यङ्कोपनिबद्धानां तत्तत्कार्यानुसारतः ।
प्रयोजनानां निष्पत्तिर्दृश्यत्वमिह कथ्यते ॥
बहूनां तादृगर्थानामनिष्पत्तिरदृश्यता ।

१८९ यथा सागरिकायान्तु वत्सराज्य दर्शनात् ॥
समागमेच्छा बीजन्तु दृश्यादृश्यतया स्थितम् ।

हैं। बीज के आगम को 'समाधान' कहते है। समाधान का अर्थ है—युक्ति के साथ बीज को रखना। किसी भी सुख के प्राप्त होने को 'प्राप्ति' कहते हैं। आश्चर्यजनक बात को देखकर कुतूहल-युक्त बातो के कथन को 'परिभाव' कहते हैं। सुख-दु ख के कारण को 'विधान' कहते हैं। प्रस्तुत कार्य के प्रारम्भ कर देने को 'करण' कहते है। छिपी हुई बात को खोल देने को 'उद्भेद' कहते हैं। उत्साहयुक्त वचनो के कथन को 'भेद' कहते है। इस प्रकार से मुख-सन्धि के बारह अग यथार्थत कह दिये गये।[८२]

१८७ ये अग वस्तु, नेता तथा रस आदि के अनुरूप प्रयुक्त होने चाहिए। यहाँ इन अगो का क्रम नही कहा गया है—यही निर्णय (निश्चय) है।

(प्रतिमुख)

१८८ उस बीज का किंचित लक्ष्य और किंचित अलक्ष्य-रूप मे उद्भिन्न होना 'प्रति-मुख-सन्धि' कहलाता है। किंचित दृश्य और किंचित अदृश्य-रूप मे बीज की अभिव्यक्ति 'प्रतिमुख' सन्धि कहलाती है। तद्-तद् कार्यानुसार प्रत्येक अक मे उपनिबद्ध प्रयोजनो की निष्पत्ति 'दृश्य' कहलाती है और उस प्रकार मे अर्थो की अ-निष्पत्ति 'अदृश्य' कहलाती है। जैसे—

१८९ रत्नावली मे वत्सराज के दर्शन से सागरिका मे होने वाली समागम की इच्छा-रूप बीज दृश्यादृश्य रूप मे उद्भिन्न होने से 'प्रतिमुख' सन्धि है।

१९० बिन्दुयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥
विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।
१९१ रतिचेष्टा विलासः स्याद्दम्पत्योर्नवसङ्गमे ॥
परिसर्पस्तु बीजस्य दृष्टनष्टानुसर्पणम् ।
१९२ विधूतमरतिर्यूनोस्सुरताप्राप्तिसम्भवा ॥
यूनोररत्युपशमः शम इत्युच्यते बुधैः ।
१९३ परिहासवचो नर्म धृतिस्तज्जा द्युतिर्भवेत् ॥
युक्तोत्तरं प्रगमनं निरोधः स्यान्निरोधनम् ।
अनुनीतिः पर्युपास्तिः पुष्पं सातिशयं वचः ॥
प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रमुपन्यासः प्रसादनम् ।
वर्णसंहार इत्युक्तो नानाजातीयसङ्गमः ॥
१९४ एतेषाञ्च क्रमो न स्याद्व्युत्क्रमस्यापि दर्शनात् ।

---

१९० यह सन्धि बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था के मिश्रण से पैदा होती है। इसके तेरह अग है—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास तथा वर्णसहार।

१९१ दम्पत्ति के प्रथम समागम के समय रति की चेष्टा 'विलास' कहलाती है। जहाँ बीज एक बार दृष्ट हो गया हो, किन्तु पुन दृष्ट होकर नष्ट हो जाय और उसकी खोज की जाय, तो यह खोज 'परिसर्प' कहलाती है।

१९२ युवक-युवती के बीच सुरत की अ-प्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाली अरति 'विधूत' कहलाती है।

युवक-युवती के बीच उत्पन्न अरति के उपशम (शान्ति) को विद्वान लोग 'शम' कहते हैं।

१९३ परिहास-युक्त वचन को 'नर्म' कहते है। परिहास से उत्पन्न धृति को 'नर्म-द्युति' कहते है। बीज के अनुकूल उत्तर-प्रत्युत्तर-युक्त वचन को 'प्रगमन' कहते हैं। हित की रोक हो जाने पर 'निरोधन' होता है। अनुनय-विनय पर्युपास्ति का 'पर्युपासन' कहलाता है। विशेषतायुक्त वचन के कथन को 'पुष्प' कहते हैं। सम्मुख निष्ठुर वाक्य के कथन को 'वज्र' कहते है। प्रसन्न करने को 'उपन्यास' कहते हैं। विभिन्न जाति के सम्मिलन को 'वर्ण-सहार' कहते है।[८१]

१९४ इन अगो का क्रम नही है, व्युत्क्रम के दर्शन से पौवापर्य हो जाता है। नर्मद्युति

पौर्वापर्यं भवेन्नर्मद्युत्यन्ते विधुतादिके ॥
विलासादेः प्रधानत्वं नेत्रादिवशतो भवेत् ।
१९५ गर्भः स्याद्दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ॥
१९६ बीजस्यैवान्तरायादेरस्य प्रतिमुखान्तरे
दृश्यादृश्यतया दृष्टनष्टस्यान्वेषणं हि सः ॥
व्यपायशङ्काऽनुवृत्तेर्विच्छेदस्यानुवृत्तितः ।
पौनःपुन्यं मुहुरिति गर्भस्तादृश ईरितः ।
१९७ स्यादत्रोत्सर्गतः प्राप्तिः पताकाया विकल्पतः ।
तथाप्यस्या निवेशः स्यात्प्राप्त्याशाया नियोगतः ॥
प्राप्त्याशायामवस्थायां गर्भसन्धाविहाथवा ॥
अपताके निवेशः स्याद्बिन्दोर्बीजस्य वा क्वचित् ॥
समन्वयेऽर्थप्रकृतेः प्राप्त्याशाया इतीरितः ।
अभावस्तु पताकाया यथा मालविकादिषु ।
सद्भावो दृश्यते तस्या मालतीमाधवादिषु ।
तस्मात्पताका स्यान्नेति विकल्पं प्राह कोहलः ॥

बाद मे है, विधूत पहले है। विलास आदि की प्रधानता नेता आदि के कारण होती है।

(गर्भ-सन्धि)

१९५ जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण पुन-पुन किया जाय तो 'गर्भ'-सन्धि होती है।

१९६ जिस बीज को प्रतिमुख-सन्धि मे विघ्न आदि के कारण कभी पनपता और कभी मुरझाता (लक्ष्यालक्ष्य रूप मे) देखा जाता है, वही बीज फिर दिखाई देने पर नष्ट हो जाता है और नष्ट की खोज की जाती है तो वह 'गर्भ-सन्धि' कहलाती है। बार-बार विघ्न की शका से तथा विच्छेद के होने से जहाँ बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है वह 'गर्भ-सन्धि' कही जाती है।

१९७ यहाँ गर्भ-सन्धि मे पताका का होना आवश्यक नही है, पताका रह भी सकती है, नही भी रह सकती है। लेकिन प्राप्त्याशा का रहना तो नितान्त आवश्यक है।

प्राप्त्याशा-अवस्था मे अथवा पताका-रहित गर्भ-सन्धि मे बिन्दु या बीज का प्रवेश होता है और कही (पताका) अर्थप्रकृति तथा प्राप्त्याशा (अवस्था) का समन्वय पाया जाता है। पताका का अभाव—जैसा कि 'मालविकाग्नि-मित्र' आदि नाटको मे देखा जाता है। पताका का भाव—जैसा कि 'मालतीमाधव' आदि नाटको मे देखा जाता है। इसीलिए कौहल का मत है कि 'गर्भसन्धि' मे पताका विकल्प से रहती है, वहाँ वह रह भी सकती है, नही भी रह सकती है।

१९८ गर्भसन्धेः प्रसिद्धत्वान्नोदाहरणमुच्यते ।
तृतीयाङ्के तु मालत्या(व्या) गर्भसन्धिर्विलोक्यते ॥
शरीर क्षाममित्यादि क्व सेत्यन्तं यदन्तरा ।

१९९ अङ्गानि द्वादशैतस्य गर्भसन्धेर्यथाक्रमम् ॥
अभूताहरण मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानञ्च तोटकाधिबले तथा ॥
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा इत्यङ्गानि भवन्ति तु ।

२०० अभूताहरणं छद्म तदा तत्त्वस्य कत्थनम् ।
अभूताहरणं तत्स्याद्वाक्यं यत्कपटाश्रयम् ।
तत्वार्थकीर्तनं मार्गो रूपं सन्देहकृद्वचः ॥
द्वित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपमुच्यते ।
यत्तु सातिशयं वाक्यं तदुदाहरण भवेत् ॥
क्रमः सञ्चिन्तितार्थाप्तिर्भावज्ञानमथापरे ।
सङ्ग्रहः सामदानोक्तिरभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ॥
चेष्टयाऽन्यातिसन्धानं वदन्त्यधिबलं बुधाः ।
संरम्भयुक्तं वचनं यत्तत्तोटकमुच्यते ॥
उद्वेगोऽरिकृता भीतिः शङ्कात्रासौ च सम्भ्रमः ।

---

१९८ गर्भ-सन्धि के प्रसिद्ध होने से उदाहरण नही कहते है। 'मालविकाग्निमित्र नाटक के तृतीय अक मे 'गर्भ-सन्धि' देखी जाती है।[८४] 'शरीर क्षाम'—से लेकर 'क्वसा' तक गर्भ-सन्धि का उदाहरण है।

१९९ इस गर्भ-सन्धि के यथाक्रम बारह अग होते है—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, सग्रह, अनुमान, तोटक, अधिवल, उद्वेग, सभ्रम तथा आक्षेप।

२०० तत्त्व के कपटयुक्त वचन के कथन को 'अभूताहरण' कहते हैं। जो कपट के आश्रित वाक्य होता है, वह 'अभूताहरण' होता है। तत्त्व-गर्भित बात के कथन को 'मार्ग' कहते है। सन्देहास्पद बात के कथन को 'रूप' कहते हैं। दो-तीन प्रयोजनों के इकट्ठे हो जाने पर होने वाला तर्क-वितर्क 'रूप' कहलाता है। उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को 'उदाहरण' कहते है। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को 'क्रम' कहते है। दूसरो के मत मे—भाव के ज्ञान का होना 'क्रम' कहलाता है। साम-दान से युक्त उक्ति को 'सग्रह' कहते हैं। चिह्न विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना 'अनुमान' कहलाता है। चेष्टापूर्वक दूसरो को धोखा देना बुधजनो द्वारा 'अधिबल' कहलाता है। क्रोधयुक्त वचन को 'तोटक' कहते हैं। शत्रु से उत्पन्न मय को 'उद्वेग' कहते हैं। शका और

गर्भबीजसमुत्क्षेपादाक्षेप इति कीर्तितः ॥
गर्भसन्धेरिहाङ्गाना क्रमोऽपि न विवक्षितः ।
२०१ क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ॥
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सम्बन्धो व्यसनादिजः ॥
विचारनिर्णयो यस्तु सोऽवमर्श इति स्मृतः ।
२०२ यथा हि वेणीसंहारे तीर्णे भीष्ममहार्णवे ॥
इत्यादिनैव षष्ठेऽङ्के सोऽवमर्शो विलोक्यते ।
२०३ तत्रापवादसम्फेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ॥
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ।
प्ररोचना विचलनमादानञ्च त्रयोदश ॥
२०४ दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्सम्फेटो रोषभाषणम् ।
विद्रवो वधबन्धादिर्द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥
विरोधशमनं शक्तिस्तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं प्रसङ्ग इति कथ्यते ॥

त्रास के होने को 'सभ्रम' कहते हैं। गर्भ मे रहने वाले बीज के स्पष्ट होने को 'आक्षेप' कहते हैं। यहाँ गर्भ-सन्धि के अगो का क्रम नही कहा गया है।[८५]

(अवमर्श)

२०१, जहाँ क्रोध से, व्यसन मे या विलोभन (लोभ) से फल-प्राप्ति के विषय मे विचार-विमर्श किया जाय तथा जहाँ गर्भ-सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ 'अवमर्श' सन्धि कहलाती है। जहाँ गर्भ-सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर लिया गया हो, तथा जहाँ व्यसन आदि से उत्पन्न सम्बन्ध से फल-प्राप्ति के विषय मे विचार-निर्णय किया गया हो, वह 'अवमर्श' सन्धि कहलाती है। जैसे—

२०२ 'वेणीसहार' के छठे अक के 'तीर्णे भीष्ममहार्णवे'[८६]—'इत्यादि उदाहरण (श्लोक) मे वह 'अवमर्श-सन्धि' देखी जाती है।

२०३ इस 'अवमर्श-सन्धि' के—अपवाद, सफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन तथा आदान—ये तेरह अग होते है।

२०४ दोष के कथन को 'अपवाद' कहते है। रोप से युक्त कथनोपकथन को 'सफेट' कहते हैं। किसी पात्र का वध, बन्धन आदि 'विद्रव' कहलाता है। गुरुजनो के अपमान करने को 'द्रव' कहते है। विरोध के शान्त हो जाने को 'शक्ति' कहते है। किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना 'द्युति' कहलाता है। अप्रस्तुत

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिश्छलनं चावमाननम् ।
व्यवसायः परिज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः ॥
संरब्धानामवज्ञा या तद्विरोधनमुच्यते ।
परस्परस्य सङ्ग्रामः संरम्भेण विरोधनम् ॥
आमन्त्रणं यत्साध्यस्य सिद्धवत्सा प्ररोचना ।
विकत्थना विचलनमादानं कार्यसंग्रहः ॥
एषां क्रमप्रधानत्वे प्रक्रिया पूर्ववद्भवेत् ।
२०५ बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणन्तु तत् ।
बीजयुक्ता मुखाद्यर्थाः परमे च प्रयोजने ॥
लभन्ते यत्र सम्बन्धं तन्निर्वापणमुच्यते ।
२०६ यदा हि रामाभ्युदये सुग्रीवश्च विभीषणः ॥
कपयो राक्षसा रामाभिषेकाभ्युदयं ययुः ।
उपसंहृतिसन्धेश्च संज्ञा निर्वहणन्त्विति ॥

प्रयोजन के कथन को 'प्रसग' कहा जाता है। अपनी शक्ति के कथन को 'व्यवसाय' कहते है। जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा या अपमान करता है तो वह 'छलन' कहा जाता है। प्रतिज्ञा और हेतु से सभूत अर्थ को 'व्यवसाय' कहते हैं। क्रुद्ध-पात्रो की जो अवज्ञा है, वह 'विरोधन' कहलाती है। कुछ-पात्रो द्वारा क्रोधपूर्वक किया गया परस्पर सग्राम 'विरोधन' कहलाता है। किसी सिद्ध-पुरुष द्वारा होने वाले (साध्य) कार्य के विषय मे इस प्रकार के कथन से कि यह तो सिद्ध ही है अर्थात् यह कार्य तो हुआ ही है, आगे होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान दिखलाना 'प्ररोचना' कहलाता है। आत्मश्लाघा करने को 'विचलन' कहते हैं। कार्य-सग्रह को 'आदान' कहते हैं। इनके क्रम की प्रधानता के विषय मे पहले की तरह ही प्रक्रिया समझनी चाहिए।[८७]

(निर्वहण-सन्धि)

२०५ बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो पूर्वकथित चारों सन्धियो मे यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते हैं तो वह 'निर्वहण' सन्धि होती है। जहाँ बीज से युक्त मुख आदि अर्थ परस्पर प्रधान-अर्थ के लिए सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह 'निर्वहण' सन्धि कहलाती है। जैसे—

२०६ 'रामाभ्युदय' नाटक में जब सुग्रीव, विभीषण, वानर तथा राक्षस राम के राज्याभिषेक के समय गये हैं, वहाँ 'उपसहृति' सन्धि के स्थान पर 'निर्वहण' सन्धि है।

२०७ सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ॥
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।

२०८ सन्धिर्बीजोपगमनं विबोधः कार्यमार्गणम् ॥
ग्रथनं तदुपक्षेपस्तच्छब्दः कार्यवाचकः ।
निर्णयस्त्वनुभूताख्यः पुनः पुनरितीरितः ॥
परिवादकृतं यत्स्यात्तदाहुः परिभाषणम् ।
परिभाषा मिथो जल्पः प्रसादः पर्युपासनम् ॥
आनन्दो वाञ्छितावाप्तिस्समयो दुःखनिर्गमः ।
कृतिर्लब्धार्थशमनं तत्स्थिरीकरणं तु वा ॥
मानाद्यर्थस्य सम्प्राप्तिर्भाषेति परिभाष्यते ।
कार्यदृष्टयद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥
वरप्रदानलाभादिः कार्यसंहार उच्यते ।
प्रशस्तिर्वीर्यविजयमङ्गलादिप्रशंसनम् ॥

२०९ नेत्रादिवशतोऽमीषां प्राधान्यञ्च क्रमोऽपि च ।
यथासम्भवमाधेयो विकल्पश्च समुच्चयः ॥
तेषां लक्ष्येषु दृष्टत्वान्नान्यथा कल्पयेत्सुधीः ।

---

२०७ इस 'निर्वहण' सन्धि के चौदह अग है—सन्धि, विवोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाग, उपसहार तथा प्रशस्ति।

२०८ बीज की उद्भावना को 'सन्धि' कहते हैं। कार्य-अन्वेषण को 'विबोध' कहते है। उस कार्य का उपसहार करना 'ग्रथन' कहलाता है उसका शब्द कार्य वाचक होता है। अनुभूत बात का पुन-पुन कथन 'निर्णय' कहलाता है। जो परिवाद (निन्दा) युक्त वाक्य होता है, वह 'परिभाषण' कहा जाता है। पात्रो मे परस्पर जल्प (आपसी बातचीत) 'परिभाषा' कहलाता है। प्रसन्न करने के प्रयत्न को 'प्रसाद' कहते हैं। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति 'आनन्द' कहलाती है। दु ख का समाप्त हो जाना 'समय' कहलाता है। लब्ध अर्थ के शमन करने को अथवा लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को 'कृति' कहते है। मान आदि अर्थ की प्राप्ति को 'भाषा' कहा जाता है। कार्य के दर्शन को 'पूर्वभाव' तथा अद्भुत-वस्तु की प्राप्ति को 'उपगूहन' कहते हैं। वरदान की प्राप्ति आदि 'कार्य-सहार' कहलाता है। पराक्रम, विजय तथा मगल (कल्याण) आदि की आशसा 'प्रशस्ति' कहलाती है।[८८]

२०९ इन अगो का प्राधान्य, क्रम, विकल्प तथा समुच्चय यथासम्भव नेता आदि के अनुरूप होना चाहिए। उनके लक्ष्यो मे दृष्ट होने से विद्वानो को अन्यथा कल्पना नही करनी चाहिए।

२१० उक्ताऽङ्गानां चतुष्षष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥
एतान्युक्तानि शृङ्गारप्रकाशे भोजभूभृता ।
इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां चैव गोपनम् ।
आश्चर्यवदभिज्ञानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ॥
२११ एवं प्रयोजनं षोढा सन्ध्यङ्गानामुदाहृतम् ।
यथाऽङ्गहीनः पुरुषो न च कार्यक्षमो भवेत् ॥
अङ्गहीन तथा काव्यं न प्रयोगाक्षमं भवेत् ।
काव्यं यदनुदात्तार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ॥
दीप्तत्वात्तत्प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ।
उदात्तमपि यत्काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ॥
हीनत्वात्तत्प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः ।
तस्मात्सन्धिप्रयोगेषु यथायोगं यथारसम् ॥
काव्याङ्गानि प्रयुञ्जीत द्वित्रैर्हीनं न दुष्यति ।
२१२ यावन्त्यङ्गानि पठ्यन्ते तावतामेव कोविदैः ॥
निबन्धः कार्य इत्येव निर्णयो भोजभूभुजः ।

---

२१० ऊपर कहे गये इन (६४) चौसठ अगो[९] के ६ प्रकार के प्रयोजन होते हैं।[१०] ये भोजराज द्वारा अपने 'शृगार-प्रकाश' मे कहे गये हैं।
(१) इष्ट अर्थ की रचना (२) वृत्तान्त का अनुपक्षय (ह्रास न करना।)
(३) प्रयोग के अनुराग की प्राप्ति (४) गोपनीय अशो का गोपन (५) आश्चर्य की तरह पहचानना (अभिज्ञान) (६) तथा प्रकाशनीय अशो का प्रकाशन।

२११ इस प्रकार सन्धि-अगो के ६ प्रयोजन कहे गये है। जैसे अगहीन पुरुष कार्य करने मे समर्थ नही होता, वैसे ही अगहीन काव्य प्रयोग के लिए उपयुक्त नही होता है। जो काव्य उचित अगो से युक्त अनुदात्त-अर्थवाला होता है, वह प्रयोग की दीप्तता के कारण शोभा को प्राप्त होता है, इसमे कोई सन्देह नही है। जो काव्य अगो से रहित उदात्त-अर्थवाला भी होता है, तो वह प्रयोग की हीनता के कारण सज्जनो के मन को प्रसन्न नही करता है। इसलिए सन्धि-प्रयोगो मे यथायोग, यथारस काव्य के अगो का प्रयोग करना चाहिए,[११] दो-तीन अगो से हीन होने पर काव्य दूषित नही होता।

२१२ राजा भोज का यह निर्णय है कि विद्वानो ने जितने भी अग कहे हैं सभी का प्रबन्ध मे प्रयोग करना चाहिए। कविजनो द्वारा प्रबन्धो मे रसानुगत उपक्षे-पादि सन्ध्यगो, आधिकारिक तथा प्रासगिक इतिवृत्तो का प्रयोग किया जाना

उपक्षेपादयोऽप्यत्र प्रबन्धेष्वाधिकारिकाः ॥
प्रासङ्गिकाश्च कविभिः प्रयोक्तव्या रसानुगाः ।
तथा सन्ध्यन्तराङ्गानि प्रयुञ्ज्यात्तत्र तत्र तु ॥
साम चापि प्रदानञ्च भेदो दण्डो वधस्तथा ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च गोत्रस्खलितमेव च ॥
मायोपधिर्भयं हासः क्रोधो भ्रान्तिस्तथैव च ।
ओजस्संवरणं चैव तथा हेत्ववधारणम् ॥
दूतो लेखस्तथा स्वप्नस्तथा चित्रं मदोऽपि च ।
सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां विशेषास्त्वेकविंशतिः ॥

२१३ सन्धीनां यानि वृत्तानि प्रबन्धेष्वनुपूर्वशः ।
स्वसम्पद्गुणयुक्तानि तान्यङ्गानि प्रयोजयेत् ॥

२१४ द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥

२१५ नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
नीरसं लौकिकोपेतमशास्त्रीयञ्च यद्भवेत् ॥
तद्वस्तु सूचनीयं स्यादित्याहुर्भरतादयः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥

चाहिए। साथ ही वहाँ-वहाँ सन्ध्यन्तर से अगो का भी प्रयोग करना चाहिए। वे (सन्ध्यन्तर) ये हैं—साम, दान, भेद, दण्ड, वध, प्रत्युत्पन्न-मतित्व, गोत्रस्खलित, माया, उपधि, भय, हास, क्रोध, भ्रान्ति, ओज, सवरण, हेत्ववधारण, दूत, लेख, स्वप्न, चित्र तथा मद—ये सन्धियो के सन्ध्यन्तर विशेष रूप से २१ हैं।

२१३ प्रबन्धो मे सन्धियो के जो वृत्त पहले कहे गये है अपनी सम्पत्ति तथा गुणो से युक्त उन अगो का प्रयोग करना चाहिए।[९२]

२१४ इस समस्त कथावस्तु का पुन दो प्रकार से विभाजन करना चाहिए। प्रथम वह होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र दी जा सके तथा दूसरा वह होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके। इस प्रकार प्रथम को 'सूच्य' तथा दूसरे को 'दृश्य' कहते हैं।

२१५ वे वस्तुएँ जो नीरस है तथा अनुचित हैं, वे 'ससूच्य या सूच्य' कहलाती है।[९३] भरतादि आचार्य कहते हैं कि जो वस्तु नीरस है, लौकिक तथा अशास्त्रीय है, वह 'सूचनीय' कहलाती है। ऐसी कथावस्तु जो मधुर और उदात्त-रस तथा भाव से परिपूर्ण होती है, वह 'दृश्य' कहलाती है।

२१६ अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥

२१७ सूच्यार्थसूचनोपायाः सूरिभिः पञ्च कीर्तिताः ।

२१८ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ॥
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ।
तत्र संक्षेपशब्दो यः स प्रयोजनवाचकः ॥

२१९ वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयशेषार्थसूचकः ।
विष्कम्भोऽङ्कद्वयस्यान्तर्यथायोगं प्रवेशकः ॥

२२० द्विधा भवेत्स विष्कम्भः शुद्धः सङ्कीर्ण इत्यपि ।

२२१ शुद्धोऽनेकैरथैकेन मध्यपात्रेण योजितः ॥
नीचमध्यमपात्रेण सङ्कीर्णस्तादृशेन च ।

२२२ कपालकुण्डलाशुद्धविष्कम्भः पितृकानने ॥
उन्मत्तमाधवे सौदामिनीसङ्कीर्ण इत्यपि (?) ।

---

२१६ सूच्य कथावस्तु की सूचना पाँच प्रकार के अर्थोक्षेपको (अर्थ—कथावस्तु के उपक्षेपक (सूचक)) के द्वारा दी जाती है। वे अर्थोपक्षेपक है—विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अकास्य, अकावतार तथा प्रवेश।[९४]

२१७ सूच्यार्थ की सूचना के विद्वानो ने पाँच उपाय कहे है।

(विष्कम्भक)

२१८ जो कथा पहले हो चुकी है, अथवा जो आगे होने वाली हो, उसकी सूचना सक्षेप मे मध्यम पात्र के द्वारा दी जाती है, उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।[९५] वहाँ जो सक्षेप शब्द है वह प्रयोजन का वाचक शब्द है।

२१९ जिसमे बीती हुई तथा आगे आने वाली बातो की सूचना दी जाती है, तथा छूटी हुई बातो की सूचना दी जाती है, उसे 'विष्कम्भक' कहते है। यह दो अक के बाद प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार बीती हुई, आगे आने वाली तथा छूटी हुई बातो की सूचना देने वाला 'प्रवेशक' कहलाता है। यह दो अको के बीच मे आता है।

२२० विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध-विष्कम्भक और सकीर्ण-विष्कम्भक।

२२१ एक अथवा अधिक (दो) मध्यम-श्रेणी के पात्रो के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक 'शुद्ध' कहलाता है। मध्यम श्रेणी के तथा अधम-श्रेणी के पात्रो के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक 'सकीर्ण' कहलाता है।

२२२ शुद्ध विष्कम्भक का उदाहरण—'मालती-माधव' के पचम अक—'पितृकानन' में कपाल कुण्डला के द्वारा प्रयुक्त हैं। सकीर्ण विष्कम्भक का उदाहरण—'उन्मत्त-माधव' मे सौदामिनी द्वारा प्रयुक्त है (?)।

२२३ विष्कम्भे नायकादीनां प्रवेशः कार्य एव च (न) ॥
शुद्धः सङ्कीर्णो वा द्वेधा विष्कम्भको ज्ञेयः ।
मध्यमपात्रः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यकृतः ॥
कुतोऽपि स्वेच्छया प्राप्तः सम्बन्धो नोभयोरपि ।
विष्कम्भार्थः स विज्ञेयः कथांशस्यापि सूचकः ॥

२२४ वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयमध्ये निवेशनम् ।
विष्कम्भस्योक्तशेषार्थसूचनायोपपादितम् ॥
वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयमध्ये प्रवेशनम् ।
विष्कम्भस्यानुदात्तोक्त्या यन्नीचेनार्थसूचनम् ॥
ततः प्रवेशकः प्रायः प्रथमाङ्के निषिध्यते ।
निवेशः प्रथमाङ्केऽपि विष्कम्भस्यावधार्यते ॥

२२५ आदौ विष्कम्भकं कुर्यादिति भोजेन दर्शितम् ।

२२६ परिजनकथाऽनुबन्धः प्रवेशकस्तत्र विज्ञेयः ॥
अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि ।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥

---

२२३ विष्कम्भक मे नायक आदि का प्रवेश ही कार्य है (विष्कम्भक मे नायक आदि का प्रवेश ही नही करना चाहिए)। यह विष्कम्भक शुद्ध और सकीर्ण भेद से दो प्रकार का जाना जाता है। मध्यम-पात्र के द्वारा प्रयुक्त 'शुद्ध' और नीच तथा अधम-पात्रो के द्वारा प्रयुक्त 'सकीर्ण' विष्कम्भक कहलाता है।[९६] यह किसी फल के उद्देश्य से अपनी ही स्वेच्छा से रखा जाता है। इसमे नायक या प्रतिनायक के प्रवेश का सम्बन्ध नही रहता है तथा यह कथावस्तु के फल या उद्देश्य का सकेत देता है, इसीलिए इसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।[९७]

२२४ भूत तथा भावी घटनाओ की सूचना देने वाला और दो अको के बीच मे प्रयुक्त होने वाला 'निवेशन अथवा प्रवेशन' होता है। विष्कम्भक की उक्त शेष कथा की सूचना देने वाला, भूत तथा भावी घटनाओ की सूचना देने वाला और दो अको के मध्य के प्रयुक्त होने वाला 'प्रवेशन' होता है। विष्कम्भक की अनुदात्त उक्ति से जो नीच-पात्र के द्वारा सूचना दिलायी जाती है, वह 'प्रवेशक' होता है, और यह प्रवेशक प्राय. प्रथम अक मे प्रयोग करने से रोका जाता है अर्थात् प्राय प्रथम-अक मे प्रवेशक का प्रयोग नही होता है। विष्कम्भक का प्रयोग प्रथम-अक मे हो जाता है।

२२५ आचार्य भोज के मत मे—प्रारम्भ मे विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए।

२२६ सेवको की कथा से सम्बन्धित 'प्रवेशक' जाना जाता है। यह कथा अकच्छेद करके मासकृत या वर्षकृत होनी चाहिए, एक वर्ष से ऊपर कदापि नही होनी चाहिए। यहाँ उत्तम, मध्यम-पात्रो का प्रयोग नही होता और न उदात्त-

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः ।
प्राकृतभाषाचारप्रयोगमासाद्य कर्तव्यः ॥
विटमुनिदैवतपुरुषैः कञ्चुकिभिश्चार्थयुक्तिमासाद्य ।
संस्कृतवाग्भिरपीत्थं प्रवेशकः संविधातव्यः ॥
विटतापसवृद्धाद्यैर्मुनिकञ्चुकिभिस्तथा ।
प्रवेशकमपीच्छन्ति सन्तः संस्कृतभाषिभिः ॥

२२७ कालोत्थापननगरव्यत्यासारम्भकामविषयाणाम् ।
अर्थाभिधानभूतः प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ॥

२२८ दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम् ॥
बह्वाश्रयमप्यर्थं प्रवेशकैः संक्षिपेत्प्रबन्धेषु ।
अङ्केषु स प्रयुक्तो जनयति खेदं प्रयोगबन्धस्य ॥

२२९ यत्रार्थस्य समाप्तिर्न भवत्यङ्के प्रयोगबाहुल्यात् ।
वृत्तान्तः स्वल्पकथः प्रवेशकैस्संविधातव्यः ॥
बहुचूर्णपदो भेदो जनयति खेदं प्रयोगस्य ।
परिमितवागात्मकता प्रवेशकस्योच्यते सद्भिः ॥

वचनो का प्रयोग होता है। इसमे प्राकृत-भाषा के प्रयोगो को स्वीकार करके कार्य करना चाहिए।[९८] विट, मुनि, देवता, पुरुष, कचुकी तथा सस्कृत बोलने वाले पात्रो के द्वारा प्रयुक्त अर्थयुक्ति का सहारा लेकर प्रवेशक का प्रयोग करना चाहिए। विद्वान विट, तापस (तपस्वी), वृद्ध आदि, मुनि, कचुकी तथा सस्कृत-भाषी द्वारा भी प्रवेशक का प्रयोग कराने की इच्छा करते है।

२२७ काल, उत्थापन, नगर-विरोध, आरम्भ काम-विषयो के अर्थगत होने से 'प्रवेशक' अनेक अर्थो वाला होता है।[९९]

२२८ यदि दिन छिप जाने से अक मे सभी कार्य नही हो पाता है तो अकच्छेदन करके प्रवेशक के द्वारा उसको पूरा कर देना चाहिए। प्रबन्धो मे प्रयुक्त बहु-आश्रित अर्थ को प्रवेशक के द्वारा सक्षिप्त कर देना चाहिए। अको मे प्रयुक्त वह (प्रवेशक) प्रयोगबन्ध के दुख को उत्पन्न करता है।[१००]

२२९ जहाँ प्रयोग की बहुलता के कारण अक मे अर्थ की समाप्ति नही हो पाती है, वहाँ प्रवेशक के द्वारा वृत्तान्त को कम कर देना चाहिए। बहु चूर्ण (छोटे-छोटे) पदो से युक्त पद-भेद प्रयोग के दु.ख को उत्पन्न करता है।[१०१] विद्वानो द्वारा प्रवेशक की सीमित वागात्मकता स्वीकार की जाती है। युद्ध, राज्य-

युद्धं राज्यभ्रंशं मरणं नगरोपरोधनञ्चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयनि ॥

२३० अङ्कान्तरे मुखे वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं वाऽपि ।
विष्कम्भकस्तु नियतः कर्तव्यो मध्यमैरधमैः ॥
इत्थं प्रवेशविष्कम्भौ भरतेन प्रदर्शितौ ।

२३१ सदृशाभ्यां प्रयोज्यः स्यादङ्कसन्धौ प्रवेशकः ॥
प्रवेशकस्य पाठ्यं यत्तन्नातिप्रचुरं भवेत् ।
संक्षेपार्थस्तु बहुलं प्रेक्षकौत्सुक्यहेतवे ॥
संक्षिप्तसिन्धुराण्मत्स्यघटोत्कचवधो यथा ।

२३२ अवस्थां कालमालोच्य कार्यस्य गुरुलाघवे ॥
प्रवेशकादिकृत्यं यत्तदङ्केषु विधीयते ।

२३३ कार्यं प्रवेशकेनात्र वर्षादूर्ध्वं न किञ्चन ॥
प्रवेशकेन न वधो नायकस्य कदाचन ।
विधेयः कार्यमङ्के(न्ते)ऽत्र सन्धिर्वाऽप्यपसारणम् ॥
यथा विभीषणेनात्र सन्धिरुल्कामुखस्य च ।
दीर्घजिह्वस्य मारीचवञ्चिते नाटके कृतः ॥
नायिका च वसागन्धा नायको रुधिरप्रियः ।
तयोरिहाश्वत्थामाङ्के दृष्टं तदपसारणम् ॥

नाश, मृत्यु तथा नगरोपरोधन आदि अप्रत्यक्ष कृत्यो का प्रवेशक के द्वारा प्रयोग करना चाहिए ।

२३० दो अको के बीच मे या अक के प्रारम्भ मे प्रकरण या नाटक का आश्रय लेकर मध्यम तथा अधम-पात्रो के द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग किया जाना चाहिए । इस प्रकार से आचार्य भरत ने प्रवेशक तथा विष्कम्भक को कहा है ।[102]

२३१ अक-सन्धि मे प्रवेशक सादृश्य से प्रयोग के योग्य होता है । प्रवेशक का पाठ अधिक बडा नही होना चाहिए, क्योकि दर्शको की उत्सुकता के लिए सक्षिप्त-अर्थ ही बहुत होता है। जैसे सिन्धु-राज[103] तथा घटोन्कच का वध सक्षिप्त है ।

२३२ अकों मे कार्य की गुरुता तथा लघुता के लिए अवस्था तथा काल देखकर प्रवेशक आदि का प्रयोग होता है ।

२३३ यहाँ प्रवेशक के द्वारा एक वर्ष से ऊपर का प्रयोग कदापि नही करना चाहिए। प्रवेशक के द्वारा नायक का वध कदापि नही दिखाना चाहिए । सन्धि या अप-सारण अक के अन्त मे दिखाना चाहिए । जैसे मारीचवचित नाटक मे विभी-षण के साथ दीर्घ-जिह्वा वाले उल्कामुख की सन्धि है । 'वेणी-सहार' के अश्वत्थामा अक मे वसा-गन्धा नायिका और रुधिर-प्रिय नायक—दोनो का अपसारण दिखाया गया है ।

२३४ अन्तर्यवनिकासंस्थैः सूचनाऽर्थस्य चूलिका ।
२३५ अन्तर्यवनिकासंस्थैः सूतमागधबन्दिभिः ॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा हि चूलिका ।
एकैकानि शिरांसीति पद्यादौ सा च दृश्यते ॥
२३६ पूर्वाङ्कान्तप्रविष्टैर्यदुत्तराङ्कार्थसूचनम् ।
पूर्वाङ्कार्थानुवृत्त्यर्थं तदङ्कास्यमुदीरितम् ॥
२३७ अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कार्थस्य सूचनम् ।
यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽङ्केऽवसानके ॥
रामभार्गवयोर्मध्ये सुमन्त्रेण प्रविश्य च ।
विश्वामित्रवसिष्ठौ च तदाह्वानेन सूचितौ ।
रामयोस्तत्र कलहाविच्छेदेनैव तौ पुनः ।
तृतीयाङ्कप्रवेशेन सुमन्त्रेणैव सूचितौ ॥
२३८ सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैः ।

(चूलिका)

२३४ नेपथ्य (यवनिका) के अन्दर बैठे हुए पात्रो के द्वारा अर्थ (कथावस्तु) की सूचना देने को 'चूलिका' कहते हैं ।[१०४]

२३५ जहाँ नेपथ्य (यवनिका) के अन्दर बैठे हुए सूत, मागध तथा बन्दी-जनो आदि पात्रो के द्वारा अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाती है, वह 'चूलिका' कहलाती है ।[१०५] जैसे—
'अनर्घ-राघवम्' के सप्तम अक मे [१०६]'एकैकानि शिरासि—' इत्यादि श्लोक मे चूलिका देखी जाती है ।

(अकास्य)

२३६ जहाँ पूर्व-अक की समाप्ति के समय उस अक मे प्रविष्ट पात्रो के द्वारा पूर्व-अक के अर्थ (कथावस्तु) की अनुवृत्ति के लिए दूसरे अक के अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाय, वहाँ 'अकास्य' कहलाता है ।

२३७ जहाँ एक अक की समाप्ति के समय उस अक मे प्रयुक्त पात्रो के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाय, वहाँ 'अकास्य' कहलाता है।[१०७] जैसे—महावीरचरित के द्वितीय अक के अन्त मे सुमन्त (पात्र) राम तथा शतानन्द की कथा का विच्छेद कर और प्रवेश करके सूचना देता है कि विश्वामित्र और वशिष्ठ आपको भार्गव के साथ बुला रहे है। पुन तृतीय अक मे सुमन्त्र की सूचना के अनुसार वे दोनो—राम तथा परशुराम कलह-विच्छेद के साथ बैठे हुए प्रवेश करते है ।

२३८ समस्त अको का सूत्रण विद्वानों द्वारा 'अक-मुख' जाना जाता है अर्थात् जहाँ एक ही अक मे सभी अंको की सूचना दी जाय वह 'अंक-मुख' कहलाता है ।

यथा 'सौदामिनी दाणिं धारेइ सिरिपव्वदे' ॥
अवलोकितया पृष्टकामन्दक्युत्तरेण च ।
समासतः श्मशानादिकृतं सर्वाङ्कसूत्रणम् ॥
अत्र मुखं विश्लिष्टं यथोपरि श्लिष्यते त्रिधा वाक्यैः ।
पुरुषस्य वै तदङ्कं मुखमिति सन्तो ह्युपदिशन्ति ॥

२३९ अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ।
२४० पूर्वाङ्कस्यावसानोक्तकथाऽविच्छेदपूर्वकम् ॥
प्रवेशो भाविनोऽङ्कस्य सोऽङ्कावतार इष्यते ॥
२४१ समाप्यमान एकस्मिन्नितराङ्कस्य सूचनम् ।
समासतो हि नाटचज्ञैरङ्कावतर इष्यते ।
यथा मालविकायाश्च प्रथमाङ्कावसानके ॥
विदूषकप्रवेशादिनिष्क्रामान्तं यदुच्यते ।
पात्रकृत्यं द्वितीयेऽङ्के तत्सङ्गीतकमात्रतः ॥
आरभ्य गणदासादेरविच्छेदेन कल्पितः ।
अङ्कावतारो विष्कम्भाद्यनन्तरित एव सः ॥

जैसे—'मालती-माधव' नाटक के प्रथम अक के प्रारम्भ मे ही'[१०८] 'सौदामिनी दाणिं धारेइ सिरिपव्वदे" इत्यादि उदाहरण मे कामन्दकी पूछे जाने पर अवलोकिता का उत्तर है। समासत श्मशान आदि घटनाएँ सभी अको की सूत्र-रूप है। अक-मुख पृथक ही है जैसा कि ऊपर वाक्यो से स्पष्ट होता है। पुरुष का वह अक-मुख है—ऐसा सन्त उपदेश देते हैं।

(अकावतार)

२३९ जहाँ प्रथम अक की कथावस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अक की कथा-वस्तु चले, वहाँ 'अकावतार' होता है।[१०९]

२४० जहाँ पूर्व-अक की समाप्ति पर कथावस्तु का विच्छेद किये बिना पूर्व अक के पात्र दूसरे अक मे प्रवेश करें तो वहाँ 'अकावतार' होता है।

२४१ जहाँ एक अक की कथावस्तु समाप्त होते हुए दूसरे अक की समासत सूचना दे अर्थात् एक अक की कथा दूसरे अक मे बराबर चलती रहे, वह नाट्यज्ञो द्वारा 'अंकावतार' कहा जाता है। जैसे—मालविकाग्निमित्र मे प्रथम अक के अन्त मे विदूषक प्रवेश करता है, भावी अक की सूचना देता है और अन्त मे चला जाता है। जो विदूषक ने कहा था उसके अनुसार सगीत के स्वरमात्र से द्वितीय अक के प्रारम्भ मे सारे पात्र, जो कि प्रथम अक मे वर्णित है, गणदास आदि प्रवेश करते हैं। इस प्रकार पूर्व-अक की कथा अविछिन्न रूप मे ही द्वितीय अक मे अवतरित हुई है, अत. अकावतार है विष्कम्भक आदि नही।

२४२ समाप्यमाने पूर्वाङ्के यथा गौरीगृहाभिधे ।
भाव्यङ्कनायकावस्थासूचनं तद्विलोक्यताम् ॥

२४३ एतेष्वङ्कबहिर्भावः स्याद्विष्कम्भप्रवेशयोः ।
चूलिकायाः क्वचिद्बाह्ये क्वचिन्मध्ये निवेशनम् ॥
एभिस्तु सूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च वेणीसंहारे दृश्यते चूलिका तथा ॥

२४४ इयमङ्कादिबाह्याङ्कमुखगर्भाङ्कसाम्यतः ।
कथाऽविच्छेदहेतोस्तु चूलिका भोजकल्पिता ॥

२४५ गर्भाङ्काङ्कमुखाभ्यामबहिष्काभ्यां स्वभावतस्त्वङ्कात् ।
इतिवृत्ताविच्छेदे हेतुतया चूलिका कथिता ॥

२४६ अङ्कमुखं गर्भाङ्कः कार्योऽस्मिन् चूलिकाऽपि वा कुशलैः ।
माभूदितिवृत्तानां विच्छेदो विस्तरो वेति ॥

२४७ अङ्कादिबाह्यावेवाङ्कमुखाङ्कावतरौ स्वतः ।
एभिस्तु सूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ॥

---

२४२ पुन जैसे 'नागानन्दम्' नाटक के 'गौरीगृहम्' अक मे पूर्व-अक की कथावस्तु समाप्त होने पर भावी-अक के नायक की सूचना दी है, उसे भी देखना चाहिए।

२४३ इन पाँच अर्थोपक्षेपको मे से विष्कम्भक तथा प्रवेशक का प्रयोग अक के बाहर होता है। चूलिका का प्रयोग कही अक के बाहर और कही अक के मध्य मे होता है। इन अर्थोपक्षेपको के द्वारा सत्य वस्तु की सूचना देनी चाहिए, अको के द्वारा दृश्य का मच पर प्रदर्शन करना चाहिए।[११०] वेणी-सहार के मध्य मे चूलिका देखी जाती है।

२४४ यह चूलिका कथा के अविच्छेद के हेतु होने से अक आदि के बाहर, अक-मुख मे और गर्भाक मे होती है, ऐसा भोज का मत है।

२४५ यह चूलिका कथा के अविच्छेद के हेतु होने से गर्भांक और अक-मुख से अव-हिष्क (बाहर न होना) तथा अक से स्वभावत बाहर होती है।

२४६ नाटक मे कुशल व्यक्तियो के द्वारा अक-मुख, गर्भांक अथवा चूलिका का प्रयोग किया जाना चाहिए। क्योकि इतिवृत्त का विच्छेद या विस्तार न हो।[१११]

२४७ अक आदि के बाहर ही अक मुख और अकावतार होते हैं। इनके द्वारा सूच्य को सूचित करना चाहिए और अक के द्वारा दृश्य का प्रदर्शन करना चाहिए।

२४८ एतद्द्वयं द्विधाभूतं श्राव्यमश्राव्यमेव च ।
सर्वस्य नियतस्येति क्रमात्तद्द्वयमुच्यते ॥
२४९ सर्वे सदस्या नियतोनट इत्यभिधीयते ।
२५० सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥
श्राव्यं तु नियतस्यैतन्नाटचधर्ममवेक्ष्य च ।
द्विधा विभज्यते तत्र जनान्तमपवारितम् ॥
२५१ त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तिरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्तिकमुच्यते ॥
२५२ रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ।
२५३ वस्तुनिर्वाहकत्वाच्च नाटचधर्मप्रसङ्गतः ॥
आकाशभाषितं तत्कि ब्रवीषीति ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकः तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥
२५४ इत्याद्यशेषमिह वस्तुविशेषजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्यात्
चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चः ॥

---

२४८ ये दोनो (सूच्य एव दृश्य) वस्तुएँ श्राव्य तथा अश्राव्य भेद से दो प्रकार की होती है । पुन (श्राव्य) क्रमश दो प्रकार की होती है—सबके सुनने योग्य (सर्व) श्राव्य होती है और सीमित लोगो के सुनने योग्य नियत-श्राव्य होती है ।

२४९ सभी से तात्पर्य सदस्य (दर्शको) से है तथा नियत से तात्पर्य नट कहा जाता है।

२५० सर्वश्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत कहते हैं। यह नियत-श्राव्य नाट्य-धर्म को देखकर दो भागो मे बाँटी जाती है—जनान्त (जनान्तिक) तथा अपवारित ।

२५१ अनामिका को छोड बाकी तीन अगुलियो की ओट करके दो व्यक्तियो की गुप्त बातचीत को 'जनान्तिक' कहते है ।

२५२ जहाँ मुँह को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे 'अपवारित' कहते है ।

२५३ वस्तु की चर्चा समाप्त होने के कारण तथा नाट्यधर्म के प्रसग से आकाश-भाषित' कहते है—जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हो' ऐसा कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना बातचीत करता है तथा उसके कथन के बिना भी सुनकर कथोपकथन करता है, उसे 'आकाशभाषित' कहते है ।

२५४ इस प्रकार कथावस्तु के समस्त भेदो का पर्यालोचन कर तथा रामायण आदि एव बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता तथा रस के अनुकूल उचित तथा सुन्दर कथोपकथन द्वारा सुन्दर कथा को कविजन निबद्ध करे ।[११२]

२५५ न केवलं रसो नैव लक्ष्यं नैव च लक्षणम् ।
न नायकस्यैवोत्कर्षो वर्ण्यः सुकविना क्वचित् ।।
कथाशरीरं सर्वेषामानुगुण्येन कल्पयेत् ।।

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणाभिधानं नाम
सप्तमोऽधिकारः ।

---

२५५ सुकवि को कहीं न केवल रस, न लक्ष्य, न लक्षण तथा न केवल नायक के उत्कर्ष का ही वर्णन करना चाहिए, अपितु सभी गुणों के अनुरूप कथा-शरीर की रचना करनी चाहिए ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणा-
भिधान नामक सप्तम-अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

अथ अष्टमोऽधिकारः

१ कथाशरीर काव्यस्य लक्षणञ्चोपपादितम् ।
भरतादिभिराचार्यैर्दर्शितेनैव वर्त्मना ॥
प्राथम्यान्नाटकस्यास्य तत्सम्यगभिधीयते ।
२ नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ॥
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।
तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकन्तथा ॥
डोम्बी श्रीगदितं भाणी प्रस्थानं काव्यमेव च ।
प्रेक्षकं सट्टकं नाटचरासकं लासकं तथा ॥
उल्लोप्यकञ्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च ।
मल्लिका कल्पवल्ली च पारिजातकमित्यपि ॥
३ रसात्मका दशैतेषु विंशद्भावात्मका मताः ।
तेषां रूपकसंज्ञाऽपि प्रायो दृश्यतया क्वचित् ॥
त्रिंशद्रूपकभेदाश्च प्रकाश्यन्तेऽत्र लक्षणैः ।

---

१ आचार्य भरतादि के मतानुसार काव्य के कथा-शरीर और उनके लक्षण को कह दिया गया। अब नाटक की प्राथमिकता होने से उस (नाटक) को भली भाँति कहते है।

२ विद्वान तीस प्रकार के नाटक कहते है—१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४. प्रहसन ६ डिम ६ व्यायोग ७. समवकार ८ वीथी ९ अक १० ईहा-मृग ११. तोटक १२ नाटिका १३ गोष्ठी १४ सल्लाप १५ शिल्पक १६ डोम्बी १७ श्रीगदित १८ भाणी १९ प्रस्थान २० काव्य २१ प्रेक्षक २२ सट्टक २३ नाट्यरासक २४ लासक २५. उल्लोप्यक २६ हल्लीसक २७ दुर्मल्लिका २८ मल्लिका २९ कल्पवल्ली ३०. परिजातक।

३ इन (नाटको) मे दस रस-रूप (रसात्मक) है और बीस भाव-रूप (भावात्मक) हैं। दृश्य होने के कारण कही इनकी रूपक सज्ञा भी होती है। अब यहाँ लक्षण-सहित रूपक के तीस भेद कहे जाते है।

४ प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ॥
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ।

५ स्वेतरेषां प्राकृतानां नाटकस्योक्तधर्मतः ॥
अतिदेशक्रमात्स्वाङ्गसमर्पकतयोच्यते ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपात्मकतोदितैः ॥
चेतोविकारैरङ्गाङ्गिभूताष्टरसयोगतः ।
रसाश्रयत्वं सम्पूर्णलक्षणत्वञ्च कथ्यते ॥

६ अर्थप्रकृत्यवस्थात्मसन्धिसन्ध्यङ्गवृत्तिमत् ।
अर्थोपक्षेपकैर्युक्त पताकास्थानकादिभिः ।
रसालङ्कारसहितं नाटकं पूर्णलक्षणम् ॥

७ पञ्च पञ्च चतुष्षष्टिश्चतुःपञ्चैकविंशतिः ।
षट्त्रिंशन्नवतिर्यत्र तदाहुर्नाटकं बुधाः ॥

८ अर्थप्रकृतयोऽवस्थाः पञ्च पञ्चेति कीर्तिताः ।
अङ्गानि वृत्तयस्तत्र सन्धिसन्ध्यन्तराणि च ॥
चतुष्षष्टिश्चतुः पञ्च सैकविंशतिभिः क्रमात् ।
सङ्गीताङ्गानि नवतिः षट्त्रिंशद्भूषणानि च ॥

---

४ अन्य (रूपक-भेदो) की प्रकृति (कारण) होने से, पूर्ण-रस के ग्रहण करने से तथा सम्पूर्ण लक्षणो से युक्त होने से नाटक को पहले कहते है।[1]

५ अन्य प्राकृतो के उक्त धर्म से, स्थान के अतिक्रमण से, अपने अग की समर्पकता से, विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप के उदित होने से, चित्त मे उत्पन्न हुए विकारो से तथा अगागिभूत आठ रसो के योग से नाटक की रसाश्रयता तथा सम्पूर्ण लक्षणता कही जाती है।

६ नाटक की पूर्ण लक्षणता जब सिद्ध होती है जबकि उसमे अर्थ-प्रकृतियाँ (५), अवस्थाएँ (५), सन्धियाँ (५), सन्ध्यग (६४) तथा वृत्तियाँ (४) हो, और वह (नाटक) (पच) अर्थोपक्षेपको से युक्त हो, पताका-स्थानक आदि से युक्त हो तथा रस एव अलकार से युक्त हो।

७ पाँच, पाँच, चौंसठ, चार, पाँच, इक्कीस, छत्तीस और नब्बे अग जहाँ निर्दिष्ट हो, उसे विद्वान लोग नाटक कहते हैं।[2]

८ अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ पाँच-पाँच कही जाती है। सन्ध्यग, वृत्तियाँ, सन्धियाँ तथा सन्ध्यन्तर क्रमश चौसठ, चार, पाँच तथा इक्कीस होते हैं। सगीताग नब्बे तथा भूषण छत्तीस होते है—इन सभी अगो से युक्त नाटक होता है अर्थात् जहाँ पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, चौंसठ सन्ध्यग, चार वृत्तियाँ, पाँच सन्धियाँ, इक्कीस सन्ध्यन्तर, नब्बे सगीताग तथा छत्तीस भूषण निर्दिष्ट हो उसे नाटक कहते हैं।

९ न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ।।
अपि सिध्येत विदुषां मुक्तिरभ्यासकौशलात् ।
नतु नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरञ्जनी ।।

१० नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितैर्बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं विज्ञेयं नाटकं नाम ।।

११ रत्नावल्यादिषु प्रायश्चरितं रसभावयुक् ।।
सुखं मलयवत्याश्च दुःखं गरुडचञ्चुना ।
जीमूतवाहनस्यैतन्नागानन्दे विभाव्यते ।।

१२ नाटके च प्रकरणे पञ्चाद्या दश कीर्तिताः ।
अङ्काः स्युस्तत्र पञ्चाङ्कमेतन्मारीचवञ्चितम् ।।
षडङ्कं नाटकमिदं वेणीसंहारनामकम् ।
शाकुन्तलादि सप्ताङ्कमष्टाङ्कं नलविक्रमम् ।।
देवीपरिणयस्तत्र नवाङ्कं नाटकं स्मृतम् ।
दशाङ्कं नाटकमिदं बालरामायणादिकम ।।
कुन्दमालाऽत्र सुश्लिष्टा सन्धिपञ्चकसंयुता ।
तथाच वेणीसंहारः षट्त्रिंशद्भूषणोज्ज्वलः ।।

---

९ न कोई ऐसा ज्ञान है, न कोई शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न काम है और न कोई ऐसा योग है जो इस नाटक मे न देखा जाता हो[३]। विद्वान अपने अभ्यास तथा ज्ञान के बल पर चाहे मुक्ति की सिद्धि या उपलब्धि सरलता से कर लें लेकिन समस्त लोक को आनन्द प्रदान करने वाली इस नाट्य-विद्या की (उपलब्धि या) पूर्णता की प्राप्ति कठिन है ।[४]

१० जहाँ सुख-दुःख तथा अनेक रस, भाव तथा चेष्टाओ से अभिव्यक्त होने वाला राजाओ का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है, उसे नाटक जानना चाहिए ।[५] जैसे—

११ रत्नावली आदि मे प्राय चरित्र रस तथा भाव से युक्त है और नागानन्द मे जीमूतवाहन का मलयवती से सुख तथा गरुड की वंचना[६] से दु:ख जाना जाता है ।

१२ नाटक और प्रकरण मे पॉच से लेकर दस तक अक कहे जाते है। पाँच अक वाला 'मारीचवचितम्' नाटक है। 'वेणीसहार' नाटक ६ अक का है। शाकु-न्तलादि सात अक वाले है। 'नलविक्रमम्' आठ अक का है। 'देवी परिणयम्' नाटक नौ अक का कहा जाता है। बालरामायणादि नाटक दस अक के हैं।

देवीपरिणयः सर्ववृत्तिनिष्पन्न उच्यते ।
प्रवेशकादिनिष्पत्तिर्नागानन्दे प्रदर्शिता ॥

१३ नयातिशयदाक्षिण्यसिद्ध्यभिप्रायगर्हणाः ।
उपदिष्टञ्च माला च सार्थापत्तिश्च सम्भ्रमः ॥
पश्चात्तापः प्रसिद्धिश्च हेतुदृष्टान्तसंशयाः ।
गुणातिपात आक्रन्दो विचारः प्राप्तिरेव च ॥
विशेषणं निरुक्तिश्च कपटञ्च मनोरथः ।
याञ्चा निदर्शनं चाशीरभिमानः स्पृहाऽपि च ॥
पृच्छाऽभिज्ञानमुद्दिष्टं शोभोदाहरणे तथा ।
नीतिरक्षरसङ्घातः क्षोभश्चार्थविशेषणम् ॥
प्रोत्साहनं गुणाख्यानं गुणोक्तिश्च निवेदनम् ।
गुणानुवादोपपत्तिपरिवादोद्यमा अपि ॥
अनुक्तसिद्धिः कार्यं च परिहारस्तथाश्रयः ।
उक्तिर्देशोऽनुवृत्तिश्च प्रहर्षश्च क्षमेति च ॥
चतुष्षष्टि(?)रलङ्काराः कथिता नाटकाश्रयाः ।

१४ यूनोः प्रियकरो योऽर्थः स नयः कथ्यते बुधैः ॥
विशेषकीर्तनं यत्स्यादर्थे सोऽतिशयः स्मृतः ।

'कुन्दमाला' सुश्लिष्ट तथा पाँच सन्धियो से युक्त है । इसी प्रकार वेणीसहार छत्तीस उज्ज्वल भूषणो से युक्त है । देवी-परिणय मे सभी वृत्तियाँ कही जाती है । नागानन्द मे प्रवेशकादि की निष्पत्ति कही गयी है ।

[अलंकार (५४)]

१३ नय, अतिशय, दाक्षिण्य, सिद्धि, अभिप्राय, गर्हण, उपदिष्ट, माला, सार्थापत्ति, सम्भ्रम, पश्चाताप, प्रसिद्धि, हेतु, दृष्टान्त, सशय, गुणातिपात, आक्रन्द, विचार, प्राप्ति, विशेषण, निरुक्ति, कपट, मनोरथ, याचा, निदर्शन, आशी, अभिमान, स्पृहा, पृच्छा, अभिज्ञान, उद्दिष्ट, शोभा, उदाहरण, नीति, अक्षरसघात, क्षोभ, अर्थविशेषण, प्रोत्साहन, गुणाख्यान, गुणोक्ति, निवेदन, गुणानुवाद, उपपत्ति, परिवाद, उद्यम, अनुक्तसिद्धि, कार्य, परिहार, आश्रय, उक्ति, देश, अनुवृत्ति, प्रहर्ष तथा क्षमा—ये ५४ [चौंसठ (?)] प्रकार के नाटक के आश्रित अलकार कहे जाते है ।[७]

१४ **नय**—युवक-युवती के बीच प्रिय करने वाला जो कार्य होता है, वह विद्वानो द्वारा 'नय' कहलाता है ।
अतिशय—किसी कार्य मे विशेष प्रकार का जो कथन होता है, वह 'अतिशय' कहलाता है ।[८]

१५ चित्तानुवृत्तिर्दाक्षिण्यं सिद्धिरिष्टार्थसङ्गमः ॥

१६ स्वाद्येष्वर्थेष्वहंमानः सोऽभिप्राय इतीरितः ।
कुत्सैव गर्हणेत्युक्ता क्रोधान्मानाच्च मत्सरात् ॥

१७ लोकवेदमताख्यानमुपदिष्टमुदाहृतम् ।
गुणाभिधानं माला स्यादर्थानामिष्टसिद्धये ॥

१८ अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसंयुक्ता सार्थापत्तिरिति स्मृता ॥

१९ वचनव्यवहारेषु स्खलनं यस्स सम्भ्रमः ।
अनुतापो गतार्थस्य पश्चात्ताप इतीरितः ॥

२० प्रसिद्धिर्लोकविख्यातैर्वाक्यैरर्थप्रसादनम् ।
पक्षप्रसाधको हेतुः दृष्टान्तः साम्यकीर्तनम् ॥

---

१५ **दाक्षिण्य**—चेष्टा और वाणी के द्वारा किसी के चित्त को प्रसन्न करना 'दाक्षिण्य' कहलाता है ।

सिद्धि—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति (समागम) 'सिद्धि' कहलाती है ।

१६ **अभिप्राय**—स्वाद्यमान वस्तुओ मे अपनी कल्पना करना 'अभिप्राय' कहा जाता है ।

गर्हण—क्रोध से, मान से तथा मत्सर से की गई निन्दा (कुत्सा) 'गर्हण' कहलाती है ।

१७ **उपदिष्ट**—लौकिक, वैदिक मत का कथन 'उपदिष्ट' कहा जाता है ।[९]

माला—अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए अनेक अर्थों के गुणो का कथन 'माला' कहलाता है ।

१८ **सार्थापत्ति**—किसी अर्थ के कथन से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे 'अर्थापत्ति' कहते है, जब वह अर्थापत्ति वचनो की मधुरता (मधुर वचनो) से युक्त होती है तो 'सार्थापत्ति' कहलाती है ।[१०]

१९ **सम्भ्रम**—व्यवहार मे बोले जाने वाले वाक्यो मे स्खलन (त्रुटि) होती है, वह 'सम्भ्रम' कहलाता है ।

पश्चाताप—बीती हुई बात का शोक करना या गई हुई वस्तु के लिए पीछे से सताप करना 'पाश्चात्ताप' कहलाता है ।[११]

२० **प्रसिद्धि**—लोक-प्रसिद्ध वाक्यो के द्वारा वस्तु का परिचय कराना 'प्रसिद्धि' है ।[१२]

हेतु—पक्ष[१३] का साधक 'हेतु' कहलाता है ।

दृष्टान्त—सादृश्य—कथन 'दृष्टान्त' कहलाता है ।[१४]

२१ अनिश्चयेन वाक्यस्य समाप्तिः संशयः स्मृतः ।
गुणातिपातो व्यत्यस्तगुणाख्यानमुदाहृतम् ॥

२२ आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकालाप उदाहृतः ।
यथोचितमुपन्यासो विचारः परिकीर्तितः ॥

२३ एकदेशादशेषस्य ज्ञानं प्राप्तिरुदाहृता ।
सिद्धार्थहेतूपन्यासविशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥

२४ निरुक्तिर्निरवद्योक्तिः पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
उक्तार्थस्यापलपो यः कपटं तदुदाहृतम् ॥

२५ मनोरथोऽन्यापदेशैः स्वाभिप्रायस्य सूचनम् ।
याञ्चेति कथ्यतेऽभीष्टसङ्गमप्रार्थनोभयोः ॥

२६ निदर्शनं तत्समानवस्तुरूपस्य कीर्तनम् ।
आशीरभीष्टविषयस्वायुराद्यर्थवर्धनम् ॥

---

२१ **सशय**—अनिश्चय मे वाक्य की समाप्ति 'सशय' कहलाती है।[१५]
गुणातिपात—विपरीत गुणो का कथन 'गुणातिपात' कहलाता है।[१६]

२२ **आक्रन्द**—अभीष्ट वस्तु के प्रति शोक से विलाप करना 'आक्रन्द' कहा जाता है।[१७]

विचार—यथोचित सोचना (कहना) 'विचार' कहलाता है।

२३ **प्राप्ति**—किसी एक अश से सम्पूर्ण का ज्ञान कर लेना ही 'प्राप्ति' है।
विशेषण—प्रसिद्धि-हेतु का कथन करके फिर कुछ विशेषता (किसी एक मे) दिखलाने को 'विशेषण' कहते हैं।[१८]

२४ **निरुक्ति**—पूर्वोक्त-अर्थ की प्रसिद्धि के लिए निर्दोष उक्ति ही 'निरुक्ति' कहलाती है।

कपट— कही हुई वस्तु का उल्लघन करना अर्थात् कही हुई बात से हट जाना 'कपट' कहलाता है।

२५ **मनोरथ**—दूसरे बहानो से अपने अभिप्राय की सूचना 'मनोरथ' कहलाता है।[१९]
याचा—अभीष्ट समागम के लिए की गई दोनो (नायक या नायिका) की प्रार्थना 'याचा' कहलाती है।

२६ **निदर्शन**—जहाँ समान वस्तुओ के रूप का निरूपण किया जाता है, उसे 'निदर्शन' कहते हैं।
आशीः—अभीष्ट वस्तु, आयु आदि तथा अर्थ-वृद्धि के लिए दिये गये प्रियजनो के आशीर्वाद को 'आशी ' कहते हैं।[२०]

२७ अङ्गीकारोऽभिमानः स्यादर्थे हर्षादिभिः कृतः ।
रमणीयार्थविषयो रागो यः सा स्पृहा मता ॥

२८ अन्वेषणन्तु पृच्छा स्यादभिज्ञानं तु सूचनम् ।
उद्दिष्टमर्थनिर्देशः पारोक्ष्याच्चापरोक्ष्यतः ॥

२९ स्वप्रभावप्रकटनं शोभेति परिकीर्त्यते ।
दृढतुल्यार्थकृद्वाक्यमुदाहरणमुच्यते ॥

३० न्यायानुवर्तनं नीतिः लोकशास्त्राविरोधतः ।
स एवाक्षरसङ्घातो वाक्य श्लिष्टाक्षरञ्च यत् ॥

३१ आत्मन्यभूततद्भावभावनं क्षोभ ईरितः ।
विशिष्टार्थप्रमाकृद्यद्वाक्यमर्थविशेषणम् ॥

३२ त्वरानिवेदनं यत्तु तत्प्रोत्साहनमुच्यते ।
आख्यानं स्याद्गुणाख्यानं गुणोक्तिर्गुणकीर्तनम् ॥

---

२७ **अभिमान**—किसी वस्तु मे 'हर्ष' आदि से उत्पन्न अहकार 'अभिमान' कहलाता है।
स्पृहा—रमणीक वस्तुओ के प्रति जो अनुराग होता है, वह 'स्पृहा' कहलाती है।[२१]

२८ **पृच्छा**—अन्वेषण करना 'पृच्छा' कहलाता है।
अभिज्ञान—सूचना देना 'अभिज्ञान' कहलाता है।
उद्दिष्ट—परोक्षापरोक्ष रूप से वस्तु का वर्णन 'उद्दिष्ट' कहलाता है।

२६ **शोभा**—अपने प्रभाव को प्रकट करना 'शोभा' कहलाता है।
उदाहरण—जहाँ दृढ समानार्थक वाक्यो के द्वारा अभिमत अर्थ साधित हो, उसे 'उदाहरण' कहते है।

३० **नीति**—लोकशास्त्रानुसार न्यायपूर्वक अनुगमन (व्यवहार करना) 'नीति' कहलाता है।[२२]
अक्षरसंघात—जो श्लिष्ट अक्षरो से युक्त वाक्य होता है, उसे 'अक्षर-सघात' कहते हैं।[२३]

३१ **क्षोभ**—आत्मा मे अविद्यमान भाव से भावित करना 'क्षोभ' है।[२४]
अर्थ-विशेषण—किसी विशेष लक्ष्य को लक्षित करके कहे जाने वाले वाक्य 'अर्थ-विशेषण' कहलाते है।

३२ **प्रोत्साहन**—किसी कार्य मे शीघ्रता कराना अर्थात् उत्साहित करना 'प्रोत्साहन' कहलाता है।
गुणाख्यान—गुणो के कथन को 'गुणाख्यान' कहते हैं।
गुणोक्ति—गुणो के वर्णन को 'गुणोक्ति' कहते हैं।

३३ समावस्थानकथनं निबेदनमुदाहृतम् ।
गुणानुवादो यूनोर्यद्भूयो भूयो गुणस्तुतिः ।।
३४ उपपत्तिः स्वबुद्ध्याऽर्थे योग्यताधानमुच्यते ।
अपवादो मृषादोषस्तूत्साहस्तूद्यमो भवेत् ।।
३५ अनुक्तसिद्धिरुक्तार्थस्यान्यथासिद्धिरुच्यते ।
प्रयोजनाभिधानं यत्कार्यमित्यभिधीयते ।।
३६ परिहारः प्रतीतस्य कस्याप्यर्थस्य मार्जनम् ।
भीताभयप्रदानं यत्स आश्रय इतीरितः ।।
३७ उक्तिस्तत्त्वाभिधानं स्यात्स्तोतुन्निन्दितुमेव च ।
देशः स्याल्लिङ्गिनो ज्ञानाभिधानमिति कथ्यते ।
३८ अभ्यर्थनानुवृत्तिर्या साऽनुवृत्तिरुदाहृता ।
सन्तोषोक्तिः प्रहर्षः स्यादनर्थाच्छादनं क्षमा ।
३९ ईदृग्लक्षसंयुक्तं नाटकं सुप्रयोजितम् ।
प्रेक्षकस्य नटस्यापि प्राश्निकस्य कवेरपि ।।
स्याद्भुक्तये मुक्तये च तेषां लक्षणमुच्यते ।

---

३३ **निवेदन**—समान अवस्था के कथन को 'निवेदन' कहा जाता है।
गुणानुवाद—युवक-युवती के बीच बार-बार की जाने वाली गुण-स्तुति 'गुणानुवाद' कहलाती है।[२५]

३४ **उपपत्ति**—अर्थ-सिद्धि के लिए अपनी बुद्धि की योग्यता का प्रयोग 'उपपत्ति' कहा जाता है।
अपवाद—झूठा दोषारोपण 'अपवाद' कहलाता है।
उद्यम—उत्साह को 'उद्यम' कहते है।

३५ **अनुक्त-सिद्धि**—कहे हुए अर्थ की अन्यथा-सिद्धि 'अनुक्त-सिद्धि' कहलाती है।
कार्य—प्रयोजन का कहना 'कार्य' कहा जाता है।

३६ **परिहार**—किसी प्रतीत-अर्थ के परिमार्जन को 'परिहार' कहते है।
आश्रय—'आश्रय' वह कहलाता है जो डरे हुए को अभय-प्रदान करता है।

३७ **उक्ति**—'उक्ति' वह कही जाती है जो तत्त्व को बताती है कि यह स्तुति के योग्य है और यह निन्दा के योग्य है।
देश—लिंगि (सन्यासी) के ज्ञान का कथन 'देश' कहा जाता है।

३८ **अनुवृत्ति**—जो विनयपूर्वक अनुगमन होता है, वह 'अनुवृत्ति' कहा जाता है।
प्रहर्ष—सन्तोषपूर्वक उक्ति 'प्रहर्ष' कहलाती है।
क्षमा—अनर्थ के छिपाने को 'क्षमा' कहते है।[२६]

३९ इस प्रकार के लक्षणो से युक्त नाटक का प्रयोग किया जाता है। अब भुक्ति और मुक्ति अर्थात् भोग और मोक्ष के लिए प्रेक्षक, नट, प्राश्निक तथा कवि के लक्षणों को कहते हैं।

४० **यशोधर्मरतः शान्तः श्रुताभिजनवृत्तवान् ॥**
षडङ्गनाट्यकुशलः चतुरातोद्यविच्छुचिः ।
चतुरोऽभिनयज्ञश्च रसभावविवेचकः ॥
नैपथ्यदेशभाषाज्ञः कलाशिल्पविचक्षणः ।
शब्दच्छन्दोऽभिधानज्ञः सर्वसिद्धान्ततत्त्ववित् ॥
त्यक्तमत्सरदोषश्च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ।

४१ **एभिर्गुणैरुपेतश्च प्रयोगे वीतसाध्वसः ॥**
इङ्गिताकारचेष्टाज्ञो नानाप्रकृतिशीलवित् ।
शिल्पविन्नायकादीनां तादात्म्यापत्तिभावकः ॥
चित्रविच्चित्रवर्णज्ञः तत्सङ्करविभागवित् ।
ईदृग्गुणविशिष्टस्तु नटो नाट्ये प्रशस्यते ॥

४२ **नटप्रेक्षकयोरुक्तगुणैरेतैर्विभूषितः ।**
यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दविन्नृपः ॥

(प्रेक्षक)

४० नाट्य मे 'प्रेक्षक' वह कहलाता है जोकि यशस्वी हो, धर्मरत हो, शान्त स्वभाव वाला हो, श्रुतिज्ञ तथा कुलीन हो, नाटक के षडगो मे कुशल हो, तत (वीणा आदि), आनद्ध (मुरजादि), सुषिर (वशी आदि) तथा घन (घण्टा आदि)—चार प्रकार के सगीत-वाद्यो के प्रयोग मे कुशल हो, पवित्र हो, चतुर और अभिनय का ज्ञाता हो, रसविवेचक तथा भाव-विवेचक हो, नेपथ्य का ज्ञाता हो, देश और भाषाओ को जानने वाला हो, कला तथा शिल्प विद्या मे निपुण हो, शब्दशास्त्र (व्याकरण), छन्दशास्त्र और कोश का ज्ञाता हो, सभी सिद्धान्तो के तत्त्व को जानने वाला हो तथा मत्सर दोष से रहित हो ।[३७]

(नट)

४१ नाट्य मे 'नट' वह श्रेष्ठ होता है जो उपर्युक्त (प्रेक्षकगत) सभी गुणो से युक्त हो, अभिनय मे निर्भीक हो, बाह्य और आभ्यन्तर चेष्टाओ का ज्ञाता हो, विभिन्न प्रकार की प्रकृति व शील का ज्ञाता हो, शिल्पविद्या मे निपुण हो, नायक आदि के भावो के साथ तादात्म्यापत्ति ग्रहण करने वाला हो, चित्र-विचित्र वर्णो को जानने वाला हो, उनके मिश्रण तथा विभाग को जानने वाला हो । इस प्रकार के विशेप गुणो वाला 'नट' कहा जाता है ।

(प्राश्निक)

४२ विशेष अभिनेताओ के अभिनय के विषय मे कोई सघर्ष (विरोध) उत्पन्न हो जाने पर—उपर्युक्त नट तथा प्रेक्षक-गत सभी गुणो से विभूषित, यज्ञविद्,

इष्टार्थश्चित्रकृद्वेश्या गान्धर्वो राजसेवकः ।
समुत्पन्ने च सङ्घर्षे प्राश्निकास्ते भवन्ति हि ।।

४३ यज्ञविद्देवतायोगे नर्तकोऽभिनयादिषु ।
छन्दोविद्वृत्तबन्धेषु शब्दवित्पाठ्यविस्तरे ।।
विभूतिगुणसम्भोगवीर्यान्तःपुरचेष्टिते ।
नृपः स्वचरितेषु स्यादिष्टार्थस्संस्तवे सदा ।।
प्रमाणाकृतिचेष्टासु नानालङ्कारयोजने ।
नाट्यनैपथ्ययोगेषु चित्रकृत्तु प्रशस्यते ।।
कामोपचारे वेश्या तु गान्धर्वः स्वरतालयोः ।
सेवको विनयाचारे त एते प्राश्निका मताः ।।

४४ नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
यद्यत्स्वशिल्पं नैपथ्यं कर्म वा चेष्टितं वचः ।।
तत्तन्नाट्येन साध्यं यत्स्वकर्मविषये स्थितम् ।
कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः ।
शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धै रसभावविवेचकैः ।
बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्यं यन्नाट्यमुच्यते ।

नर्तक, छन्दशास्त्र का ज्ञाता, शब्द-शास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता, राजा, इष्टार्थ, चित्रकार, वेश्या, गान्धर्व तथा राजसेवक—ये सभी प्राश्निक कहलाते है।

४३ देवता-विपयक प्रयोग मे यज्ञविद्, अभिनय आदि मे नर्तक, वृत्त-बन्ध—(छन्दो-रचना) मे छन्द-शास्त्र का ज्ञाता, पाठ के विस्तार मे शब्दवेत्ता, विभूति (वैभव), गुण, सम्भोग, वीर्य (पराक्रम) तथा अन्त पुर की चेष्टाओ मे राजा, सदा अपने चरित्र के सस्तव (प्रशसा) मे इष्टार्थ, प्रमाण एव आकृति की चेष्टा मे, अनेक प्रकार की अलकार-योजना मे, नाट्य और नेपथ्य के प्रयोग मे चित्रकार प्रशस्त (श्रेष्ठ) होता है। कामोपचार मे वेश्या, स्वर और ताल मे गान्धर्व तथा विनयोपचार मे सेवक श्रेष्ठ कहे गये हैं—ये सब प्राश्निक कहलाते है।[२८]

(प्रेक्षकों का रञ्जन-प्रकार)

४४ अनेक प्रकार के स्वभाव वाली प्रकृतियाँ है, शील (स्वभाव) मे ही नाट्य प्रतिष्ठित है। जो-जो अपने शिल्प, नेपथ्य, कर्म, चेष्टा तथा वचन है, वह सब नाट्य के द्वारा साध्य हैं, जो अपने कर्म के विषय मे स्थित है। जो नाट्य (नाटक) कामुक, चतुर (विदग्ध), सेठ, वैरागी, शूर, ज्ञान और आयु मे वृद्ध, रस तथा भाव के विवेचक, बालक, मूर्ख तथा अबला से सेव्य कहा जाता है, उन-उन अर्थों मे उनकी जिससे प्रसन्नता कही जाती है, वे ये हैं कि—तरुण

तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम् ।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ।।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेत्वथ विरागिणः ।
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।।
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा ।।
बाला मूर्खास्स्त्रियश्चैव हास्यनैथ्ययोः सदा ।
४५ यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ।।
क्रुद्धः क्रोधे भये भीरुः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः ।
४६ तदीदृङ्नाटकारम्भप्रकारोऽत्र प्रदर्श्यते ।।
प्रयुज्य रङ्गं निष्क्रामेत्सूत्रधारः सहानुगः ।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ।।
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ।।

(युवक) काम मे प्रसन्न होता है । चतुर समय के अनुसार प्रसन्नता का अनुभव करता है । सेठ धन-सम्बन्धी बातो से प्रसन्न रहता है । वैरागी मोक्ष-सम्बन्धी विषय मे प्रसन्नता का अनुभव करता है । शूर-वीर वीभत्स तथा रौद्र दृश्यो मे प्रसन्न रहते है और नियुद्ध (बाहु-युद्ध) तथा युद्ध मे प्रसन्नता का अनुभव करते हैं । वृद्ध पुरुष सदा धार्मिक प्रवचन तथा पुराण-कथाओ को सुनने मे प्रसन्न होता है । विद्वान सर्वदा सभी सात्त्विक भावो मे प्रसन्न होते हैं । बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्यास्पद दृश्य तथा नेपथ्य-सम्बन्धी दृश्यो से प्रसन्न रहती है ।

४५ जो प्रसन्नता मे प्रसन्न रहता है, शोक के समय शोक करता है, क्रोध मे क्रोध करता है तथा भय के समय डरता है, वह श्रेष्ठ 'प्रेक्षक' कहा गया है ।[३०]

४६ इस प्रकार अब नाटकारम्भ के भेद कहे जाते है—
सूत्रधार पूर्वरग का विधान समाप्त करके अपने अनुयायियो के साथ चला जाता है । उसके पीछे सूत्रधार के गुण तथा आकृतिवाला 'स्थापक' प्रवेश करता है । यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य हो तो वह देवता-रूप होकर और यदि मर्त्यलोक की वस्तु अभिनेय हो तो मनुष्य का रूप धारण करके एव मिश्रवस्तु हो तो देवता या मनुष्य मे से किसी एक का रूप धारण करके उसकी स्थापना करता है । यह 'स्थापक' वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है ।[३१]

४७ प्रीतिर्नाम सदस्यानामित्यादेर्वस्तु सूच्यते ।
४८ बीजन्तु वेणीसंहारे सत्पक्षा इति दर्शितम् ॥
४९ रत्नावल्यां मुखं द्वीपादन्यस्मादपि दर्शितम् ।
५० तवास्मि गीतरागेति पात्रं शाकुन्तले कृतम् ॥

---

४७ (१) **वस्तु-सूचना**—जैसे अनर्घराघव नाटक मे निम्नलिखित पद्य के द्वारा नाटक की समस्त कथावस्तु का सक्षिप्त सकेत देता है

''**प्रीतिर्नाम**—''[३१] इत्यादि अर्थात् ''सदस्यो की प्रीति नाट्योपजीवी नटो की प्रियतमा हुआ करती है, उसे छीनकर ले जाने वाले उस दुष्ट को जीतकर मैं, उस प्रीतिरूप प्रियतमा को वापस लाना चाहता हूँ ।''

४८ (२) **बीज-सूचना**—जैसे वेणी-सहार नाटक मे स्थापक नाटकीय कथावस्तु के बीज की सूचना देता है—

''**सत्पक्षा**—''[३२] इत्यादि अर्थात् ''सुन्दर पक्ष सम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी राजहस दिशाओ को सुशोभित करते हुए समय पाकर भूतल पर उतर रहे है, अथवा अच्छे-अच्छे प्रभावशाली राजाओ की सहायता से सम्पन्न, वाणीमात्र से 'मधुरभाषी' (किन्तु हृदय तो हलाहल विष से भरा हुआ है, सम्पूर्ण दिशाओ पर अधिकार जमाने वाले तथा पागल की भाँति कार्य करने वाले अर्थात् उच्छृखल स्वभाव के धृतराष्ट्र-पुत्र (कौरव) मृत्यु के वश होकर पृथ्वी पर गिर रहे है ।''

४९ (३) **मुख-सूचना**—जैसे रत्नावली नाटिका मे स्थापक मुख की सूचना देता है—

''**द्वीपादन्यस्माद्**—''[३३] इत्यादि अर्थात् ''यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो वह दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से और दिशाओ के अन्त्य से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर उपस्थित कर देता है । ''

(यहाँ जहाज टूट जाने पर भी समुद्र से निकली हुई रत्नावली का प्रारब्धवश वत्सराज के घर मे आना और फिर यौगन्धरायण का व्यापारादिक यह सब रत्नावली का 'मुख' है ।)

५० (४) **पात्र-सूचना**—

इसमे स्थापक किसी पात्र की सूचना देते हुए प्रथम अक मे उसके भावी प्रवेशका सकेत देता है । जैसे शाकुन्तल मे नट कह रहा है—

''हे नटी ! तेरे मनोहारी गीत-राग ने मेरा मन बलपूर्वक वैसे ही हरण कर लिया है जैसे राजा दुष्यन्त को यह अतितीव्रगामी हरिण दूर ले आया है ।''[३४]

(शाकुन्तल के प्रथम अक मे इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौडते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मच पर प्रविष्ट होता है । इस प्रकार स्थापक-नट की यह स्थापना पात्र-स्थापना कहलायेगी ।

५१ रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥
श्लोकश्च भारतीवृत्त्या सत्पक्षेत्यादिनोच्यते ।

५२ भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥
या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
साङ्गैः प्ररोचनायुक्तैः वीथीप्रहसनामुखैः ।

५३ प्रेक्षकाद्युन्मुखीकारः प्रस्तुतार्थप्रशंसया ॥
प्ररोचना सा श्रीहर्षो निपुणेत्यादिनोच्यते ।

५४ प्रस्तुतिस्त्वीदृगर्थस्य या सा प्रस्तावना स्मृता ॥
मद्वर्ग्या रसपाठेति पद्ये प्रस्तावनोच्यते ।

५५ सूत्रधारो नटीयुक्तो वस्तु प्रस्तावनावधि ॥
कुरुते यत्र सद्वृत्तैस्तदामुखमुदाहृतम् ।

---

५१ वह स्थापक-नट काव्यार्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोको से सभा को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे[३५]। "सत्पक्षा "इत्यादि श्लोक भारती वृत्ति से कहा गया है।

५२ नट के द्वारा प्रयुक्त सस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार 'भारती-वृत्ति' कहलाता है।[३६] जिसमे वाणी मुख्य-रूप मे रहे, जो पुरुष पात्रो द्वारा प्रयुक्त की जाये, स्त्री का जिसमे सन्निवेश न हो, सस्कृत-पाठ्य से युक्त हो तथा नटो के द्वारा अपने ही नाम पर जिसका नामकरण किया गया हो उसे 'भारती' वृत्ति समझना चाहिए।[३७] इस भारती वृत्ति के प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख—ये चार भेद पाये जाते है।

(प्ररोचना)

५३ काव्यार्थादि की प्रशसा के द्वारा प्रेक्षकादि को प्रस्तुत (प्रकृत) वस्तु की ओर आकर्षित करना 'प्ररोचना' कहलाता है।[३८] जैसे—रत्नावली मे "श्रीहर्षो निपुणेत्यादि—"[३९] प्ररोचना कहा जाता है।

५४ इस प्रकार के प्रकृत अर्थ की जो प्रस्तुति होती है, वह "प्रस्तावना" कहलाती है। जैसे—अनर्घराघव नाटक के "मद्वर्ग्या रसपाठ—"[४०] इत्यादि पद्य मे प्रस्तावना कही जाती है।

(आमुख)

५५ जहाँ सूत्रधार नटी के साथ प्रस्तावना-पर्यन्त अच्छे वृत्तो के द्वारा वस्तु का कथन करता है, उसे 'आमुख' कहते हैं।

५६ सूत्रधारो नटी ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ।।
स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपिचित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
५७ नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।।
सूत्रधारेण सहिताः सल्लापं यत्र कुर्वते ।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा ।।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि वा ।
५८ प्रवृत्तककथोद्घातप्रयोगातिशयैस्तथा ।।
वीथ्यङ्गैः षोडशैतेषां योगः प्रस्तावनोच्यते ।
५९ प्रवेशो यो वसन्तादिसाम्येन स्यात्प्रवृत्तकम् ।।
सत्पक्षेत्यादिना श्लोकेनायमर्थो यदीरितः ।
६० स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ।।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधोच्यते ।

---

५६ आमुख उसे कहते है, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर अपने कार्य का वर्णन करे।[४१]

५७ जहाँ नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय मे विचित्र वाक्यो से बातचीत करें या वीथी के किन्ही अगो से बातचीत करे या फिर किसी और ही प्रकार से बातचीत करे तो विद्वज्जन उसे 'आमुख' कहते है और उसी का नाम प्रस्तावना भी है।[४२]

५८ प्रस्तावना के तीन प्रकार हैं—प्रवृत्तक, कथोद्घात तथा प्रयोगातिशय तथा वीथी के तेरह अग या प्रकार (उद्घात्यक, अवलगित, नालिका, अवस्यन्दित, असत्प्रलाप, वाक्केलि, मृदव, अधिबल, छल, त्रिगत, व्याहार, गण्ड तथा प्रपच) प्रस्तावना के भी होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रस्तावना के सोलह प्रकार होते है।

(प्रवृत्तक)

५९ 'प्रवृत्तक' नामक आमुख भेद वह होता है जहाँ बसन्त आदि ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय। जैसे—वेणी-सहार नाटक मे "सत्पक्षा—" इत्यादि श्लोक से यही अर्थ कहा गया है। शरद्-ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर भीम प्रवेश करता है।

(कथोद्घात)

६० अपनी कथा के ही समान सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण करके जब कोई पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है तो उस प्रस्तावना को 'कथोद्घात' कहते है। यह दो प्रकार का होता है—वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक।[४३] जैसे—

द्वीपादित्यादिवाक्येन यथा यौगन्धरायणः ॥
अर्थः क्रूरग्रहेत्यादि मुद्राराक्षसकल्पितः ।
आकर्ण्य चाणक्यपात्रप्रवेश उपलक्ष्यते ॥
६० एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥
एष राजेव दुष्यन्तेत्यादिना स प्रतीयते ।
६२ प्रवृत्तककथोद्घातप्रयोगातिशयत्रिके ॥
भीमचाणक्यदुष्यन्तप्रवेशैर्लक्ष्यते क्रमात् ।
६३ अथात्रैतानि कथ्यन्ते वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥
उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

वाक्य का प्रयोग रत्नावली मे पाया जाता है, जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य "द्वीपादन्यस्मादपि—" इत्यादि का प्रयोग अपनी उक्ति मे करते हुए प्रवेश करता है ।

वाक्यार्थ का प्रयोग मुद्राराक्षस की प्रस्तावना मे मिलता है। चाणक्य सूत्रधार के वाक्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है। जैसे—"[४४]क्रूरग्रह स—" इत्यादि अर्थात् "नीच ग्रह वह प्रसिद्ध राहु इस समय सम्पूर्ण कलाओ वाले चन्द्रमा को बलपूर्वक ग्रसित करना चाहता है ।" (नेपथ्य मे) आह ! यह कौन है जो मेरे रहते हुए चन्द्र को (चन्द्रगुप्त को) पराजित करना चाहता है ?"

(प्रयोगातिशय)

६१ जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर सकेत करे कि "अरे ! ये तो वे ही हैं या उनके समान है" और उस कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाय, उसे 'प्रयोगातिशय' कहते है।[४५] जैसे—अभिज्ञान-शाकुन्तल के "[४६]एष राजेव दुष्यन्त"—इत्यादि से प्रयोगातिशय प्रतीत होता है।

६२ इस प्रकार प्रवृत्तक, कथोद्घात तथा प्रयोगातिशय के आश्रित क्रमश भीम, चाणक्य तथा दुष्यन्त मञ्च पर प्रवेश करते हैं।

६३ अब यहाँ पर वीथी के तेरह अगो को कहते है ।

उद्घात्यक, अवलगित, प्रपच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार तथा मृदव—ये तेरह वीथी के अग है।

६४ गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।
यत्रान्योन्यसमालापो द्वेधोद्धात्यन्तदुच्यते ।

६५ अन्योन्यालापरूपैका स्यात्प्रश्नोत्तरमालिका ।
गूढार्थपदपर्यायमूलैकालापयोर्द्वयोः ।

६६ यथा हि पाण्डवानन्दे सा प्रश्नोत्तरमालिका ॥
"का भूषा बलिनां क्षमा परिभव. कोऽयं स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥"

६७ अथ विक्रमोर्वशीये राज्ञो विदूषकस्य सल्लापे ।
कामपदार्थप्रश्नाद्गूढार्थो लक्ष्यते नितराम् ॥

(उद्धात्यक)

६४ जहाँ दो पात्रो की परस्पर बातचीत इस ढग की पायी जाय कि वहाँ या तो गूढार्थ पदो तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाय, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की माला बन जाय, तो इस तरह दो तरह का 'उद्धात्यक' होता है ।[४७]

६५ जहाँ परस्पर दो पात्र प्रश्नोत्तर-माला-रूप मे सम्वाद करे, यह उद्धात्यक का प्रथम भेद है और जब दो पात्र परस्पर गूढार्थ पद या पर्याय-माला-रूप मे सम्वाद करे तो दूसरे प्रकार का उद्धात्यक होता है ।

६६ प्रश्नोत्तर-मालिका उद्धात्यक का उदाहरण पाडवानन्द नाटक मे दिया गया है। जैसे—

"भूषण क्या है ? बलशालियो की क्षमा । तिरस्कार क्या है ? जो अपने ही कुल के बन्धु-बाधवो के द्वारा किया गया है । दुख क्या है ? दूसरो के आश्रित रहना । ससार मे प्रशसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है । मृत्यु क्या है ? व्यसन । शोक का त्याग कौन कर सकता है ? जो अपने शत्रुओ को जीत लेते हैं । ये सब बातें किसने जानली ? विराट नगर मे अज्ञात रूप मे छिपकर रहते हुए पाण्डवो ने ।"

६७ गूढार्थ पदो की प्रयोगमाला उद्धात्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक मे दिया गया है जहाँ राजा 'काम' के विषय मे गूढार्थ पदो का प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है । जैसे—

("**विदूषक**—हे मित्र, 'काम' कौन है, जिससे तुम दुखी हो रहे हो, वह पुरुष है या स्त्री ।)

राजा—मित्र ! प्रेम का वह सुन्दर मार्ग जो केवल सुख की ओर ही प्रवृत्त होता है तथा मन मे उत्पन्न होता है, काम कहलाता है ।

विदूषक—मैं यह नही जानता ।

राजा—मित्र, वह काम इच्छा से उत्पन्न होता है ।

विदूषक—तो क्या, जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी वह कामना करता है।

राजा—और क्या ।

विदूषक—तो समझ गया जैसे मै भोजन-शाला मे भोजन की इच्छा करता हूँ ।)

६८ यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।।
प्रस्तुतार्थसमावेशादन्यकार्यस्य साधनम् ।
६९ कार्या सैकतलीनेति (?) प्रस्तुतार्थोपदेशतः ।।
सीतात्यागपरीवादादन्यकार्यस्य साधनम् ।
अप्रस्तुतसमावेशादन्यकार्यस्य साधनम् ।।
७० तवास्मि गीतरागेणेत्यादौ तत्तु विलोक्यते ।
अत्राप्रस्तुतदुष्यन्तमृगयाव्याजतोऽन्यतः ।।
प्रवेक्ष्यमाणपात्रस्य सूचनं तन्निवेशनम् ।

(अवलगित)

६८ जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाय, वह अवलगित का प्रथम भेद है। अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो तो दूसरे प्रकार का अवलगित होता है। इस तरह अवलगित दो प्रकार का होता है।[४९] प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि न होकर दूसरी सिद्धि हो और एक ही क्रिया से एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो।

६९ जैसे प्रथम प्रकार के अवलगित का उदाहरण अभिज्ञान-शाकुन्तल मे दिया गया है कि—

"[५०]**कार्यासैकतलीन—**" इत्यादि (?) अर्थात् "बालुमय स्थान पर सुखासीन हस-युगल से शोभित मालिनी नदी लिखनी है, उसके दोनो ओर बैठे हुए हरिणो के जोडे वाली गौरी (पार्वती) के गुरू अर्थात् हिमालय की पवित्र तलहटी भी लिखनी है।"

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के उपदेश से अप्रस्तुत मालिनी और पाद (तलहटी) का "कार्या" इस एक क्रिया से सम्बन्ध कर दिया गया है।

पुन इसी अवलगित का उदाहरण उत्तररामचरित से दिया जा सकता है, जहाँ वन-विहार की दोहद इच्छावाली गर्भिणी सीता के दोहद को पूर्ण करने के कार्य से वन मे ले जाकर जनापवाद के कारण वहाँ छोड दिया गया है। यहाँ एक कार्य के समावेश (सीता-दोहद-पूर्ति-रूप) से दूसरा कार्य वन-त्याग भी सिद्ध हो गया है।

७० दूसरे अवलगित का उदाहरण जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल मे "तवास्मि गीत-रागेण—" इत्यादि के अनन्तर राजा का प्रवेश हुआ है। यहाँ अप्रस्तुत दुष्यन्त का मृगया के लिए प्रस्थान के बहाने से (अन्य से) प्रवेक्ष्यमाण पात्र की सूचना दी गयी है।

७१ प्रस्तुतार्थसमावेशादेकमन्यार्थसाधनम् ॥
अन्यदप्रस्तुतार्थस्य प्रवेशेनान्यसाधनम् ।
७२ असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥
प्रपञ्चस्य स्वरूपन्तु नागानन्दे विभाव्यते ।
"निच्चं जो पिबइ सुरं जणस्स पिअसंगमञ्च जो कुणइ ।
मण्णे दो अवि देवा बलदेवो कामदेवो अ ॥"
७३ श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ॥
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ।
एतत्प्रस्तावनात्मेति कथ्यते नाट्यवेदिभिः ॥
त्रिगतं त्विन्दुलेखायां वीथ्यां राज्ञाऽभिधीयते ।
"किन्नु कलहंसनादो मधुरो मधुपायिनां नु झङ्कारः ।
हृदयगतवेदनायास्तस्या नु सनूपुरश्चरणः ॥"
७४ प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलना छलम् ॥
छलं च वेणीसंहारे भीमार्जुनवचो यथा ।

---

७१ अत इस प्रकार प्रथम मे एक प्रस्तुत कार्य के समावेश से अन्य कार्य की सिद्धि हुई है और पुन अप्रस्तुत अर्थ के प्रवेश से अन्य कार्य की सिद्धि हुई है ।

(प्रपञ्च)

७२ "प्रपञ्च" वह वीथ्यग है जहाँ पात्र आपस मे एक-दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशसा करे जो हास्योत्पादक हो ।[५१]
इस प्रपञ्च का स्वरूप "नागानन्द" नाटक मे देखा जाता है, जैसे—"मै दो को देव मानता हूँ, प्रथम बलदेव—जो नित्य सुरापान करते है, द्वितीय काम देव—जो मनुष्य का प्रिय मिलन कराता है (नागानन्द, ३-१) ।"

(त्रिगत)

७३ शब्दो की समानता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना करना 'त्रिगत' कहलाता है । नट आदि (नट, नटी और पारिपार्श्विक) तीन पात्रो के आलाप के कारण पूर्वरंग मे भी त्रिगत पाया जाता है ।[५२] इसको नाट्यविद् प्रस्तावना की आत्मा कहते हैं ।
उदाहरण के लिए इन्दुलेखा वीथी मे त्रिगत का प्रयोग राजा करता है—"क्या यह कल हस का मधुर नाद है ? क्या यह भ्रमरियो की झकार है ? क्या यह हृदयगत उस वेदना का नूपुर सहित चरण है ?"

(छल)

७४ प्रिय सदृश अप्रिय वाक्यो से किसी को लोभित कर छलना "छल" कहलाता है ।[५३] जैसे—वेणीसहार मे भीम तथा अर्जुन दुर्योधन को ढूँढते हुए निम्न उक्ति

"कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥"

७५ विनिवृत्त्याऽस्य वाक्केलिर्द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥
वाक्यापरिसमाप्तिर्वा स्याच्छलार्थाभिधायिनः ।
अनर्घराघवे सूत्रिपारिपार्श्विकयोर्यथा ॥
प्रत्युक्तिरूपा वाक्केलिः सर्वत्रैवं विलोक्यताम् ।
प्रक्रान्तवाक्यासमाप्तिमात्ररूपा क्वचिद्भवेत् ॥
सकुण्डलं सकवचमित्यादौ सा विलोक्यते ।
छलवाक्यासमाप्तिर्या स भवेद्विनिवर्तने ॥

का प्रयोग करते हैं, जो अप्रिय वाक्यो से युक्त है लेकिन बाहर से प्रिय सी लगती है—

"द्यूत रूपी कपटो का विधाता, लाख-निर्मित भवन का दाहकर्ता, दु शासनादि सौ छोटे भाइयो का पूज्य अग्रज (गुरु), अगराज कर्ण का मित्र, वह अहकारी राजा दुर्योधन जो द्रोपदी के केश और वस्त्रो के अपहरण करने मे चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक है, कहाँ है ? बतलाओ । क्रोध से नही, किन्तु केवल उनसे मिलने के लिए हम दोनो आये हुए हैं (वेणीसहार, ५,२६) ।"

(वाक्-केलि)

७५ जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पायी जाय अर्थात् प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाय, अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग पात्रो द्वारा किया जाय" अथवा जहाँ छलपूर्वक कथन करने वाले के वाक्य की अपरिसमाप्ति हो, उसे "वाक्केलि" कहते है ।

वाक्य की विनिवृत्ति (वाक्केलि) का उदाहरण है—अनर्घराघव नाटक मे सूत्रि तथा पारपार्श्विक के बीच हुआ कथन ।

प्रत्युक्ति रूपा वाक्केलि को सर्वत्र ऐसे ही देख लेना चाहिए । कही प्रक्रान्त वाक्य की असमाप्ति-मात्र-रूप वाक्केलि होती है । वह 'सकुण्डल सकवचम्—' इत्यादि मे देखी जाती है ।

छलपूर्वक वाक्य की असमाप्ति जो होती है वह वाक्य-विनिवृत्ति मे होती है । जैसे—उत्तररामचरित के तृतीय अक मे कहा गया है, जहाँ सीता के साथ किये गये राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए वासन्ती राम से कह रही है—
"तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रो के लिए कौमुदी हो और तुम मेरे अगो मे "अमृत हो"—इत्यादि

त्वं जीवितं चेत्यारभ्य रामं प्रति समीरितम् ।
वासन्तिकावचः शान्तमित्यप्रियनिवर्तनम् ॥

७६ अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।
रामरावणयोरुक्तिः स्याद्दशग्रीवनिग्रहे ॥

७७ गण्डं प्रस्तुतसम्बधि भिन्नार्थं सहसोदितम् ।
सहभृत्यगणेत्यादिवाक्ये तत्तु विलोक्यते ॥
यथा स्वविजयोक्तिश्च पाण्डुपुत्रजयोक्तिकृत् ।

७८ यथोक्तस्यान्यथाव्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ॥
गृहीतचित्रफलकं राजानमवलोक्य च ।
सुसङ्गतासागरिकासल्लापे तद्विलोक्यते ॥

सैकडो प्रिय वाक्यो से उस भोली-भाली को बहकाकर, हाय, तुमने उसी को—(वनवास दे दिया) अथवा शान्त हो, इससे आगे कहने से क्या लाभ ?"[५५]
यहाँ वासन्ती वाक्य को कहते रुक जाती है और "शान्त हो" कहकर चुप हो जाती है । इससे अप्रिय कथन की निवृत्ति होती है ।

(अधिबल)

७६ स्पर्धा के कारण एक-दूसरे से बढ-चढकर यदि वाक्य बोले तो उसे 'अधिबल' कहते है ।[५६] जैसे—
अनर्घराघव नाटक के षष्ठ अक मे "दशग्रीवनिग्रह" मे राम व रावण के विषय मे पात्रो द्वारा किया गया परस्पर वार्तालाप इस ढग का पाया जाता है कि वे एक-दूसरे की स्पर्धा करते हुए अपने आधिक्य की सूचना देते है ।

(गण्ड)

७७ प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध—रखने वाला सहसा उदित अन्यार्थक वाक्य "गण्ड" कहलाता है ।[५७] जैसे—
वेणीसहार मे दुर्योधन कहता है कि—
"सहभृत्यगण सबान्धव सहमित्र ससुत सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति सयुगे न चिरात्पाण्डु सुत सुयोधनम् ।"
यहाँ दुर्योधन अपनी विजय के लिए कहता है लकिन प्रस्तुत पाण्डवजयोक्ति से यह उक्ति सम्बद्ध हो जाती है ।

(अवस्यन्दित)

७८ अपनी स्वाभाविक उक्ति का अन्यथा व्याख्यान करना '"अवस्यन्दित" कहलाता है ।[५८] जैसे—रत्नावली नाटिका मे चित्रपट्ट पर बने हुए राजा को देखकर अर्थात् सागरिका के हाथ मे राजा (उदयन) का चित्र देखकर सुसगता सागरिका से पूछती है कि यह किसका चित्र है तो सागरिका दूसरे ढग से कहती है कि मदन-महोत्सव मे यह भगवान कन्दर्प का चित्र है । पुन. सुसगता भी दूसरे ढग से कहती है कि मैं इस चित्र को रति-युक्त करती हूँ—ऐसा कहकर रति के बहाने सागरिका चित्र बनाती है ।

७९ सोपहासनिगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ।
विलोक्यते नालिकेयं मुद्राराक्षसनाटके ॥
'हंहो ब्रह्मण मा कुप्येत्यारभ्य प्रश्नयुक्तिभिः ।
अपरक्तांश्चन्द्रगुप्ताज्जानामीत्यन्तमुच्यते ॥

८० असम्बद्धकथालापोऽसत्प्रलाप इतीरितः ।
मूर्खजनसन्निकर्षे हितमपि यत्र प्रभाषते विद्वान् ।
नच गृह्यतेऽस्य वचनं विज्ञेयोऽसत्प्रलापोऽसौ ॥
यथा हि रामाभ्युदये सीतापहरणोद्यतः ॥
मारीचेन सहायेन निषिद्धो रावणः क्रुधा ।
प्रालपद्विपरीतं यदसल्लापः स उच्यते ॥
भुक्ता मया हि गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि नभः ।

(नालिका)

७९ हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को 'नालिका' कहते हैं ।[५९] जैसे मुद्राराक्षस नाटक मे हास्य से युक्त तथा गूढार्थ पहेली 'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नही लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया जाता है जहाँ चन्द्र का गूढार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) से है ।

(**चर**—अरे ब्राह्मण ! कुपित न होओ, सभी सब कुछ नही जानते, कुछ तुम्हारे आचार्य चाणक्य जानते हैं और कुछ हम जैसे व्यक्ति भी जानते हैं ।
शिष्य—(क्रोध के साथ) क्या तुम गुरूजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहते हो ?
चर—अरे ब्राह्मण ! यदि तुम्हारे आचार्य सब कुछ जानते है तो बतावे कि किस व्यक्ति को चन्द्र अच्छा नही लगता ?
शिष्य—इसे जानने से क्या लाभ ?
इन बातो को सुनकर चाणक्य समझ गया कि चर के कहने का तात्पर्य यह है कि "मै चन्द्रगुप्त के शत्रुओ को जानता हूँ ।"[६०])

(असत्प्रलाप)

८० असम्बद्ध (उटपटाग) बात कहने को 'असत्प्रलाप' कहते है ।[६१]
जब कोई विद्वान किसी मूर्ख के समक्ष हित की बात कहे, लेकिन वह मूर्ख उस (विद्वान) की बात को ग्रहण नही करे तो उसे 'असत्प्रलाप' समझना चाहिए । जैसे—रामाभ्युदय नाटक मे 'सीता का अपहरण करने के लिए उद्यत रावण मारीच द्वारा सहायता के लिए मना कर देने पर क्रुद्ध होकर जो विपरीत बोला है वह 'असत्प्रलाप' है ।

पुन निम्न उन्मादोक्ति मे 'असत्प्रलाप' है—

हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ।।
असम्बद्धकथालापोऽसत्प्रलापोऽत्र दृश्यते ।
८१ अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ।।
मालव्यां गन्तुमिच्छन्त्यां गणदासविदूषकौ ।
यत्र सल्लपतस्तस्या हास्यलोभकरं वचः ।।
यावद्वीक्षेत राजानं व्यापारस्तत्र दृश्यते ।
८२ दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।।
यथा हि नायकानन्दे गुणा दोषाय कीर्तिताः ।
कस्मैचित्कपटायेति लक्ष्मीमुद्दिश्य केनचित् ।।

"मै पर्वतो को खा चुका हूँ, अग्नि से स्नान कर चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र है, इसलिए मैं नाँच रहा हूँ।"
यहाँ असम्बद्ध बात कहने से 'असत्प्रलाप' देखा जाता है।

(व्याहार)

८१ दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्यपूर्ण और लोभजनक वचन बोलने को 'व्याहार' कहते है।[६२]
जैसे मालविकाग्निमित्र मे लास्य प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—
"अभी नही थोडी देर रुककर उपदेश सुनकर जाओ।"
यहाँ से शुरू करके (गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त) गणदास विदूषक से कहता है—
आर्य ! कोई गलती हुई हो तो कहे।
विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है, इसका अवश्य इन्होने उल्लघन किया है। (मालविका मुस्कराती है)[६३]
यहाँ विदूषक के द्वारा हास्य तथा लोभकारी वचनो के कहते हुए तक राजा को मालविका का दर्शन कराना मात्र उद्देश्य है, अत 'व्याहार' है।

(मृदव)

८२ जहाँ दोष को गुण और गुण को दोष समझा जाता हो, उसे 'मृदव' कहते हैं।[६४]
जैसे—अनर्घराघव नाटक के नायकानन्द अक मे गुण दोष के लिए कहे गये है। कोई (विभीषण) राम की उक्ति को स्मरण कर लक्ष्मी को उद्देश्य करके कहता है—
"किसी बडे कपट को लक्ष्य बनाकर भगवान विष्णु की छाती मे रहने वाली लक्ष्मीदेवी ! यदि आप नाराज न हो तो आपको नमस्कार करके पूछूंगा कि आप जो कमलवासिनी बनी हुई है सो कमल आपका विद्यागृह है क्या ? और आप नीचे से नीचे उतरती जाती हैं सो इस कला मे आपके आचार्य जल तो नही है।"[६५]

यथा शाकुन्तले दोषा गुणाय परिकीर्तिताः ।
मेदश्छेदकृमेत्यादिमृगयागुणकीर्तनैः ।।

८३ तेषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाऽऽक्षिप्य सूत्रभृत् ।
प्रस्तावनाऽन्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।।

८४ प्रख्यातन्तु विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

८५ अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।।
कीर्तिकामो महोत्साहः त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ।।

८६ तत्प्रयत्नेन कर्तव्यमितिहासादिवृत्ततः ।
यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

पुन , जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल मे निम्न पद्य मे दोप गुण के लिए कहे गये हैं—

"शरीर चर्बी छटने से कृश उदर वाला अतएव हल्का एव उद्योग-योग्य हो जाता है, भय तथा क्रोध मे वन्य जन्तुओ का विकार-युक्त चित्त परिलक्षित होता है और यह धनुर्धारियो के लिए उत्कर्ष की बात है कि उनके बाण चल लक्ष्य पर भी सधते है । व्यर्थ ही लोग आखेट (मृगया) को व्यसन की सज्ञा देते है । ऐसा विनोद अन्यत्र कहाँ ?"[६६]

यहाँ मृगया व्यसन होते हुए भी गुण रूप कही गयी है ।

८३ इस प्रकार उपर्युक्त वीथी के अगो मे से किसी एक के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अन्त मे सूत्रधार को चले जाना चाहिए । और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

८४ इतिहास-पुराणादि मे प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक-वस्तु रखना चाहिए ।

८५ नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए । नायक के अन्दर अच्छे-अच्छे गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए । इसके अतिरिक्त उसका जन्म प्रसिद्ध कुल मे होना चाहिए । नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए ।

८६ इतिहासादि मे प्रसिद्ध कथावस्तु के अनुसार ही कथावस्तु का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करना चाहिए । उस कथावस्तु के अन्दर यदि कही नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड देना चाहिए । अथव यदि उसका वर्णन करने की इच्छा हो तो उसे ऐसे ढग से प्रस्तुत करे कि उसकी विरुद्धता लक्षित न हो ।[६७]

८७ उपादेयञ्च हेयञ्च निश्चित्यात्यन्तमग्रतः ॥
प्रकाशयेदुपादेयं तिरस्कुर्यात्तथेतरत् ।

८८ कथाशरीरं विभजेद्बीजबिन्द्वादिपञ्चधा ॥
मुखादिपञ्चभिः साङ्गैर्नियतं तत्तदाख्यया ।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ॥
सन्ध्यन्तराणि साङ्गानि भवेयुरनुसन्धयः ।
सन्ध्यङ्गैरूनमेवात्र पताकावृत्तमावहेत् ॥
ततः सन्ध्यन्तराण्यत्र यथायोगं प्रयोजयेत् ।
असन्धिमेव प्रकरीं सर्वत्रापि प्रयोजयेत् ॥

८९ एवं विभक्तेतिवृत्तस्यादौ विष्कम्भकं न्यसेत् ।
अङ्कं वा विन्यसेद्विद्वान्यथावत्कार्ययुक्तितः ॥

९० प्रस्तावनाया मध्यं यन्नाटकोपक्रमात्मकम् ।
तदेवात्रादिशब्देन विष्कम्भस्थानमीरितम् ॥

---

८७ नाटक के रचियता को चाहिए कि वह प्रख्यात कथा के आदि से अन्त तक उपादेय और हेय अश का निश्चय करके उपादेय को कहे और हेय को छोड दे ।

८८ कथा के शरीर को बीज, बिन्दु आदि (पच अर्थप्रकृतियो) पाँच भागो मे विभक्त कर देना चाहिए । फिर वह अग सहित मुख आदि पच सन्धियो के द्वारा उस-उस नाम से निश्चित किया जाता है । पताका नामक भेद मे पाँचो सन्धियाँ हो यह आवश्यक नही । वह प्रधान वृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार सन्धियो से न्यून हो सकता है । अत सन्ध्यन्तर तथा अगो सहित पच सन्धियो का इतिवृत्त मे प्रयोग होना चाहिए । पताका नामक इतिवृत्त को प्रधानवृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार सन्ध्यगो से न्यून ही समझना चाहिए । तदनन्तर पताका नामक इतिवृत्त मे सन्ध्यन्तरो का यथायोग प्रयोग करना चाहिए । प्रासगिक-कथा के प्रकरी नामक भेद मे सन्धि का सन्निवेश नही होना चाहिए ।

८९ इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन करके विद्वान नाटक के प्रारम्भ मे यथावत् कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अक की व्यवस्था करे ।

९० प्रस्तावना का मध्य, जो नाटक का उपक्रम रूप है, वही यहाँ 'आदि' शब्द से अर्थात् नाटक के आरम्भ मे विष्कम्भक का स्थान जाना जाता है । जहाँ पर नीरस वस्तु की सूचना हो वहाँ विष्कम्भक की योजना करनी चाहिए । जहाँ पर

नीरसं सूच्यते यत्र तत्र विष्कम्भकं न्यसेत् ।
यत्रादितो रसस्तत्र भवेदङ्कस्तु सामुख. ।।

९१ अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ।
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।
आदावेव तदाऽङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।।
पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च ।
विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन भाषितम् ।।

९२ प्रागेव सीताहरणाद्यद्विभीषणवर्णनम् ।
तद्वस्तूत्पाद्यमेतत्तु रामानन्दे प्रदृश्यते ।।

९३ प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।।

९४ निर्दिष्टनेतृचरितो नानारूपप्रयोजकः ।
अलङ्काररसाधारो यः सोऽङ्क इति कथ्यते ।।

९५ नायकदेवीपरिजनपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
नैकरसान्तरसहितो ह्यङ्कः खलु वेदितव्यः सः ।।

सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख सहित अक की रचना करनी चाहिए ।

९१ वस्तु के उस विस्तृत भाग को, जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो, छोडकर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कम्भक की रचना करनी चाहिए । और जहाँ पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख मे की गई सूचना का आश्रय लेकर अक की रचना करनी चाहिए ।[६८] पूर्ववृत्त का या किसी उत्पाद्य वस्तु का आश्रय लेकर नाटक की रचना करनी चाहिए—ऐसा मातृगुप्त कहते हैं ।

९२ जैसाकि रामानन्द नाटक मे देखा जाता है कि प्रारम्भ मे ही सीताहरण मे उत्पन्न जो विभीषण-वर्णन है, वह उत्पाद्य-वस्तु है ।

९३ अक मे नाटकादि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है । इसमे बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति व्याप्त पायी जाती है तथा यह नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनो का आश्रय होता है ।[६९]

९४ जिसमे नाटकादि के नायक का चरित निर्दिष्ट होता है, जो नाना प्रकार के प्रयोजन का करने वाला होता है, तथा जो अलकार और रस का आधार होता है, उसे 'अक' कहते हैं ।

९५ इसमे केवल मुख्य पात्रो का ही चरित निर्दिष्ट नही होता, बल्कि (इसमे) नायक, महादेवी तथा उनकी परिचारिकाओ, पुरोहित, अमात्य,, सार्थवाह (सेनापति) आदि पात्रो के विविध रसो से पूर्ण चरित भी निर्दिष्ट किये जाते हैं । इन सभी लक्षणो से युक्त भी 'अक' का स्वरूप समझना चाहिए ।[७०]

९६ अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैः प्ररोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ।।

९७ अङ्कः प्रबन्धचिह्नत्वाद्रसस्याश्रयतोऽपि वा ।।

९८ यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यम् ।।

९९ अङ्काश्रयस्य कर्तव्यो रसस्य स्थायिनोऽङ्गिनः ।
पोषो विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।।

१०० अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ।
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।।

१०१ अत्र वस्तुरसादीनामेकस्याभिनिवेशिनः ।
इतरेणोपमर्दस्तु न कर्तव्यः कदाचन ।।
न चातिरसतो वस्तु दूरविच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।।

---

९६ 'अक'—यह रूढि शब्द है जो कि भाव और रसो से अर्थों को उत्पन्न करता है तथा जो अनेक प्रयोग तथा उद्देश्यो से युक्त होता है। इसीलिए इसे 'अक' कहा जाता है।[७१]

९७ प्रबन्ध का चिह्न होने से या रस का आश्रय होने से भी 'अक' कहलाता है।

९८ जहाँ किसी एक कार्य या उद्देश्य के पूर्ण हो जाने के कारण समाप्ति हो जाती हो, जहाँ बीज का अर्थात् प्रधान कार्य का अशत उपसहार होता हो एव जो बिन्दु से थोडा अपना सम्बन्ध रखता हो, उसे 'अक' कहते हैं।[७२]

९९ इस प्रकार अक-व्यवस्था के बाद विद्वान को चाहिए कि वह विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी-भाव के द्वारा अक के आश्रित अगी-रस के स्थायी-भाव का परिपोषण करे।

१०० कवि को चाहिए कि वह नाटक के अगी-रस के स्थायी भाव की पुष्टि करे। यह पुष्टि वह अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी-भाव एव अगी स्थायी-भाव से भिन्न स्थायी-भाव के द्वारा करे। इनमे से वह कुछ को ग्रहण कर सकता है, कुछ को त्याग सकता है, इस प्रकार उन विभिन्न अनुभावो, विभावो तथा तथा व्यभिचारी-भावो का मिश्रण व त्याग वह आवश्यकतानुसार कर सकता है।[७३]

१०१ यहाँ (नाटक मे) वस्तु, रस आदि मे से किसी एक का ही वस्तु-सम्बन्ध रहना चाहिए, किसी अन्य से उसका मर्दन नही होना चाहिए। अत रस का इतना अधिक परिपोषण भी नही किया जाय कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाय, और न वस्तु, अलकार या नाटकीय लक्षणों से रस को ही तिरोहित कर दिया जाय।[७४]

१०२ नोपमादिरलङ्कारो न स्यादतिशयादिकः ॥
क्षमागुणवदाक्रन्दशोभोदाहरणादयः ।
अलङ्कारा स्युरङ्कस्य ते स्युर्नाटककाव्ययोः ॥

१०३ वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानोऽङ्गी च नाटके ।
अङ्गमन्येऽद्भुतरसः सन्धौ निर्वहणे भवेत् ॥

१०४ एव नानाविधरसभावाधिकरणे कविः ।
अङ्के निषिद्धं विज्ञाय विधेयञ्च प्रयोजयेत् ॥
दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ।
नाधिकारिवधः क्वापि कर्तव्यः कविभिस्तथा ॥
आवश्यकं तु यत्कार्यं न त्याज्यं तत्कदाचन ।

१०५ अधिकारिवधस्यापि क्वचित्स्यात्कल्पनं मतम् ॥
अर्वाक्प्रहारात्स पुनः प्रत्युज्जीविष्यते यदि ।

(अंकालंकार)

१०२ अक के उपमा आदि अलकार नही है, न अतिशयोक्ति आदि है बल्कि अक के क्षमा, गुणवान, आक्रन्द, शोभा तथा उदाहरण आदि अलकार हैं, वे ही नाटक तथा काव्य के अलकार है ।

(अक-रस)

१०३ नाटक मे अगी-रस एक ही चाहिए, वह चाहे शृगार हो या वीर । और अन्य रसो को अगीरस के अग-रूप मे ही रखना चाहिए । निर्वहण-सन्धि मे अद्भुत-रस की रचना होनी चाहिए ।

१०४ इस प्रकार नाना प्रकार के रस तथा भावो के सम्बन्ध मे कवि को अक मे निषिद्ध तथा विधेय को जानकर प्रयोग करना चाहिए । निषिद्ध क्या है, जैसे— दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, नगरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्रधारण करना इत्यादि वस्तुओ को प्रत्यक्ष रूप से मच पर नही दिखाना चाहिए । तथा कवि को अधिकारी नायक के वध की सूचना कदापि अर्थात् प्रवेशकादि के द्वारा भी नही देनी चाहिए और आवश्यक जो देव-कार्य, पितृ-कार्य आदि है उनको कभी भी नही छोडना चाहिए । उनका दिखाना आवश्यक है ।[७५]

१०५ यदि कही अधिकारी नायक के वध की सूचना दे दी जाती है तो पुन वह नायक पूर्व-प्रहार से जीवित हो जायेगा ।

१०६ नायकस्य यदेकाहचरितप्रतिपादकः ॥
एकप्रयोजनाश्लिष्टस्तत्रैवासन्ननायकः ।
विदूषकादिभिः पात्रैः प्रयोज्यश्च चतुस्त्रिभिः ॥
समस्तपात्रनिष्क्रामावसानोऽङ्कोऽभिधीयते ।
१०७ पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥
प्रयुज्यते यदि भवेत्तत्राङ्क इति कोहलः ।
१०८ एवमङ्काः प्रयोक्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ॥
प्रधानभूतावङ्केऽस्मिन्विष्कम्भश्च प्रवेशकः ।
नायकैकाहचरितरूप आसन्ननायकः ॥
रसादिनिबिडो बीजबिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।
पात्रैश्च नायकासन्नैः प्रयोज्यश्च चतुस्त्रिभिः ॥
पताकास्थानकस्फीतो विष्कम्भादिपुरस्कृतः ।
समस्तपात्रनिष्क्रामावसानोऽङ्क इतीरितः ॥
१०९ पञ्चाङ्कमेतेदपरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।

(अंक-कार्य-काल)

१०६ एक अक मे नायक के एक ही दिन की कथा होनी चाहिए। साथ ही वह कथा एक ही प्रयोजन से सम्बन्धित होनी चाहिए और उस अक मे नायक को भी अवश्य उपस्थित रखना चाहिए। विदूषक आदि केवल तीन या चार ही पात्रो को वहाँ रहना चाहिए। समस्त पात्रो के निकल जाने के समय तक अक कहा जाता है अर्थात् अक-समाप्ति पर सभी पात्र वहाँ से (रग-मञ्च से) चले जाते है।

१०७ इसी प्रकार यदि यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को रखा जाता है और बिन्दु की रचना अको के अन्त मे होती है तो वहाँ अक होता है—ऐसा कौहल का मत है।[७९]

१०८ इसी प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अको की रचना करनी चाहिए। प्रधान-भूत इस अक मे विष्कम्भक और प्रवेशक की रचना करनी चाहिए। एक ही अक मे नायक के एक ही दिन की कथा होनी चाहिए। अक मे नायक को अवश्य उपस्थित रखना चाहिए। रसादि से युक्त, बीज तथा बिन्दु की व्याप्ति के साथ नायक के समीप केवल तीन या चार ही पात्रो को वहाँ रहना चाहिए। पताका-स्थानक से युक्त, विष्कम्भादि के साथ और समस्त पात्रो के चले जाने तक 'अक' कहा जाता है।

(अंक-सख्या)

१०९ नाटक कम से कम पाँच अको का तथा अधिक से अधिक दस अक का होना चाहिए। इसमे पाँच अको का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अको का श्रेष्ठ।

११० वीरशृङ्गारयोरन्यतराङ्गि रसनिर्भरम् ॥
शोभितं चाप्यलङ्कारैरुपमारूपकादिभिः ।
रामायणेतिहासादिसुप्रसिद्धाधिकारिकम् ॥
दिव्यमर्त्यादिविख्यातधीरोदात्तादिनायकम् ।
अर्थोपक्षेपकैर्युक्त षट्त्रिंशद्भूषणोज्ज्वलम् ॥
अर्थप्रकृत्यवस्थातत्सन्धिसन्ध्यन्तरान्वितम् ।
पताकास्थानकयुतं साङ्गवृत्तिप्रवृत्तिमत् ॥
अन्यूनदशपञ्चाङ्कं नान्दीप्रस्तावनायुतम् ।
यद्रूपकविशेषः स्यात्तन्नाटकमिति स्मृतम् ॥

१११ एकाहचरितैकाङ्कः कार्यश्चैत्रावली यथा ।
अङ्कः स्याद्वासरार्धेन यथा गौरीगृहाभिधः ॥
यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं तत्पञ्चाङ्कं प्रकल्पितम् ।
षडङ्कं दृश्यते लोके रामाभ्युदयनाटकम् ॥
शाकुन्तलादिसप्ताङ्कमष्टाङ्कं नलविक्रमम् ।
देवीपरिणयस्तत्र नवाङ्कं नाटकं स्मृतम् ॥
बालरामायणं नाम दशाङ्कं नाटकं स्मृतम् ।

(नाटक-लक्षण)

११० नाटक वीर या शृगार रस मे से किसी एक अगी-रस के आश्रित होता है और यह उपमा, रूपक आदि अलकारो से अलकृत होता है। नाटक की कथा रामायण, इतिहास आदि मे प्रसिद्ध होती है। इसके दिव्य, मर्त्य आदि विख्यात धीरोदात्त आदि नायक होते हैं। यह अर्थोपक्षेपको (विष्कम्भकादि) से युक्त होता है, छत्तीस (३६) उज्ज्वल भूषणो से सुशोभित होता है। नाटक पच अर्थ-प्रकृतियो, पच अवस्थाओ, पच सन्धियो तथा सन्ध्यन्तरो से युक्त होता है। इसमे पताकास्थानक होता है। इसमे अग सहित समस्त वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमे अधिक से अधिक दस अक तथा कम से कम पाँच अक होते हैं। यह नान्दी, प्रस्तावना से युक्त होता है। जो रूपक-विशेष होता है, वही 'नाटक' कहलाता है।

१११ एक ही अक मे नायक के एक ही दिन की कथा-वर्णन का उदाहरण 'चैत्रावली' अक है। केवल आधे दिन की कथा-वर्णन वाला अक 'गौरी-गृह' प्राप्त होता है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे पाँच अक हैं। 'रामाभ्युदय' नाटक मे ६ अक हैं। शाकुन्तलादि मे सात तथा 'नलविक्रमम्' मे आठ अक है। 'देवी-परिणय' नौ अक वाला नाटक है। 'बालरामायण' दस अक वाला नाटक है।

११२ अतो हि नाटकस्यास्य प्राथम्यं परिकल्पितम् ।।
नाट्यवेदं विधायादावृषीनाह पितामहः ।
धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदनम् ।।
आसेवध्वं तदृषयस्तस्योत्थानं तु नाटकम् ।
११३ दिव्यमानुषसंयोगो यत्राङ्केरविदूषकैः ।।
तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक् ।
तदव्यापकमित्यन्ये नाद्रियन्ते विपश्चितः ।।
११४ नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् ।
तोटकं नाम तत्प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ।।
इत्येक आहुराचार्या अन्ये त्वेवं प्रचक्षते ।
दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ।।
११५ नवाङ्कं तोटकं दृष्टं मेनकानहुषाह्वयम् ।
तोटकं मदलेखाऽऽख्यं यत्तत्स्तम्भितरम्भकम् ।।
क्रमादष्टाङ्कसप्ताङ्कौ दृश्येते ह्यविदूषकौ ।
यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं पञ्चाङ्क तोटकं स्मृतम् ।।

---

११२ अत इस नाटक की प्राथमिकता कही जाती है। सर्वप्रथम इस नाट्य-वेद को कहकर भगवान पितामह (ब्रह्मा) ने ऋषियो से कहा—
हे ऋषिगण ! धर्मादि पुरुषार्थ (चतुष्टय) के साधनभूत और सभी लौकिक दुखो के अपहर्ता नाट्य का आप सेवन कीजिये। इस नाट्य का मुख्य या उत्कृष्ट रूप 'नाटक' माना गया है।[७७]

(तोटक)

११३ जहाँ देवता और मनुष्यो का सयोग रहता है तथा जिससे प्रत्येक अक मे विदूषक नही रहता है, वही नाटक का 'तोटक'—भेद कहलाता है—ऐसा हर्ष का मत है।
लेकिन अन्य विद्वान उक्त-तोटक के अव्यापक लक्षण से सहमत नही है।

११४ नौ, आठ, सात या पाँच अको से युक्त, देवता और मनुष्यो के सयोग वाला नाटक से उत्पन्न "तोटक" नामक भेद कहा जाता है—ऐसा किसी एक आचार्य का मत है।
अन्य (कोई) आचार्य ऐसा कहते है कि—दिव्य (देवता) और मनुष्यो के संयोग वाला, नाटकानुगामी "तोटक" कहा जाता है।[७८]

११५ 'मेनकानहुष' नौ अक वाला तोटक है। 'मदलेखा' आठ अक वाला तथा 'स्तम्भितरम्भकम्' सात अक वाला तोटक है। इन दोनो के प्रत्येक अक मे विदूषक की प्राप्ति नही होती। 'विक्रमोर्वशीय' पाँच अक वाला तोटक है।

११६ सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षण प्राह पञ्चधा ।
पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा ।।
समग्रमिति विज्ञेया नाटके पञ्च जातयः ।

११७ पूर्णस्य नाटकस्यास्य मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।।
उदाहरणमेतस्य कृत्यारावणमुच्यते ।

११८ प्रशान्तरसभूयिष्ठं प्रशान्तं नाम नाटकम् ।।
न्यासो न्याससमुद्भेदो बीजोक्तिर्बीजदर्शनम् ।
ततोऽनुद्दिष्टसंहारः प्रशान्ते पञ्च सन्धयः ।।
सात्वतीवृत्तिरत्र स्यादिति द्रौहिणिरब्रवीत् ।

११९ स्वप्नवासवदत्ताख्यमुदाहरणमत्र तु ।।
आच्छिद्य भूपात्सव्यसना देवी मागधिकाकरे ।
न्यस्ता यतस्ततो न्यासो मुखसन्धिरयं भवेत् ।।
न्यासस्य च प्रतिमुखं समुद्भेद उदाहृतः ।
पद्मावत्या मुखं वीक्ष्य विशेषकविभूषितम् ।।
जीवत्यंवन्तिकेत्येतज्ज्ञातं भूमिभुजा यथा ।

---

११६ सुबन्धु नाटक के पाँच प्रकार के लक्षण कहते है—नाटक मे पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र—ये पाँच जातियाँ समझनी चाहिए ।

(पूर्ण-नाटक)

११७ इस 'पूर्ण-नाटक' की मुख आदि पाँच सन्धियाँ होती है—इसका उदाहरण 'कृत्या-रावण' कहा जाता है।

(प्रशान्त-नाटक)

११८ 'प्रशान्त'—नाटक वह कहलाता है जिसमे शान्त-रस की अधिकता होती है। तदनन्तर प्रशान्त नाटक मे न्यास, न्याम-समुद्भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन, अनुद्दिष्ट-सहार—ये पाँच सन्धियाँ होती है और इसमे सात्वती-वृत्ति का प्रयोग होता है—ऐसा द्रौहिणि कहते है ।

११६ प्रशान्त-नाटक का उदाहरण 'स्वप्नवासवदत्तम्' हे। जब राजा उदयन के विपत्ति ग्रस्त होने से देवी वासवदत्ता को मागधिका (पद्मावती) के हाथो मे सौपा जाता है, वह न्यास है, यही मुख-सन्धि है। विशेष तिलक से भूषित पद्मावती के मुख को देखकर राजा उदयन यह जान जाता है कि अवन्तिका (वासवदत्ता) जीवित है—यह प्रतिमुख-सन्धि है और न्यास-समुद्भेद है। पुन उदयन उत्कण्ठावश उद्वेग के साथ कहता है कि "वासवदत्ते ! इधर आओ, तुम कहाँ जा रही हो"—इत्यादि बीजोक्ति है। दर्शन, स्पर्श तथा

उत्कण्ठितेन सोद्वेगं बीजोक्तिर्नामकीर्तनम् ।।
एहि वासवदत्ते क्व क्व यासीत्यादि दृश्यते ।
सहावस्थितयोरेकप्राप्त्याऽन्यस्य गवेषणम् ।।
दर्शनस्पर्शनालापैरेतत्स्याद्बीजदर्शनम् ।।
"चिरप्रसुप्तः कामो वे वीणया प्रतिबोधितः ।
तान्तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया ।।"
किन्ते भूयः प्रियं कुर्यामितिवाग्यत्र नोच्यते ।
तमनुद्दिष्टसंहारमित्याहुर्भरतादयः ।।

१२० माला नायकसिद्धयङ्गग्लानिस्तस्याः परिक्षयः ।
मात्रावशिष्टसंहारे भास्वरे पञ्च सन्धयः ।।

१२१ एकस्मिन्नायके ख्याते तत्सामान्यप्रतापवान् ।
यदि स्यात्प्रतिपक्षश्च सा मालेति प्रकीर्तिता ।।
यथा हि चन्द्रगुप्तस्य न(च)न्दनः प्रतिपूरुषः ।।

१२२ नायकं छलयित्वेष्टसिद्धिर्या परिपन्थिनः ।
एषा नायकसिद्धिः स्यान्मारीचेनेव रावणः ।।

आलाप से साथ-साथ रहने वाली दो वस्तुओ मे से एक की प्राप्ति होना और दूसरे की खोज करना 'बीज-दर्शन' कहलाता है। जैसे—'स्वप्नवासवदत्तम्' मे राजा उदयन कहता है कि—

"वीणा ने चिरप्रसुप्त मेरी कामना को जगा दिया है, परन्तु वह देवी (वासवदत्ता) मुझे दिखायी नही देती, जिसको यह घोषवती प्रिय थी।" (स्वप्न-वासवदत्तम्, ६ ३)।

यहाँ साथ साथ रहने वाली घोषवती (वीणा) और देवी (वासवदत्ता) मे से उदयन को वीणा की प्राप्ति हुई है तत्पश्चात् वासवदत्ता के लिए वह चिन्तित है अत बीज-दर्शन है।

जहाँ यह नही कहा जाता कि 'मै तुम्हारा क्या प्रिय करूँ'—वह भरत आदि के मत मे 'अनुद्दिष्ट-सहार' कहलाता है।

(भास्वर-नाटक)

१२० 'भास्वर'-नाटक मे पाँच सन्धियाँ होती है—माला, नायक-सिद्धि, अग-ग्लानि, अग-ग्लानि-परिक्षय तथा मात्रावशिष्ट-सहार।

१२१ यदि एक प्रसिद्ध नायक के रहने पर उसके समान प्रतापशाली दूसरा अर्थात् शत्रु होता है उसे 'माला' कहते है। जैसे—मुद्राराक्षस नाटक मे प्रधान नायक चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी चन्दनदास (नन्दन) है।

१२२ नायक को छलकर शत्रु की जो इष्टसिद्धि होती है यह 'नायक-सिद्धि' कहलाती है। जैसे—रावण ने मारीच की सहायता से राम को छल लिया था।

१२३ गर्भस्याङ्गैर्विमर्दादिदर्शनं ग्लानिरिष्यते ।
कपिभिर्वार्धिमुत्तीर्य लङ्कावेष्टनमेव तत् ॥

१२४ परिक्षयोऽत्र मोहादिर्नायकस्य रिपोर्बलात् ।
स नागपाशबन्धादौ रामलक्ष्मणयोरिव ॥

१२५ मात्रावशिष्टसंहारसन्धिरेकं तु नाटके ।
शत्रुबन्दीकृतस्त्रीणां तस्य शत्रोर्वधादथ ॥
तत्परीक्षास्थितिर्मात्रावशिष्टमिति कथ्यते ।
यथा सीतापरीक्षैव रावणान्तरे कृता ॥

१२६ भारतीवृत्तिभूयिष्ठं वीराद्भुतरसाश्रयम् ।
भास्वरं नाटकं बालरामायणमिदं यथा ।

१२७ ललितं कैशिकीवृत्तिशृङ्गारैकरसाश्रयम् ।
ऊर्वशीविप्रलम्भोऽत्र तदुदाहरणं यथा ॥

१२८ विलासो विप्रलम्भश्च विप्रयोगो विशोधनम् ।
उद्दिष्टार्थोपसंहारो ललिते पञ्च सन्धयः ॥

१२९ विलासो नायकादीनां यथर्तु रतिसेवनम् ।
यथा श्रीवत्सराजस्य वसन्तोत्सववर्णनम् ॥

---

१२३ गर्भ के अगो से विमर्दन आदि का दर्शन 'ग्लानि' कही जाती है। जैसे बन्दरो का समुद्र पार करके लका मे प्रवेश।

१२४ शत्रु के वल से नायक को मूर्च्छा आदि हो जाना 'परिक्षय' कहलाता है। जैसे—राम और लक्ष्मण का नागपाश-बन्धन आदि।

१२५ नाटक मे 'मात्रावशिष्टसहार' सन्धि एक होती है। शत्रु का वध कर देने के पश्चात् शत्रु के द्वारा बन्दी की हुई स्त्री की परीक्षा लेना 'मात्रावशिष्ट' कहलाता है। जैसे—रावण का वध करने के पश्चात् सीता की परीक्षा।

१२६ भास्वर-नाटक मे भारतीवृत्ति की अधिकता होती है तथा यह वीर या अद्भुत रस के आश्रित होता है। जैसे—'बालरामायणम्'।

(ललित-नाटक)

१२७ ललित-नाटक मे कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है तथा यह केवल शृगार-रस के ही आश्रित होता है। जैसे—उदाहरण के लिए 'उर्वशी का विप्रलम्भ'।

१२८ ललित-नाटक मे विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन तथा उद्दिष्टार्थोप-सहार—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं।

१२९ नायक आदि का ऋतु के अनुसार रति-सेवन 'विलास' कहलाता है। जैसे—श्री वत्सराज (उदयन) का वसन्तोत्सववर्णन।

१३० ईर्ष्यया छन्दतो यूनोः विप्रलम्भः पृथक्स्थितिः ।
यथाहि वत्सराजस्य देव्या वासवदत्तया ॥

१३१ विप्रलम्भस्तु यासा(शापा)दिवत्सरान्तमसङ्गतिः ।
यथा शर्मिष्ठया देव्या ययातेर्वार्षपर्वणः (?) ॥

१३२ परिवादभयाद्दोषशोधनं स्याद्विशोधनम् ।
यथा रामेण वैदेह्या लङ्कावासविशोधनम् ॥

१३३ यथा हि विक्रमोर्वश्यामुद्दिष्टार्थोपसंहृतिः ॥
ऊर्वशीयं चिरं गेहे सहधर्मचरी तव ।
भवत्वितीन्द्रसन्देशः तं पूरूरवसं प्रति ॥

१३४ सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
समग्रं तत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते ॥

१३५ उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
एतान्यङ्गानि कार्याणि सर्वनाटकजातिषु ॥

१३६ युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावनम् ।
एतान्यवश्यकार्याणि प्रशान्ते नाटके बुधैः ॥

---

१३० युवक-युवती के बीच ईर्ष्या से या स्वच्छन्दता से होने वाली पृथक्-स्थिति 'विप्रलम्भ' कहलाती है। जैसे—वत्सराज का देवी वासवदत्ता से अलग होना।

१३१ युवक-युवती के बीच शापादि के कारण वर्षों तक होने वाली भेंट 'विप्रलम्भ' कहलाती है। जैसे—ययाति का शर्मिष्ठा से वर्ष भर न मिलना (?)।

१३२ निन्दा या भय से होने वाली दोष-शुद्धि 'विशोधन' कहलाती है। जैसे—राम ने लका-वास के कारण होने वाली जननिन्दा से वैदेही (सीता) का शोधन किया था।

१३३ 'उद्दिष्टार्थोपसहार' का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' मे प्राप्त होता है। जैसे—इन्द्र ने पुरुरवा को सन्देश भेजा था कि यह उर्वशी तेरे घर मे बहुत समय तक तुम्हारी सहधर्मचारिणी हो।

(समग्र-नाटक)

१३४ जिसमे सभी वृत्तियाँ पायी जाती है तथा जो सभी लक्षणो से युक्त होता है, उसे 'समग्र-नाटक' कहते है और इस नाटक के प्रतिनिधि को 'महानाटक' कहा जाता है।

१३५ उपक्षेप, परिकर, परिन्यास तथा विलोभन—ये अग सभी नाटको की जातियो मे प्रयुक्त करने चाहिए।

१३६ युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान तथा परिभावना—ये अग विद्वानो को प्रशान्त नाटक मे अवश्य प्रयुक्त करने चाहिए।

१३७ आज्ञापवादः सम्फेटः प्रसङ्गो विद्रवस्तथा ।
सङ्ग्रहश्चेति साङ्गानि सम्यग्योज्यानि भास्वरे ॥

१३८ विरोधं प्रणयञ्चैव पर्युपासनमेव च ।
पुष्पं वज्रञ्च बध्नीयादवश्यं ललिते सुधीः ॥

१३९ सर्वेषां यत्र रूपाणि दृश्यन्ते विविधानि च ।
नाटकं नृत्तचाराख्यं तत्समग्रमितीरितम् ॥

अथ प्रकरणलक्षणम् ॥

१४० इतिवृत्तमथोत्पाद्यमत्र प्रकरणे मतम् ।
वणिक्सचिवविप्राणामेकः स्यात्तत्र नायकः ॥
धीरशान्तश्च सापायो धर्मकामार्थतत्परः ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥
माधवो धीरशान्तश्च द्विजातिः कामतत्परः ।
अपायोऽघोरघण्टादिव्यापारोऽत्र विभाव्यते ॥

१४१ नायिका द्विविधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥

---

१३७ आज्ञापवाद, सम्फेट, प्रसग, विद्रव तथा सग्रह—ये अग भास्वर-नाटक मे भली-भाँति प्रयुक्त होने चाहिए ।

१३८ विरोध, प्रणय, पर्युपासन, पुष्प तथा वज्र—इन अगो को विद्वान ललित-नाटक मे अवश्य बाँधे ।

१३९ जहाँ सभी (नाटको) के विविध-रूप देखे जाते हैं और जिसको नृत्तचार-नाटक कहते है, वह 'समग्र' कहा जाता है ।

(प्रकरण-लक्षण)

१४० प्रकरण मे इतिवृत्त उत्पाद्य (कल्पित) होता है । इसका नायक वैश्य, मन्त्री, ब्राह्मण, इनमे से एक होता है । एक नायक धीर-प्रशान्त कोटि का होता हैं तथा विघ्नो से युक्त होता है । यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) मे तत्पर होता है । इसमे शेष बाते जैसे सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि को नाटक के समान ही रखा जाता है ।[७९] जैसे—
'मालती-माधव' मे माधव धीर-प्रशान्त कोटि का नायक हैं, ब्राह्मण हे तथा काम मे तत्पर है । और यहाँ अघोरघण्ट कापालिक के फन्दे मे फँसना आदि घटनाएँ विघ्न जानी जाती हैं ।

१४१ प्रकरण मे नायक की नायिका दो प्रकार की होती हे या तो वह कुलीन स्त्री होती है या गणिका होती है। किसी प्रकरण मे केवल कुल-स्त्री, किसी मे केवल वेश्या और किसी मे दोनो (कुल स्त्री व गणिका) ही नायक की नायिका

कुलजाऽऽभ्यन्तरा वेश्या बाह्या नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा द्वाभ्यां सङ्कीर्णमुच्यते ॥
सङ्कीर्णं तत्प्रकरणं यत्स्याद्धूर्तसमाकुलम् ।
वेश्याकुलस्त्रियोर्योगो न स्यात्प्रकरणे स्वतः ॥

१४२ शिल्पादिव्यपदेशेन भवेद्वेश्यासमागमः ।
भाषेत प्राकृतं वेश्या संस्कृतं कुलनायिका ॥

१४३ यत्तु कविरात्मबुद्धचा वस्तु शरीरञ्च नायकञ्चैव ।
स्वयमुत्पाद्य विरचयेत्तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥

१४४ दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम् ।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु ॥

१४५ मध्यमपुरुषैर्नित्यं योज्यो विष्कम्भकोऽत्र तत्त्वज्ञैः ।
संस्कृतवचनानुगतः सङ्क्षेपार्थः प्रवेशकवत् ॥
इति प्रकरणे शुद्धविष्कम्भो भोजनिर्मितः ॥

होती है । कुल स्त्री आभ्यन्तरा नायिका होती है, वेश्या बाहरी नायिका । इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुल स्त्री या गणिका या दोनो होगी, इनका व्यतिक्रम नही किया जा सकता । इस प्रकरण के तीन भेद हुए—प्रथम, जिसमे कुल स्त्री नायिका होती है—यह शुद्ध भेद हुआ। द्वितीय, जिसमे गणिका नायिका हो वह विकृत तथा तृतीय—जिसमे दोनो (कुलस्त्री व गणिका) नायिका हो उसे सकीर्ण कहते है ।[८०] सकीर्ण प्रकरण वह होता है जिसमे धूर्त-विट शकारादि का समावेश होता है । इसीलिए इस प्रकरण मे कुलस्त्री और गणिका का योग होता है, यह योग स्वत नही होता ।

१४२ शिल्पादि कार्य के बहाने से वेश्या का समागम होता है । यह वेश्या प्राकृत-भाषा का प्रयोग करती है । कुल-स्त्री सस्कृत बोलती है ।

१४३ जहाँ कवि अपनी बुद्धि से नायक और उसके शरीर (कार्य) को स्वय उत्पन्न (तैयार) करके एक कथावस्तु की रचना करता है, वह प्रकरण जाना जाता है ।[८१]

१४४ यह प्रकरण दास, विट तथा सेठो (धनपतियो) से युक्त होता है और वेश्याओ के उपचार के कारणो से युक्त होता है । साथ ही इसमे अच्छे कुल की स्त्रियो के बुरे चरित सम्बन्धी काव्य का समावेश भी होना चाहिए ।[८२]

१४५ प्रकरण मे तत्त्वज्ञो को हमेशा मध्यश्रेणी के पात्रो द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए । प्रवेशक की तरह यह (विष्कम्भक) सक्षेप मे कथाशो की सूचना देता है, इसकी भाषा सदा सस्कृत होती है । इस प्रकार भोज का मत है कि प्रकरण मे शुद्ध विष्कम्भक का ही प्रयोग होना चाहिए ।[८३]

१४६ नोदात्तनृपोपेतं न दिव्यचिरतं न राजसम्भोगः ।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं विज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥

१४७ शकारः कुट्टिनी चेटी धर्मशास्त्रबहिष्कृताः ।
विटचेटादयो बाह्या नित्यं प्रकरणे मताः ॥

१४८ वेशोपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरस्रो विटो मतः ॥

१४९ उज्ज्वलवेषाभरणः कुप्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
प्राकृतभाषाचारो भवति शकारो बहुगुणाढ्यः ॥

१५० आगमलिङ्गविहीनं देशकुलन्यायलोकविपरीतम् ।
व्यर्थैकार्थमपार्थं भवति हि वचनं शकारस्य ॥

१५१ मध्यमपुरुषैर्योज्यः शुद्धो विष्कम्भकस्तु तत्त्वज्ञैः ।
संस्कृतवचनानुगतः प्रयोजनार्थः प्रवेशकस्तद्वत् ॥

१५२ उत्पाद्यमितिवृत्तं तु धीरः शान्तश्च नायकः ।
अपायबहुलक्लेशधर्मकामार्थतत्परः ॥

---

१४६ प्रकरण न किसी उदात्त राजा से युक्त होता है, न किसी दिव्य चरित से और न इसमे कोई राज-सभोग होते हैं, बल्कि यह प्रकरण बाह्यजन से सम्बन्धित होता है।[८४]

१४७ प्रकरण मे बाह्य-जन—शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र द्वारा बहिष्कृत जन, विट तथा चेट आदि पात्र कहे जाते है।

१४८ वेश्याओ की सेवा करने मे कुशल, मधुरभाषी, चतुर, कवि, वाद-विवाद (ऊहापोह) करने मे समर्थ, बातचीत करने मे चतुर तथा चारो ओर से समादृत पुरुष 'विट' कहलाता है।

१४९ उज्ज्वल वेश-भूषा तथा आभूषण धारण करने वाला, अकारण क्रोध करने वाला तथा प्रसन्न होने वाला, प्राकृत भाषा बोलने वाला तथा बहुगुणवान 'शकार' कहलाता है।

१५० शकार के वचन वेद-पुराण से असम्मत, देश, कुल, न्याय तथा लोक के विपरीत और व्यर्थ के प्रयोजन के लिए या प्रयोजन-रहित होते है।

१५१ तत्त्वज्ञो को प्रकरण मे हमेशा मध्यम श्रेणी के पात्रो द्वारा प्रयुक्त शुद्ध-विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए। प्रवेशक की तरह यह (विष्कम्भक) प्रयोजन-सिद्धि के लिए कथाशो की सूचना देता है, इसकी भाषा सदा सस्कृत होती है।

१५२ प्रकरण मे इतिवृत्त कल्पित होता है। इसका नायक धीर और शान्त कोटि का होता है तथा बहुत क्लेश तथा विघ्नो से युक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) मे तत्पर होता है। अनेक विकल्पो से युक्त होता है।

समुच्चयविकल्पाभ्यां प्राप्तवेशकुलाङ्गनम् ।
शकारविटचेटादितत्तत्पात्रसमाकुलम् ।।
राजसम्भोगसङ्कीर्णं विष्कम्भादिविनाकृतम् ।
अन्यूनाधिकपञ्चाङ्कत्वादिलक्षणसंयुतम् ।।
ईदृशं रूपकं यत्तु तद्वै प्रकरणं भवेत् ।

१५३ पद्मावतीपरिणयो विप्रस्य चरितं भवेत् ।।
तथैव मृच्छकटिका वणिजां चरितं भवेत् ।
कुलस्त्रीनायिकं तत्तु मालतीमाधवाभिधम् ।।
यथा तरङ्गदत्ताख्यं गणिकानायिकं कृतम् ।
तथैव मृच्छकटिका विहितोभयनायिका ।।

अथ नाटिकालक्षणम् ।।

१५४ नाटकस्य प्रकरणस्योभयोः संकरात्मिका ।
लक्ष्यते नाटिकाऽप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।।

१५५ प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।
नायको धीरललितो वृत्तमुत्पाद्यमेव च ।।
शृङ्गारोऽङ्गी रसोऽङ्गानि वीररौद्रादयो मताः ।
वृत्तिश्च कैशिकी स्वाङ्गैर्नर्मस्पुञ्जादिभिर्युता ।।

इसमे नायक की नायिका दो प्रकार की होती है—या तो वह कुलीन स्त्री होती है या गणिका होती है। इसमे शकार, विट, चेट आदि पात्रो का समावेश होता है। प्रकरण राज-सम्भोग से मिश्रित होता है, विष्कम्भक आदि से रहित होता है, अधिक से अधिक पाँच अक आदि लक्षणो से युक्त होता है। इस प्रकार जैसा रूपक होता है वैसा ही प्रकरण होता है।

१५३ उदाहरण के लिए—'पद्मावती-परिणय' मे ब्राह्मण का चरित है। 'मृच्छकटिका' मे वैश्य का चरित है। 'मालतीमाधव' की नायिका कुल-स्त्री है। 'तरग-दत्ता' की नायिका गणिका है। 'मृच्छकटिका' मे नायिका दोनो प्रकार की है—कुल-स्त्री और गणिका।

(नाटिका-लक्षण)

१५४ नाटक और प्रकरण—दोनो की सकर-रूप नाटिका होती है। दूसरे उपरूपक का निराकरण करने के लिए यही पर सकीर्ण 'नाटिका' का लक्षण कर देते है।

१५५ इसका नायक प्रख्यात तथा धीरललित होता है। इसका अगीरस शृगार होता है।[९] नाटिका का नायक धीरललित होता है और इसका इतिवृत्त कविकल्पित होता है। इसका अगी रस शृगार होता है तथा वीर, रौद्र आदि अग रस होते हैं। इसमे कैशिकी वृत्ति पायी जाती है, जो अपने अग नर्म-स्पुज आदि से युक्त होती हैं।

१५६ देव्या प्रधानया नेतुस्तत्सदृश्या च मुग्धया ।
सङ्कुरोऽत्रानुरागोऽपि नवावस्थो भवेत्तयोः ॥
देवीभयेन साशङ्को नेता मुग्धासमागमे ।

१५७ चत्वारः सन्धयो लोपोऽवमर्शस्य भविष्यति ॥
न विटः पीठमर्दश्च सहायौ भवतः क्वचित् ।
नेतुः स्यान्नर्मसचिवो विरूपस्तु विदूषकः ॥
कैश्चिन्नाटकधर्मैस्तदविरोधिभिराश्रितम् ।
स्त्रीप्रायपात्रं देशर्तुवर्णनाकल्पशोभितम् ॥
रूपकं चतुरङ्कं यन्नाटिकेत्यभिधीयते ।
अत्रोत्पाद्येतिवृत्तत्वाच्छृङ्गारादिरसत्वतः ॥
प्रख्यातनृपनेतृत्वात्षट्त्रिंशद्भूषणत्वतः ।
तुल्यत्वं नाटकेनापि तथा प्रकरणेन च ॥
नाटिकायाः स्मृतं तत्र विशेषोऽयमुदाहृतः ।
तदुदाहरणं रत्नावली च प्रियदर्शिका ॥

१५८ सैव प्रवेशकेनापि विष्कम्भेन विनाकृता ।

---

१५६ प्रधान-रूप से नायक की नायिका देवी (महारानी) होती है, इसी की भाँति नृपवशजा दूसरी नायिका भी होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है। दोनो के प्रति नायक का मिश्रित प्रेम रहता है, प्रारम्भ मे यह प्रेम नवीन होता हे, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है। लेकिन मुग्धा के समागम के विषय मे नायक सदा महारानी के भय से शकित रहता है— (फलत उसकी अनुराग-चेष्टा छिप-छिप कर चला करती है)।

१५७ इसमे चार सन्धियाँ होती है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा उपसहृति। अवमर्श-सन्धि का इसमे लोप होगा। इसमे विट और पीठमर्द सहायक नही होते है। इसमे नायक का नर्म-सचिव विरूप या विदूषक होता है। यह नाटिका किसी नाटक-धर्म के और उसके अविरोधी धर्म के आश्रित होती है। इसमे प्राय स्त्री पात्रो की प्रधानता रहती है। यह देश, ऋतु-वर्णन आदि से सुशोभित होती है। चार अक का जो रूपक होता है वह 'नाटिका' कहलाता है। इसमे इतिवृत्त उत्पाद्य (कल्पित) होने से, शृगार आदि रस होने से, प्रख्यात वशोत्पन्न नृप-नायक होने से तथा ३६ भूषण होने से—यह नाटिका नाटक तथा प्रकरण के तुल्य कही जाती है। इसके विशेष उदाहरण—'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' हैं।

१५८ यही नाटिका सट्टक नाम से भी जानी जाती है, जहाँ प्रवेशक तथा विष्कम्भक

अङ्कस्थानीयविन्यस्तचतुर्यवनिकान्तरा ।
प्रकृष्टप्राकृतमयी सट्टकं नामतो भवेत् ॥

अथ भाणलक्षणम् ॥

१५९　भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूयचेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥
कोहलादिभिराचार्यैरुक्तं भाणस्य लक्षणम् ।

१६०　लास्याङ्गदशकोपेतं सम्यगुत्पाद्यवस्तु च ॥
भारतीवृत्तिभूयिष्ठं शृङ्गारैकरसाश्रयम् ।
परस्वात्मानुभूतार्थधूर्तचारित्रवर्णनम् ॥
तत्तद्विटोक्तिप्रत्युक्तिविहिताकाशभाषितम् ।
मुखनिर्वहणप्रायसन्धियुग्रूपकं च यत् ॥
एकाङ्कश्च भवेद्भाण इति विद्वद्भिरुच्यते ।

का प्रयोग नही होता है, अक के स्थान पर चार यवनिका का विधान किया जाता है तथा केवल प्राकृत-भाषा का ही प्रयोग होता है ।

(भाण-लक्षण)

१५९　'भाण' वह रूपक है जहाँ कोई चतुर तथा बुद्धिमान विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित का वर्णन करे। यहाँ पर सम्बोधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है तथा भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य का वर्णन कर शृगार तथा वीर-रस की सूचना दी जाती है । इसमे भारतीवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है तथा एक ही अक की योजना की जाती है । इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित होती हैं । इसमे मुख तथा निर्वहण सन्धि अपने अगो के साथ रहती है तथा इसमे दस लास्यागो का सन्निवेश भी होता है।[८९] इस प्रकार कोहल आदि आचार्यो ने भाण का लक्षण कहा है ।

१६०　जहाँ दस लास्यागो का सन्निवेश होता है, जिसकी कथावस्तु कविकल्पित होती है, जिसमे भारतीवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है । जो शृगार-रस के आश्रित होता है । जिसमे अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित्र का वर्णन किया जाता है । जहाँ पर तद्-तद् विट की उक्ति-प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है । और जो मुख तथा निर्वहण-सन्धि से युक्त रूपक होता है, उस एक अक वाले रूपक को विद्वान 'भाण' कहते हैं ।

१६१ भाणस्य लक्षणं चेदृग्भोजेनापि प्रकाशितम् ॥

१६२ गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं त्रिमूढञ्च सैन्धवाख्यं द्विमूढकम् ॥
उत्तमोत्तकं भाव्यमुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्यं दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥

१६३ वीणादिवाद्ययोगेन सहितं यत्र भाव्यते ।
ललितं नायिकागीतं तद्गेयपदमुच्यते ॥

१६४ चञ्चत्पुटादिना वाक्याभिनयो नायिकाकृतः ।
भूमिचारिप्रचारेण स्थितपाठ्यं तदुच्यते ॥

१६५ भ्रूनेत्रपादचलनविलासाभिनयान्वितम् ।
योज्यमासीनया पाठ्यमासीनं तदुदाहृतम् ॥

१६६ नानाविधेन वाद्येन नानाताललयान्वितम् ।
लास्यं प्रयुञ्जते यत्र सा ज्ञेया पुष्पगण्डिका ॥

१६७ अन्यासङ्गमशङ्किन्या नायकस्यात्तरोषया ।
प्रेमच्छेदप्रकटनं लास्यं प्रच्छेदकं विदुः ॥

---

१६१ इसी प्रकार भोज ने भाण का लक्षण कहा है।[८७]

१६२ लास्य मे इन दस अगो की कल्पना की जाती है—गेयपद, स्थित-पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिमूढ, सैन्धव, द्विमूढक, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रत्युक्त ।

(गेयपद)

१६३ जब नायिका वीणा आदि वाद्य के योग के साथ सुन्दर गीत गाती हे तो उसे 'गेयपद' कहा जाता है ।

(स्थितपाठ्य)

१६४ जब चचल-पुट आदि के साथ भौमचारी प्रस्तुत करते हुए नायिका वाक्य-अभिनय को प्रस्तुत करती है तो उसे 'स्थित-पाठ्य' कहा जाता है ।

(आसीन)

१६५ जब नायिका बैठकर भौह, नेत्र और पैर की व्यजक मुद्राओ के साथ किसी गीत को प्रस्तुत करती है तो उसे 'आसीन' कहते है ।

(पुष्प गण्डिका)

१६६ जब अनेक प्रकार के वाद्य तथा भिन्न-भिन्न ताल और लय के साथ लास्य (नृत्य) को प्रस्तुत किया जाय तो उसे 'पुष्प गण्डिका' समझना चाहिए ।

(प्रच्छेदक)

१६७ नायक को अन्यासक्त समझकर क्रोध से युक्त जब नायिका प्रेम-विच्छेद को प्रकट करने वाले लास्य (नृत्य) को प्रस्तुत करती है, उसे 'प्रच्छेदक' कहते है।

१६८ अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिमूढकमुदाहृतम् ।।

१६९ देशभाषाविशेषेण चलद्वलयश्रृङ्खलम् ।
लास्यं प्रयुज्यते यत्र तत्सैन्धवमुदाहृतम् ।।

१७० चारीभिर्ललिताभिश्च चित्रार्थाभिनयान्वितम् ।
स्पष्टभावरसोपेतं लास्यं यत्तद्द्विमूढकम् ।।

१७१ अपरिज्ञातपार्श्वस्थं गेयभावविभूषितम् ।
लास्यं सोत्कण्ठवाक्यं यदुत्तमोत्तमकं भवेत् ।।

१७२ कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम् ।।
वाक्यं तदुक्तप्रत्युक्तं द्वयोः प्रश्नोत्तरात्मकम् ।।

१७३ स्वप्ने विलोक्य दयितं क्रियते यत्प्रबुद्धया ।
मनोभवार्तया भावस्तद्धि भाविकमुच्यते ।।

१७४ अपरैर्नृत्यभेदास्तु गुल्मश्रृङ्खलितालताः ।
भेद्यकञ्चेति चत्वारः कथ्यन्तेऽत्र मनीषिभिः ।।

(त्रिमूढक)

१६८ कोमल और मधुर पद वाला, समवृत्तो से अलकृत तथा पुरुष-भावो से युक्त नाट्य 'त्रिमूढक' कहा जाता है।"

(सैन्धव)

१६९ देश की भाषा की विशेषता से चचल वलय एव श्रृखला से युक्त लास्य जहाँ प्रयुक्ता होता है, उसे 'सैन्धव' कहते है।

(द्विमूढक)

१७० ललित चारियो से युक्त, भिन्न-भिन्न अभिनय से युक्त, स्पष्ट भाव और रस से युक्त लास्य (नृत्य) 'द्विमूढक' कहा जाता है।

(उत्तमोत्तक)

१७१ समीप में बैठे हुए को न जानकर, गेय भाव से विभूषित होकर उत्कण्ठावश नायिका का किया गया लास्य (नृत्य) 'उत्तमोत्तमक' कहा जाता है।

(उक्ति-प्रत्युक्ति)

१७२ नायक-नायिका दोनो के बीच कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न और आक्षेप से युक्त होने वाले प्रश्नोत्तरात्मक विवाद को 'उक्ति-प्रयुक्ति' कहते हैं।

(भाविक)

१७३ काम से पीड़ित प्रबुद्धा नायिका स्वप्न मे अपने प्रियतम को देखकर जिस भाव को प्रकट करती है, उसे 'भाविक' कहते हैं।

१७४ किन्ही विद्वानो ने नृत्य के चार भेद और कहे हैं—गुल्म, श्रृखलिता, लता तथा भेद्यक।

१७५ गुल्मः सम्भूय यन्नृत्तं शृङ्खलाऽन्योन्यबन्धनी ।
परस्पराङ्गवेष्टेन यन्नृत्यं सा लता मता ।
एकैकस्य बहिस्सङ्गान्नृत्तं यत्स च भेद्यकः ।
१७६ पिण्डीबन्धश्च गुल्मश्च पर्यायाविति केचन ।।
१७७ गुल्मबन्धो विलम्बे स्याच्छृङ्खला तु लयान्तरे ।
मध्यमे स्याल्लताबन्धो द्रुते स्याद्भेद्यकः स्मृतः ।।
१७८ भद्रासनेन यन्त्रेण तत्तच्छिक्षा विधीयते ।

अथ प्रहसनलक्षणम् ।।

१७९ भाणवत्स्यात्प्रहसनं तत्त्रिधा परिभिद्यते ।।
शुद्धं क्वाप्यथ सङ्कीर्णं क्वचिद्वैकृतमित्यपि ।
तत्र श्रोत्रियनिर्ग्रन्थशाक्यादीनां यथायथम् ।
भाषाचेष्टिततद्रूपहास्यवाक्यसमन्वितम् ।
चेटचेटीविटव्याप्तं शुद्धं प्रहसनंभवेत् ।।
उद्घात्यकादिवीथ्यङ्गैर्मिश्रं सङ्कीर्णमुच्यते ।
विटकामुकचेटादिवचोवेषधरैस्तु यत् ।।
परिव्राण्मुनिषण्डाद्यैः कृतं वैकृतमुच्यते ।

---

१७५ मिलकर (इकट्ठे होकर) जो नृत्य होता है, 'गुल्म' होता है, एक-दूसरे से बध-बध कर जो नृत्य होता है, वह 'शृखलिता' होता है, परस्पर अग के जोडने से जो नृत्य होता है, वह 'लता' कहलाता है। समुदाय से एक-एक करके बाहर होते हुए जो नृत्य होता है, वह 'भेद्यक' होता है।

१७६ कोई गुल्म को 'पिण्डीवन्ध' कहते है अर्थात् किसी के मत मे गुल्म और पिण्डी-बन्ध दोनो पर्याय है।

१७७ गुल्म-बन्ध नृत्य विलम्बित लय मे होता है, शृखला लयान्तर मे, लतावन्ध मध्यम लय मे तथा भेद्यक नृत्य द्रुत लय मे प्रयुक्त होता है।

१७८ ये नृत्य भद्रासन यन्त्र से सीखे जाते है।

(प्रहसन-लक्षण)

१७९ प्रहसन वस्तु, सन्धि, सन्ध्यग, अक तथा लास्यादि मे भाण की ही तरह होता है। यह शुद्ध, सकीर्ण तथा विकृत भेदो से तीन प्रकार का होता है। शुद्ध-प्रहसन मे श्रोत्रिय; बौद्ध, जैन, साधु आदि, चेट, चेटी और विट का जमघट होता है। इनकी भाषा के अनुरूप यहाँ चेष्टा पायी जाती है तथा इनका वचन हास्य युक्त होता है। उद्घात्यक आदि वीथ्यगो से मिश्रित सकीर्ण-प्रहसन कहलाती है। जहाँ साधु, मुनि या नपुसक पात्र निबद्ध हो ; जो विट, कामुक, चेट आदि के वचन व वेष का प्रयोग करें, वह प्रहसन विकृत कहलाता है।

१८० रसस्तु भूयसा कार्यः षट्प्रकारस्ततस्ततः ।
मुखं निर्वहणञ्चैव सन्धी द्वावस्य कीर्तितौ ।
अङ्कोऽप्येको भवेद्यस्य तत्तु प्रहसनं भवेत् ।।

१८१ सैरन्ध्रिका स्यात्सङ्कीर्णा शुद्धा सागरकौमुदी ।
कलिकेलिप्रहसनं यत्तद्वैकृतमीरितम् ।।

अथ डिमलक्षणम् ।।

१८२ उद्धतैर्देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्यैर्डिमः षोडशनायकः ।।
शृङ्गारहास्यविधुरै रसैर्दीप्तैर्निरन्तरः ।
कैशिकीवृत्तिरहितो भारत्यारभटीयुतः ।।
लुप्तावमर्शसन्धिश्च चतुस्सन्धिसमन्वितः ।
अङ्गिरौद्ररसोपेतो बीभत्सादिनिरन्तरः ।।
प्रख्यातवस्तुविषयो न्यायमार्गीणनायकः ।
चन्द्रसूर्योपरागोल्कानिर्घातादिभिरुद्भटः ।।
उत्पातैर्घोरसङ्ग्रामसंरम्भभरितान्तरः ।
सप्रवेशकविष्कम्भश्चतुरङ्को डिमः स्मृतः ।।
इदं त्रिपुरदाहाख्ये लक्षण ब्रह्मणोदितम् ।

---

१८० प्रहसन मे रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहो भेद (हसित, अपहसित, उपहसित, अवहसित, अतिहसित तथा विहसित) होते हैं। प्रहसन मे मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं तथा एक अक होता है।

१८१ 'सैरन्ध्रिका' सकीर्ण-प्रहसन है, 'सागरकौमुदी' शुद्ध-प्रहसन है तथा 'कलि-केलि' विकृत-प्रहसन है।

(डिम-लक्षण)

१८२ डिम मे देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक (पात्र) होते हैं तथा वे बड़ उद्धत होते हैं। इसमे शृगार व हास्य के अतिरिक्त शेष ६ रसो का प्रदीपन पाया जाता है। इसमे कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियाँ—सात्त्वती, आरभटी व भारती का समावेश होता है। अवमर्श-सन्धि के अतिरिक्त इसमे शेष ४ सन्धियाँ पायी जाती हैं। इसका अगी-रस रौद्र होता है, बीभत्स आदि भी पाये जाते है। इसकी कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है। न्यायप्रिय नायक होता है। इसमे चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, नक्षत्र-पात, घात आदि, महान उत्पात, घोर-संग्राम तथा उद्भ्रान्ति आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं। प्रवेशक तथा विष्कम्भक से युक्त, चार अक वाला

उदाहरणमेतस्य वृत्रोद्धरणमुच्यते ॥
तारकोद्धरणं तद्वत्तत्र तत्र विलोक्यताम् ।

अथ व्यायोगलक्षणम् ॥

१८३ व्यायोगस्येतिवृत्तं यत्तत्प्रख्यातमितीरितम् ॥
धीरोदात्ताश्च विख्याता देवा राजर्षयोऽथवा ।
नायकास्त्रिचतुष्पञ्च भवेयुर्न दशाधिकाः ॥
दिव्ययोनिकथाल्पस्त्रीपरिवारस्त्रिसन्धिकः ।
गर्भावमर्शरहितो विष्कम्भादिसमन्वितः ॥
एकाहचरितैकाङ्को भारत्यारभटीयुतः ।
युद्धाधर्षणसम्फेटविद्रवादिनिरन्तरः ॥
क्वाचित्कः स्वल्पश्रृङ्गारः षड्दीप्तरसनिर्भरः ।
अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो व्यायोगः कथितो बुधैः ॥

अथ समवकारलक्षणम् ॥

१८४ देवासुरेतिवृत्तं यत्प्रख्यातं लोकसम्मतम् ।
तत्स्यात्समवकारोऽस्य निर्विमर्शाश्च सन्धयः ॥

'डिम' कहलाता है। ब्रह्मा ने 'त्रिपुरदाह' मे डिम के इसी लक्षण को बताया है।[९] डिम का उदाहरण 'वृत्तोद्धरण' कहा जाता है उसी की तरह 'तारको-द्धरण' को भी वहाँ-वहाँ देखना चाहिए।

(व्यायोग-लक्षण)

१८३ व्यायोग की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है, इसका विख्यात धीरोदात्त नायक होता है, वह देवता या राजर्षि होता है। इसमे नायक (पात्र) तीन, चार, पाँच होने चाहिए, दस से अधिक नही होने चाहिए। व्यायोग मे किसी देवता की कथा होती है, स्त्री-पात्र कम होते हैं। इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियो के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ पायी जाती हैं। यह विष्कम्भक आदि से युक्त होता है। इसकी कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमे एक ही अक होता है। इसमे भारती व आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमे युद्ध, चुनौती, क्रोध तथा पलायन आदि वर्णित होते है। इसमे कही-कही थोडा श्रृगार-रस पाया जाता है अन्यथा हास्य-श्रृगार वर्जित ६ रस इसमे होते हैं। इसमे जो युद्ध वर्जित होता है, वह युद्ध स्त्री-प्राप्ति के कारण नही होता। इस प्रकार इसे विद्वान लोग 'व्यायोग' कहते हैं।

(समवकार-लक्षण)

१८४ समवकार मे देवता और असुरो से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध कथावस्तु होती है। इसमे विमर्श-सन्धि नही होती है। इसमे मृदुल कैशिकी-वृत्ति पायी

मृद्वी स्यात्कैशिकी वृत्तिरङ्गी वीररसो भवेत् ।
प्रख्यातोदात्तचरिता मिलिता देवदानवाः ।।
पृथक्प्रयोजनास्तत्र नायका द्वादश स्मृताः ।
अङ्गान्यन्ये रसास्तत्र सात्त्वत्याद्याश्च वृत्तयः ।।
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
अष्टादश स्युरेतस्मिन्नाडिकाः समुदायतः ।।
ताभिस्त्रिधा विभिन्नाभिः स्यङ्ककालो नियम्यते ।
मुखप्रतिमुखाभ्याञ्च प्रथमाङ्को द्विसन्धिकः ।।
कालस्तु प्रथमाङ्कस्य भवेद्द्वादश नाडिकाः ।
द्वितीयाङ्कश्चतसृभिर्नाडिकाभिः स्थितो भवेत् ।।
मुखं प्रतिमुखं गर्भः सन्धयोऽस्य त्रयोऽपि च ।
तृतीयाङ्कस्य कालोऽपि नाडिकाभ्यां प्रकल्प्यते ।।
सन्धेया निर्विमर्शाश्च चत्वारः सन्धयोऽत्र तु ।
१८५ मुहूर्तस्य तुरीयांशो नाडिका घटिकाद्वयम् ।।
१८६ वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ।
कपटस्य स्वरूपं तु भ्रमो मोहात्मकः स्मृतः ।।
वस्तुस्वभावकपटः क्रूरसत्त्वादिसम्भवः ।

जाती है। इसका अगी-रस वीर-रस होता है। इसके नेता—पात्र देवता और दानव होते है। ये नायक इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं तथा सख्या मे बारह होते है। इन सभी का फल भिन्न होता है। वीर-रस के अतिरिक्त इसके अन्य-रस अग-रस होते है, इसमे सात्त्वती आदि वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमे तीन अक होते हैं जिसमे तीन बार कपट, तीन प्रकार शृगार (धर्म, अर्थ तथा काम) तथा तीन बार पात्रो मे विद्रव (पलायन) का सयोजन होता है।[९०] इन तीनो अको की कथा १८ नाडिका की होती है, उन भिन्न-भिन्न तीन प्रकार की कथाओ से तीन अको का काल निश्चित किया जाता है। इसके प्रथम अक मे मुख और प्रतिमुख ये दो सन्धियाँ होती है तथा इसकी कथा १२ नाडिका की होती है। द्वितीय अक की कथा ४ नाडिका की होती है तथा इसमे मुख, प्रतिमुख तथा गर्भ सन्धियाँ होती है तथा तृतीय अक की कथा २ नाडिका की होती है तथा इसमे विमर्श के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती है।

१८५ मुहूर्त्त के चतुर्थांश या दो घडी के बराबर एक 'नाडिका' होती है।[९१]

१८६ कपट—स्वाभाविक, दैविक तथा कृत्रिम (शत्रुकृत) इन भेदो से तीन प्रकार का होता है।[९२] कपट का स्वरूप मोहात्मक भ्रम कहलाता है। दुष्ट-प्राणी

दविकः कपटो वह्निवर्षवातादिसंभवः ॥
शत्रुजः कपटस्तत्र सङ्ग्रामादिसमुद्भवः ।
१८७ विद्रवः प्रायशस्तद्वत्तयोर्भेदोऽत्र कथ्यते ॥
जीवग्राहोऽथ मोहो वा कपटेन प्रकाश्यते ।
विद्रवस्तु फलं तत्तद्धेतोस्तस्मात्पलायनम् ।
१८८ शृङ्गारो धर्मकामार्थभेदेन त्रिविधो भवेत् ॥
व्रतनियमतपोयोगाद्यस्मिन्बहुधा निवेशितः कामः ।
पुत्रादिभोगसुखकृत्स ज्ञेयो भोग(धर्म)शृङ्गारः ॥
अर्थावाप्तिर्यस्मिन्कामेन निवेशितेन संभवति ।
तदधीनविभवभोगास्वादसुखेनार्थशृङ्गारः ॥
परदारद्यूतसुरामृगयाद्यास्वादकेलिविनिविष्टः ।
तत्तद्विषयास्वादनसुखललितः कामशृङ्गारः ॥
१८९ वीथ्यङ्गानि यथालाभमामुखं नाटकादिवत् ।
शृङ्गारत्रितयं यत्र नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥
इत्थं समवकारस्य लक्षणं दर्शितं बुधैः ।

अर्थात् क्रूर स्वभाव वाले प्राणियो से उत्पन्न कपट 'स्वाभाविक' होता है। अग्नि, वर्षा, आधी आदि से उत्पन्न कपट 'दैविक' कहलाता है। युद्ध आदि से उत्पन्न कपट शत्रुज (कृत्रिम) कहलाता है।

१८७ 'विद्रव' प्राय कपट की तरह होता है। अब कपट और विद्रव के भेद को कहते हैं। जीवग्राह या मोह कपट के द्वारा प्रकाशित होता है। विद्रव उसका फल होता है इसीलिए उसके हेतु से पलायन होता है।

१८८ धर्म, अर्थ तथा काम—भेद से शृगार तीन प्रकार का होता है। इसमे धार्मिक भाव से पुत्रादि, भोग तथा सुख की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला व्रत, नियम, तपस्या, योग आदि धार्मिक कृत्यो का आचरण 'धर्म-शृगार' जानना चाहिए। जहाँ निवेशित काम के द्वारा अर्थ-प्राप्ति सभावित होती है उसके अधीन वैभवो का भोग होता है, वैभव के भोग के आस्वाद के सुख से 'अर्थ-शृगार' होता है। जिसमे पर-स्त्री-सेवन, द्यूत, सुरा-पान, मृगया आदि से प्राप्त आस्वाद तथा केलि-क्रीडा होती है, उन-उन विषयो से प्राप्त सुख और आस्वाद से शोभित 'काम-शृगार' कहलाता है।

१८९ इसमे (प्रहसन की तरह) यथावश्यक वीथ्यगो की योजना की जानी चाहिए तथा नाटक की तरह आमुख की योजना करनी चाहिए। इसमे धर्म, अर्थ तथा काम—तीन प्रकार का शृगार पाया जाता है तथा बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति,

उदाहरणमेतस्य भवेदमृतमन्थनम् ।
प्रथमेऽङ्केऽत्र शृङ्गारकपटाश्च सविद्रवाः ॥

१९० युद्धजलसम्भ्रमो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसम्भ्रमकृतो वा ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥

१९१ उष्णिग्गायत्र्याद्यान्यन्यानि च यानि बन्धकुटिलानि ।
वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि प्रयोज्यानि ॥
वीथीप्रहसनाङ्गानि भवेयुर्वा नवा क्वचित् ।
अन्यथा वर्णयन्त्यन्ये कपटं विद्रवं बुधाः ॥
वस्तुक्रमसमुद्भूतो दैवसम्पादितस्तथा ।
तथा शत्रुकृतश्चेति कपटाः स्युस्त्रयः क्रमात् ॥
तथा हि चित्रशालाङ्के दण्डकाष्ठोपसङ्गमात् ।
ज्वरो विदूषकस्यैष कपटः प्रथमः स्मृतः ॥
दैवाद्वध्यशिलारोहो नागानन्दे प्रकल्पितः ।
जीमूतवाहनस्यैष द्वितीयः कपटः स्मृतः ॥
यथा पुंसवनाङ्केऽत्र चिन्तामूर्खस्य मायया ।
कैकयीमन्थरावेषधारणं कपटोऽन्तिमः ।
(वातादिजन्यसाम्यात्तु) विद्रवो नात्र कथ्यते ॥

प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपक्षेपक) नही पाया जाता है। इस प्रकार से विद्वानो ने 'समवकार' का लक्षण किया है। इसका उदाहरण है—'अमृतमन्थनम्'। इसके प्रथम अक मे विद्रव सहित श्रृगार और कपट का वर्णन किया गया है।

१९० विद्रव तीन प्रकार का होता है—युद्ध तथा बाढ की घबराहट से उत्पन्न, आधी, अग्नि तथा बडे हाथी के दर्शन से उत्पन्न तथा नगर को घेर लिए जाने से उत्पन्न।[९३]

१९१ समवकार मे कविजनो को उष्णिक् तथा गायत्री छन्द के अलावा अन्य जो काव्य-बन्ध के योग्य छन्द हैं उनका प्रयोग करना चाहिए।[९४] चाहे कही प्रहसन की तरह वीथी के अग हो या न हो। दूसरे विद्वान कपट और विद्रव का दूसरी प्रकार से वर्णन करते है। 'कपट' तीन प्रकार का होता है—स्वाभाविक दैविक तथा शत्रुकृत (कृत्रिम)। जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक के चित्र-शालाक मे लकडी के डण्डे के प्रसंग से विदूषक का ज्वर प्रथम प्रकार का कपट कहा गया है। नागानन्द नाटक मे देववश वध्य-शिला पर चढना जीमूतवाहन का द्वितीय प्रकार का कपट कहा गया है। पुसवनाक मे चित्रजामुखि का माया से कैकयी तथा मन्थरा का वेश धारण करना अन्तिम कपट कहा गया है। आधी आदि से उत्पन्न विद्रव की समानता से यहाँ विद्रव को नही कहते हैं।

अथ वीथीलक्षणम् ।।

१९२ मुखनिर्वहणे सन्धी वीथ्या वृत्तिस्तु कैशिको ।
द्वाभ्यां प्रयोज्या पात्राभ्यां क्वचिदेकेन वा भवेत् ।।
अङ्गी सर्वरसस्पर्शी शृङ्गारोऽस्यः प्रधानतः ।
युक्ता लास्याङ्गवीथ्यङ्गैः सम्यगुद्घात्यकादिभिः ।।
भवेयुर्वा न वेत्यस्यां लास्याङ्गान्याह कोहलः ।
वीथ्याः शृङ्गाररूपत्वाद्विधेयानीति भोजराट् ।।
एकाङ्कैव भवेद्वीथी रसः सूच्योऽत्र सम्भृतः ।
यथा बकुलवीथी स्यादिन्दुलेखादयो यथा ।।

अथोत्सृष्टिकाङ्कलक्षणम् ।।

१९३ उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद्भवेत् ।
कदाचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया ।।
दिव्यैरयुक्तः पुरुषैः शेषैरन्यैः समन्वितः ।
कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्त्वत्यारभटीयुतः ।।
नियुद्धयुद्धसम्फेटप्रहारनिधनोद्भटः ।
प्रभूततरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुरः ।।
निर्वेदभाषितैः स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितैः ।

(वीथी-लक्षण)

१६२ वीथी मे मुख तथा निर्वहण-सन्धि पायी जाती है तथा इसमे कैशिकी-वृत्ति होती है। इसमे दो-एक पात्रो की ही योजना करनी चाहिए। इसका प्रधानत अगी-रस शृगार होता है वैसे यह सभी रसो का स्पर्श कर सकता है। यह (वीथी) लास्याग तथा उद्घात्यक आदि वीथ्यगो से युक्त हो या न हो लेकिन कोहल ने वीथी मे लास्यागो को स्वीकार किया है। भोज ने वीथी के शृगार-रूप होने के कारण वीथी का विधान किया है। इस (वीथी) मे एक अक होता है तथा इसमे सभोग-शृगार सूच्य रस होता है। जैसे—बकुलवीथी तथा इन्दु-लेखा आदि।

(उत्सृष्टिकाक-लक्षण)

१६३ उत्सृष्टिकाक रूपक मे इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है। परन्तु कवि को उसमे अपनी बुद्धि से कुछ कल्पित इतिवृत्त को भी जोड देना चाहिए। इसमे दिव्य पात्र नही होता परन्तु दूसरे सभी प्रकार के पात्र रहते हैं। इसमे कैशिकी वृत्ति के अतिरिक्त सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमे परस्पर युद्ध, सग्राम, क्रोध, प्रहार तथा भयकर उत्पात के वर्णन के समय तरुण स्त्रियो का रुदन होना चाहिए तथा स्त्रियो का करुण क्रन्दन होना चाहिए। विभिन्न व्याकुलतागर्भक चेष्टाओं की योजना करनी चाहिए। कही

क्वचिद्भयानकप्रायः कर्तव्योऽभ्युदयान्तिमः ॥
एवमुत्सृष्टिकाङ्कस्तु कर्तव्यः काव्यवेदिभिः ।
अस्याङ्कमेकं भरतो द्वावङ्काविति कोहलः ॥
व्यासाञ्जनेयगुरवः प्राहुरङ्कत्रयं यदा ।
१६४ विष्कम्भकोऽत्र सङ्कीर्णः तत्र तत्र प्रवेशकः ॥
मुखनिर्वहणे सन्धी इति कोहलभाषितम् ।
ईहामृगवदित्यन्ये केऽप्याहुर्डिमसन्धिभिः ॥
१९५ यद्दिव्यनायककृतं कार्यं सङ्ग्रामबन्धुवधयुक्तम् ।
तद्भारते तु वर्षे कर्तव्यं काव्यबन्धेषु ॥
कस्माद्भारतमिष्टं वर्षेभ्यस्तस्य कर्मभूमित्वात् ।
न वधादयः क्वचित्स्युः निबन्धनीयाः प्रयोज्याश्च ॥
भवेयुः क्वापि यद्येते प्रत्युज्जीवन्त्यनन्तरम् ।
लक्ष्मणस्य वधः शक्त्या रावणेन यथा कृतः ॥
यत्प्रत्युज्जीवनान्तोऽभूत्तत्तु रामानुजाह्वये ।
जीमूतवाहनस्यापि नागानन्दे वधो यथा ॥
तत्प्रत्युज्जीवनान्तश्च तथैवान्यत्र कल्प्यताम् ।
चन्द्रापीडस्य मरणं यत्प्रत्युज्जीवनान्तिमम् ॥

अभ्युदय के नाश का भयानक दृश्य प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार काव्यवेत्ताओ को उत्सृष्टिकाक की योजना करनी चाहिए। भारत के अनुसार इसमे एक अक होना चाहिए लेकिन कोहल के अनुसार दो अक होने चाहिए। व्यास, आजनेय गुरुजनो ने तीन अक का विधान इसमे कहा है।

१९४ कोहल के मत मे इसमे सकीर्ण-विष्कम्भक तथा वहाँ-वहाँ प्रवेशक की योजना होती है तथा मुख और निर्वहण सन्धि होती है। कोई कहते है कि इसमे ईहामृग के समान मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धि होती है। कोई कहते है कि इसमे डिम के समान विमर्श के अलावा चार सन्धियाँ होती हैं।

१९५ इस उत्सृष्टिकाक मे यदि दिव्य-पात्रो द्वारा किये गये बन्धु-बान्धवो के वध से युक्त युद्ध का वर्णन किया जाय तो वह वर्णन काव्य-बन्धो मे केवल भारत-वर्ष मे ही किया जाना चाहिए। अन्य वर्षों मे से भारतवर्ष ही क्यो इष्ट है, क्योकि भारतवर्ष ही कर्मभूमि है।[५] अन्यथा इसमे कही भी वध आदि का न निबन्धन करना चाहिए न प्रयोग। यदि कही वध का वर्णन किया जाय तो तदनतर वह पात्र जीवित हो जाना चाहिए। जैसे 'रामानुज' उत्सृष्टिकाक मे रावण ने अपनी शक्ति से लक्ष्मण का वध किया है, लेकिन कुछ समय पश्चात् उपचार से लक्ष्मण जीवित हो गये हैं। इसी प्रकार नागानन्द नाटक मे जीमूत-वाहन का वध हो गया है तदनन्तर उसे जीवन मिल गया है। इसी प्रकार

कल्पितं भट्टबाणेन यथा शारदचन्द्रिका ।
१९६ दिव्येन मर्त्यस्य वधः काव्यस्यावश्यभावतः ।।
निबन्धेसूच्य एवाङ्कविच्छिन्त्यैष प्रवेशकैः ।
यथा सगरपुत्राणां कपिलेन वधः कृतः ।।
प्रवेशकैः सूचितोऽङ्कच्छेदैर्गङ्गाभगीरथे ।
१९७ यथा वधः प्रयोज्यः स्यात्तथा बन्धादि कल्प्यताम् ।।
इत्याहुर्भारते वर्षे इति शंकुकभाषितम् ।
१९८ देशेष्वन्येषु कविभिर्न वधादिः प्रकल्प्यते ।।
हृद्या तत्तद्भूमिः शोभनगन्धा च काञ्चनी यस्मात् ।
उपवनसलिलक्रीडाविहारनारीरतिप्रमोदाश्च ।।
तेषु च वर्षेषु सतां भवति न दुःखं न वा शोकः ।
एते देशविशेषाः पुराणशास्त्रेतिहासपरिगणिताः ।।
कर्मारम्भो न भवेत्तेषु हि ते (सुवते) यत्फलं क्षोण्याः ।
सुरतोत्सवसम्भोगा देशेष्वेतेषु बन्धनीयास्स्युः ।
रत्युपचाराङ्गतया गीताङ्गानि प्रयोजनीयानि ।।
अन्ये रसा न प्रयोज्यास्तत्तद्देशविशेषतः ।
प्रायेणोत्सृष्टिकाङ्कस्तु वर्षे भारत एव हि ।।

अन्यत्र भी कल्पना कर लेनी चाहिए। वाणभट्ट ने शारदचन्द्रिका मे चन्द्रापीड का मरण दिखाया है, वाद मे उसे जीवित दिखाया है।

१९६ यदि काव्य के आवश्यक भाव के कारण देवता द्वारा किसी मनुष्य का वध दिखाने की आवश्यकता हो तो उस घटना को कवि को अक को तोडकर प्रवेशक द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए। जैसे 'गगाभागीरथ' मे कपिल द्वारा सगर-पुत्रो का वध अक छेदन कर प्रवेशक द्वारा सूचित किया गया है।

१९७ जैसे वध की योजना की जाती है वैसे ही बन्धादि की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। लेकिन यह भारतवर्ष मे ही करनी चाहिए—ऐसा शकुक का मत है।

१९८ अन्य देशो मे कवियो द्वारा वधादि की कल्पना नही की जाती है। क्योकि उन-उन देशो मे हृद्या (मनोहर), शोभनगन्धा (सुगन्धयुक्त) तथा कचनमयी भूमि होती है। उपवन, सलिल-क्रीडा, विहार, स्त्री-रति, प्रमोद आदि होते है। सज्जनो को न दु.ख होता है न शोक। इस प्रकार देश-विशेष पुराण-शास्त्र और इतिहास ग्रन्थो मे गिनाये गये है।[९८] उन देशो मे कर्मारम्भ नही होता। वे देश पृथ्वी के जिस फल को उत्पन्न करते है उन देशो मे सुरतोत्सव, सम्भोग आदि का निबन्धन करना चाहिए। रति का उपचार एव उनके अग होने से गीतागो का प्रयोग करना चाहिए। उन-उन देशो की विशेषता के कारण अन्य

अनुषङ्गेण कथितो विशेषोऽत्रावधारितः ॥

अथेहामृगलक्षणम् ॥

१९९ ईहामृगस्येतिवृत्तं प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रितम् ।
मुखप्रतिमुखोपेतं तथा निर्वहणान्वितम् ॥
धीरोद्धतश्च प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायकः ।
बलाद्दिव्याङ्गनाहेतुप्रवृत्तोद्दामसङ्गरः ॥
गणशः षट्चतुःपञ्चनायकाः प्रतिनायकाः ।
यथासमरसंरम्भतुल्यवृत्तिरसाश्रयाः ॥
वृत्तित्रययुतो हीनः कैशिक्या सहितोऽपि वा ।
भयबीभत्सरहिताः षडेवात्र रसाः स्मृताः ॥
अङ्काश्चत्वार एवात्र सविष्कम्भप्रवेशकाः ।
व्याजान्निर्वर्तितोद्दामसंरम्भारम्भसङ्गरः ॥
वधं प्राप्तस्य नो कुर्यान्नेतुः क्वापि यशस्विनः ।
उक्ता व्यायोगधर्मा ये ते स्युरीहामृगेऽपि च ॥
व्यायोगस्य विशेषोऽयमस्त्रीहेतुकसङ्गरः ।
ईहामृगश्च कथितो यथा कुसुमशेखरः ॥

रसो का प्रयोग नही करना चाहिए। प्राय उत्सृष्टिकाक भारतवर्ष मे ही प्रसगत. कहा गया है, विशेष यहाँ बताया गया है।

(ईहामृग-लक्षण)

१९९ ईहामृग की कथा मिश्रित—प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है। इसमे मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसके नायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते है। इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है। इसमे बलपूर्वक किसी दिव्यागना की प्राप्ति की इच्छा से नायक युद्ध मे प्रवृत्त होता है। इसमे समूह रूप मे छ, चार और पाँच नायक प्रतिनायक होते हैं। ये युद्ध और क्रोध के तुल्य वृत्ति और रस के आश्रित होते हैं। इसमे सात्वती, आरभटी तथा भारती—तीन वृत्तियाँ पायी जाती है—कही-कही कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है, नही भी पायी जाती है। इसमे भयानक और बीभत्स-रस के अतिरिक्त अन्य षट्-रस पाये जाते है। इसमे चार अक होते है तथा यह विष्कम्भक तथा प्रवेशक से युक्त होता है। इसमे युद्ध प्रारम्भ कराकर फिर किसी बहाने से प्रारम्भ हुए युद्ध को रोक देना चाहिए। किसी यशस्वी नायक का वध नही कराना चाहिए। जो व्यायोग के धर्म कहे गये हैं वही ईहामृग के समझने चाहिए। अन्तर केवल यह है कि व्यायोग मे स्त्री के कारण युद्ध नही होता। जैसे कुसुमशेखर को ईहामृग कहा जाता है।

२०० भाणे वीथ्यां प्रहसने व्यायोगोत्सृष्टिकाङ्कयोः ।
डिमे समवकारे च तथैवेहामृगेऽपि च ॥
मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्चोपसंहृतिः ।
प्रयोज्याः सन्धयस्तज्ज्ञैरेकद्वित्र्यादिलोपतः ॥
एकलोपे चतुर्थः स्याद्द्विलोपे त्रिचतुर्थयोः ।
द्वितृतीयचतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ॥

२०१ इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु च विभाव्य बृहत्कथाञ्च ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्धवृत्तैः ॥

**इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने दशरूपकलक्षण-
कथनो नामाष्टमोऽधिकारः ॥**

---

२०० नाट्यविदो को भाण, वीथी, प्रहसन, व्यायोग, उत्सृष्टिकाक, डिम, समवकार तथा ईहामृग मे क्रमश एक, दो या तीन आदि सन्धियो के लोप से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसहृति सन्धियो की योजना करनी चाहिए। एक सन्धि का लोप होने पर चतुर्थ (अवमर्श) सन्धि का लोप कहा जाता है, दो सन्धियो का लोप होने पर तृतीय तथा चतुर्थ (गर्भ और अवमर्श) सन्धियों का लोप कहा जाता है तथा तीन सन्धियो का लोप होने पर द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ (प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्ग) सन्धियो का लोप कहा जाता है।

२०१ कवि को इस प्रकार दश रूपकों के लक्षणो मे चिह्नित मार्ग को भलीभाँति समझकर, कथावस्तु का निरीक्षण कर और बृहत्कथा का अनुशीलन कर स्वाभाविक (अयत्नज) अलकारो से युक्त तथा स्पष्ट एव सरल छन्द वाले, उदार एवं मधुर-अर्थ की क्षमता वाले तथा रमणीय वाक्यो के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करनी चाहिए।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे दशरूपक-लक्षणकथन
नामक अष्टम अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

अथ नवमोऽधिकारः

---

१ भरतादिप्रणीतत्वादर्थे दोषो न कश्चन ।
शब्दे विभक्तिव्यत्यासाल्लिङ्गव्यत्यासतोऽपि वा ॥
धात्वर्थस्य विपर्यासाद्दोषो यद्यपि दृश्यते ।
सद्भिस्तत्क्षम्यतामत्र को लोके न प्रमाद्यति ॥
एतत्तु शारदादेव्याः प्रसादादेव दर्शितम् ।
तस्मादभ्यसनीयोऽयं भावज्ञानाय कोविदैः ॥

२ दशरूपेण भिन्नानां रूपकाणामतिक्रमात् ।
अवान्तरभिदाः काश्चित्पदार्थाभिनयात्मिकाः ॥
ते नृत्यभेदाः प्रायेण सङ्ख्यया विंशतिर्मताः ।
तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकस्तथा ॥
डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानमेव च ।
काव्यञ्च प्रेक्षणं नाट्यरासकं रासकं तथा ॥
उल्लोप्यकञ्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च ।
कल्पवल्ली मल्लिका च पारिजातकमित्यपि ॥

---

१ भरतादि आचार्यों द्वारा प्रणीत होने से अर्थ मे कोई दोष नही है। यद्यपि विभक्ति, लिग तथा धात्वर्थ के विपर्यय से शब्द मे दोष देखा जाता है। उस दोष को यहाँ सज्जन क्षमा करे, क्योकि ससार मे त्रुटि कौन नही करता है। यह (ग्रथ) तो सरस्वती की कृपा से ही कहा है। अत विद्वानो को भाव-ज्ञान के लिए इस (ग्रथ) का अभ्यास करना चाहिए।

२ दस रूप से भिन्न रूपको के अतिक्रमण से अभिनयात्मक पदार्थ के कुछ अन्य भेद और हैं। वे नृत्य-भेद प्राय सख्या मे बीस कहे जाते हैं—तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सल्लाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षण, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीस, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, मल्लिका, पारिजातक।

३ एता नामान्तरैः कैश्चिदाचार्यैः कथिता अपि ।
संविधानक्रमस्तासां न कदाचन भिद्यते ।।

४ नाटिकायास्तोटकस्य सट्टकस्य च लक्षणम् ।
अंशत्वान्नाटकस्यापि तथा प्रकरणस्य च ।।
आनुषङ्गिकमेतेषां लक्षणं तत्र दर्शितम् ।

५ डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ।
इत्याहुः केचिदन्ये तान्सर्वान्नृत्यात्मकान्विदुः ।।

गोष्ठी

६ अथोत्पाद्यकथैकाङ्का गोष्ठी शृङ्गारमन्थरा ।
रूपसौन्दर्यलावण्योपेतषट्पञ्चनायिका ।।
प्राकृतैर्नवभिः पुंभिः दशभिर्वाऽप्यलङ्कृता ।
गर्भविमर्शसन्धिभ्यां शून्या नोदात्तवाक्कृता ।
अत्र स्यात्कैशिकी वृत्तिः मृद्वी नान्यरसाश्रया ।।
न कुञ्जरघटाघातपात्रं भवति कन्दली ।
गोपीपतेर्विहरतो गोष्ठबालस्य चेष्टितम् ।।
यत्तु-यमलार्जुनादिदानवनिधनकृतं तत्तु गोष्ठी स्यात् ।।

---

३ ये ही कुछ आचार्यों द्वारा अन्य नाम से कहे गये है, लेकिन इनके विधान-क्रम मे कोई भेद नही है ।

४ नाटक का और प्रकरण का अश होने से नाटिका, तोटक तथा सट्टक के लक्षण प्रसगत वही (पिछले अध्याय मे) कह दिये गये हैं ।

५ किसी का कहना है कि डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य—ये सात नृत्य-भेद भी भाण की ही तरह हैं। कोई कहते हैं कि ये सभी (बीस उपरूपक) नृत्यात्मक ही जानने चाहिए ।

(गोष्ठी)

६ गोष्ठी मे कल्पित कथा होती है, एक अक होता है, शृगार शिथिल होता है और रूपसौन्दर्य तथा लावण्य से युक्त पाँच, छ नायिकाएँ होती हैं। यह नौ या दस प्राकृत पुरुषो से अलकृत (युक्त) होती है। इसमे गर्भ और विमर्श सन्धि नही होती है। यह उदात्त वचनो से रहित होती हैं। इसमे मृदुल कैशिकी वृत्ति पायी जाती है। यह अन्य रसो के आश्रित नही होती है। क्योकि कन्दली (केली) हाथियो के समूह की आघात-पात्र नही होती है। गोपीपति (कृष्ण) की विहार करती हुई बाल-गोष्ठी की यमलार्जुन आदि दानवो की वधकृत जो चेष्टाएँ हैं, वह गोष्ठी कहलाती है ।[1]

सल्लापकः

७ सल्लापस्येतिवृत्तं यत्ख्यातं चोत्पाद्यमेव वा ।
मिश्रं वा तत्र शृङ्गारहास्यौ नैवार्हतः क्वचित् ।।
शबलो वीररौद्राभ्यामङ्गान्यन्ये रसाः स्मृताः ।
प्रायः सपत्नशान्तश्च क्रुद्धपाषण्डनायकः ।।
दैवारिजन्यकपटयुद्धस्थानोपरोधवान् ।
सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसहितश्च सविद्रवः ।।
अङ्कास्त्रयो द्वितीयेऽङ्के तालप्राचुर्ययुग्भवेत् ।
तृतीयोऽङ्कः सकपटः प्रथमोऽङ्कः सविद्रवः ।
चतुस्सन्धिः प्रतिमुखशून्यः सल्लापको भवेत् ।।

शिल्पकः

८ शिल्पकश्चतुरङ्कः स्याच्चतुर्वृत्तिविराजितः ।
हास्यं विना रसैः पूर्णः स्वतो ब्राह्मणनायकः ।।
हीनोपनायकः क्वापि श्मशानादिसमाकुलः ।
ऊढा पुनर्भूः कन्या वा ताः स्युः सचिवविप्रजाः ।।
मालती माधवस्येव कमलस्य कलावती ।

(सल्लापक)

७ सल्लाप की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध, कविकल्पित या मिश्र होती है। इसमे श्रृगार और हास्य रस नही होते है। इसमे वीर तथा रौद्र अगी-रस होते है तथा अन्य अग-रस होते हैं। इसका नायक प्राय शान्त-शत्रु और क्रोधी, पाखण्डी होता है। इसमे देव तथा शत्रु-जन्य कपट, युद्ध, नगरनिरोध और विद्रव होते है, तथा सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमे तीन अक होते हैं—द्वितीय अक मे ताल-प्रचुरता होती है, तृतीय अक मे कपट होता है और प्रथम विद्रव-युक्त होता है। सल्लापक मे प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती हैं।

(शिल्पक)

८ शिल्पक मे चार अक होते है और चारो वृत्तियाँ होती है। यह हास्य-वर्जित-रसो से युक्त होता है। इसका नायक ब्राह्मण होता है। हीन पुरुष उपनायक होता है। इसमे श्मशानादि का वर्णन होता है। इसमे (नायिका) पुनर्विवाहिता-कन्या या सचिव और ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या होनी चाहिए। जैसे—माधव की मालती और कमल की कलावती।

९ अङ्गानि सप्तविंशत्स्युरुत्कण्ठादीनि च क्रमात् ॥
उत्कण्ठा चावहित्थञ्च प्रयत्नाशसने अपि ।
तर्कश्च संशयस्ताप उद्वेगो मौर्ख्य(ढच)मेव च ॥
आलस्यकम्पानुगतिविस्मयास्साधनं तथा ।
उच्छ्वासश्च तथाऽऽतङ्कः शून्यता च प्रलोभनम् ॥
नाटयं सम्फेट आश्वासः सन्तोषातिशयस्तथा ।
प्रमदश्च प्रमादश्च युक्तिश्चापि प्रलोचना ॥
प्रशस्तिश्चेति कथितान्यङ्गान्यत्रैव शिल्पके ।
उदाहरणमेतेषां परस्तादेव वक्ष्यते ॥

डोम्बी

१० डोम्ब्येव भाण्डिकोदात्तनायिकैकाङ्कभूषिता ।
कैशिकीभारतीप्राया वीरशृङ्गारमेदुरा ॥
श्लक्षणनेपथ्यभाङ्मन्दोत्साहा पूरुषनायिका ।

११ अङ्गानि तस्याःसप्त स्युः कामदत्ता यथा कृता ॥
विन्यासश्चाप्युपन्यासो विबोधः साध्वसस्तथा ।
अनुवृत्तिश्च संहारः समर्पणमिति क्रमात् ॥

---

९ उत्कण्ठा आदि क्रमश इसके सत्ताईस अग होते हैं—उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रयत्न, आशका, तर्क, सशय, ताप, उद्वेग, मूढता, आलस्य, कम्पानुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्वास, आतक, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, सतोष, अतिशय, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्रलोचना और प्रशस्ति—ये शिल्पक के अग कहे गये है। इनके उदाहरण आगे कहेगे।[२]

(डोम्बी)

१० डोम्बी की भाणिका की तरह उदात्त नायिका होती है। इसमे एक अक होता हैं। इसमे प्राय कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसके वीर और शृगार रस होते है। इसमे सुन्दर नेपथ्य होता है। मन्द उत्साह वाली पुरुष-नायिका होती हैं।

११ इसके सात अग होते हैं। उदाहरण, जैसे—'कामदत्ता'। विन्यास, उपन्यास, विवोध, साध्वस, अनुवृत्ति, सहार तथा समर्पण—ये क्रमश. सात अग हैं।

१२ निर्वेदवाक्य विन्यास इष्टार्थविरहार्तिजम् ।
कार्याख्यानमुपन्यासः तत्तदर्थप्रसाधने ।।
निवृत्तिः संशयभ्रान्त्योः विबोध इति कथ्यते ।
साध्वसः स्यादभूतस्य भूतोदाहरणं भयात् ।।
निदर्शनोपन्यसनमनुवृत्तिरिति स्मृता ।
यथाभिलषितावाप्तिः संहार इति कथ्यते ।।
समर्पणमुपालम्भः पीडया विरहोत्थया ।
अस्यां लास्याङ्गदशकं यथायोगं प्रयुज्यते ।।

श्रीगदितम्

१३ अथ श्रीगदितं विद्यात्प्रसिद्धोदात्तनायकम् ।
भारतीवृत्तिबहुलमुदात्तवचनान्वितम् ।।
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां शून्यं प्रख्यातनायकम् ।
एकाङ्कं विप्रलम्भाख्यरसप्रायं क्वचित्क्वचित् ।।
यस्मिन्कुलाङ्गना पत्युः शौर्यधैर्यादिकान्गुणान् ।
सखीनामग्रतो वक्ति तानुपालभतेऽथ वा ।।
विप्रलब्धा च तेनैव यदि तत्सङ्गमाशया ।
आसीना यत्र ललितं प्रियाभोगविभूषितम् ।।

---

१२ इष्टार्थ (प्रिय) के विरह तथा दु.ख से उत्पन्न निर्वेद-पूर्ण वाक्यो का विस्तार करना 'विन्यास' है। उस-उस अर्थ-प्राप्ति के साधन मे कार्य का कथन करना 'उपन्यास' है। सदेह और भ्राति का निराकरण ही 'विबोध' कहलाता है। भय के कारण अभूत (असत्य) का भूत (सत्य) कथन 'साध्वस' कहा जाता है। देखे हुए के अनुसार कथन करना 'अनुवृत्ति' कहलाती है। अभिलाषा के अनुसार प्राप्ति 'सहार' कहलाता है। डोम्बी मे दस लास्यागो का यथायोग प्रयोग होता है।[1]

(श्रीगदित)

१३ श्रीगदित मे विद्या के कारण प्रसिद्ध उदात्त नायक होता है। इसमे भारती वृत्ति की अधिकता होती है और यह उदात्त वचनों से युक्त होता है। प्रख्यात नायक वाला यह उपरूपक गर्भ और विमर्श सन्धियो से शून्य होता है। इसमे एक अक होता है और कही-कहीं इसमे विप्रलम्भ नामक (श्रृगार) रस होता है। इसमे कुलांगना सखियो के आगे अपने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणों का बखान करती है या फिर उसके गुणों की उलाहना करती है। इसमे विप्रलब्धा प्रिय-समागम की आशा से प्रिय के साथ भोग के उपयुक्त श्रृगार से

उत्कठिता पठेद्गायेत्पाठ्यं वा गीतमेव वा ।
एवंविधं श्रीगदितं रामानन्दं यथा कृतम् ॥

भाणः

१४ हरिहरभानुभवानीस्कन्दप्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः ।
उद्धतकरणप्रायः स्त्रीवर्ज्यो वर्णनायुक्तः ॥
गुणकीर्तनप्रकाशनगाथाभिर्भूभृतां स्तुतिनिबन्ध. ।
गायनसहोक्तियुक्तोदात्तेन विभूषितप्रायः ॥
त्रिचतुरपञ्चवितालैः विश्रामैः सप्तभिः परिच्छिन्नैः ।
अर्थोद्ग्राहनिवारणसङ्ख्यातैः कुत्रचिन्नियतः ॥

१५ समविश्रामैर्विविधैर्विभूषितः पञ्चमे विपरिवर्ते ।
गाथामात्राद्विपथकपाठ्येनालङ्कृतो ललितः ॥

१६ वर्णोऽथ मत्तपाली सभग्नतालावनन्तरं गाथा ।
अनुभग्नतालमात्रे प्रथमे स्याद्भग्नतालश्च ॥

१७ गाथाद्विपथवसन्ता विश्रामे स्युर्द्वितीये तु ।
मात्राविषमच्छिन्ना सभग्नताला भवेद्वृद्धया ॥

१८ मागधिका साध्या स्यात्तालविताने तृतीये तु ।
रथ्या द्विपथवसन्तकरथ्यातालाश्चतुर्थे स्युः ॥

सज्जित होकर सजी हुई बैठी रहती है तथा श्रीगदित मे उत्कठित या तो पाठ पढे या गीत गाये । इस प्रकार के श्रीगदित का उदाहरण है—'रामानन्द' ।[४]

(भाण)

१४ भाण विष्णु, शकर, सूर्य, भवानी (पार्वती), कार्त्तिकेय तथा प्रमथाधिप (शिव) की स्तुति से निबद्ध होता है । यह प्राय उद्धत्तकरणो से युक्त, स्त्री-पात्रो से रहित होता है तथा शुद्ध वर्णनायुक्त होता है ।[५] राजाओ के गुण-कीर्त्तन एव गुण-प्रकाशन गाथाओ से युक्त होता है एव राजाओ की स्तुति से निवद्ध होता है । प्राय इसमे गायन सहोक्ति और युक्तोदात्त से अलकृत होता है । भाण कही तीन, चार, पाँच विताल, सात विश्राम तथा अर्थोद्ग्राहनिवारण-सख्या से युक्त होता है ।

१५ पचम विपरिवर्त मे अनेक प्रकार के सम विश्रामो से विभूषित, गाथा, मात्रा, द्विपथक पाठ्य से अलकृत 'ललित' भाण होता है ।

१६ प्रथम विश्राम मे वर्ण, मत्तपाली, भग्नताल के बाद गाथा, अनुभग्न-ताल, मात्रा, और भग्नताल का प्रयोग होता है ।

१७ द्वितीय विश्राम मे गाथा, द्विपथक और वसतक का प्रयोग होता है । वृद्धि से विषम मात्रा से विछिन्न सभग्न ताल होता है ।

१८ तृतीय ताल-वितान मे मागधिका साध्य होती है । चतुर्थ मे रथ्या, द्विपथ, वसन्तक और रथ्या-ताल होती है ।

१९　रथ्याऽथ भग्नतालो मार्गणिका द्विपथविषमाश्च ।
　　पञ्चमकेऽप्यथ षष्ठे रथ्यानवभग्नतालाः स्युः ॥

२०　द्विपथकमार्गणिके च स्यातामथ सप्तमे च विश्रामे ।
　　रथ्याऽथ भग्नतालः शुद्धे भाणे क्रमप्रदिष्टोऽयम् ॥

२१　सङ्कीर्णभणितिभरितः सङ्करनामाऽयमुभयसंयोगात् ।
　　किंचिदनुद्धतभावः तालक्रमवर्जितश्च चित्रोऽयम् ॥

२२　इति शुद्धः सङ्कीर्णश्चित्रोऽयमिति त्रिधा भवेद्भाणः ।
　　यदि वैष शुद्धभाषः शुद्धः संकीर्णयाऽथ सङ्कीर्णः ॥
　　सर्वाभिर्भाषाभिश्चित्रैश्च विचेष्टितश्च चित्रः स्यात् ।
　　अयमुद्धतोऽथ ललितो भाणो ललितोद्धतश्च भिन्नः स्यात् ॥
　　अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयभावाच्च ।

२३　यद्दुष्कराभिधेयं चित्रं चाप्युद्भटं च यद्भवति ॥
　　तद्भाणकेऽभिधेयं युतमनुतालैर्वितालैश्च ।
　　तस्यान्तर्भावो यो भाणेऽसौ नन्दिमालिनामा स्यात् ॥
　　भिन्नः कैश्चित्कथितो भरतमतं सम्यगविदित्वा ।
　　आकाशपुरुषमुद्दिश्य वस्तु यत्पठ्यतेऽथ वा क्रियते ॥
　　विशिष्टोद्भाव्यभावप्रयोगवान्नन्दिमाली सः ।

१९　पचम मे रथ्या, भग्नताल, मार्गणिका, द्विपथ और विषम ताल होते है। षष्ठ मे रथ्या और नौभग्न-ताल होते है।

२०　सप्तम विश्राम मे द्विपथक और मार्गणिका ताल होते है। इस प्रकार शुद्ध भाण मे रथ्या और भग्नताल का क्रम दिखाया है।

२१　सकीर्ण कथन से युक्त दोनो के सयोग से सकर नामक 'भाण' होता है। कुछ उद्धत भावो से रहित और ताल के क्रम से रहित 'चित्र' भाण होता है।

२२　इस प्रकार शुद्ध, सकीर्ण और चित्र तीन प्रकार के भाण के भेद होते है। यदि यह शुद्ध भाषा से युक्त हो तो 'शुद्ध', सकीर्ण भाषा से युक्त हो तो 'सकीर्ण' और चित्र-विचित्र समस्त भाषाओ तथा विचित्र चेष्टाओं से युक्त हो तो 'चित्र' भाण होता है। यह भाण उद्धत, ललित और ललितोद्धत—तीन प्रकार का होता है।
　　जिसमे अर्थ उद्धत हो वह 'उद्धत', अर्थ ललित हो वह 'ललित' और दोनो अर्थ हो तो 'ललितोद्धत' भाण होता है।

२३　जहाँ दुष्कर अभिधेय होता है वह 'चित्र' होता है, और जो उद्‌भट होता है उस भाण मे अभिधेय अनुताल और विताल से युक्त होता है।[६] उसका अन्तर्भाव

उद्धतप्रायकरणः क्वचित्स्त्रीवर्जवर्णनः ॥
गाथादिराजस्तुतिभिः निबद्धो गुणकीर्तनैः ।
सुगायनसहोक्त्यैव युक्तोदात्तेन भूषितः ॥
निबद्धो ब्रह्मरुद्रेन्द्रस्कन्दादिस्तुतिभिर्दृढम् ।
वितालैः पञ्चभिर्वा तु यद्वा त्रिचतुरैरपि ॥
विश्रामैः सप्तभिश्चैव परिच्छिन्नैस्तथान्तरा ।
अर्धोद्ग्राहादिसङ्ख्यानैर्नियतश्च क्वचित्क्वचित् ॥
भूषितः समविश्रामैः परिवर्ते च पञ्चमे ।
गाथामात्राद्विपथकपाठ्येनालङ्कृतः क्वचित् ॥
वर्णोऽथ मत्तपाली वा भग्नतालावनन्तरम् ।
गाथानुभग्नतालाश्च मात्रा वा प्रथमे भवेत् ॥
विश्रामे भग्नतालाश्च गाथा द्विपथकस्तथा ।
वसन्तोऽपि च विश्रामे द्वितीये प्रविशन्त्यमी ॥
मात्रा च विषमच्छिन्ना भग्नतालस्ततःपरम् ।
रथ्या च मागधीत्येते विश्रामे स्युस्तृतीयके ।
रथ्या द्विपथकश्चापि वसन्तो रथ्यया सह ।
तालश्चतुर्थे विश्रामे प्रविशन्ति यथाक्रमम् ॥
रथ्या च भग्नतालश्च तथा मार्गणिकापि च ।

जो होता है वह भाण मे 'नदिमालि' नाम से जाना जाता है। कुछ लोगो ने भरत-मत को बिना सोचे-समझे उससे भिन्न कहा है। आकाश-पुरुष के उद्देश्य से जो वस्तु पढी जाती है या प्रस्तुत की जाती है, विशिष्ट उद्भाव्य भावो के प्रयोग से युक्त वह 'नन्दिमालि' होती है।[७] उसमे प्राय उद्धतकरण होता है, कही स्त्री का वर्णन नही होता है। गाथा आदि राजा की स्तुतियो अथवा गुण-कीर्त्तन से निबद्ध होती है। गायन सहोक्ति और युक्तोदात्त से विभूषित होता है। यह ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र स्कन्द आदि की स्तुतियो से निबद्ध होता है। पाँच या तीन-चार वितालों से युक्त होता है। सात विश्रामो से युक्त होता है तथा बीच मे कही-कही अर्धोद्ग्राह आदि की सख्या निश्चित रहती है। पचम परिवर्त मे सम विश्रामो से विभूषित होता है। कही गाथा, मात्रा, द्विपथक पाठ से अलकृत होता है। प्रथम विश्राम मे वर्ण या मत्तपाली, भग्नताल के अनन्तर गाथा, अनुभग्न ताल या मात्रा होती है और भग्नताल रहता है। द्वितीय विश्राम मे गाथा, द्विपथक तथा वसन्तक का प्रयोग होता है। तृतीय मे विषम से छिन्न मात्रा, भग्नताल, रथ्या तथा मागधी होता है। चतुर्थ विश्राम मे रथ्या, द्विपथक और रथ्या के साथ वसन्तक ताल का

द्विपथो विषमश्चापि विश्रामे पञ्चमे स्मृताः ।।
षष्ठेऽथ रथ्यातालश्च नवतालं ततः परम् ।
भग्नतालो द्विपथकस्तथा मार्गणिकाऽपि च ।।
विश्रामे सप्तमे रथ्या भग्नतालश्च कल्प्यते ।
एवं क्रमः शुद्धभाणे नाट्यविद्भिरुदाहृतः ।।

२४ भाणः शुद्धो भवेच्छुद्धभाषया कल्पितो यदि ।
भाणः सङ्कीर्णनामा स्याद्भाषासङ्करकल्पितः ।।
भाणश्चित्र इति ख्यातः सर्वभाषाविचित्रितः ।
उक्ततालक्रमाश्लिष्टः शुद्धभाण इति स्मृतः ।।
द्वयोस्त्रयाणां तालानां सङ्कीर्णः सङ्करोद्भवः ।
चित्रो भाणो भवेदुक्ततालक्रमविवर्जितः ।।
यस्मिन्नौद्धत्यमर्थानां स भाणस्तूद्धतो भवेत् ।
लालित्यं यत्र चार्थानां स भाणो ललितः स्मृतः ।।
यत्र लालित्यमौद्धत्यं स भाणो ललितोद्धतः ।
चित्रं यदभिधेयं स्याद्दुष्करं चोद्धतं च यत् ।।
भाणेऽभिधेय तद्युक्तमनुतालैर्वितालकैः ।

यथाक्रम प्रवेश होता है। पचम मे रथ्या, भग्नताल, मार्गणिका, विषम द्विपथ होता है। षष्ठ मे रथ्याताल और नवताल तदनन्तर भग्नताल, द्विपथक तथा मार्गणिका का प्रयोग होता है। सप्तम विश्राम मे रथ्या और भग्नताल होता है। शुद्ध-भाण मे यही क्रम नाट्यविदो ने बताया है।

२४ शुद्ध भाषा से कल्पित 'शुद्ध' भाण होता है, मिश्रित भाषा से कल्पित 'सकीर्ण' भाण होता है तथा सभी भाषाओ से चित्रित 'चित्र' भाण होता है। इनमे से जो उक्त प्रकार के तालक्रमो से युक्त होता है, वह 'शुद्ध' भाण है। और जो दो अथवा तीन तालो से मिला हुआ होता है, उसे 'सकीर्ण' भाण कहते हैं। तथा जो उक्त-ताल क्रम से रहित होता है, वह 'चित्र' भाण होता है। जहाँ पर अर्थ उद्धत हो, वह भाण 'उद्धत' होता है। अर्थ ललित हो तो वह भाण 'ललित' होता है तथा जहाँ अर्थ ललित और उद्धत हो, वह भाण 'ललितोद्धत' होता है। जहाँ पर अभिधेय दुष्कर एव उद्धत हो, उसे 'चित्र' कहते हैं। भाण मे वह अभिधेय अनुताल तथा विताल से युक्त होता है।

२५ यद्रूपकविशेषस्य भाणस्योक्तं स्वलक्षणम् ॥
अतिदेश्यमिहानुक्तमङ्कसन्ध्यादिकल्पनम् ।
भाणो यो नन्दिमाल्याख्यः सोऽन्तर्भूतोऽत्र लक्ष्यते ॥
पाठ्ये गीते क्रियायां यदुद्दिश्याकाशपूरुषम् ।
विशिष्टोद्भाव्यभावात्मा प्रयोगो यत्र दृश्यते ।
भाणः स नन्दिमालीति नाम्ना कविभिरुच्यते ॥

भाणिका

२६ प्रायो हरिचरितमिति स्वीकृतगाथादिवर्णमात्रश्च ।
सुकुमारतः प्रयोगाद्भाणोऽपि च भाणिका भवति ॥
दिव्याभिश्चारीभिर्विवर्जिता ललितकरणसंयुक्ता ।
तालान्तरालनृत्ता क्वचिदपि रथ्यादिसङ्कलिता ।
अर्धोद्ग्राहनिवारणगायनवसन्तमत्तपालीभिः ।
विश्रामैश्च विहीना स्त्रीयोज्या वर्जितोत्तालैः ॥
वस्तूनि भाणिकायां नव दश वा नियमतो विधीयन्ते ।
नवमादिपञ्चमेषु स्थानेषु च भग्नतालः स्यात् ।
स्थानान्तरेषु तस्या लयका(ता)लो यदृच्छया क्रियते ।
विविधवचोविन्यासैः सभ्यजनोत्साहसम्पत्तिः ।
लास्याङ्गसन्धिनियमो भाणवदेवात्र भाणिकायां स्यात् ॥
अथ भाण्यङ्गिशृङ्गारा श्लक्ष्णनैपथ्यनायिका ।

---

२५ जिस रूपक-विशेष भाण का अपना लक्षण कहा गया है, यहाँ अतिदेश के कारण उसके अक, सन्धि आदि को नही कहा गया है । जो 'नन्दिमाली' नाम का भाण है, उसका अन्तर्भाव यहाँ कहते हैं। पाठ्य, गीत, क्रिया मे जो आकाश पुरुष के उद्देश्य से विशिष्ट-उद्भाव्य-भाव-रूप प्रयोग जहाँ देखा जाता है, उसे कविजन 'नन्दिमाली' नाम से भाण कहते हैं।

(भाणिका)

२६ प्राय विष्णु (हरि) के चरित से युक्त तथा स्वीकृत गाथा आदि वर्ण और मात्राओ वाला भाण भी सुकुमार-प्रयोग को दिखाने के कारण 'भाणिका' कहलाता है ।[८] यह (भाणिका) दिव्यचारियो से रहित तथा ललित करणो से युक्त होती है। यह ताल के मध्य (अन्तराल) नृत्यपाली, कही रथ्या आदि से युक्त होती है। यह अर्धोद्ग्राह-निवारण गायन, वसन्तक तथा मत्तपाली, विश्रामो से रहित होती है। इसमे स्त्री-पात्र रहते है तथा ताल नही होता है। भाणिका मे नौ या दस वस्तुएँ नियम से होती है। नवम आदि पचम स्थानो

गर्भावमर्शहीना च मुखादित्रयभूषिता ।।
स्वल्पवृत्तप्रबन्धा च पीठमर्दविटान्विता ।
विदूषकेण सहिता दशलास्यसमन्विता ।
पाञ्चालरीतिनियता भवेद्वीणावती यथा ।।

प्रस्थानम्

२७ प्रस्थानं कैशिकीवृत्तियुतं हीनोपनायकम् ।
आपानकेलिललित लयतालकलानुगम् ।।
दासादिनायकं द्व्यङ्कं विटचेटादिनायकम् ।
मुखनिर्वहणोपेतं श‍ृङ्गारतिलकं यथा ।।

काव्यम्

२८ काव्यं सहास्यश‍ृङ्गारं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
सभग्नतालद्विपदीखण्डमात्रापरिष्कृतम् ।।
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां हीनमेकाङ्कमेव च ।
क्वचिल्लास्ययुतं वा स्याद्विटचेटीसमन्वितम् ।।

मे भग्नताल होता है । स्थानान्तरो मे उसका लय, ताल स्वेच्छा से किया जाता है । यह विविध वाक्य-विन्यास से युक्त होती है तथा सभ्यजन के उत्साह से युक्त होती है ।[९] भाणिका मे भाण की तरह ही लास्याग तथा सन्धियाँ रहती है । भाणिका मे शृगार अगी-रस होता है, सुन्दरनेपथ्य से विभूषित नायिका होती है । इसमे गर्भ तथा अवमर्श के अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण— ये तीन सन्धियाँ पायी जाती हैं । यह अल्प-वृत्त (कथा) वाली होती है तथा इसमे विदूषक सहित पीठमर्द तथा विट पात्र होते है । इसमे दस लास्याग होते है । यह पाचाली रीति से युक्त होती है, उदाहरणार्थ—वीणावती ।

(प्रस्थान)

२७ प्रस्थान मे कैशिकी वृत्ति होती है तथा हीन उपनायक होता है । यह सुरापान की केलिक्रीडा से युक्त होता है तथा इसमे लय, ताल आदि कलाएँ खूब होती है । इसमे दास आदि प्रकृति का नायक होता है तथा दो अक होते हैं । इसमे विट, चेट आदि नायक होते हैं । यह मुख तथा निर्वहण सन्धियो से युक्त होता है, उदाहरणार्थ—शृगार-तिलक ।[१०]

(काव्य)

२८ काव्य मे हास्य तथा शृगार-रस होता है तथा सभी वृत्तियाँ पायी जाती है । यह भग्नताल, द्विपादिका तथा खण्डमात्रा नामक गीतो से पूर्ण होता है । इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नही रहती हैं अन्य तीन सन्धियाँ रहती है । यह एक अक वाला होता है । इसमे कही लास्य (नृत्य) पाया जाता है । यह विट, चेटी से युक्त होता है । इसकी नायिका कुलागना होती है तथा नायक ललित

कुलाङ्गनावेशयुतं ललितोदात्तनायकम् ।
एवं प्रकल्पयेत्काव्यं तद्गौडविजयो यथा ॥

२९ विप्रामात्यवणिक्पुत्रनायिकानायकोज्ज्वलम् ।
मुदितप्रमदाभाषाचेष्टितैरन्तराऽन्तरा ॥
ग्रथितं विटचेटादिवेषभाषाभिरेव वा ।
एवं वा कल्पयेत्काव्यं यथा सुग्रीवकेलनम् ॥

प्रेक्षणकम्

३० पदार्थाभिनयं यस्य ललितञ्च लयान्वितम् ।
कुरुते नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनकः पुनः ॥
लास्यं द्विधा स्याच्छलिकं समरथ्यासमन्वितम् ।
सुतालचतुरश्राभ्यां यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥
गर्भावमर्शरहितं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
प्रभूतमागधीशौरसेनीकं रसभावयुक् ॥
द्विसन्धीति वदन्त्येतदुत्तमाधमनायकम् ।
भारत्यारभटीयुक्तं क्वचित्स्यात्तस्य सात्त्वती ॥
यथा वालिवधाख्यश्च नृसिंहविजयो यथा ।
पूर्णनेपथ्यपाठैर्वा नान्दी तस्य विधीयते ॥

और उदात्त प्रकृति का होता है । इस प्रकार काव्य की कल्पना करनी चाहिए, उदाहरणार्थ—'गौडविजय' ।

२९ काव्य मे विप्र, अमात्य तथा वणिक्-उत्पन्न पुत्र व पुत्री, नायक व नायिका होते है । बीच-बीच मे यह काव्य मुदित प्रमदा की भाषा व चेष्टाओ से युक्त होता है । या विट, चेट आदि के वेष तथा भाषा से युक्त होता है । इस प्रकार काव्य की कल्पना करनी चाहिए, उदाहरणार्थ—'सुग्रीवकेलनम्' ।

(प्रेक्षणक)

३० जहाँ नर्तकी सुन्दर लय के साथ जिसके पदार्थों का अभिनय करती है, उसे 'नर्तनक' कहते है । पुन नर्तनक उसे कहते है जहाँ छलिक[११] और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमश सुताल तथा चतुरश्र ताल का प्रवर्त्तन होता है । इसमे गर्भ और अवमर्श सन्धि के अतिरिक्त अन्य तीन सन्धियाँ रहती है, तथा इसमे सभी वृत्तियाँ पायी जाती है । इसमे मागधी और शौरसेनी भाषा का बहुत प्रयोग होता है तथा यह रस और भाव से युक्त होता है । इसमे दो सन्धियाँ रहती हैं । इसका नायक उत्तम तथा अधम प्रकृति का होता है । इसमे भारती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती है, कही सात्त्वती-वृत्ति भी पायी जाती है । उदाहरणार्थ—बालिवध और नृसिंहविजय । इसमे पूर्ण

क्वचिद्गर्भावमर्शौ स्तः क्वचिद्वृत्तिचतुष्टयम् ।
क्वचिन्नेपथ्यवाक्याढ्यं न कदाचनसूत्रधृत् ॥
एवं प्रेक्षणकं विद्याद्यथा त्रिपुरमर्दनम् ।

नाट्य रासकम्

३१ षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ॥
पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासकं तदुदाहृतम् ।
३२ पिण्डनात्तु भवेत्पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ॥
भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनाहतः ।
३३ एते नृत्तात्मना कार्या नाट्यवन्तः क्रियाविधौ ॥
सुकुमारोद्धतैरङ्गैर्गायिकाभिर्विलक्षणाः ।
वाक्यस्या(नाट्यस्या)वधयो ह्येते पिण्डाद्या दृश्यजातयः ॥
नवभेदा विधीयन्ते ह्यनुकार्यानुरागिणः ।
३४ कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते ॥
रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ।
चर्चरीमिति ताम्प्राहुर्वर्णतालेन तत्र तु ॥
प्रविशेत्कामिनीयुग्मं समचर्यादिशिक्षितम् ।

नेपथ्य-पाठ या नान्दी का विधान किया जाता है । कही इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ रहती हैं, कही चारो वृत्तियाँ पायी जाती हैं । कही नेपथ्य-वाक्य का प्रयोग होता है । इसमे सूत्रधार कभी नही रहता है । इस प्रकार के लक्षण से प्रेक्षणक जाना जाता है, उदाहरणार्थ—त्रिपुरमर्दनम् ।[१२]

(नाट्यरासक)

३१ जिसमे सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ (नायिकाएँ) पिण्डीबन्ध आदि की रचना द्वारा नृत्य करती हैं, उसे 'रासक' कहा जाता है ।[१३]

३२ (नृत्य करनेवालियो के) एक साथ इकट्ठे हो जाने को 'पिण्डी' कहते है । एक-दूसरे के साथ गुँथ कर नृत्य करना 'शृंखला' कहलाती है । जिसमे नर्तकियाँ एक-दूसरे से पृथक् हो जायें, उसे 'भेद्यक' कहते हैं । परस्पर जाल जैसा गूँथा होने से जो नृत्य होता है, उसे 'लता' कहते हैं ।[१४]

३३ सुकुमार और उद्धत अगो वाली गायिकाओ से विलक्षण क्रियाविधि मे नृत्त रूप से इनको नाट्य वाला बनाना चाहिए । ये पिण्डादि दृश्य-जातियाँ नाट्य की अवधि मानी जाती हैं। अनुकार्य का अनुराग रखने वाले नौ भेद किये जाते है।

३४ बसन्त (ऋतु) को देखकर रागादि से स्त्रियो द्वारा राजाओ की चेष्टा का नृत्य किया जाता है, उसे 'नाट्य-रासक' कहते हैं।[१५] वर्ण और ताल के द्वारा सम-चर्या से शिक्षित, वामसचार और दक्षिण-सचार वाले अंगो से परिष्कृत उन-उन कामिनी-युगलो का जहाँ प्रवेश कराते हैं, उसे 'चर्चरी' कहते हैं । उसी को

वामदक्षिणसञ्चारैरङ्गैस्तत्तत्परिष्कृतम् ॥
ततस्तदेव वर्णान्त आलीढद्वयसंस्थितम् ।
चोलिकाभिद्रुतं तालं वादकानां प्रदर्शयेत् ॥
पञ्चघातकसंज्ञार्थजनस्तस्मात्प्रवर्तते ? ।

३५ नृत्तेन विभजेत्खण्डैः चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ॥
अन्योन्याङ्गिकसञ्चारैर्हस्ततालैर्मिथः कृतैः ।
परिक्रम्य च निष्क्रामेत्ततोऽन्यद्द्वितयं विशेत् ॥
एककालस्तु निःसन्धिः प्रवेशो निर्गमस्तयोः ।
पुष्पाञ्जलिप्रयोगन्तु मात्रातालेन योजयेत् ॥
उभयोः पात्रयोः पश्चात्पात्राणि प्रविशन्ति हि ।
बद्धापणवतालेन रथ्यावर्णादिवर्णकैः ॥
शुष्कगीतप्रयोगेण ततो गायन्ति गायकाः ।
लताभिर्भेद्यकैः गुल्मैर्नानावृत्तप्रदर्शकैः ॥
पात्रैश्चैकत्र संयुक्तं पिण्डीबन्धन्तु कारयेत् ।
ततो मल्लाभिधं तालं शुष्कवर्णप्रयोगतः ॥
मुरजाक्षरवाद्यन्तु हन्याद्दण्डद्विदण्डकैः ।
एवं नृत्तक्रमेणाद्यो ह्यपसारः समाप्यते ॥
अपसारत्रयं चान्यदेवमेव प्रकल्पयेत् ।
तत्रापि पूर्ववन्नृत्तं कामतस्तु लयक्रमः ॥
कथयेद्रासकस्यान्ते शुभार्थं वचनक्रमम् ॥

'वर्णान्त' कहते है जिसमे आलीढ नामक दो राग मिला रहता है और चोलिका से अभिद्रुत वादको के ताल का प्रदर्शन होता है। इसीलिए 'पचघातक' मज्ञा के लिए प्रवृत्त होता है (?)।

३५ नृत्य के द्वारा तीन या चार खण्डो मे बँट जाना चाहिए। अन्योन्य के आगिक सचार से और पारस्परिक किये हुए हस्त-ताल से परिक्रमा करते हुए बाहर निकलना चाहिए। तदनन्तर दूसरे युग्म को प्रवेश करना चाहिए। एक समय उन दोनो का मिलना, प्रवेश करना तथा निकलना होना चाहिए। मात्रा और ताल के साथ पुष्पाजलि का प्रयोग करना चाहिए। दोनो पात्रो के बाद अन्य पात्र प्रवेश करते है। तदनन्तर गायक बद्धापणव ताल, रथ्या-वर्ण आदि वर्णक तथा शुष्क गीत के प्रयोग के साथ गान करते हैं। पुन लता, भेद्यक, गुल्म, नाना प्रकार के नृत्य-प्रदर्शक-पात्रो को एक स्थान पर इकट्ठा करके पिण्डीबन्ध नृत्य का प्रयोग कराना चाहिए। तदनन्तर शुष्कवर्ण के प्रयोग से 'मल्ल' नामक ताल का प्रयोग करना चाहिए। मुरजाक्षर वाद्य को दण्ड और दो दण्डको से बजाना चाहिए। इस प्रकार नृत्य के क्रम से सर्वप्रथम अपसार समाप्त किया जाता है। यह अपसार तीन प्रकार का होता है, इसे अन्यत्र ही देख लेना चाहिए। वही पूर्ववत् नृत्य तथा कामत (इच्छानुसार) लयक्रम जानना चाहिए। रासक के अन्त मे शुभ-प्रयोजन के लिए मगलाचरण करना चाहिए।

३६ लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणैः पीत्वाऽमृतं यस्तदा
पिण्डीभृङ्ङ्लिकाविशेषविहितो युक्तो लताभेद्यकैः ।
चित्रातोद्यविचित्रतैर्लययुतो भेदद्वयालङ्कृतः
चारीखण्डसुमण्डलैरनुगतः सोऽयं मतो रासकः ।।

रासकम्

३७ प्रथमानुरागजनितप्रवासशृङ्गारसंश्रयं यत्स्यात् ।
प्रावृड्वसन्तवर्णनपरमन्यद्वापि सोत्कण्ठम् ।।
अन्ते वीररसाढ्यं निबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।
मुखनिर्वहणसमेतं प्रस्थानं भवति चैकाङ्कम् ।।

३८ आक्षिप्तिकाल्पवर्णो मात्राध्रुवकोऽथ भग्नतालश्च ।
वर्धनिका च ध्वनिका यत्तस्यात्तदिह काव्यमिति ।।

३९ युक्तं लयान्तरैरच्छध्वनिकास्थाननिर्मितैर्भवति ।
काव्यं विचित्ररागं चित्रमिति तदुच्यते कविभिः ।।

४० छन्नानुरागयुक्ताभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः ।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोम्बिका मता ।।

---

३६ क्षीरसागर मे देवताओ ने अमृत को प्राप्त करके और पी करके पिण्डी और शृखला विशेष से किया हुआ और लता तथा भेद्यक (नृत्यो) से युक्त, चित्र-आतोद्य से विचित्रित, लयो से युक्त, दो भेद से अलकृत तथा चारी, खण्ड और मण्डल से जिसका अनुगमन किया था, वह 'रासक' माना जाता है।[१६]

(रासक)

३७ जो प्रथम अनुराग से उत्पन्न प्रवास और शृगार-रस के आश्रित होता है तथा वर्षा और वसन्त के वर्णन अथवा और भी उत्कण्ठा-प्रदर्शक सामग्री से परिपूर्ण होता है। जिसके अन्त मे वीर-रस रहता है। जो चार अपसारो से निबद्ध होता है। जिसमे मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं तथा एक अक होता है, वह 'प्रस्थान' होता है।[१७]

३८ जिसमे आक्षिप्तिका, अल्पवर्ण, मात्रा, ध्रुव, भग्नताल, वर्धनिका और ध्वनिका हो, उसे 'काव्य' कहते हैं।[१८]

३९ जो विभिन्न लय से युक्त तथा शुद्ध ध्वनिका-स्थान से निर्मित होता है, वह कविजनो द्वारा विचित्रराग वाला चित्र 'काव्य' कहलाता है।[१९]

४० जिसमे छन्नानुराग-गर्भक युक्तियो से राजा के मन को खिन्न किया जाता है, उसे कोमल (मसृणा) 'डोम्बिका' कहते हैं।

४१ नृसिंहसूकरादीनां वर्णना कल्प्यते यतः ।
नर्तकी(नृत्तगी)तेन भाणः स्याद्धुद्धताङ्गप्रवर्तितः ॥

४२ गजादीनां गतिं तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा ।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते ॥

४३ सख्याः समक्षं पत्युर्यदुद्धतं वृत्तमुच्यते ।
मसृणं तु क्वचिद्धूर्तचरितं शिल्पकस्तु सः ॥

४४ बालक्रीडानियुद्धानि तथा सूकरसिंहजा ।
धवलादि(ध्वजादिना)कृता क्रीडा यत्र सा भाणिका स्मृता ॥
आढ्यप्रायं प्रेक्षणकं स्यात्प्रहेलिकयाऽन्वितम् ।
ऋतुवर्णनसंयुक्तं रामाक्रीडन्तु भाष्यते ॥

४५ मण्डलेन तु यन्नृत्तं तद्रासकमिति स्मृतम् ।
एककस्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥

४६ अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥

---

४१ जिससे नृसिंह, सूकर आदि के वर्णन की कल्पना की जाती है, नर्तकी के नृत्य तथा गीत के द्वारा उद्धताग से प्रवर्तित 'भाण' कहलाता है।

४२ गज आदि की गति के समान मन्द-मन्द सुमनोहर चाल चलना ही 'प्रस्थान' कहलाता है।

४३ सखी के समक्ष पति के जो उद्धत-चरित्र को कहा जाता है, कही कोमल या मनोहर धूर्त-चरित्र को कहा जाता है, उसे 'शिल्पक' कहते है।

४४ बालक्रीडा व बाल-युद्ध सूकर, सिंह-गत धवल आदि (ध्वजादि) से की गई क्रीडा जिसमे होती है, वह 'भाणिका' कहलाती है। प्रहेलिका से युक्त आढ्य-प्राय 'प्रेक्षणक' कहा जाता है। ऋतु-वर्णन से युक्त 'आराम-क्रीडा' कही जाती है।

४५ मण्डल रूप मे जो नृत्य होता है, वह 'रासक' कहा जाता है। उसका नायक (नेता) एक होता है, जैसे—गोपस्त्रियो अर्थात् गोपियो के नायक हरि (श्रीकृष्ण)[२०]।

४६ अनेक नर्तकियो से युक्त, चित्र-ताल तथा लय से युक्त चौसठ युगल-रूप तक मसृणोद्धत 'रासक' होता है।

उल्लोप्यकम्

४७ उल्लोप्यकं स्यादेकाङ्कमवमर्शविनाकृतम् ।
निष्प्रवृत्तिविधानञ्च शिल्पकाङ्गविभूषितम् ॥
हास्यशृङ्गारकारुण्ययुक्तमुज्ज्वलवेषवत् ।
बहुपुस्तं च चतुरोज्ज्वलनायकनायिकम् ॥
यथा देवीमहादेवं यथा चोदात्तकुञ्जरम् ।
४८ यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम त्र्यङ्गं गीतं प्रवर्तते ॥
तल्लक्षणं च गान्धर्वनिर्णये स्पष्टमीरितम् ।

हल्लीसम्

४९ अथ हल्लीसकं सप्तनवाष्टदशनायिकम् ॥
सानुदात्तोक्ति चैकाङ्कं कैशिकीवृत्तिभूषितम् ।
एकाङ्कं वा भवेद्द्व्यङ्कं विमर्शमुखसन्धिमत् ॥
सगेयलास्यं यतिमत्खण्डताललयान्वितम् ।
एकविश्रामसहितं यथा स्यात्केलिरैवतम् ॥
५० ललिता दक्षिणाः ख्याता नायकाः पञ्चषा अपि ।
विप्रक्षत्रवणिक्पुत्रास्सचिवायत्तसिद्धयः ॥
द्व्यङ्के मुखावमर्शौ स्त एकाङ्के गर्भनिर्गमः ।

(उल्लोप्यक)

४७ जिसमे एक अक हो, जो अवमर्श-सन्धि से रहित हो और जिसमे निष्प्रवृत्ति-विधान हो । जिसमे शिल्पक (उपरूपक) के अग हो तथा हास्य, शृगार और करुणरस हों, उसे 'उल्लोप्यक' कहते है । इसमे पात्रो की चमकीली (उज्ज्वल) वेशभूषा रखी जाती है तथा अनेक पुस्तकर्म (मुखोटे तथा पलस्तर से तैयार वस्तुओ) का उपयोग किया जाता है । इसकी चतुर तथा उज्ज्वल नायक व नायिका होती है । उदाहरण के लिए—देवी-महादेव तथा उदात्तकुञ्जर ।

४८ जिसमे उल्लोप्यक नामक तीन अग वाला गीत प्रवृत्त होता है, उसका लक्षण 'गान्धर्व-निर्णय' मे स्पष्ट कहा है ।

(हल्लीस)[२१]

४९ हल्लीसक मे सात, आठ, नौ या दस स्त्रियाँ (नायिकायें) रहती हैं । यह अनुदात्त उक्ति से युक्त होता है, इसमे एक अक होता है तथा कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है । इसमे एक या दो अक होते हैं तथा विमर्श और मुख सन्धियाँ रहती है । इसमे गाने के साथ लास्य (नृत्य), यति, खण्ड-ताल, लय तथा एक विश्राम होता है, जैसे—केलिरैवत ।

५० इसमे ललित, दक्षिण, प्रसिद्ध पाँच छै नायक होते है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य-पुत्र होते हैं तथा इसके कार्यों की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है । इसके द्वितीय अक मे मुख और अवमर्श सन्धियाँ रहती है, प्रथय अक गर्भ-सन्धि से रहित होता है ।

दुर्मल्लिका

५१ अथ दुर्मल्लिका नाम प्रौढनागरनायिका ॥
चतुरङ्का चतुस्सन्धिर्गर्भसन्धिविनाकृता ।
विटो विलसति स्वैरं प्रथमाङ्केऽत्र (त्रि)नाडिकाः ॥
विदूषको द्वितीयेऽङ्के विलसत्पञ्चनाडिकः ।
पीठमर्दो विहरति तृतीये सप्त नाडिकाः ।
विटादित्रितयक्रीडा चतुर्थे दश नाडिकः ।

५२ चौर्यरतिं प्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं क्वापि ।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि ॥
मन्त्रयति च तद्विषयन्यग्जातित्वेन याचते च वसु ।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति या सा दुर्मल्लिका नाम्ना ॥
एनां दुर्मल्लिकामन्ये प्राहुर्मत्तल्लिकामिति ॥

५३ यस्यामुद्भाव्यः स्यात्पुरोहितामात्यतापसादीनाम् ।
प्रारब्धानिर्वाहः सापि च मत्तल्लिका भवति ॥
क्षुद्रकथा मत्तल्लिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचने च कार्याऽनङ्गवती भावरसविद्या ॥

(दुर्मल्लिका)

५१ दुर्मल्लिका की प्रौढ और चतुर (नागर) नायिका होती है। इसमे चार अक होते हैं। गर्भ सन्धि के अतिरिक्त चार सन्धियाँ होती हैं। प्रथम अक तीन नाडिका (६ घडी) का तथा विट की क्रीडा से पूर्ण होता है। द्वितीय अक पाँच[२२] नाडिका (१० घडी) का और विदूषक की क्रीडा से युक्त होता है। तृतीय अक सात नाडिका का और पीठमर्द के विलास से युक्त होता है। चतुर्थ अक दस नाडिका (२० घडी) का होता है, इसमे विटादि की तीन गुनी क्रीडा होती है।

५२ जिसमे कोई दूती एकान्त मे ग्राम्य (अश्लील) कथाओ द्वारा कही युवक और युवतियो के प्रेम का वर्णन और उनके चौर्यरत का प्रकाशन करती है। उसके विषय मे सलाह करती है, नीच जाति की होने से धन माँगती है। धन के मिल जाने पर भी और अधिक धन चाहती है, उसको 'दुर्मल्लिका' नाम से जाना जाता है।[२३] इस दुर्मल्लिका को दूसरे कोई 'मतल्लिका' कहते हैं।

५३ जिसमे पुरोहित, अमात्य तथा तापस (तपस्वी) आदि के उद्भाव्य प्रारब्धका निर्वाह न हो, उसे 'मत्तल्लिका' कहते हैं। जिसमे महाराष्ट्र-भाषा (प्राकृत-भाषा) मे क्षुद्रकथा वर्णित हो, उसे 'मत्तल्लिका' कहते हैं और इसमें गौरोचन पर भाव और रस को जानने वाली अनगवती करनी चाहिए।[२४]

मल्लिका

५४ मल्लिका भोगशृङ्गारकैशिकीवृत्तिमन्थरा ।
एकद्वयङ्कक्रमाश्लिष्टविदूषकविटक्रिया ॥
गाथाद्विपथकोपेता रथ्यावासकतालयुक् ।
अनालक्ष्यकथा पूर्व पश्चादालक्ष्यवस्तुका ।
गर्भावमर्शहीना च सन्धित्रयसमन्विता ॥
मणिकुल्यायां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु ।
पश्चात्प्रकाशते या सा मणिकुल्यापि मल्लिका ज्ञेया ।

कल्पवल्ली

५५ कल्पवल्ली भवेद्धास्याशृङ्गाररसभावयुक् ।
उदात्तनायकोपेता पीठमर्दोपनायका ॥
अस्यां वासकसज्जा स्यान्नायिकाऽथाभिसारिका ।
द्विपदीखण्डगेयाढ्या रथ्यावासकतालयुक् ॥
लयत्रययुता लास्यदशकेन समन्विता ।
ईदृशी कल्पवल्ली स्याद्यथा माणिक्यवल्लिका ।
मुखसन्धिप्रतिमुखसन्धिनिर्वहणैर्युता ।
उदात्तवर्णनोत्कर्षा ललितोदात्तनायका ॥

(मल्लिका)

५४ मल्लिका का सम्भोग-शृगार अगी-रस होता है, इसमे कैशिकी वृत्ति पायी जाती है। यह एक या दो अक वाली होती है तथा विदूषक और विट की क्रीडा से युक्त होती है। यह गाथा (छन्द), द्विपथक (सगीत) तथा रथ्या-वासक-ताल से युक्त होती है। इसमे पहले अलक्ष्य कथा रहती है बाद मे सलक्ष्य कथा। इसमे गर्भ और अवमर्श के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ रहती हैं। जिसमे मणिमुल्या (मणिनदी) मे रहने वाले जल की तरह पूर्ववस्तु दिखायी नही पडती है बाद मे दिखायी पडती है, उस मणिकुल्या को 'मल्लिका' जानना चाहिए।[२५]

(कल्पवल्ली)

५५ कल्पवल्ली हास्य तथा शृगार-रस और भाव से युक्त होती है। इसका उदात्त नायक होता है और पीठमर्द उपनायक होता है। इसमे वासकसज्जा या अभिसारिका नायिका होती है। यह द्विपदी, खण्डगीत, रथ्यावासकताल, तीन प्रकार के लय तथा दस प्रकार के लास्य से युक्त होती है। इस प्रकार की यह 'कल्पवल्ली' होती है। उदाहरण के लिए—'माणिक्यवल्लिका'। मुख, प्रति-मुख तथा निर्वहण सन्धियो से युक्त, उदात्त वर्णन से उत्कृष्ट तथा ललित और उदात्त नायकवाली 'कल्पवल्ली' कहलाती है।

पारिजातकम्

५६ पारिजातलतैकाङ्कमुखनिर्वहणान्विता ।
वर्णमात्राखण्डतालवती गाथासमन्विता ॥
वीरशृङ्गारभूयिष्ठा देवक्षत्रादिनायका ।
कलहान्तरितावस्थानायिकोदात्तनायका ॥
अथवा भोगिनीस्वीयागणिकानायिकान्विता ।
ताः स्युरष्टौ चतस्रः स्युर्दण्डरासकनर्तनाः (?) ॥
सापसार त्रया चित्रकथागेयसमन्विता ।
क्वचिद्विदूषकक्रीडापरिहासमनोहरा ॥
पारिजातलता सेयं यथा गङ्गातरङ्गिका ।
पारिजातकमित्येव कैश्चिदेषाऽभिधीयते ॥
५७ सट्टकं नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत् ।
कैशिकीभारतीयुक्तहीनरौद्ररसादिकम् ॥
सर्वसन्धिविहीनं च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।
शूरसेनमहाराष्ट्रवाच्यभाषादिकल्पितम् ॥
अङ्कस्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।
छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नवादेरसम्भवात् ॥
न वदेत्प्राकृतीं भाषां राजेति कतिचिज्जगुः ।

(पारिजातक)

५६ पारिजात-लता एक अक वाली होती है तथा मुख और निर्वहण सन्धियो से युक्त होती है । यह वर्ण, मात्रा, खण्ड-ताल और गाथा (छन्द) से युक्त होती है । इसके वीर तथा शृगार रस होते है तथा देवता और क्षत्रिय नायक होते है । इसकी कलहान्तरिता नायिका, उदात्त नायिका अथवा भोगिनी-स्वीया-गणिका नायिका होती है । ये सख्या मे चार या आठ होती हैं जो दण्ड रासक नृत्य करने वाली होती हैं (?) । यह तीन अपसारसहित चित्र-कथा तथा गेय से युक्त होती है । कही विदूषक की क्रीडा और परिहास से मनोहर होती है । यह परिजात-लता कहलाती है, जैसे—गग-तरगिका । कोई इसे 'पारिजातक' ही कहते है ।

५७ सट्टक नाटिका का भेद और नृत्य-भेद-रूप होता है । यह कैशिकी तथा भारती वृत्तियो से युक्त होता है तथा रौद्र रसादि से हीन होता है । यह सभी सन्धियो से शून्य होता है और नाटिका का प्रतिरूपक है । इसकी शूरसैनी, महाराष्ट्री वाच्य भाषा होती हैं । इसमे अक के स्थान पर चार यवनिका का प्रयोग होता है । छादन, स्खलन, भ्रान्ति, निह्नव आदि की असम्भावना से राजा को प्राकृत-भाषा नही बोलनी चाहिए—ऐसा किसी ने कहा है । राजा

मागध्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥
नाटिकाप्रतिरूपं यद्विशेषो रूपकस्य तत् ।
सट्टकं तेन तस्याहुः भाषां तां प्राकृतीं परे ॥
राजशेखरक्लृप्तं तद्यथा कर्पूरमञ्जरी ।

५८ प्रकारान्तरतो लक्ष्म रासकस्य परे जगुः ॥
अथ रासकमेकाङ्कं सूत्रधारेण वर्जितम् ।
सुश्लिष्टनान्दीयुक्तञ्च पञ्चपात्रं त्रिसन्धिकम् ।
पूर्णं भाषाविभाषाभिः कैशिकीभारतीयुतम् ।
वीथ्यङ्गमण्डितं मुख्यनायकं ख्यातनायिकम् ॥
गर्भावमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम् ।
उदात्तभावविन्यासभूषितं सोत्तरोत्तरम् ॥
एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन ।

५९ इति नानामतेनोक्ता नृत्यभेदाः प्रदर्शिताः ॥
वैकल्पिकं लक्ष्म तेषां न क्वचिच्च निषिध्यते ।
यथा नियमिता भाषाः संस्कृताद्याः पुरातनैः ॥
नायिकादिषु पात्रेषु नियमोऽत्र प्रदर्श्यते ।

को मागधी या शौरसैनी भाषा बोलनी चाहिए—ऐसा कोई कहते है। नाटिका का प्रतिरूप और रूपक का जो विशेष-रूप है, वह सट्टक है, उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए—ऐसा कोई दूसरे कहते हैं। जैसे—राजशेखर विरचित 'कर्पूरमजरी'।

५८ किन्ही दूसरो ने प्रकारान्तर से रासक का लक्ष्म (लक्षण) कहा है—
रासक एक अक वाला तथा सूत्रधार से रहित होता है। यह सुश्लिष्ट नान्दी से युक्त होता है, इसमे पॉच पात्र होते है तथा तीन सन्धियाँ रहती हैं। यह भाषा और विभाषाओ से परिपूर्ण होता है। इसमे कैशिकी और भारती वृत्तियाँ पायी जाती हैं। यह वीथ्यगो से युक्त होता है। इसका मुख्य नायक और प्रसिद्ध नायिका होती है। इसमे गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ नही रहती हैं तथा यह कलाप के उद्देश्य से पूर्ण होता है। यह उत्तरोत्तर उदात्त भावो की रचना से युक्त होता है। इस प्रकार किसी ने रासक का लक्षण कहा है।

५६ इस प्रकार विभिन्न मतानुसार नृत्य-भेदो को कह दिया। इसके वैकल्पिक लक्षण का कही भी निषेध नही किया जाता है। पूर्वाचार्यो ने नायिका आदि पात्रो मे सस्कृत आदि भाषाएँ जैसे निश्चित की हैं, यहाँ उनका नियम कहते हैं।

६० पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ॥
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ।
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ॥
पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ।
यद्देश्य नीचपात्रं स्यात्तद्देश्यं तस्य भाषितम् ॥
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ।
परिव्राण्मुण्डशाक्येषु चेष्टे(टे)षु क्षत्रियेषु च ॥
विशिष्टाः परलिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ।
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपप्लुतस्य च ॥
उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
अतिरिक्तेषु तत्कार्यं पाठ्यं पुनरुक्तिसंयुक्तम् ॥
राजविप्रविटामात्यसुभटाधीतयोषिताम् ।
नटनर्तकधूर्तानां संस्कृतं पाठ्यमुच्यते ॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धनागेशरक्षसाम् ।
कञ्चुकीयप्रतीहारलिङ्गिनीवणिजामपि ॥
विद्याधरीवर्षवरमहादेवीविलासिनाम् ।
योगिनां योगिनीनां च संस्कृतं सम्प्रयोजयेत् ॥
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां निर्ग्रन्थानां जटावताम् ।

---

६० उत्तम तथा मध्यम (अनीच) श्रेणी के पण्डित पुरुषो की भाषा नाटको मे सस्कृत होनी चाहिए। कही सन्यासिनी, महादेवी, मन्त्रि-कन्या तथा वेश्याओ की भाषा भी सस्कृत होनी चाहिए। उत्तम तथा मध्यम श्रेणी की स्त्रियो की प्राय प्राकृत-भाषा होती है और अधम श्रेणी की स्त्रियो की भाषा शौरसैनी होनी चाहिए। पिशाच, अत्यन्त नीच-पात्र आदि की भापा पैशाची तथा मागधी होती है। जो नीच-पात्र जिस देश का हो उसकी भाषा उस देश की होनी चाहिए। कार्यवश उत्तमादि पुरुषो की भाषा बदल देनी चाहिए। साधु, शाक्यभिक्षु, चेट, क्षत्रिय तथा विशिष्ट सन्यासी (लिगस्थ) की भाषा सस्कृत होनी चाहिए। जो लोग ऐश्वर्य मे मस्त है या जो दरिद्रता से उपहत है एव जो उत्तम हैं उनकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त की भाषा पुनरुक्ति से युक्त (प्राकृत) होनी चाहिए। राजा, विप्र, विट, अमात्य, सुभट (अच्छे यौद्धा), शिक्षित स्त्री, नट, नर्तक तथा धूर्त की भाषा सस्कृत कही जाती है। देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, नागेश, राक्षस, कचुकीय, प्रतीहारी, सन्यासिनी, वणिक-कन्या, विद्याधरी, वर्षवर (नपुसका) महादेवी, विलासिनी,

शाक्यचक्रचराणां च संस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥
यो वेषविद्यासमयलिङ्गनिष्णातधीर्भवेत् ।
स चक्रचर इत्युक्तः प्रायो वैतण्डिकोऽपि च ॥
अधमानां कुविद्यानामज्ञानामल्पचेतसाम् ।
क्षुत्पीडाविकलाङ्गानां संस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥

६१ भाषा या नायकादीनां तत्तन्नाट्योपयोगिनी ।
परस्परं च वर्ग्याणामाह्वानार्थाऽभिधीयते ॥

६२ नेतुर्या महिषी युक्ता रूपसम्पद्गुणादिभिः ।
तद्भृत्यवनितावर्गैः वक्तव्या भट्टिनीति सा ॥
यदृच्छाधिगमे प्रायः दुर्लभस्यैव वस्तुनः ।
नायिका वृत्तिसन्तोषान्नित्यमंमह इत्यलम् ॥
येन केनापि मान्येन प्रार्थ्यमानस्य वस्तुनः ।
अङ्गीकारेषु वक्तव्यं बाढमित्येव नायकैः ॥
बहुधा चिन्त्यमानस्य दुर्विज्ञेयस्य वस्तुनः ।
सहसा ज्ञानसम्पत्तावा इत्यार्यैर्निगद्यते ॥
कान्तेति नायको ब्रूते दक्षिणः पूर्ववल्लभः ।
शठः स्वस्यानभिप्रेतां प्रियेति वदति स्त्रियम् ॥
सावज्ञमङ्गीकरणे तज्ज्ञैरामेति कथ्यते ।
जातेति पुत्रवात्सल्यान्मात्रा पुत्रोऽभिधीयते ॥

योगी तथा योगिनी की भाषा सस्कृत होनी चाहिए ।' ढौगी सन्यासी, जटाधारी बौद्ध-भिक्षु तथा चक्रधारी शाक्य की भाषा सस्कृत नही होनी चाहिए । जो वेष, विद्या, सकेत (समय), लिंग के जानने वाले होते है, उन्हे प्राय चक्रधर कहते है और 'वैतण्डिक' भी कहते हैं । अधम श्रेणी के छात्र, कुविद्या जानने वाले, अज्ञानी, अल्पचेतसी (अर्द्धविकसित मन वाले), भूख से व्याकुल तथा विकलागो की भाषा सस्कृत नही होनी चाहिए ।[२६]

६१ नायक आदि सभी वर्ग के पात्रो की उस-उस नाट्य की उपयोगी और परस्पर व्यवहार मे प्रयोजनीय जो भाषा है, उसे कहते हैं ।

६२ नायक की रूप-सम्पत्ति तथा गुण आदि युक्त जो रानी होती है, उसे उसके भृत्य और वनितावर्ग को 'भट्टिनी' कहकर पुकारना चाहिए। प्राय दुर्लभ वस्तु के अपनी इच्छानुसार प्राप्त होने पर, नायिका वृत्ति के सतोष से नित्य 'अमह' 'अल' कहती है । जिस किसी मान्य-व्यक्ति के द्वारा प्रार्थ्यमान वस्तु के अगीकार कर लेने पर नायक को 'बाढम्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् नायक को 'बाढम्' कहना चाहिए । या फिर अनेक प्रकार से चिन्त्यमान, दुर्विज्ञेय वस्तु का अकस्मात् ज्ञान हो जाने पर आर्य 'बाढम्' कहता है । दक्षिण, पूर्व-वल्लभ नायक को 'कान्त' कहकर पुकारा जाता है । शठ अपनी अनभिप्रेता स्त्री को 'प्रिया' कहता है । अवज्ञा सहित अगीकार करने पर तद्-ज्ञाता 'आम' कहता है । मा पुत्र-वात्सल्य के कारण पुत्र को 'जात' कहकर पुकारती है ।

६३ हुमित्यवज्ञाविद्वेषकामचारादिभाषणे ।
हुमित्येवाभिधातव्यं सर्वैरिन्द्रियगोपने ।।
भर्तृमाताऽङ्गनाभिर्वा चेटीभिर्गणिकाऽथवा ।
वार्तासु सर्वदा काममज्जुकेत्यभिधीयते ।।
अभीष्टवस्तुसंसिद्धिविधावन्येन चोदितः ।
प्रथमः कल्प इत्येव प्रवदत्याप्तनायकः ।।

६४ आयुष्मन्निति वक्तव्यो रथी सारथिना सदा ।
समीपावस्थितेष्वेवमनेकेष्वाप्तबन्धुषु ।।
मनसा यन्नरो वक्ति स्वगतं तन्निगद्यते ।

६५ मनस्यवस्थितं कार्यं पुरतः पार्श्ववर्तिनाम् ।।
निश्शङ्कमुच्यते यत्तु तत्प्रकाशं विदुर्बुधाः ।

६६ त्रिपताकं करं कृत्वा यदन्यस्य मनोगतम् ।
अप्रकाशं नरो वक्ति तज्जनान्तिकमुच्यते ।

६७ अप्रत्यक्षेण पात्रेण सह रङ्गस्थितो नरः ।।
यद्वक्त्यभिमुखीकृत्य तदाकाश उदाहृतम् ।

६८ विद्यमानेषु मनसि कार्यजातेष्वनेकधा ।।
तदोपदमित्याहुः प्रधानं यन्मनीषिणः ? ।

---

६३ अवज्ञा, द्वेष, कामचार (स्वेच्छा) आदि से भाषण करने पर 'हुम्' कहना चाहिए। इन्द्रिय-गोपन के समय सभी को 'हुम्' कहना चाहिए। स्त्री अपनी, अपने पति की माता को अथवा चेटी गणिका (वेश्या) को हमेशा बातचीत मे 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के विषय मे कोई उसकी प्राप्ति का उपाय बताता है तो नायक 'प्रथम कल्प' 'ठीक विचार है' ऐसा कहता है।

६४ सारथी को हमेशा रथी से आयुष्मन् कहना चाहिए। समीप मे बैठे हुए ही अपने अनेक बन्धु-बान्धवो के बीच जो व्यक्ति मन से कुछ कहता है, उसे 'स्वगत' कहते है।

६५ मन मे अवस्थित किसी कार्य को समीपवर्ती किसी व्यक्ति के सामने नि सकोच कहा जाता है, उसे विद्वान लोग 'प्रकाश' कहते है।

६६ त्रिपताका-कर से किसी अन्य की मनोगत (कथा) को जो व्यक्ति अप्रकाशित ढग से कहता है, उसे 'जनान्तिक' कहा जाता है।

६७ अप्रत्यक्ष पात्र के साथ रग-मच पर स्थित पुरुष (पात्र) अप्रत्यक्ष पात्र को ही अभिमुख करके जो कुछ कहता है, वह 'आकाश' कहा जाता है।

६८ मन मे विद्यमान अनेक प्रकार के कार्यों मे जो प्रधान होता है, उसे विद्वान लोग 'उपदम्' कहते हैं (?)।

६९ भयाहङ्कारसम्मानमोहकण्ठग्रहादिषु ॥
हीहीशब्दः प्रयोक्तव्यः चेटचेटीविदूषकैः ।
७० पश्चात्तापप्रवासोर्वीचलनप्राणहानिषु ॥
नायिकाहृदये क्षेपः पुरोभाग इति स्मृतः ।
७१ नियमेनैव वक्तव्या हञ्जेति परिचारिका ॥
गणिकाभिरथाचार्या भीमार्येति निगद्यते ।
नरो (टो) विदूषकप्रायो यो नरः स वधूजनैः ॥
अङ्ग इत्येव वक्तव्यो हीनोऽपि ब्राह्मणो यदि ।
७२ पीठमर्दशठक्रूरधूर्तचेटीविटादिभिः ॥
निन्दायामथवा गर्वे ई शब्दः सम्प्रयुज्यते ।
७३ त्रिविधं ह्यक्षरं काव्ये विज्ञेयं नाटकाश्रयम् ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतं चैव रसभावविभावकम् ।
स्मृते चासूयिते चैव तथा च परिदेविते ॥
पठतां ब्राह्मणानां च प्लुतमक्षरमिष्यते ।
आकारश्च स्मृते कार्यमीकारश्चाप्यसूयिते ॥
परिदेविते च हाकारमोङ्कारोऽध्ययने तथा ।
ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम् ॥
पाठ्ययोगेषु सर्वेषु ह्यक्षराणि प्रयोजयेत् ।

---

६९ भय, अहकार, सम्मान, मोह, कण्ठ-ग्रह आदि मे चेट, चेटी तथा विदूषक इन सभी को 'ही ही' शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

७० पश्चाताप, प्रवास, पृथ्वी-कम्पन (भू-कम्प) तथा प्राण-हानि के समय नायिका के हृदय मे होने वाला कम्पन 'पुरोभाग' कहा जाता है ।

७१ परिचारिका (दासी) को नियम से ही 'हञ्जा' कहना चाहिए। गणिका अपनी आचार्या को 'भीमार्या' कहकर सम्बोधित करती है। नट, प्राय जो विदूषक है, यदि वह हीन-ब्राह्मण भी है तब भी बन्धूजनो को उस व्यक्ति को 'अग' कहकर सम्बोधित करना चाहिए ।

७२ पीठमर्द, शठ, क्रूर, धूर्त, चेटी, विट आदि निन्दा अथवा गर्व मे 'ई' शब्द का प्रयोग करते है ।[१७]

७३ काव्य मे नाटकाश्रित तीन प्रकार के अक्षर जाने जाते है—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत । ये रस और भाव के विभावक होते है । स्मृति मे, असूया मे तथा परिदेवन मे ब्राह्मणो को प्लुत अक्षर पढना चाहिए । स्मृति मे 'आ' कार का उच्चारण करना चाहिए । असूया मे 'ई' कार का, परिदेवन मे 'हा' कार का तथा अध्ययन मे 'ओ' कार का उच्चारण करना चाहिए । सभी पाठ्य-योग मे रस तथा भाव के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत अक्षरो का प्रयोग करना चाहिए ।

७४ लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् ॥
काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञैर्वीररौद्राद्भुताश्रयम् ।
गुर्वक्षरप्रायकृतं बीभत्से करुणेऽपि च ॥
कदाचिद्रौद्रवीराभ्यां क्रोधामर्षणजं भवेत् ।
रूपकादिसमावृत्तमार्यावृत्तसमाश्रयम् ॥
शृङ्गारे च रसे कार्यं काव्यं यन्नाटकाश्रयम् ।
उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे काव्यं तु यद्भवेत् ॥
जगत्यतिजगत्योस्तत्संकृत्या वापि तद्भवेत् ।
तथैव युद्धसम्फेटावुत्कृत्या सम्प्रकीर्तितौ ॥
करुणे शक्वरी ज्ञेया तथैवातिधृतिर्भवेत् ।
यद्वीरे कीर्तितं छन्दः तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत् ॥
शेषाणां चार्थयोगेन छन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
७५ उपसर्गविशेषाः स्युर्नाटकाद्युपयोगिनः ॥
कवेर्विवक्षितार्थस्य सूचकांस्तान्ब्रुवेऽधुना ।
समुच्चया निपातानामित्येवं केचिदूचिरे ॥
निरर्थकास्तु शब्दा ये उपसर्गा इति स्मृताः ।
ते परस्परसंसर्गाद्धातुसंसर्गतः क्वचित् ॥
तत्तदर्थविशेषस्य वाचकाः स्युर्न तु स्वतः ।

---

७४ नाट्यविदो को प्राय उपमा तथा रूपक अलकारो के आश्रित तथा वीर, रौद्र और अद्भुत रस के आश्रित काव्य मे लघु अक्षर का प्रयोग करना चाहिए। वीभत्स तथा करुण रस मे प्राय गुरु अक्षर का प्रयोग करना चाहिए। कभी यह (गुरु अक्षर) रौद्र तथा वीर रस के कारण क्रोध और अमर्ष से उत्पन्न होता है। शृगार-रस मे रूपक आदि से युक्त, आर्यावृत्त के आश्रित काव्य की रचना करनी चाहिए, जो नाटक के आश्रित होता है। वीर-रस मे उत्तरोत्तर सयुक्त जो काव्य होता है, वह जगती, अतिजगती या दोनो के सकर-रूप छन्द मे होता है। उसी प्रकार युद्ध और सम्फेट उत्कृती (छन्द) मे कहे जाते है। करुणरस मे शक्वरी (छन्द) जानना चाहिए, उसी प्रकार अतिधृति होती हैं। जो वीर-रस मे छन्द कहा गया है, वही रौद्ररस मे होना चाहिए। प्रयोक्ताओ को शेष के प्रयोग मे अर्थ-योग से छन्द का प्रयोग करना चाहिए।

७५ नाटक आदि के उपयोगी कुछ विशेष-उपसर्ग होते हैं। कवि के विलक्षित अर्थ के सूचक उन (उपसर्ग) को अब कहते है। (ये उपसर्ग) निपातो के समुच्चय हैं—ऐसा किसी ने कहा है। जो निरर्थक शब्द हैं, वे उपसर्ग कहलाते है। वे कही परस्पर-ससर्ग के कारण तथा धातु-ससर्ग के कारण उस-उस अर्थ-विशेष के वाचक होते है, स्वत नही।

७६ प्रत्यभिज्ञातदृष्टार्थस्मृतेषु स्यादये इति ।।
प्रार्थनाभिमुखीकारचिन्ताह्वानोपलब्धिषु ।
अये खल्वाभिमुख्ये च क्रोधे हृर्षवितर्कयोः ।।
यदृच्छानुनयप्रीतिविषादोद्भाव्यसिद्धिषु ।
प्रागुक्तसूचने प्रश्ने विचारे नन्वितीर्यते ।।
सम्भाव्यातीतसिद्धार्थचिन्तासु ननु खल्विति ।
अपि किञ्चिदिति प्रश्ने स्वल्पे हेयेऽप्यनादरे ।।
अपि नाम प्रसिद्धं स्यादपि खल्विति काकुवाक्
किमिति प्रश्नयोगे स्याद्गौरवे लाघवेऽपि च ।।
किञ्चिच्च किमपीति स्यादौदासीन्यविचारयोः ।
वृत्ते यदपि किञ्चित्स्यात्प्रसिद्धे प्रार्थनाल्पयोः ।।
कर्तव्येऽपि च वक्तव्ये चिन्तायामपि किञ्चन ।।
सापेक्षसिद्धकथने प्रसिद्धे गोपनेऽपि च ।।
साम्ये प्रसिद्धे सम्भाव्ये स्वाभिलाषवितर्कयोः ।
अपि नाम भवेत्प्रश्नो वृत्तवर्तिष्यमाणयोः ।।

---

७६ पहचाने हुए, देखे हुए तथा याद किये हुए पदार्थ मे 'अये' का प्रयोग होना चाहिए। प्रार्थना, सन्मुख कराना, चिन्ता, आह्वान, उपलब्धि, अभिमुख्य, क्रोध, हर्ष और वितर्क मे 'अये खलु' का प्रयोग करना चाहिए। यदृच्छा, अनुनय, प्रीति, विपत्ति, उद्भाव्य, सिद्धि, प्रागुक्त की सूचना, प्रश्न तथा विचार मे 'ननु' का प्रयोग किया जाता है। सम्भाव्य, अतीत और सिद्ध वस्तु की चिन्ता मे 'ननु खलु' का प्रयोग करना चाहिए। प्रश्न मे, स्वल्प मे, हेय वस्तु मे तथा अनादर मे 'अपि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। 'अपि नाम' यह प्रसिद्ध है। 'अपि खलु' यह काकु-उक्ति है। प्रश्न के योग मे, गौरव और लाघव मे 'किम्' का प्रयोग करना चाहिए। उदासीनता मे, विचार मे 'किञ्चित्' और 'किमपि' का प्रयोग करना चाहिए। प्रसिद्ध वृत्त मे, प्रार्थना मे और अल्प कथन मे 'यदपि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। कर्तव्य मे, वक्तव्य मे, चिन्ता मे, सापेक्ष-सिद्ध-कथन मे तथा प्रसिद्ध-गोपन मे 'किञ्चन्' का प्रयोग करना चाहिए। साम्य मे, प्रसिद्ध मे, सम्भावना मे, अपनी अभिलाषा और वितर्क मे तथा भूत, भविष्य के प्रश्न मे 'अपि नाम' का प्रयोग करना चाहिए। काकु, प्रश्न, प्रहर्ष और प्रग्रह मे 'अपि खलु' का प्रयोग करना चाहिए। विस्मय, वितर्क और अनुशय मे 'यदि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। इच्छानुसार काम करने वाले के पराभव (असफलता) मे फल की चिन्ता करनी चाहिए (?)। प्रसिद्ध मे 'यदि नाम' का प्रयोग करना

काक्वामपि खलु प्रश्ने प्रहर्षे प्रग्रहेऽपि च ।
विस्मये यदि किञ्चित्स्याद्वितर्केऽनुशयेऽपि च ।।
उदर्कचिन्ता कर्तव्या कामकारपराभवे (?) ।
यदि नाम प्रसिद्धे स्याद्यदुतेति च वा(विचा)रणे ।।
प्रवृत्तादन्यचिन्तायां तद्वद्यद्वेति निश्चये ।
यदि किञ्चन संसिद्धे समृद्धे साम्यबाध्ययोः ।।
यदिदं खल्विति गते प्रभूते हृद्गते कृते ।
कारणेऽपि कथं तर्के विस्मये सम्पदुद्भवे ।।
इष्टार्थोपगमेऽशक्ये भाविकार्यप्रयोजने ।
नूनं प्रायोऽसमाप्तेऽर्थे नूनं खल्विति च स्मृते ।।
प्रायः खलु परामर्शे कृत्याकृत्यविचारणे ।
किन्नु खल्विति सम्भाव्ये कि खलु प्रश्नतर्कयोः ।।
तद्यावदिति निष्कर्षे वृत्तवर्तिष्यमाणयोः ।
आज्ञाकृत्ये यावदहं यावत्खल्विति चिन्तने ।।
यावन्नामेति साध्ये स्याद्यावन्नामेति निश्चये ।
यावदागामिकाले स्यात्कर्मारम्भावसानयोः ।।
तद्यावदिति सन्देशे तन्निर्देशनियोगयोः ।
कर्मविघ्नवितर्के स्याद्दुष्करेऽपि कथंचन ।।

चाहिए। सोच-विचार मे 'यदुत' का प्रयोग करना चाहिए। प्रवृत्त होने से अन्य चिन्ता मे, निश्चय मे 'तद्वत्यद्वत्' का प्रयोग करना चाहिए। ससिद्धि, समृद्धि, साम्य और बाध्य मे 'यदि किञ्चन' का प्रयोग करना चाहिए। प्रभूतगत और हृदयगत किये गये मे 'यदिद खलु' का प्रयोग करना चाहिए। कारण, तर्क, विस्मय, सम्पत्ति के उद्भव, इष्ट-वस्तु की प्राप्ति, अशक्य, भविष्य मे होने वाले कार्य के प्रयोजन मे 'कथ' का प्रयोग होता है। असमाप्त अर्थ मे 'नून प्राय' और स्मृति मे 'नून खलु' का प्रयोग करना चाहिए। परामर्श, कृत्याकृत्य के विचार मे 'प्राय खलु' का प्रयोग करना चाहिए। सम्भावना मे 'किन्नुखलु' और प्रश्न और तर्क मे 'कि खलु' का प्रयोग होता है। भूत, भविष्य के निष्कर्ष मे 'तथावत्' का प्रयोग करना चाहिए। आज्ञाकर्म मे 'यावदह' तथा चिन्तन मे 'यावत्खलु' का प्रयोग करना चाहिए। साध्य अर्थ मे 'यावन्नाम' और निश्चय अर्थ मे 'यावन्नाम' का प्रयोग करना चाहिए। आगामिकाल और कर्म के प्रारम्भ और अन्त मे 'यावत्' का प्रयोग होता है। सन्देश और उसके निर्देश व नियोग मे 'तद्यावत् का प्रयोग होता है। कर्म के विघ्न के तर्क मे और दुष्कर अर्थ मे 'कथचन' का प्रयोग करना चाहिए।

७७ इत्थमन्योन्यसंसर्गादुपसर्गाः पृथक्पृथक् ।
यथाविशेषार्थकृतस्तथा कविभिरूह्यताम् ॥

७८ नायकादेः परीवारसहितस्य च नाटके ।
पात्रस्य योग्यनामानि शास्त्रोक्तान्यभिदध्महे ॥

७९ प्रतापवीर्यविजयमानविक्रमसाहसाः ।
पराक्रमादयोऽन्तेऽङ्के भूषणोत्तंसशेखराः ॥
अङ्कुरा इति नेतॄणामाह्वया विजयावहाः ।
धीरोद्धतादयश्चात्र नायकाः कविभिः स्मृताः ॥
दिव्या कुलस्त्री गणिकेत्येतास्तेषां च नायिकाः ।
ताश्च वीरावती वीरसेनाख्या विजयाह्वयाः ॥
भोगावती कान्तिमती कमला कामवल्लरी ।
इत्यादयो भोगिनीनामाख्याः स्युर्नाटकाश्रयाः ॥

८० दत्तासेनान्तनामानि वेश्यानां कल्पयेत्सुधीः ।
गम्भीरार्थानि नामानि चोत्तमानां प्रयोजयेत् ॥
यस्मान्नामानुसदृशं कर्म चैषां भविष्यति ।
महिषी भोगिनी नाम्ना व्याहार्या दिव्ययोषितः ॥

---

७७ इस प्रकार अन्योन्य से ये उपसर्ग अलग-अलग जैसा विशेष अर्थ करते हैं उसी प्रकार कवियो को कहना चाहिए ।

(नायक आदि के उचित नाम)

७८ नाटक मे परिवार (दास-दासियो) सहित नायक आदि पात्रो के शास्त्रोक्त योग्य नामो को कहते हैं ।

७९ जिसके अन्त मे प्रताप, वीर्य, विजयमान, विक्रम, साहस, पराक्रम आदि शब्द हो और मध्य मे भूषण, उत्तस, शेखर, अकुर शब्द हो—इस प्रकार के नेताओ के नाम कविजनो द्वारा विजय-प्राप्त (विजयी) धीरोद्धत आदि नायको के कहे जाते है । उन (नायको) की दिव्य, कुलीन तथा गणिका—ये नायिकायें होती है, उनका वीरावती, वीरसेना और विजया नाम होता है । भोगावती, कान्तिमती, कमला, कामवल्लरी इत्यादि—ये भोगिनीयो के नाटकाश्रित नाम होते है ।

८० विद्वानो को वेश्याओ के 'दत्ता' 'या सेना' शब्द जिसके अन्त मे हो ऐसे नामो की कल्पना करनी चाहिए । उत्तम (स्त्रियो) के लिए गम्भीर अर्थो से युक्त नामो की कल्पना करनी चाहिए जिससे नाम के सदृश इनका कर्म होगा । दिव्य स्त्रियो के लिए महिषी या भोगिनी नाम की कल्पना करनी चाहिए ।

८१ सिन्धुदत्तादि नामानो वणिजो नाटकाश्रयाः ।
शशिलेखा कुन्दलेखा मदलेखा मनोहरा ।।
कर्पूरमञ्जरीलेखा रैवत्या(चन्द्रलेखेत्या)द्याह्वयाः स्मृताः।
लताकुसुमनामानि चेटीनामानि कारयेत् ।।

८२ सिद्धानन्ददृष्टिसिद्धमुखाख्या योगिनः स्मृताः ।
योगसुन्दरिका वंशप्रभा विकटमुद्रिका ।।
कल्पसुन्दरिकेत्याख्या योगिन्यो नाटकाश्रयाः ।

८३ कालप्रियश्चित्रवर्णः कपटेश्वर इत्यपि ।।
गन्धकेश्वर इत्याख्या नाटके नान्दिदेवताः ।

८४ वर्णकश्च प्रस्तरको नन्दकः करभोऽपि च ।।
तथा भासुरकश्चेति व्याहार्या हीनपूरुषाः ।
गोमायुको गोण्डक(मुख)श्च बिल्वकश्चित्रकोऽपि च ।।
इत्यादिनामभिर्भाष्याश्चण्डाला नाटकाश्रयाः ।

८५ चित्राङ्गदो रत्नचूडः तथा रत्नशिखण्डकः ।।
इत्यादिनामभिर्वाच्या नाट्ये विद्याधराश्च ये ।
कपालशेखराद्याख्याः पाषण्डा नाटकाश्रयाः ।।

---

८१ नाटक के आश्रित बनियो के लिए प्राय सिन्धु, दत्त आदि शब्द जिसके अन्त मे हो—इस प्रकार के नामो की कल्पना करनी चाहिए। चेटी के लिए शशि-लेखा, कुन्दलेखा, मदलेखा, मनोहरा, कर्पूरमजरी, कर्पूरलेखा, रैवती (चन्द्रलेखा) इत्यादि तथा लता व पुष्पवाचक नामो की कल्पना करनी चाहिए।

८२ योगियो के लिए सिद्ध, आनन्द, दृष्टि, सिद्धमुख नामो की कल्पना की जाती है। नाटक के आश्रित योगी-स्त्रियाँ योगसुन्दरिका, वशप्रभा, विकट-मुद्रिका, कल्पसुन्दरिका नाम से जानी जाती है।

८३ नाटक मे नान्दि-देवता—कालप्रिय, चित्रवर्ण, कपटेश्वर, गन्धकेश्वर नाम से जाने जाते है।

८४ हीन पुरुषो के लिए वर्णक, प्रस्तरक, नन्दक, करभ तथा भासुरक नामो की कल्पना करनी चाहिए। नाटक मे चाण्डाल को गोमायुक, गोण्डक (गोमुख), बिल्वक तथा चित्रक इत्यादि नामो से पुकारना चाहिए।

८५ नाटक मे जो विद्याधर होते हैं, उनको चित्रागद, रत्नचूड तथा रत्नशिखण्डक नाम से पुकारना चाहिए। नाटकाश्रित पाखण्डी (पुरुष) के लिए कपालशेखर आदि नाम की कल्पना करनी चाहिए।

८६ निर्ग्रन्थो गन्धको वैद्यः कायस्थश्च कृषीवलः ।
शाक्यश्च कारुर्वन्दी च स्मृता ह्यधमनायकाः ॥

८७ क्षीरोदस्तैत्तिलश्चैव जाल्मर्लिविनयन्धरः ।
इत्यादिनामभिर्भाष्या नाट्ये कञ्चुकिनो जनाः ॥
वात्स्यायनश्च शाकल्यो मौद्गल्यश्च वसन्तकः ।
गालवश्चेत्येवमादिनामानः स्युर्विदूषकाः ॥
विपुला वत्सलेत्यादि नाम धात्र्याः प्रकल्पयेत् ।
हिरण्यभृङ्गोऽञ्जनाद्रिरित्याख्याः स्युर्महीधराः ॥

८८ आर्येति वाच्या विद्वांसो ब्राह्मणा गुरवोऽपि च ।
भगवन्निति वाच्याः स्युर्देवता मुनयोऽपि च ॥
सम्भाष्याः शाक्यनिर्ग्रन्था भदन्तेति प्रयोक्तृभिः ।
सेनापतिरमात्यश्च स्यालो भावेति भाष्यते ॥
नाट्यवित्कर्मकुशलः किञ्चिन्न्यूनस्तु मारिषः ।
समानस्तु वयस्येति सखे हण्डेति भाष्यते ॥

८९ वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा पुनः ।
शिष्यश्चार्थोपकारी च व्याहार्यो गुरुभिस्सदा ॥

---

८६ अधम नायक के लिए निर्गन्ध, गन्धक, वैद्य, कायस्थ, कृषीवल, शाक्य तथा कारुर्बन्दी नाम की कल्पना की जाती है।

८७ नाटय मे कचुकी को क्षीरोद, तैत्तिल, जाल्मलि, विनयधर इत्यादि नाम से पुकारना चाहिए। विदूषक के लिए वात्स्यायन, शाकल्य, मौद्गल्य, वसन्तक, गालव इत्यादि नामो की कल्पना की जाती है। धात्री के लिए विपुलता तथा वत्सला इत्यादि नामो की कल्पना करनी चाहिए। महीधर के लिए हिरण्यशृग, अञ्जनाद्रि इत्यादि नामो की कल्पना की जाती है।

८८ विद्वान, ब्राह्मण तथा गुरुजनो को 'आर्य' कहकर पुकारना चाहिए। देवता और मुनियो को 'भगवन्' कहकर पुकारना चाहिए। प्रयोक्ताओ को बौद्ध और जैन साधुओ को 'भदन्त' कहकर पुकारना चाहिए। सेनापति और अमात्य (मत्री) को स्याल और भाव शब्द से पुकारा जाता है। नाट्य-कर्म मे कुशल व्यक्ति को 'नाट्यविद्' नाट्य-कर्म की कुशलता मे कुछ न्यून व्यक्ति को 'मारिष' तथा नाट्य-कर्म की कुशलता मे समान व्यक्ति को 'वयस्य', 'सखा' तथा 'हण्डा' कहकर पुकारा जाता है।

८९ गुरु को सदा शिष्य और अर्थोपकारी-व्यक्ति को 'वत्स', 'पुत्रक' तथा 'तात' कहकर, या फिर नाम या गौत्र से पुकारना चाहिए।

९० स्वभावचपलो नेतुः प्रियायाः कलहप्रियः ।
दक्षिणः कार्यविच्चैव सर्वदा भोजनप्रियः ॥
सर्वभाषाविकल्पज्ञः सर्वेषां परिहासकः ।
सत्यासत्यवचोवक्ता पण्डितः स्याद्विदूषकः ॥

९१ अनिबन्धनमर्थानां सतामपि विशेषतः ।
निबन्धनं पदार्थानामसतामपि तत्त्वतः ॥
सतो निबन्धनं तद्वदसतोऽप्यनिबन्धनम् ।
एवं कवीनां समयस्त्रिधैव परिकल्प्यते ॥

९२ वसन्ते चूतपुष्पादेरनुत्पादो न दुष्यति ।
अनिबन्धनमेतत्स्यात्सतोऽप्यर्थस्य तत्त्वतः ॥

९३ समुद्रनद्योः शैवालपद्मादेरप्यवर्णनम् ।
अयशःपापयोः कार्ष्ण्यं हासकीर्त्योश्च शुक्लता ॥
यदप्यवर्णनीयं स्याल्लौहित्यं क्रोधरागयोः ।
भूभृन्मात्रे सुवर्णादिवर्णनं न निबध्यते ॥
उदकाशयमात्रेऽपि हंसादिर्नैव वर्ण्यते ।
कुमुदादिविकासस्तु रात्रावेवेति वर्ण्यते ॥
शिखण्डिताण्डवं वर्षास्वेवेति परिकल्प्यते ।

---

९० विदूषक स्वभाव से चचल (चपल), नायक और प्रिया के लिए कहलप्रिय, दक्षिण (चतुर), कार्यविद्, स्वभाव का पेट् (भोजनप्रिय), सभी भाषाओं को जानने वाला, सभी की हँसी बनाने वाला, सत्य तथा असत्य वाणी बोलने वाला तथा पण्डित होता है ।

(कवि-समय)

९१ अर्थो के निबन्धन तथा अनिबन्धन के विषय मे कवियो का समय तीन प्रकार का कहा जाता है—(अ) विशेष रूप से सत्य अर्थो का अनिबन्धन, (ब) तत्त्वत असत्य पदार्थों का निबन्धन, तथा (स) सद्-अर्थों का निबन्ध तथा असद्-अर्थो का अनिबन्धन ।

९२ बसन्त-ऋतु मे आम्र-बौर आदि की अनुत्पत्ति दोष नही कही जाती । क्योकि यह विशेष रूप से सद्-अर्थ का अनिबन्धन कहा जाता है ।

९३ समुद्र तथा नदी मे शैवाल, कमल आदि का वर्णन नही होता है । अपयश और और पाप मे 'कार्ष्णयं' (कृष्णता) तथा हास्य और कीर्ति मे शुक्लता का वर्णन होता है । क्रोध और राग मे लालिमा का वर्णन नही होता है । भूभृत्-मात्र के वर्णन मे सुवर्ण (स्वर्ण) आदि का वर्णन नही किया जाता है । जलाशय-मात्र के वर्णन में हस आदि का वर्णन नही किया जाता है । कुमुद आदि का विकास रात्रि मे ही वर्णित होता है, मयूर-नृत्य वर्षा मे ही कल्पित होता है ।

९४ अथ शिल्पकडोम्ब्योस्त्वङ्गानां लक्षणमुच्यते ॥

९५ उत्कण्ठा माधवस्यापि तत्पश्येयमितीर्यते ।
अवहित्थं तदेव स्याद्यत्पाणिर्न निवारितः ॥
इत्यादि(?)प्रणयक्रोधाच्छादनं तद्विभाव्यते ।

९६ स प्रयत्नोऽनिरुद्धस्य दर्शने चित्रलेखिता ॥
दम्पत्योर्योग्यसम्पर्कप्रार्थनाऽऽशंसनं भवेत् ।
यथा कुलेन कान्त्या च वयसेत्यादि कथ्यते ॥

९७ वितर्कः कास्विदित्यादि दुष्यन्तवचनं यथा ।
किमेषा कौमुदी किंवा लावण्यसरसी सखे ॥
इत्यादि रामाराधायां संशयः कृष्णभाषिते ।

९८ विशेषोऽनुशयोक्तेर्यस्सन्ताप इति कथ्यते ॥
तं विना कैकयीपुत्रमिति रामेण भाषितम् ।

---

९४ अब हम शिल्पक और डोम्बी के अगो के लक्षण को कहते है ।

(उत्कण्ठा)

९५ माधव के यह कहने पर कि [२८] 'तत्पश्येयम् 'अर्थात् 'कामदेव के मगलग्रह-स्वरूप प्रिया का मुख फिर भी देख लू' माधव की 'उत्कण्ठा' प्रकट होती है।

(अवहित्था)

'अवहित्था' वही है जैसे [२९] 'यत्पाणिन निवारित ' अर्थात् 'जिसका हाथ नही रोका ।' इत्यादि (?) से प्रणय से क्रोध का आच्छादन जाना जाता है ।

(प्रयत्न)

९६ वह 'प्रयत्न' है, जैसे—अनिरुद्ध के दर्शन पर चित्रलेखिता ने किया है।

(आशसन)

दम्पत्ति के बीच योग्य सम्पर्क के लिए की गई प्रार्थना 'आशसन' कही जाती है। जैसे—'कुलेन कान्त्या च वयसा' । इत्यादि मे जाना जाता है।

(वितर्क)

९७ जैसे दुष्यन्त के वचन कि "[३०]कास्विद् · · ।' अर्थात् " यह महिला कौन है ? · ··· वितर्क है ।

(संशय)

'रामाराधा' मे कृष्ण के बोलने पर कि 'किमेषा ।' अर्थात् 'मित्र ! क्या यह कौमुदी (चाँदनी) है या फिर लावण्य रूप कोई छोटी बावडी है ' इत्यादि मे सशय' है ।

(सन्ताप)

९८ विशेप प्रकार के दु:ख का कथन 'सन्ताप' कहा जाता है। जैसे—राम ने कहा है कि' 'त बिना कैकयी पुत्रम् · ··· ' 'उसके बिना कैकयी पुत्र को ··· '।

९९ उद्वेगो हा हतोऽस्मीति कपिंजलवचो यथा ॥
मौढ्यं स्रगियमित्यादि यदजेनापि भाषितम् ।
अङ्गानि चन्दनाम्भोभिः सिञ्चेत्यादिवचो यथा ॥
१०० वैवर्ण्यं यन्मनोऽङ्गानां तदालस्यमुदाहृतम् ।
तद्दृश्यते परीवारप्रार्थनाभिः क्रियास्विति ॥
१०१ मनसश्चलनं कम्पोऽकाण्डेनाकामतो भवेत् ।
अकामोपनतेनैव साधोरित्यादिनोच्यते ॥
१०२ यथा वामेन वानीरमित्याद्यनुगतिस्स्मृता ।
यथैव कुलपत्यङ्के दोर्दण्डाः क्वेति विस्मयः ॥
१०३ प्राणैस्तपोभिरित्यादि यद्वचः साधनं भवेत् ।
आश्वासनं विह्वलस्य यत्स उच्छ्वास ईरितः ॥
प्रीतिर्नाम सदस्यानामित्यादिवचनं यथा ।

(उद्वेग)

९९ 'उद्वेग' जैसे—कपिञ्जल के वचन कि '[31]हाय ! मैं मारा गया ' इत्यादि है ।

(मौढ्य)

मौढ्य जैसा कि अज ने कहा है कि '[32]स्रगियम ' 'यदि यह माला मारने वाली है तो हृदय पर रखी हुई मुझको क्यो नही मारती ? अथवा ईश्वर की इच्छा से विष भी कही पर अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है । जैसे—
'अगानि चन्दनाम्भोभि सिञ्च' अर्थात् 'अगो को चन्दन के जल-कणो से सीचो इत्यादि वचन हैं ।

(आलस्य)

१०० मन और अगो की जो विवर्णता है वह 'आलस्य' कहा जाता है । जैसे—माधव मालती की कामव्यथा के विकार की सम्भावना के कारण कहता है कि '[33]भोजन आदि क्रियाओ मे परिजनो की प्रार्थनाओ से कष्ट से उसकी प्रवृत्ति है ।' इत्यादि ।

(कम्प)

१०१ बिना समय के तथा बिना किसी इच्छा के मन का चचल होना 'कम्प' कहलाता है । जैसे बिना किसी इच्छा के 'कि साधो ' इत्यादि कहा जाता है ।

(अनुगति)

१०२ जैसे—कुबडे के द्वारा बेंत का अनुकरण इत्यादि 'अनुगति' कही जाती हे ।

(विस्मय)[34]

जैसे—कुलपति-अक मे कि 'दोर्दण्डा क्व ' . . ' कहाँ तो वाजूबन्द धारण किए हुए 'भुजदण्ड' इत्यादि मे विस्मय है ।

(साधन)

१०३ जैसे—'[35]प्राणैस्तपोभि ' इत्यादि वचन 'साधन' कहलाते है ।

(उच्छ्वास)

विह्वल (बैचेन) को आश्वासन प्रदान करना ही 'उच्छ्वास' कहलाता हे । जैसे '[36]प्रीतिर्नाम सदस्यानाम् ' ' इत्यादि ।

१०४ क्रूरक्रमकृतत्रासः सुकुमारस्य वस्तुनः ।।
यस्स आतङ्क इत्युक्तो राहोश्चन्द्रकलादिवत् ।
यथा सीतापि तत्रासेत्यादावपि च दृश्यते ।।
१०५ शून्यता विस्मृतिः सर्वकर्मणां सर्वदा स्मृता ।
माधवस्य परिच्छेदातीत इत्यत्र दृश्यते ।।
१०६ प्रलोभनं गुणाख्यानपूर्वमिष्टार्थलम्बनम् ।
विजित्य पृथिवीं सर्वामित्यादौ तद्विलोक्यते ।।
१०७ नाट्यं स्वपौरुषोत्कर्षविशस्य प्रतिपादनम् ।
तद्रामोऽहं यदीत्यादि महानाटककल्पितम् ।।
१०८ सम्फेटः कथितः सद्भिः क्रोधादिभिरतिक्रमः ।
यथार्घ्यमर्घ्यमित्यादौ जामदग्न्यव्यतिक्रमः ।।

(आतक)

१०४ सुकुमार वस्तु के प्रति क्रूर कर्म करना, भय दिखाना, 'आतक' है। जैसे—"[37]राहु के मुख मे चन्द्रकला। जैसे—'सीतापि तत्रास ...' इत्यादि मे देखा जाता है।

(शून्यता)

१०५ सर्वदा सभी कर्मो की विस्मृति ही 'शून्यता' है। जैसे—माधव का वचन कि "[38]परिच्छेदातीत ...' अर्थात् "निश्चयात्मक ज्ञान को लाघने वाला, समस्त वाक्यो का अगोचर, पुनर्जन्म मे और इस जन्म मे भी जो अनुभवगम्य नही है, विवेक-नाश से बढे हुए महामोह से विषम कोई विकार अन्त करण को जड बनाता है और ताप को भी उत्पन्न करता है।"

(प्रलोभन)

१०६ गुणगानपूर्वक अभीष्ट वस्तु का सहारा देना 'प्रलोभन' कहलाता है। जैसे—'विजित्य पृथिवी सर्वाम् ...' इत्यादि मे देखा जाता है।

(नाट्य)

१०७ अपने पौरुष, उत्कर्ष तथा आवेश का प्रतिपादन करना ही 'नाट्य' कहलाता है। जैसे—"[39]तद्रामोऽह यदि ...' इत्यादि महानाटक मे कहा गया है।

(सम्फेट)

१०८ सज्जनो द्वारा क्रोध आदि मे मर्यादा का उल्लघन किया जाना 'सम्फेट' कहा जाता है। जैसे—'[40]परशुराम ने अर्घ्यग्रहण करने के लिए बार-बार प्रार्थना करते हुए दशरथ की उपेक्षा कर क्रोध से चिनगारी के समान जलती हुई आखो से राम की ओर देखा।'

१०९ शोकप्रणोदनं वाक्यं यत्स आश्वास उच्यते ।
शपे सत्येन ते देवि क्षिप्रमेष्यति राघवः ॥
चमूं प्रकर्षन् महतीमित्यादि हनुमद्वचः ।

११० सन्तोषातिशयो हर्षाद्व्यापारो निस्त्रपाभरः ॥
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारमित्यादौ स तु दृश्यते ।

१११ मदप्रकर्षः प्रमदः पुरस्तात्स च वर्णितः ॥
प्रियप्रायेति वाक्यादौ मदस्त्रैण उदाहृतः ।

११२ प्रमादः स्यात्पिशाचादेर्यदृच्छागमजं भयम् ॥
सत्त्वान्त्रै. कल्पितेत्यादि मालतीमाधवादिवाक् ।

११३ योग्यतापादनं युक्तिरन्योन्यस्य पदार्थयोः ॥
तुल्यशीलवयोजातामित्यादौ तद्विलोक्यते ।

११४ गुणैरतिशयारोपः पदार्थस्य प्ररोचना ॥
नेदं मुखमितीत्यादौ दृश्यते सा प्ररोचना ।

(आश्वास)

१०९ शोक-हरण करने वाले वाक्य 'आश्वास' कहलाते है। जैसे—हनुमान ने सीता को आश्वासन देते हुए कहा कि—"हे देवी ! मै सत्य की शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ कि राम महान सेना का सचालन कर शीघ्र जायेंगे।"

(सन्तोषातिशय)

११० हर्ष के कारण नि सकोच व्यापार 'सतोषातिशय' कहलाता है। जैसा कि वह 'त दृष्टवा शत्रुहन्तारम् ' अर्थात् 'उस शत्रु-हन्ता को देखकर ' इत्यादि मे देखा जाता है।

(प्रमद)

१११ मद का प्रकर्ष 'प्रमद' कहलाता है वह पहले कह दिया गया है। जैसे—'प्रियप्राय ' वाक्य के प्रारम्भ मे स्त्री का मद कहा गया है।

(प्रमाद)

११२ पिशाच आदि के स्वेच्छापूर्वक विचरण से उत्पन्न भय 'प्रमाद' कहलाता है। जैसा कि मालती-माधव मे वर्णित है कि—"[४१]अतडियो से सौभाग्य-द्योतक हस्तसूत्रो की रचना करने वाली, मरी हुई स्त्रियो के हस्त-रूप रक्त कमलो को स्पष्ट रूप से कर्णाभूषण के तौर पर धारण करने वाली, रुधिरपको को केसर के तौर पर सेवन करने वाली ये पिशाच ललनाये आतंकित रूप से विचरण कर रही है।

(युक्ति)

११३ दो पदार्थो के बीच एक-दूसरे की योग्यता का उपादान 'युक्ति' कहलाता है। जैसा कि वह 'तुल्यशीलवयोजाताम्' · · ' इत्यादि मे देखा जाता है।

(प्ररोचना)

११४ पदार्थ के गुणो का अतिशय आरोप 'प्ररोचना' कहलाती है। जैसा कि वह प्ररोचना' "नेद मुख··· · " इत्यादि मे देखी जाती है।

११५ स्तुतिर्विद्याभिजात्यादेः प्रशस्तिरिति कथ्यते ॥
उत्पत्तिर्देवयजनादित्यादौ सा विलोक्यते ।
इत्थमर्थान्विचार्याथ शिल्पकाङ्गानि योजयेत् ॥

११६ राज्याद्भ्रंशो वने वासेत्यादौ विन्यास उच्यते ।
कार्याख्यानमुपन्यास इति विद्वद्भिरुच्यते ॥
एष कञ्चुकिना तातस्तिष्ठतीत्यादिनोच्यते ।

११७ पापैर्निवृत्तिरेषात्र विबोध इति कथ्यते ॥
सन्देहनिर्णयो जात इत्यादौ सा विलोक्यते ।
॥
. सा व्याहृता प्रतिवचो न सन्दध इतीर्यते ।

११८ निदर्शनस्योपन्यासो ह्यनुवृत्तिरुदाहृता ॥
नीलमेघाश्रिता विद्युदित्यादौ सा विलोक्यताम् ।

११९ क्रियासमाप्तिः संहारः फलस्यावाप्तिरेव वा ॥
देवताभ्यो वरं प्राप्येत्यादौ संहार इष्यते ।

(प्रशस्ति)

११५ विद्या मे निपुण तथा कुलीन आदि की स्तुति 'प्रशस्ति' कहलाती है। जैसा कि वह '[४२] उत्पत्तिर्देवयजनाद्··· ' इत्यादि मे देखी जाती है।
इस प्रकार अर्थों का विचार करके इन शिल्पक के अगो की योजना करनी चाहिए ।

(विन्यास)

११६ 'राज्याद्भ्र शो वने वास ' इत्यादि मे विन्यास कहा जाता है।

(उपन्यास)

कार्य का कथन करना ही विद्वानो द्वारा 'उपन्यास' कहलाता है। जैसा कि—'एष कञ्चुकिना तातस्तिष्ठति ' इत्यादि से कहा जाता है।

(विबोध)

११७ पाप से निवृत्ति ही 'विबोध' कहलाती है। जैसा कि वह '[४३] सन्देह-निर्णयो जात ' इत्यादि मे देखी जाती है।

(?)

जैसा कि वह '[४४] व्याहृता प्रतिवचो न सन्दध· ' अर्थात् 'शिव के कुछ पूछने पर पार्वती बोलती नही थी · · ' इत्यादि मे कही जाती है।

(अनुवृत्ति)

११८ दृष्टान्त-निरूपण को 'अनुवृत्ति' कहा जाता है। जैसा कि उसे ''नीलमेघा-श्रिता विद्युत · '' इत्यादि मे देखना चाहिए।

(सहार)

११९ क्रिया की समाप्ति या फल की प्राप्ति 'सहार' कहलाती है। जैसा कि · ''देवताभ्योवर प्राप्य · · '' इत्यादि मे सहार कहा जाता है।

१२० लीलादिभिरुपालम्भः समर्पणमुदाहृतम् ।।
धन्या केयं स्थितेत्यादौ दृश्यते तत्समर्पणम् ।
भाण्य(डोम्ब्य)ङ्गान्येवमालोच्य यथार्थानि प्रयोजयेत् ।

१२१ देवा धीरोद्धता ज्ञेया धीरोदात्ता नृपादयः ।
अमात्यसेनापतयो ललिताश्च स्वभावतः ।।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजश्च ये ।
कथारसवशात्तेऽपि व्यत्यस्ताः स्युः क्वचित्क्वचित् ।।

१२२ नायकानामथैतेषा चत्वारः स्युर्विदूषकाः ।
विदूषकस्तु देवानां सत्यावाक्च त्रिकालवित् ।।
कृत्याकृत्यविशेषज्ञ ऊहापोहविशारदः ।
यथादृष्टार्थवादी च नाट्यवित्परिहासकः ।।
विदूषकस्तु भूपानामग्राम्यपरिहासकः ।
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धश्च देवीपरिजनप्रियः ।।
ईर्ष्याकलहकारी स्यादन्तःपुरचरः सदा ।
नर्मवित्प्रणयक्रोधे देव्याः किञ्चित्प्रसादकः ।।

(समर्पण)

१२० लीलापूर्वक उलाहना देना 'समर्पण' कहा जाना है। जैसा कि वह समर्पण '[४५] धन्या केय स्थिता ', अर्थात् "भगवान शकर ने पार्वती द्वारा पूछे गये प्रश्न पर कि सिर पर कौन स्त्री है ? गगा को छिपाने की इच्छा से लीला-पूर्वक शशिकला का नाम लिया।" इत्यादि मे देखा जाता है।
इस प्रकार डोम्बी के अगो का अवलोकन कर यथार्थ का प्रयोग करना चाहिए।

(नायक-जाति)

१२१ देवता जाति के पात्र "धीरोद्धत" नायक कहे जाते हैं। राजा आदि पात्र 'धीरोदात्त' नायक कहे जाते है। मत्री, सेनापति आदि स्वभाव से 'धीर-ललित' जाति के नायक कहे जाते है। जो ब्राह्मण और वणिक् (वैश्य) पात्र होते है, वे 'धीर-प्रशान्त' जाति के नायक जाने जाते हे। कहीं-कही कथा और रस के कारण नायक-जाति की यह व्यवस्था वदल भी जाती है।

१२२ इन चार प्रकार के नायको के विदूषक भी चार प्रकार के होते हैं। देवता पात्र का विदूषक सत्यवादी, त्रिकालज्ञ, कृत्याकृत्य-विशेषज्ञ, ऊहापोह-विशारद (विचार-विमर्श मे प्रवीण), जैसा देखे वैसा कहने वाला (यथादृष्टार्थवादी), नाट्य-विद् और परिहासक होता है। राजा का विदूषक अग्राम्य-परिहासक (असभ्य मजाक करने वाला), धन और स्त्रियो के प्रति पवित्र (शुद्ध), देवी (रानियो) की सेविकाओं के लिए प्रिय, ईर्ष्या और कलह कराने वाला तथा

भूपतेर्भोगिनीनां च मिथः प्रीति रतिं तथा ।
क्वचिच्च घटयत्येव क्वचिद्विघटयत्यपि ॥
विदूषकश्च भूपानामेवमादिगुणो भवेत् ।
१२३ अश्लीलवाक्च दम्पत्योरपराधं व्यनक्ति च ।
भक्ष्याभक्ष्यप्रियो नित्यं मर्मस्पृङ्नर्म वक्ति च।
अर्थलाभे प्रीतिदानं रमयत्येव भोगिनीः ॥
परिहासप्रायवाक्यः परिहासकथारुचिः ।
एवमादिरमात्यादेर्विदूषकगुणक्रमः ॥
१२४ शठो विरूपवेषश्च विरूपाङ्गवचःक्रमः ।
विरूपपरिहासश्च विरूपाभिनयान्वितः ॥
इत्यादिभिर्गुणैर्युक्तो वणिजश्च विदूषकः ॥
१२५ दिव्यमर्त्यमयी यत्र क्रियते कविभिः कथा ।
आख्यायिकैव सोच्छ्वासाऽथाङ्कावन्दुरिति स्मृता(?) ॥
१२६ यत्र श्रुतीतिहासार्थाः पेशला वाप्यपेशलाः ।
निबद्धा वर्णनोपेताः सर्गबन्धः स इष्यते ॥

सर्वदा अन्त पुर मे विचरण करने वाला होता है। यह नर्मविद् देवी को प्रणय-क्रोध मे कुछ प्रसन्न करने वाला होता है, तथा भूपति (राजा) और महारानी के बीच परस्पर प्रीति और रति-भाव को कही जागरित करता है और कही फूट डाल देता है। राजा का विदूषक इस प्रकार के गुणो से युक्त होता है।

१२३ जो अश्लील वाक्य बोलता है, दम्पत्ति (नायक व नायिका) के अपराध को व्यक्त करता है, जो भक्ष्याभक्ष्य-प्रेमी होता है, नित्य मर्मस्पर्शी तथा नर्म वचन बोलता है। अर्थलाभ होने पर प्रीतिपूर्वक दान देता है, भोगिनी के साथ रमण करता है। जो प्राय हास्यास्पद वाक्य और हास्यास्पद कथा मे रुचि रखता है आदि इस प्रकार के गुणो से युक्त विदूषक अमात्य आदि का होता है।

१२४ शठ, विरूप वेशधारण करने वाला, निरूपाग, ऊटपटाग बोलने वाला, ऊट-पटाग हँसी करने वाला, ऊटपटाग अभिनय करने वाला आदि गुणो से युक्त विदूषक वैश्य का होता है।

(आख्यायिका)

१२५ जिसमे कविजनो द्वारा दिव्य और मनुष्य-सम्बन्धी कथा वर्णित की जाती है, उसे 'आख्यायिका' कहते है, यहाँ कथा-भागो का नाम 'उच्छ्वास' या फिर 'अक' या 'अवन्दुर' रखा जाता है (?)।

(सर्गबन्ध काव्य)

१२६ जो काव्य श्रुति और इतिहास सम्बन्धी कोमल या अकोमल अर्थो वाले वर्णन से युक्त होता है, उसे 'सर्गबन्ध' कहते है।[1]

१२७ सर्गबन्धेन तुल्यो यः प्राकृतेन निबध्यते ।
आश्वासबन्धः स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥

१२८ अपभ्रंशेन बद्धो यः मात्राच्छन्दोभिरन्वितः ।
स सन्धिबन्धो विज्ञेयो यथाऽब्धिमथनादिकः ॥

१२९ वृत्तान्ता विप्रकीर्णाः स्युः संहिता यत्र कोविदैः ।
सा संहितेत्यभिहिता रघुवंशो यथा कृतः ॥

१३० यत्र श्लोककृतो युक्तिसमुदायो रसान्वितः ।
एकप्रघट्टके सोऽयं सङ्घात इति कथ्यते ॥

१३१ नानाप्रघट्टकैर्बद्धः कोश इत्यभिधीयते ।

१३२ आख्यायिका च शास्त्रं च गद्येनैवाभिधीयते ॥
महाकाव्यादि पद्येन ताभ्यां चम्पूर्निबध्यते ।
प्राकृतेन कृते काव्ये लम्बच्छेदः प्रशस्यते ॥
विवक्षितार्थक्रमवत्कोशे पद्धतिरिष्यते ।
मन्त्रार्थगुम्फनप्राये सन्दर्भे पटलं भवेत् ॥
यत्र लक्षणमुच्येत परिच्छेदोऽत्र लक्ष्यते ।

(आश्वास-बन्ध)

१२७ सर्गबन्ध के समान जो काव्य प्राकृत (भाषा) मे निवद्ध होता है, वह 'आश्वास-बन्ध' कहलाता है। जैसे—सेतुबन्ध।[47]

(सन्धिबन्ध)

१२८ अपभ्र श-भाषा मे निबद्ध जो काव्य मात्रिक-छन्द से युक्त होता है, उसे 'सन्धि बन्ध' जाना जाता है। जैसे—अब्धिमथन आदि।[48]

(संहिता)

१२९ कवि द्वारा यत्र-तत्र बिखरी हुई कथा को एक स्थान पर वर्णित कर देना 'सहिता' कहलाती है। जैसे—रघुवश।

(संघात)

१३० जब किसी एक घटना को युक्तियो के समूह और रस से युक्त कर श्लोकबद्ध कर दिया जाता है, उसे 'सघात' कहा जाता है।

(कोश)

१३१ अनेक घटनाओ से निबद्ध 'कोश' कहलाता है।

१३२ आख्यायिका और शास्त्र केवल गद्य मे ही लिखे जाते हैं, महाकाव्य आदि पद्य मे रचे जाते है तथा चम्पू-काव्य गद्य और पद्य मे निबद्ध किये जाते हैं। प्राकृत-भाषा मे निबद्ध काव्य के विच्छेद को 'लम्ब' कहा जाता है। कोश मे विवक्षित-अर्थ के क्रम के समान 'पद्धति' होती है। मन्त्र और अर्थ से गुम्फित सन्दर्भ मे 'पटल' होता है। जिस काव्य मे लक्षण कहे जाये, वहाँ 'परिच्छेद'

ग्रन्थस्य दुर्बोधार्थस्य व्याख्या यत्राभिधीयते ॥
तत्राधिकार इति च विच्छेदः कथ्यते बुधैः ।
शास्त्रेषु तत्तदर्थस्य नाम्ना वाद इतीरितः ॥
अध्यायैर्वा पर्वभिर्वा पुराणच्छेदकल्पना ।
अध्यायैरितिहासादौ विच्छेदः कथ्यते बुधैः ॥
उच्छ्वासाश्वासविच्छेदग्रन्थाः स्युर्यमकादयः ।
अङ्कच्छेदो विधातव्यः प्रबन्धेऽभिनयात्मके ॥
१३३ इत्यादिभेदा दृश्यन्ते विच्छेदस्य क्वचित्क्वचित् ।
केचिद्दर्शनसिद्धाश्च केचित्सामयिका अपि ।
इत्यादि सर्वमवधार्य कविः प्रबन्धं
कुर्याद्यथा बुधजनः शृणुयात्सुखेन ।
विद्वज्जनश्रवणवर्त्मसुखात्प्रबन्धो
नेतुः कवेरपि विधास्यति भुक्तिमुक्ती ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नृत्यभेदस्वरूपप्रकारनिर्णयो
नाम नवमोऽधिकारः ।

रखा जाता है । जहाँ ग्रन्थ के दुर्बोध अर्थ की व्याख्या की जाती है, वहाँ 'विच्छेद' को विद्वान 'अधिकार' कहते है । शास्त्रो मे उस-उस अर्थ के नाम से 'वाद' कहा जाता है । पुराण-विच्छेद अध्यायो और पर्वों से कल्पित होता है । विद्वान लोग इतिहास आदि मे विच्छेद को 'अध्याय' कहते हैं । उच्छ्वास, आश्वास नामक विच्छेद वाले ग्रथ यमक आदि अलकारो से युक्त होते है । अभिनयात्मक-प्रबन्ध (नाट्य-ग्रथ) मे विच्छेद 'अक' से जानना चाहिए ।

१३३ काव्य विच्छेद के इत्यादि भेद देखे जाते हैं । कही-कही कोई दर्शन-सिद्ध होते हैं और कोई सामायिक होते है । इस प्रकार इत्यादि सभी भेदो को हृदय मे धारण करके कवि को अपना प्रबन्ध तैयार करना चाहिए, जिससे बुधजन उसे सुखपूर्वक सुने । विद्वानो के श्रवण मात्र से प्राप्त सुख से प्रबन्ध नायक तथा कवि दोनो को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करेगा ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे नृत्य-भेद-स्वरूप-प्रकार निर्णय नामक नवम अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

अथ दशमोऽधिकारः

---

१ उक्ता नाटचस्य नृत्तस्य भेदाः सर्वे यथार्थतः ।
भरतादिभिराचार्यैः प्रणीतेनैव वर्त्मना ॥
मार्गदेशीविभागेन ते द्विधा परिकीर्तिताः ।
तेषां प्रबन्धभेदानां प्रयोगक्रम उच्यते ॥

२ पुरा मनुर्महीपालः सप्तद्वीपवतीं भुवम् ।
पालयन्दुर्भरेणास्या भारेणा श्रान्तचेतनः ॥
केनास्य भूमिभारस्य विश्रान्तिसुखमाप्नुयाम् ॥
इति सञ्चिन्त्य पितरं सवितारमुदैक्षत ॥
तदैवाभ्यागमत्तत्र भास्करः पुत्रवत्सलः ।
मनुर्न्यवेदयत्तस्मै भूभारक्लेशमात्मनः ॥
स मनोर्भारखिन्नस्य विश्रामोपायमब्रवीत् ।

३ पुरा दुग्धाब्धिनाथस्य नाभीकमलसम्भवः ॥
ब्रह्माऽसृजदिमान् लोकान् जङ्गमस्थावरात्मकान् ।

---

१ नाट्य तथा नृत्य के सभी भेद यथार्थत कह दिये। भरतादि आचार्यों द्वारा प्रणीत मार्ग से वे सभी मार्ग और देशी भेद से दो प्रकार के कहे जाते हैं, उन प्रबन्ध-भेदो का प्रयोग-क्रम कहते हैं।

२ प्राचीन काल मे राजा मनु सात-द्वीप वाली पृथ्वी का पालन करते हुए, उस (पृथ्वी) के दुर्भर बोझ से थके मन वाले ऐसा सोचते हुए कि 'किस प्रकार इस भूमि-भार से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करूँ ?' —अपने पिता सूर्य की प्रतीक्षा करने लगे। तो उसी समय पुत्र-वत्सल सूर्य वहाँ आ गये। मनु ने अपने पिता सूर्य से भूमि-भार से उत्पन्न अपने क्लेश (दु ख) का निवेदन किया। सूर्य ने भूमि-भार से खिन्न मन वाले मनु को विश्रान्ति-प्राप्ति का उपाय बताया

३ प्राचीन काल मे भगवान विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने जगम-स्थावर स्वरूप इन लोको की सृष्टि की। इन सभी लोको के पालन-पोषण रूपी व्यापार से खिन्न (दु खी) होकर ब्रह्मा विश्रान्ति-सुख-प्राप्ति की इच्छा

एतेषां पालनायासव्यापारपरिखेदितः ।।
विश्रान्तिसुखमन्विच्छन्नुपागच्छच्छ्रियः पतिम् ।
प्रजापालनखेदस्य विश्रामाय व्यजिज्ञपत् ।।
अचिन्तयद्देवदेवः श्रान्तं वीक्ष्यात्मसम्भवम् ।
केनैवास्य विनोदेन विश्रामः सम्भवेदिति ।।
विचिन्त्य भावं स्वक्षेत्रभाविनं विधिमब्रवीत् ।
गच्छ ब्रह्मन् पुरारातिमम्बिकापतिमीश्वरम् ।।
स ते विश्रान्तिसुखदमुपायमुपदेक्ष्यति ।
इत्थमाज्ञापितो ब्रह्मा देवदेवमुमापतिम् ।।
अभिष्टूयात्मनः खेदं सर्वं तस्मै व्यजिज्ञपत् ।
विज्ञाय शम्भुस्तत्खेदं नन्दिकेश्वरमभ्यधात् ।।
मत्सकाशादधीतं त्वं नाट्यवेदमशेषतः ।
अध्यापयैनं ब्रह्माणं सप्रयोगं सविस्तरम् ।।
स तथेत्यब्जजन्मानमध्यापयदशेषतः ।
अध्याप्यावोचदेतस्य वेदस्यैव प्रयोगतः ।।
जगतां पालनायासविश्रान्तिसुखमाप्नुहि ।

से भगवान लक्ष्मीपति (विष्णु) के पास गये और प्रजा-पालन के दुःख से विश्राम प्राप्त करने के लिए निवेदन किया। देवेश (विष्णु) आत्मज ब्रह्मा की थकान को देखकर सोचने लगे कि 'किस विनोद (मनोरंजन) से इस (ब्रह्मा) को विश्रान्ति प्राप्त हो ?'—ऐसा सोचते हुए विष्णु स्व-क्षेत्र-सम्भव ब्रह्मा से बोले—ब्रह्मन् ! तुम त्रिपुरारी, अम्बिकापति भगवान शंकर के पास जाओ, वह तुमको विश्रान्ति-सुख-प्राप्ति का उपाय बतायेंगे। इस प्रकार आज्ञापित ब्रह्मा ने देवदेव, उमापति भगवान शंकर की स्तुति कर, उनसे अपने समस्त दुःख का निवेदन किया। शंकर ने ब्रह्मा के दुःख को समझकर अपने शिष्य नन्दिकेश्वर को आज्ञा दी कि हे नन्दिकेश्वर ! तुमने मुझसे समस्त नाट्य-वेद का अध्ययन किया है अतः तुम ब्रह्मा को प्रयोग और विस्तार के साथ नाट्यवेद पढाओ। नन्दिकेश्वर ने—'तथेति'—ऐसा कहकर कमल-सम्भव-ब्रह्मा को सम्पूर्ण नाट्य-वेद पढाया और नाट्य-वेद पढाकर बोले कि—इस नाट्य-वेद के प्रयोग से तुम लोकों के पालन-पोषण से उत्पन्न दुःख से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करो।

४ इत्थं स नन्दिनाऽऽज्ञप्तः समागम्य स्वमन्दिरम् ॥
नाट्यवेदप्रयोक्तारं भारतीसहितोऽस्मरत् ।
स्मृतमात्रे मुनिः कश्चिच्छिष्यै. पञ्चभिरन्वितः ॥
पुरोऽवतस्थे भारत्या सहितस्याब्जजन्मनः ।
तानब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः ॥
तेऽधीत्य नाट्यवेदं तत्प्रयोगांश्च पृथग्विधान् ।
पुरावृत्तानि देवानां प्रबन्धेषूपदिश्य ते ॥
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च पृथग्विधैः ।
नाट्यवेदोदितैः सम्यक्पद्मयोनिमतूतुषन् ॥
तुष्टस्तेभ्यो वरं प्रादादभीष्टं पद्मविष्टरः ।
नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयेरितम् ॥
तस्माद्भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये ।
नाट्यवेदोऽपि भवतां नाम्ना ख्यातिं गमिष्यति ॥
इत्यादिश्य ततो ब्रह्मा तैरेव भरतैः सह ।
विनोदयति लोकानां रक्षाव्यसनजं श्रमम् ॥

५ त्वमप्याराध्य तं देवं मनो ब्रह्माणमच्युतम् ।
विज्ञाप्य वसुधाभारक्लेशविश्रामहेतवे ॥

---

४ इस प्रकार ब्रह्मा ने नन्दिकेशर से आज्ञा प्राप्त कर और अपने स्थान (मन्दिर) पर आकर भारती सहित नाट्यवेद के प्रयोक्ताओ का स्मरण किया । स्मरण मात्र से पाँच शिष्यो से युक्त कोई मुनि भारती सहित ब्रह्मा के सम्मुख उपस्थित हुए । पितामह (ब्रह्मा) उनसे बोले कि—'नाट्यवेद भरत' अर्थात् तुम लोग नाट्यवेद धारण करो । उन्होने नाट्यवेद तथा उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगो का अध्ययन कर और देवताओ की प्राचीन कथाओ का प्रबन्धो मे सकलन कर नाट्यवेद से उदित रस, भाव, अभिनय और भिन्न-भिन्न प्रयोगो से ब्रह्मा को भलीभाँति प्रसन्न किया । ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उन सभी को अभीष्ट वर प्रदान किया और बोले—मैने यह जो कहा था कि 'नाट्यवेद भरत' अर्थात् 'तुम लोग नाट्यवेद धारण करो', उससे तीन लोक मे तुम्हारा नाम 'भरत' होगा और नाट्यवेद भी आप लोगो के नाम से ख्याति प्राप्त करेगा । ऐसा आदेश देकर तदनन्तर ब्रह्मा उन्ही भरतो के साथ लोक-रक्षा रूपी व्यसन से उत्पन्न श्रम से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करते है ।

५ हे मनु ! तुम भी उन देव (शकर) की आराधना कर और अच्युत ब्रह्मा से निवेदन कर, भूमि-भार से उत्पन्न दु ख से विश्राम प्राप्त करने के लिए उन

तेन प्रणीतैर्भरतप्रयोगैर्भुविकल्पितैः ।
आत्मानं भूभरश्रान्तं विनोदय यथासुखम् ॥
६ इत्थमादिश्य च मनुं दिनेशस्त्रिदिवं ययौ ।
मनुर्ब्रह्मसदोऽभ्येत्य प्रणिपत्य पितामहम् ॥
आत्मनो भूभरश्रान्ति व्यजिज्ञिपदशेषतः ।
चतुर्मुखोऽपि विज्ञाय मनोर्भूमिभरक्लमम् ॥
आहूय भरतान् सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
यात यूयं महीं विप्रा मनुना त्रिदिवादितः ॥
भारतं वर्षमाश्रित्य वर्तध्वं मनुना सह ।
इति सञ्चोदितास्तेन भरताः पद्मयोनिना ॥
अयोध्यां मानवेन्द्रेण मनुना सार्धमाययुः ।
तत्र राजर्षिचरितं पुरा कल्पान्तरे कृतम् ॥
प्रबन्धेषूपदिश्यैतत्तत्तन्नेतृपरिच्छदम् ।
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च विचित्रितैः ॥
नाट्यवेदोपदिष्टेन सदा सङ्गीतवर्त्मना ।
भूभारवहनश्रान्ति मनोः सम्यगपानुदन् ॥
परिगृह्य ततः शिष्यान्भरतान्कांश्चन द्विजान् ।
देशे देशे नरेन्द्राणां विनोदं तैरचीकरत् ॥
तत्र प्रयुक्तसङ्गीतं देशरीतिपरिष्कृतम् ।
प्रयोगाणां च वैचित्र्याद्देशीत्याख्यामुपागमत् ॥

ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत पृथ्वी पर कल्पित भरत-प्रयोगो से अपनी भू-भार की थकान को दूर करो और यथासुख मनोरजन करो ।

६ इस प्रकार सूर्य मनु को आदेश देकर स्वर्ग-लोक चले गये । मनु ने ब्रह्मा के लोक मे जाकर और पितामह को प्रणाम कर अपनी भू-भार की समस्त थकान का निवेदन किया । ब्रह्मा ने भी मनु की भूमि-भार से उत्पन्न खिन्नता को समझकर, सभी भरतो का आह्वान कर इस प्रकार कहा—तुम सब विप्र मनु के साथ स्वर्ग से पृथ्वी पर जाओ और भारतवर्ष के आश्रित होकर मनु के साथ वास करो । ब्रह्मा के इस प्रकार कहने पर भरत मानवेन्द्र मनु के साथ अयोध्या आ गये । वहाँ पूर्व-कल्प मे एक राजर्षि का चरित हुआ था, उस चरित को प्रबन्ध मे रचकर, उस-उस नेता की वेशभूषा धारण कर रस, भाव, अभिनय और विचित्र प्रयोगो से, नाट्यवेद मे कहे गये सगीत के मार्ग से उन भरतो ने मनु की भूभार से उत्पन्न थकान को दूर किया । तदनन्तर कुछ द्विज भरत-शिष्यो को ग्रहण कर उन भरतो ने देश-देश मे राजाओ का मनोरजन किया । वहाँ पर प्रयुक्त हुआ सगीत देश की रीति से अलकृत किया गया था अत प्रयोगो की विचित्रता के कारण उसे 'देशी' नाम से कहा गया ।

७ नाटचवेदाच्च भरताः सारमुद्धृत्य सर्वतः ।
सङ्ग्रहं सुप्रयोगार्हं मनुना प्रार्थिता व्यधुः ।।
एकं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाटचवेदस्य सङ्ग्रहः ।।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः ।
यदिदं भारते वर्षे मनुना सुप्रकाशितम ।।

८ सङ्गीतशास्त्रं सर्वत्र राज्ञां विश्रान्तिसौख्यदम् ।
तस्मादिदं विनोदार्थं राज्ञामेव पुरा कृतम् ।।
विश्रमाय महीभारविश्रान्ताना सुखप्रदम् ।
अस्य सङ्गीतशास्त्रस्य प्रयोक्तॄणां च लक्षणम् ।।
स्वरूपं कर्म चैतेषां यथावत्प्रतिपाद्यते ।

९ सूत्रधारः प्रथमतो नटः पश्चात्ततो नटी ।।
स पारिपार्श्विकः पश्चात्ततस्ते च कुशीलवाः ।
विदूषकेण सहिता नाटचकर्मोपयोगिनः ।।

१० नाटचकर्मप्रयोक्ता यः स तद्विद्भिरुदीर्यते ।
शैलूषो भरतो भावो नट इत्यादिनामभिः ।।

११ नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः ।
भूमिकास्ताः प्रविश्यातः शैलूष इति कथ्यते ।।

---

७ मनु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भरतो ने नाट्य-वेद से सर्वत सार को उद्धृत करके सुष्ठु प्रयोगो के योग्य एक सग्रह तैयार किया । जिसमे एक बारह हजार श्लोको से युक्त था और एक उसका आधा अर्थात् ६ हजार श्लोको से युक्त था । ६ हजार श्लोको से युक्त जो नाट्य-वेद का सग्रह था, उनका नाम भरतो के नाम से 'भरत' प्रसिद्ध हुआ । जो यह भारतवर्ष मे मनु के द्वारा प्रकाशित किया गया ।[१]

८ सगीत-शास्त्र सर्वत्र राजाओ को विश्रान्ति-सुख प्रदान करता है । इसलिए यह राजाओ के ही मनोरजन के लिए पहले कहा जाता है। भूमि-भार का वहन करने से थके मन वालो के विश्राम के लिए सुख प्रदान करता है। इस सगीतशास्त्र के तथा प्रयोक्ताओ के लक्षण, स्वरूप और कर्म यथावत् प्रतिपादित करते है ।

९ सूत्रधार, नट, नटी, पारिपार्श्विक तथा कुशीलव विदूषक सहित नाट्यकर्म के उपयोगी पात्र कहे जाते हैं ।

१० नाट्य-कर्म का जो प्रयोक्ता है वह उन विद्वानो द्वारा शैलूष, भरत, भाव, नट इत्यादि नामो से पुकारा जाता है ।

(शैलूष)

११ नाट्य मे जो उन दूसरे रूपो को धारण कर विभिन्न-स्वभाव वाले लोक के भावो को प्रकट करता है, वह 'शैलूष' कहलाता है ।

१२ भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम् ।
वेषं वयः कर्म चेष्टां बिभ्रद्भरत उच्यते ॥

१३ अतीतं लोकवृत्तान्तं रसभावसमन्वितम् ।
स्वभाववन्नाटयति यतस्तस्मान्नटः स्मृतः ॥

१४ सूत्रयन्काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान् ।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥

१५ आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोच्यते ॥

१६ भरतेनाभिनीतं यद्भावं नानारसाश्रयम् ।
परिष्करोति पार्श्वस्थः स भवेत्पारिपार्श्विकः ॥

१७ चतुरातोद्यविद्वाग्मी प्रियवाग्गीततालवित् ।
उपधार्यं प्रयोक्ता यः स सूत्रधृगितीरितः ॥

१८ उज्ज्वला रूपवन्तश्च नृपोपकरणक्रियाः ।
मेधाविनो विधानज्ञा स्वस्वकर्मणि पण्डिताः ॥

(भरत)

१२ भाषा, वर्ण तथा उपकरण से विभिन्न-प्रकृति से उत्पन्न वेष, अवस्था, कर्म और चेष्टा को धारण करने के कारण 'भरत' कहा जाता है।

(नट)

१३ जो रस और भाव से युक्त अतीत लोकवृत्त का स्वभाववत् अभिनय करता है, उसे 'नट' कहते हैं।

(सूत्रधार)

१४ नान्दी-श्लोक के द्वारा नान्दी के अन्त मे काव्य मे निक्षिप्त वस्तु, नेता, कथा तथा रस को सूत्र मे धारण करने वाला 'सूत्रधार' कहलाता है।

१५ नेता, कवि और वस्तु के गुणो को सूत्र रूप मे धारण करता हुआ जो रगमच के प्रसाधन मे प्रौढ होता है, वह 'सूत्रधार' कहलाता है।

(पारिपार्श्विक)

१६ जो पार्श्वस्थ (सूत्रधार का सहायक) भरत द्वारा अभिनीत, विभिन्न रसो के आश्रित भाव का परिष्कार करता है, वह 'पारिपार्श्विक' कहलाता है।

(सूत्रधार)

१७ जो चार प्रकार के आतोद्य (विधान) को जानने वाला, वाक्पटु (वाग्मी), प्रिय बोलने वाला, गीत तथा ताल का ज्ञाता, उपधार्य तथा प्रयोक्ता होता है, वह 'सूत्रधार' कहलाता है।

(नट)

१८ जो उज्ज्वल, रूपवान, राजोचित क्रियाओ मे कुशल, मेधावी, विधान को जानने वाले, अपने-अपने कर्म मे पण्डित, सूत्रधार का हित करने वाले, दक्ष,

सूत्रधारहिता दक्षायथोद्देशप्रयोगिनः ॥
एभिरेव गुणैर्युक्ता नटा नाट्ये भवन्ति हि ॥
१९ भूमिकाभिरनेकाभिः कर्मवागङ्गचेष्टितैः ।
यथाप्रकृतिसन्धानकुशलास्ते कुशीलवाः ॥
चतुरातोद्यभेदज्ञास्तत्कलासु विशारदाः ।
करणाभिनयज्ञाश्च सर्वभाषाविचक्षणाः ॥
२० नटानुयोक्त्री कृत्येषु नटस्य गृहिणी नटी ।
२१ विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेषूपयुज्यते ॥
विटश्च कामसाचिव्यकरणेनोपयुज्यते ।
२२ तदात्वप्रतिभो नर्मचतुर्भेदप्रयोगवित् ॥
वेदविन्नर्मवेदी यो नेतुः स स्याद्विदूषकः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूकविभूषितः ॥
पिङ्गकेशो हरिश्मश्रुर्नर्तकश्च विदूषकः ।

यथोद्देश प्रयोग करने वाले—इन गुणो से युक्त होते है, वे नाट्य मे 'नट' कहलाते हैं।

(कुशीलव)

१९ जो अनेक प्रकार की भूमिकाओ (दूसरे पात्रो के रूप को धारण करने) से तथा कर्म, वाचिक और आंगिक चेष्टाओ से स्वभावोचित कार्य करने मे कुशल होते हैं, वे 'कुशीलव' कहलाते है। ये चार प्रकार के आतोद्य (विधान) के भेद को जानने वाले, उनकी कलाओ मे प्रवीण (विशारद), करण और अभिनय के ज्ञाता तथा सभी भाषाओ के विशेषज्ञ होते हैं।

(नटी)

२० कार्यो मे नट की वैतनिक-अध्यापिका (अनुयोक्त्री) और नट की गृहिणी 'नटी' कहलाती है।

२१ विदूषक का उपयोग सर्वत्र मनोरजन के लिए होता है और विट काम-सार्चिव्य कार्य के लिए उपयुक्त होता है।

(विदूषक)

२२ तात्कालिक-प्रतिभा से सम्पन्न, नर्मविद्, चार प्रकार के प्रयोगो (कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) को जानने वाला, वेदविद् तथा नर्म (केलि-क्रीडा) को जानने वाला—जो नायक का सहायक होता है, वह 'विदूषक' कहलाता है। गजा, भूरी (पिंगल) आँखो वाला, हास्यास्पद स्वभाव से विभूषित, भूरे केशो वाला, शेर जैसी दाढी-मूँछ वाला तथा नर्तक, 'विदूषक' होता है।

२३ वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ॥
प्रतिपत्तिपरो वाग्मी चतुरश्च विटो मतः ।
माल्यभूषोज्ज्वलः कुप्यत्यनिमित्तं प्रसीदति ॥
विटः प्राकृतवादी च प्रायो बहुविकारवान् ।
एते नाट्यप्रयोक्तारो राज्ञां स्युः सुखभोगिनाम् ॥

२४ प्रथमं तस्य(त्र)राजानं प्रकृतिं च त्रिधा स्थिताम् ।
महिषीञ्च महादेवीं देवीञ्च सहभोगिनीम् ॥
आश्रितां नाटकीयाञ्च कामुकां शिल्पकारिकाम् ।
विज्ञाय चान्तःपुरिकाः पश्चाच्च परिचारिकाः ॥
शय्यापाली छत्रपाली तथा चामरधारिणीम् ।
संवाहिकां गन्धयोक्त्री माल्याभरणयोजिके ॥
एता विज्ञाय तत्पश्चाद्विद्यात्तदनुचारिकाः ।
नानाकक्ष्यामधिष्ठात्र्यः तथोपवनभूमिकाः ॥
देवतायजनक्रीडाहर्म्यप्रासादमालिकाः ।
एता विज्ञाय भूपानां विद्यात्सञ्चारिका अपि ॥
वीटिकादायिनीर्वेत्रधारिणीरसिधारिणीः ।
आह्वायिकाः प्रेक्षणिकास्तथा यामिनिकीरपि ॥

(विट)

२३ वेश्याओ की सेवा-शुश्रुषा करने मे कुशल, मधुर, दक्षिण (चतुर), कवि, समादृत (सम्मानित), वाक्पटु तथा चतुर 'विट' कहलाता है। माला तथा आभूषण से उज्ज्वल (सुशोभित), अकारण क्रोध करने वाला और हँसने वाला, प्राकृत-भाषा बोलने वाला तथा प्राय बहु-विकारो से युक्त 'विट' होता है। ये सुख-भोगी राजाओ के नाट्य प्रयोक्ता होते है।

२४ सर्वप्रथम वहाँ राजा, तीन प्रकार की विद्यमान प्रकृति, महिषी, महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका तथा शिल्पकारका—इन अन्त पुरिकाओ को जानकर, पुन , शय्यापाली, छत्रपाली, चामरधारिणी, सवाहिका, गन्धयोक्त्री, मालायोक्त्री तथा आभरणयोक्त्री—इन परिचारिकाओ को जानकर, तत्पश्चात्, विभिन्न कक्षो की अधिष्ठात्रियो, उपवन की अधिष्ठात्रियो तथा देवता, यज्ञ, क्रीडा, महल (हर्म्य) और प्रासाद की अधिष्ठात्रियो—इन अनुचारिकाओ को जानकर, तदनन्तर, वीटिकादायिनियो (पान देने वालियो), वैत्रधारिणियो, असिधारिणियो (तलवार धारण करने वालियो), आह्वायिकाओ, प्रेक्षणिकाओ तथा यामिनियो—इन सचारिकाओ को जानना चाहिए।

२५ एताः सञ्चारिका राज्ञस्तथैता ह्यनुचारिकाः ।
अवियुक्ताश्चरन्त्येताः सर्वावस्थासु भूभृतः ॥

२६ महत्तर्यः प्रतीहार्यो वृद्धा आयुक्तिका अपि ।
कञ्चुकीया वर्षवराः किराताः कुब्जवामनाः ॥
औपस्थापकिनिर्मुण्डा अभ्यागाराश्च मूकिनः ।
एते ह्यन्तःपुरचरास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥

२७ अभिगम्यगुणोपेतो नेता वा प्रेक्षकोऽपि वा ।
विजिगीषुर्महोदात्तः सम्यक्सङ्गीतवेदिता ॥
चतुर्णामपि वर्णानां राजा सङ्गीतमर्हति ।
तस्य त्रिधा स्यात्प्रकृतिरुत्तमाधममध्यमा ॥

२८ स्त्रीणां तथा स्यादेतासां शीलं भावान्विशेषतः ।
ज्ञात्वा ततस्ताः प्रकृतीः सुखेनाभिनयेन्नटः ॥

२९ मूर्धाभिषिक्ता महिषी तुल्यशीलकुलान्विता ।
अनभिज्ञा सपत्नीनां सहधर्मचरी भवेत् ॥

३० अन्तःपुरहिता साध्वी शान्तिस्वस्त्ययनैर्युता ।
अनीर्ष्या पतिशीलज्ञा महादेवी पतिव्रता ॥

---

२५ राजा की ये सचारिकाये तथा अनुचारिकायें राजा की सभी अवस्थाओ मे अवियुक्त होकर विचरण करती है ।

२६ महत्तरी, प्रतीहारी, वृद्धा, आयुक्तिका, कञ्चुकीय, वर्षवर, किरात, कुबडे, बौने, औपस्थापिक, निर्मुण्ड (सन्यासी), अभ्यागार तथा गूँगे—ये अन्त पूरचर अन्त पुर मे रहने वाले) है ।
अब उनके लक्षण कहते हैं ।

२७ पूज्य-गुणो से युक्त नेता या प्रेक्षक, विजय की इच्छा करने वाला, उदात्त प्रकृति वाला, सगीत शास्त्र को भलीभाँति जानने वाला, चारो वर्णो का राजा सगीत के योग्य होता है । उसकी तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम ।

२८ इसी प्रकार (राजा की) स्त्रियो की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम । नट विशेष-रूप से इन (स्त्रियो) के शील और भावो को, तदनन्तर उन प्रकृतियो को जानकर सुखपूर्वक अभिनय करे ।

(महिषी)

२९ मूर्धाभिसिक्ता, समान शील तथा कुलवाली, सपत्नियो से अनभिज्ञ, सहधर्मचारिणी राजा की स्त्री 'महिषी' कहलाती है ।

महादेवी

३० अन्त पुर का हित करने वाली, साध्वी, शान्ति तथा स्वस्त्ययन से युक्त, ईर्ष्या न करने वाली, पति के शील-स्वभाव को जानने वाली, पतिव्रता राजा की स्त्री 'महादेवी' कहलाती है ।

३१ एभिर्गुणैर्युता किञ्चित्तत्सत्कारविवर्जिता ।
गर्विता रतिसम्भोगतत्परा च समत्सरा ॥
रूपयौवनसम्पन्ना राज्ञा देवीति कथ्यते ।
३२ नित्यं प्रसाधनवती शीलरूपगुणान्विता ॥
स्वयं प्रवृत्तसुरता प्रवृत्ते भोगवर्त्मनि ।
सपत्नीनामसहना भोगिनीति निगद्यते ॥
३३ भोगोपस्करसंस्कर्त्री नृपतेश्छन्दवर्तिनी ।
गतेर्ष्या भोगकुशला दयालुश्चाश्रिता भवेत् ॥
३४ नृपतेर्गीतवस्तूनि गायिनी रतिमन्दिरे ।
स्वाभिः शृङ्गारचेष्टाभिः पत्युर्मन्मथवर्धिनी ॥
मुखपाठेन नृत्यन्ती नाटकीयेति कथ्यते ।
३५ निषीदन्तं निषीदन्ती गच्छन्तमनुयायिनी ॥
भुञ्जानमनुभुञ्जाना शयानमनुशायिनी ।
सा कामुकेति विज्ञेया देशकालानवेक्षिणी ॥

(देवी)

३१ इन (उपर्युक्त) गुणो से युक्त, कुछ उस सत्कार से वचित, गर्विता, रति-क्रीडा मे तत्पर रहने वाली, मत्सर-युक्त तथा रूप-यौवन से सम्पन्न राजा की स्त्री 'देवी' कहलाती है ।

(भोगिनी)

३२ नित्य शृगार करने वाली, शील, रूप तथा गुणो से सम्पन्न, भोग मे प्रवृत्त होने पर स्वय सुरत मे प्रवृत्त होने वाली, सपत्नियो को सहन न करने वाली रानी 'भोगिनी' कही जाती है ।

(आश्रिता)

३३ भोग की सामग्री का सस्कार करने वाली, राजा के अनुकूल रहने वाली, ईर्ष्यारहिता, भोग मे कुशल तथा दयालु रानी 'आश्रिता' कहलाती है ।

(नाटकीया)

३४ सुरत-महल मे राजा के गीत-भाव को गाने वाली, अपनी शृगार की चेष्टाओ से पति के काम-भाव को बढाने वाली, मुख-पाठ से नृत्य करती हुई रानी 'नाटकीया' कहलाती है ।

(कामुका)

३५ राजा के बैठने पर बैठने वाली, चलने पर चलने वाली, भोजन करने पर भोजन करने वाली, सोने पर सोने वाली, देश तथा काल का ज्ञान न रखने वाली स्त्री 'कामुका' जानी जाती है ।

३६ वासोऽङ्गरागाभरणमाल्यशिल्पविधायिनी ।
विचित्रसुरतक्रीडा पत्युर्वैचित्र्यदायिनी ॥
शयनासनशिल्पज्ञा सा भवेच्छिल्पकारिका ।
आसां स्वभावमालोच्य यथाभावं प्रयोजयेत् ॥

३७ राज्ञो महिष्यास्सर्वत्र सर्वावस्थासु सर्वदा ।
स्वाधिकारैर्यथायोगं घटन्ते परिचारिकाः ॥
आसां शीलं स्वभावञ्च यथाभावं प्रयोजयेत् ।
सञ्चारिकाणां कर्माणि तत्र तत्र प्रयोजयेत् ॥
सञ्चारिका यथा योज्यास्तथा स्युरनुचारिकाः ।

३८ कामोपभोगसम्भोगगुह्यागुह्यसमर्थने ॥
या राज्ञा विनियुज्यन्ते ताः स्युः प्रेक्षणिकाः स्त्रियः ।

३९ प्रीत्याऽऽन्तःपुरिका नित्यमाशीःस्वस्त्ययनादिभिः ॥
पृच्छन्त्यः कुशलं देवीस्ता महत्तर्य ईरिताः ।

४० ता नियोज्यास्सदा राज्ञा सर्वान्तःपुररक्षणे ॥
याः पञ्चमाब्दादधिका दशमाब्दावराः स्त्रियः ।

(शिल्पकारिका)

३६ वस्त्र, अगराग, आभूषण, माला मे शिल्प-विधान करने वाली, विचित्र सुरत-क्रीडा करने वाली, पति को विचित्रता प्रदान करने वाली, शय्या तथा आसन के शिल्प को जानने वाली स्त्री 'शिल्पकारिका' कहलाती है।
इन सभी के स्वभाव को देखकर यथाभाव प्रयोग करना चाहिए।

३७ राजा तथा महिषी की सर्वत्र सभी अवस्थाओ मे सर्वदा अपने-अपने कार्यो से परिचारिकाये यथायोग्य काम मे लगी रहती है। (इन परिचारिकाओ) के शील और स्वभाव का यथाभाव प्रयोग करना चाहिए। सचारिकाओ के कर्मो का वहाँ-वहाँ प्रयोग करना चाहिए। सचारिकाओ को जैसे काम मे लगाया जाय वैसे ही अनुचारिकाओ को काम मे लगाना चाहिए।

(प्रेक्षणिका)

३८ जो स्त्रियाँ काम, उपभोग, सम्भोग, गुह्यागुह्य कार्यो मे राजा के द्वारा नियुक्त की जाती है, वे 'प्रेक्षणिका' कहलाती है।

(महत्तरी)

३९ प्रेमपूर्वक अन्त पुर मे वास करने वाली, नित्य आशीर्वाद, स्वस्त्ययन आदि से देवियो की कुशलता पूछने वाली 'महत्तरी' कहलाती है।

(प्रतीहारी)

४० राजा द्वारा सर्वदा समस्त अन्त पुर की रक्षा के लिए वे स्त्रियाँ नियुक्त की जानी चाहिए, जो पाँच वर्ष से अधिक तथा दस वर्ष से कम आयु वाली कुमारी

कुमार्यस्ताः कुमारीणां प्रतीहार्य इति स्मृताः ।
प्रत्यन्तःपुरिकं तास्तु सुखदुःखसमन्विताः ।
निवेदयन्ति वृत्तान्तं कुमार्या सह सर्वदा ॥

४१ अजातरतिसम्भोगा निभृता लज्जयाऽन्विताः ।
अन्तःपुरविहारिण्यः कुमार्यः कुलजाः स्मृताः ॥
ता लालनीया नृपतेरवरोधवधूजनैः ।

४२ पूर्वराजनयज्ञाश्च तैः क्रमेणैव मानिताः ॥
पूर्वराजोपचारज्ञा यास्ता वृद्धा इतीरिताः ।
कथयन्त्यः कथाश्चित्रा वाक्यैः प्रहसनैरपि ॥
विनोदयन्ति ता राज्ञः स्त्रियोऽन्तःपुरवर्तिनीः ।

४३ फलमूलौषधीमाल्यगन्धाभरणवाससाम् ॥
भाण्डायुधासनानां स्युरष्टावायुक्तिकाः स्मृताः ।
ताश्चान्तःपुरचारिण्यः नियोज्यास्तेषु कर्मसु ॥

४४ अकामा ब्राह्मणाश्चैव कञ्चुकोष्णीषवेत्रिणः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कञ्चुकीयाः स्मृता बुधैः ॥

स्त्रियाँ हो। वे कुमारियो की 'प्रतीहारी' कहलाती हैं। सुख-दुख मे साथ रहने वाली वे प्रतीहारी सदा कुमारियो के साथ अन्त पुर के वृत्तान्तो का निवेदन करती है।

(कुमारी)

४१ अनुत्पन्न रति-सम्भोग वाली, शान्त, लज्जाशीला, अन्त पुर मे विहार करने वाली, कुलीन 'कुमारी' कहलाती हैं। राजा के अन्त पुर की बधुओ द्वारा उनका लालन-पालन किया जाना चाहिए।

(वृद्धा)

४२ पूर्वज राजाओ की नीति को जानने वाली, उन पूर्वजो द्वारा क्रमश सम्मानित तथा पूर्वज राजाओ के उपचार (व्यवहार) को जानने वाली जो स्त्रियाँ होती हैं, वे 'वृद्धा' कहलाती है। वे (वृद्धाएँ) हास्यास्पद वाक्यो के साथ विचित्र कथाएँ सुनाती हुई राजा की अन्त पुरवासिनी स्त्रियो का मनोरजन करती हैं।

(आयुक्तिका)

४३ फल-मूल, औषधि, माला-गन्ध, आभूषण, वस्त्र, भाण्ड, आयुध (अस्त्र-शस्त्र), आसन की व्यवस्था के लिए नियुक्त की गयी ये आठ प्रकार की स्त्रिया 'आयुक्तिका' कहलाती है। अन्त पुर मे रहने वाली वे (आयुक्तिकायें) उन कार्यों मे नियुक्त की जानी चाहिए।

(कञ्चुकीय)

४४ निष्कामी, ब्राह्मण, कंचुक (चौगा), पगडी तथा बेंत धारण करने वाले तथा ज्ञान-विज्ञान मे सम्पन्न व्यक्ति विद्वानो द्वारा 'कचुकीय' कहे जाते है।

४५ अल्पसत्त्वाः स्त्रीस्वभावाः क्लीबा निष्कामिनः स्वतः ।
जात्या वा कामनिर्मुक्तास्ते तु वर्षवराः स्मृताः ।।

४६ वन्यमूलफलाहाराः पल्लीपर्वतवासिनः ।
चित्रस्त्रीकाः सुभाषाज्ञाश्चिबुकाः कर्कशाङ्गकाः ।।
ते किराता बलाद्राज्ञा वारं वारं नियोजिताः ।

४७ कञ्चुकीया नृपाभ्याशवर्तिनोऽन्तःपुराश्रयाः ।।
भवनान्तरकृत्येषु नियोज्याः प्रेष्यकर्मणि ।
साहाय्ये कामचारस्य राज्ञः प्रच्छन्नकामिनः ।।
वारव्यत्यासकथने स्त्रीणां वर्षवराः स्मृताः ।

४८ राजावरोधभोग्यानां भाण्डाभरणवाससाम् ।।
सद्योऽन्तःपुरदण्डेषु किराता योजिता नृपैः ।

४९ परिहासविनोदेषु स्त्रीणां स्युः कुब्जवामनाः ।।

५० अविद्धकर्णः क्लीबश्च ह्रस्वो विकटदन्तकः ।
तुन्दिलोऽभ्यन्तरचर औपस्थापिक उच्यते ।।

(वर्षवर)

४५ इकहरे शरीर वाले (अल्पसत्त्व), स्त्री जैसे स्वभाव वाले, क्लीव (नपुसक), निष्कामी स्वत या जाति से काम से मुक्त व्यक्ति 'वर्षवर' कहलाते है।

(किरात)

४६ जगली कन्द-मूल फल का आहार करने वाले, नदी के किनारे तथा पर्वतो पर वास करने वाले, विचित्र स्त्री वाले, सुन्दर भाषा जानने वाले, कर्कश चिबुक तथा कठोर अगो वाले—वे 'किरात' राजा द्वारा बलात् बार-बार नियुक्त किये जाते हैं।

४७ कचुकीय राजा के समीपवर्ती होते हैं तथा अन्त पुर के आश्रित रहते है। ये अन्त पुर के कार्यो मे तथा प्रेष्य-कर्म मे नियुक्त किये जाने चाहिए। विषयासक्त प्रच्छन्न-कामी राजा की सहायता के लिए स्त्रियो के वार-विरोध के कथन मे 'वर्षवर' नियुक्त किये जाते है।

४८ राजा के अवरोध (अन्त पुर) के भोग्य-भाण्ड, आभरण तथा वस्त्रो के लिए तथा तत्काल अन्त पुर के दण्ड मे राजाओ द्वारा 'किरात' नियुक्त किये जाते है।

४९ स्त्रियो के परिहास और मनोरजन के लिए कुबडे तथा बौने नियुक्त किये जाते है।

(औपस्थापिक)

५० न छिदे हुए कानो वाला, नपुसक, बौना, बडे-बडे दाँतो वाला, तोदू तथा अन्त पुर मे विचरण करने वाला पुरुष 'औपस्थापिक' कहलाता है।

५१ अज्ञातकामा निष्कोशा निर्मुण्डा इति च स्मृताः ।
५२ वधूपस्थापने राज्ञामौपस्थापिक उच्यते ॥
प्रस्थापने वधूनां स निर्मुण्डो योज्यते नृपैः ।
५३ पुंस्त्रीलिङ्गविलुप्ताङ्गाः स्वल्पश्मश्रुस्तनान्विताः ॥
अभ्यागारा इति ज्ञेया अभ्यागाराधिकारिणः ।
५४ नियोगकारका राज्ञां सर्वावस्थासु सर्वदा ॥
मूकाःकुहकलीलाभिः सर्वत्र परिहासकाः ।
तेषां भावं परिज्ञाय तथैवाभिनयेन्नटः ॥
५५ राजा सेनापतिश्चैव युवराजः पुरोहितः ।
प्राश्निकाः प्राड्विवाकास्त आयुक्ताः सचिवास्तथा ॥
एते सभासदः कार्याः प्राश्निकाः प्रागुदाहृताः ।
५६ नानाभावविशेषज्ञा नानाशिल्पविचक्षणाः ॥
शयने चासने वाऽपि लेख्येऽलङ्कारयोजने ।
परिहासेङ्गितज्ञाने चतुरातोद्यवेदने ॥
नृत्ते गीते च कुशला नानाभावविचक्षणाः ।
मनस्विनो मानधना ऊहापोहविशारदाः ॥
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धाश्च सदस्याः कथिता बुधैः ।

(निर्मुण्ड)

५१ काम से अपरिचित तथा कोश (सग्रह) से परे रहने वाले 'निर्मुण्ड' कहलाते है।

५२ राजाओ की बधुओ के निकट रहने के लिए 'औपस्थापिक' कहा जाता है। बधुओ को भेजने के लिए राजाओ द्वारा वह 'निर्मुण्ड' नियुक्त किया जाता है।

(अभ्यागार)

५३ स्त्री-पुरुष के चिह्नो से रहित अगो वाले, थोडी दाढी-मूँछ वाले, स्वल्प स्तनो से युक्त, अभ्यागार (घर) के अधिकारी 'अभ्यागार' जाने जाते है।

(मूक)

५४ राजाओ की सभी अवस्थाओ मे सर्वदा आज्ञाकारी तथा कुहक (छली) लीलाओ से सर्वत्र हँसी करने वाले 'मूक' कहलाते हैं।
उन सभी के भाव को जानकर नट को उसी प्रकार का अभिनय करना चाहिए।

५५ राजा, सेनापति, युवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राड्विवाक, आयुक्त तथा सचिव इन सभी सभासदो के बारे मे कहना है, प्राश्निक के बारे मे पहले कह चुके है।

(सदस्य)

५६ विभिन्न-भावो के विषय मे विशेष ज्ञान रखने वाले, विभिन्न-शिल्पो मे कुशल, शय्या, आसन, लेख, अलकार-योजना, परिहास, इगित-ज्ञान, चार प्रकार की आतोद्यविद्या, नृत्य तथा गीत मे कुशल, विभिन्न भावो मे कुशल, मनस्वी, मानी, विचार-विमर्श मे प्रवीण, धन व म्त्रियो के विषय मे शुद्ध (ईमानदार व सच्चरित्र) विद्वानो द्वारा सभा के 'सदस्य' कहे जाते है।

५७ वैतालिका बन्दिनश्च नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥
सूताश्च मागधाश्चैव सदस्याः स्युः कदाचन ।

५८ तत्तत्प्रहरकयोग्यैरागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः ।
सरभसमेव वितालं गायन्वैतालिको भवति ॥
वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा नेपथ्ये गातुमर्हति ॥

५९ वन्द्यमानेश्वरक्ष्मापवंशवीर्यगुणस्तवैः ।
वन्द्यभूभृद्गुणोत्कर्षश्रावका बन्दिनः स्मृताः ॥

६० आशीःपुरस्कृतैर्वाक्यैर्मङ्गलार्थप्रकाशकैः ।
मङ्गलानि प्रशंसन्तो नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥

६१ नन्दनोयानि वाक्यानि मङ्गलानि च भूभृताम् ।
पठन्ति भोगार्थानीति नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥

६२ सुखस्वापविदो राज्ञां सुप्रभातप्रशंसकाः ।
सूताः सवनयोग्यानां कर्मणां बोधकाः स्मृताः ॥

६३ राज्ञः पुरजनस्यापि मङ्गलाचारशंसिनः ।
मान्यैर्मागधिकागीतैर्मागधा इत्युदीरिताः ॥

---

५७ वैतालिक, बन्दीजन, नान्दी व मगल पाठ करने वाले, सूत व मागध—ये भी कभी सभा के 'सदस्य' कहे जाते हैं।

(वैतालिक)

५८ उस-उस समय (प्रहर) के योग्य रागो के द्वारा तथा तत्काल बोले जाने वाले श्लोको से शीघ्रता के साथ विताल से गान करने वाला 'वैतालिक' कहलाता है। नेपथ्य के समय वक्त्र या अरपवक्त्र छन्द गाने के योग्य होता है।

(बन्दीजन)

५९ ईश्वर की वन्दना करते हुए राजाओ के वश, पराक्रम तथा गुणो से सम्बन्धित स्तवको (स्तुतियो) द्वारा वन्दना कर राजाओ के गुणोत्कर्ष को सुनाने वाले 'बन्दीजन' कहलाते है।

(नान्दी-मगलपाठक)

६० आशीर्वादपूर्वक मगलार्थक वाक्यो के द्वारा मगल (कल्याण) की आशसा करने वाले 'नान्दी-मगलपाठक' कहलाते है।

६१ राजाओ के मगल, आनन्द तथा योग के लिए जो पाठ पढते है, वे 'नान्दी-मगलपाठक' कहलाते हैं।

(सूत)

६२ अपने सुख को न जानने वाले, राजाओ की सुबह प्रशसा करने वाले तथा यज्ञीय कर्मों से अवगत कराने वाले 'सूत' कहलाते है।

(मागध)

६३ प्रसिद्ध (मान्य) मागधिका[१] गीतो के द्वारा राजा तथा उसकी प्रजा के मगल (कल्याण) की आशसा करने वाले 'मागध' कहलाते हैं।

६४ एवं सपरिवारस्य नेतुश्च प्रेक्षकस्य च ।
स्वभावमवगम्यैव नाट्येनाभिनयेन्नटः ।।

६५ वर्णकैरञ्जनैः स्नानैर्भूषणैश्चाप्यलङ्कृतः ।
गाम्भीर्यौदार्यसम्पन्नो राजवत्तु भवेन्नटः ।।
एवं स्वभावतो राज्ञां नित्यमेवोज्ज्वलो भवेत् ।
राजोपचारोऽभिनेयो यथाभावं यथारसम् ।।

६६ राजा सपरिवारश्च भरतश्च कुशीलवैः ।
नाट्यकृत्याभिन्निष्पन्नं (विशन्तो रङ्गमण्टपम्) ।।

६७ यत्र रज्यन्ति भावेन (गानवादननर्तनैः) ।
सभ्याः सभापतिसखाः स देशो रङ्गमण्टपः ।।
चतुरश्रत्र्यश्रवृत्तभेदात्सोऽपि त्रिधा भवेत् ।

६८ परमण्टपिकैः सद्भिः पौरजानपदैः सह ।।
राज्ञः सङ्गीतकं यत्र वृत्ताख्यो रङ्गमण्टपः ।

६९ वारकन्याऽमात्यवणिक्सेनापतिसुहृत्सुतैः ।।
यत्र सङ्गीतकं राज्ञां चतुरश्रः स कथ्यते ।

---

६४ इस प्रकार सपरिवार नेता व प्रेक्षक के स्वभाव को जानकर ही नट को नाट्य द्वारा अभिनय करना चाहिए ।

६५ वर्णक (लेप), अञ्जन, स्नान, भूषण आदि से अलकृत तथा गम्भीरता व उदारता से सम्पन्न राजा के समान नट को होना चाहिए । राजाओ के इस प्रकार के स्वभाव से नट को नित्य ही उज्ज्वल होना चाहिए तथा यथाभाव, यथारस राजोचित उपचारो से अभिनय करना चाहिए ।

(रगमण्डप)

६६ सपरिवार राजा और कुशीलवो के साथ भरत नाट्य-कृत्यो से निष्पन्न 'रगमण्डप' पर प्रवेश करते है ।

६७ जहाँ सभ्यो (सामाजिको) तथा सभापति के मित्रो को भाव के साथ गान, वादन तथा नृत्य से आनन्द प्राप्त होता है, वह स्थान (देश) 'रगमण्डप' कहलाता है । वह (रगमण्डप) (१) चतुरश्र (चौकोर) (२) त्र्यश्र (त्रिकोण), तथा (३) वृत्त (आयताकार) भेद से तीन प्रकार का होता है ।[१]

(वृत्त)

६८ जहाँ परमण्डपिक सज्जनो, पौरवासियो के साथ राजा का सामूहिक सगीत (सगीतक) होता है, वह 'वृत्त' नामक रगमण्डप कहलाता है ।

(चतुरश्र)

६९ जहाँ वारकन्याओ (गणिकाओ), अमात्य (मन्त्री), वणिक् (वैश्य), सेनापति, मित्र तथा पुत्रो के साथ राजाओ का सामूहिक-सगीत (सगीतक) होता है, वह 'चतुरश्र' रगमण्डप कहलाता है ।

७० ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः सहान्तःपुरिकाजनैः ॥

७१ महिष्या सह यत्र स्याक्तत्त्र्यश्रोऽसौ रङ्गमण्टपः ।
मार्गप्रक्रियया कार्यं सङ्गीतं त्र्यश्रमण्टपे ॥
चतुरश्रे मार्गदेशमिश्रं सङ्गीतकं भवेत् ।
मिश्रे तु चित्रं संयोज्यं वृत्ताख्ये रङ्गमण्टपे ॥

७२ ये नाट्यभेदाः कथितास्तेषु सङ्गीतकक्रियाः ।
त्रिमार्गतालनियमसिद्धत्वान्मार्गसंज्ञिताः ॥
नृत्तभेदाः क्वचिन्मार्गाः क्वचिद्देश्या भवन्ति ते ।

७३ मार्गप्रक्रियया शुद्धं सङ्गीतं यदि कल्प्यते ॥
शुद्धप्रयोक्ता भरतः सूत्रधृक्सकुशीलवः ।
देशरीतिविमिश्रं चेच्छुद्धं मिश्राख्यतामियात् ॥

७४ नटनर्तकनर्तक्यः चित्रसूत्रभृता सह ।
नाट्यं शुद्धमिति ख्यातं नृत्यं चित्रमिति स्मृतम् ॥

७५ नाट्यस्य प्रविभागस्तु यथाशास्त्रं प्रदर्श्यते ।

(त्र्यश्र)

७० जहाँ ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा अन्त पुरवासियो के साथ और महिषी के साथ राजा का सामूहिक सगीत (सगीतक) होता है, वह 'त्र्यश्र' रग-मण्डप कहलाता है।

७१ 'त्र्यश्र' मण्डप पर मार्ग-प्रक्रिया से सगीत का प्रयोग करना चाहिए। 'चतुरश्र' रगमण्डप पर मार्ग तथा देशी—दोनो प्रक्रियाओ के मिश्रण से सगीतक होना चाहिए। 'वृत्त' नामक रगमण्डप पर मिश्र (सगीत) मे चित्र (नृत्य) की योजना करनी चाहिए।

७२ जो नाट्य-भेद कहे गये हैं, उनमे जो सगीतक की प्रक्रियाएँ है, वे त्रिमार्गीय ताल-नियम से सिद्ध होने के कारण 'मार्ग' प्रक्रिया कहलाती हैं। जो नृत्य-भेद है वे कही 'मार्ग' और कही 'देशी' कहलाते है।

७३ मार्ग-प्रक्रिया से शुद्ध सगीत यदि कल्पित किया जाता है तो उस शुद्ध-सगीत के प्रयोक्ता भरत, सूत्रधार तथा कुशीलव होते है। यह शुद्ध-सगीत देश की रीति से मिश्रित होता है तो 'मिश्र' सगीत के नाम से जाना जाता है।

७४ नट, नर्तक तथा नर्तकी चित्र सूत्रधार के साथ नाट्य का प्रयोग करते हैं तो वह (नाट्य) 'शुद्ध' कहलाता है और नृत्य का प्रयोग करते हैं तो वह (नृत्य) 'चित्र' कहलाता है।

७५ शास्त्र के अनुसार नाट्य का विभाजन दिखाते है।

७६ नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् ॥
नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम् ।
७७ पदार्थमात्राभिनयरूपं नर्तककर्म यत् ॥
तन्नृत्तनृत्यभेदेन तद्द्वयं द्विविधं भवेत् ।
तत्र भावाश्रयो मार्गो देशी तद्रहिता मता ॥
त्रिमार्गतालनियतं मार्गमित्यभिधीयते ।
देशीभवत्पुनस्तालल्लयैराश्रयमिष्यते ॥
पुनरेतद्द्वयं द्वेधा मधुरोद्धतभेदतः ।
मधुरं लास्यमाख्यातमुद्धतं ताण्डवं विदुः ॥
सर्वं त्रिधा भवेदेतद्गीतवाद्योभयान्वयात् ।
७८ रसप्रधानाभिनयं मार्गं नृत्तं नटाश्रयम् ॥
भावाभिनेयं मार्गं तन्नृत्यं यन्नर्तकाश्रयम् ।
रसभावसमायुक्तमङ्गचालनसंश्रयम् ॥
मार्गदेशीविमिश्रं तु नटनर्तकसंयुतम् ।
७९ ललितैरङ्गहारैश्च निर्वर्त्य ललितैर्लयैः ॥
वृत्तिः स्यात्कैशिकी गीतिर्यत्र तल्लास्यमुच्यते ।

---

७६ नाटक मे स्थित वाक्यार्थ, पदार्थ का अभिनय रूप नट का कर्म ही 'नाट्य' कहलाता है—ऐसा नाट्यविदो का मत है ।

७७ पदार्थ-पात्र का अभिनय रूप नर्तक का जो कर्म है, वह नृत्त तथा नृत्य भेद से दो प्रकार का होता है । वे दोनो (नृत्त तथा नृत्य) दो प्रकार के होते है । वहाँ भाव के आश्रित मार्ग (नृत्य) होता है और भाव से रहित देशी (नृत्त) कहलाता है । त्रिमार्गीय ताल से निश्चित 'मार्ग' कहा जाता है और ताल तथा लय के आश्रित 'देशी' कहलाता है । पुन ये दोनो (मार्ग तथा देशी) मधुर तथा उद्धत भेद से दो प्रकार के होते है । मधुर लास्य कहलाता है और उद्धत ताण्डव जाना जाता है । ये सभी (१) गीत, (२) वाद्य, तथा (३) गीत-वाद्य-मिश्रित भेद से तीन प्रकार के होते है ।

७८ रस-प्रधान अभिनय रूप मार्ग-नृत्त नट के आश्रित होता है । जो नर्तक के आश्रित होता है, वह भावाभिनय रूप मार्ग-नृत्य होता है । रस तथा भाव से युक्त और अग-सचालन (गात्र-विक्षेप) के आश्रित मार्ग और देशी का मिश्र रूप (नृत्य) नट और नर्तक के आश्रित होता है ।

(लास्य)

७९ जहाँ ललित (सुकुमार) अगहारो से तथा ललित लयो से सम्पन्न कराकर कैशिकी-वृत्ति की गीति का प्रयोग किया जाता है, वह 'लास्य' कहलाता है ।

८० उद्धतैः करणैरङ्गहारैर्निर्वर्तितं यदा ॥
वृत्तिरारभटी गीतकाले तत्ताण्डवं विदुः ।
८१ उभयं पूर्वरङ्गस्य नाटकादौ भविष्यतः ॥
नटकर्मात्मकत्वात्तद्द्वयं नाट्यमितीरितम् ।
८२ ताले गीते च वाद्ये च नृत्ते चाभिनयक्रमे ॥
सुकुमारप्रयोगो यो नियतो लास्यमुच्यते ।
८३ तच्छृङ्खलालतापिण्डीभेद्यकैः स्याच्चतुर्विधम् ॥
लता रासकनाम स्यात्तत्त्रेधा रासकं भवेत् ।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम् ॥
एकन्तु योषिन्नियमान्नाट्यरासकमीरितम् ।
शृङ्खला भेद्यकञ्चापि दशधा भिद्यते पुनः ॥
तद्गेयपदमित्यादिलास्याङ्गत्वेन कथ्यते ।
पिण्डीबन्धे तु बहुधा भेदस्तत्ताण्डवस्य तु ॥
८४ पिण्डीबन्धात्मकं नृत्तं तद्देवत्वप्रहर्षणम् ।
भवेज्जर्जरपूजायां तत्तद्गतिपरिक्रमे ॥
८५ भावभेदात् लास्यभेदो बहुधा कथ्यते बुधैः ।

(ताण्डव)

८० जब उद्धत करण और अगहारो से सम्पन्न कराकर गीत के समय आरभटी-वृत्ति का प्रयोग किया जाता है, वह 'ताण्डव' जाना जाता है ।

८१ ये दोनो (नृत्य) नाटकादि मे पूर्वरग के होगे । वे दोनो (नृत्य) नट के कर्मरूप होने के कारण 'नाट्य' कहे जाते हैं ।

८२ ताल, गीत, वाद्य, नृत्त और अभिनय-क्रम मे जो सुकुमार-प्रयोग निश्चित होता है, वह 'लास्य' कहा जाता है ।

८३ वह (लास्य) शृखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक भेद से चार प्रकार का होता है । लता (लास्य) 'रासक' नाम से जाना जाता है, वह रासक तीन प्रकार का होता है—(१) दण्डरासक, (२) मण्डलरासक, तथा (३) स्त्रियो के नियम के कारण नाट्य-रासक । पुन शृखला और भेद्यक (लास्य) दस प्रकार के होते है । वे 'गेयपद' इत्यादि के लास्य के अग रूप से कहे जाते है । पिण्डीबन्ध (लास्य) के बहुत से भेद होते है और उस ताण्डव (नृत्य) के भी बहुत भेद होते है ।

८४ पिण्डीबन्धात्मक जो नृत्त होता है वह देवताओ की प्रसन्नता के लिए होता है । इसका प्रयोग इन्द्रध्वज-पूजा मे तथा उस-उस गति-परिक्रम मे होना चाहिए ।

८५ विद्वानो द्वारा भाव-भेद से लास्य के भेद बहुत प्रकार के कहे जाते है ।

८६ तदेव नियमैर्हीनं देशे रुच्या प्रर्वाततम् ।।
गुण्डलीनृत्तमित्युक्तं तत्स्याद्देशेष्वनेकधा ।
देशीतालैश्च वाद्यैश्च देशीगीतैश्च कल्पितम् ।।
चतुष्षष्टयङ्गसंयुक्तगतिश्चा(?)लयरीतिमत् ।
८७ शुद्धं चित्रं च मिश्रञ्च गुण्डलीनर्तनं त्रिधा ।।
८८ कदाचित्कन्दुकक्रीडा कदाचिद्वर्णमानतः ।
तत्तद्देशगुणोत्थाभिर्लीलाभिः परिकल्प्यते ।।
८९ नाट्यं नृत्यञ्च नृत्तञ्च बृन्दहीनं न शोभते ।
अतो बृन्दं प्रकल्प्यं स्यादित्याहुर्भरतादयः ।।
९० नटाश्च नर्तकाश्चैव गायका वादकादयः ।
यस्मिन्प्रयोगे मिलितास्तत्र तद्वृन्दमुच्यते ।।
९१ तदेवाभ्यन्तरं बाह्यमिति द्वेधा विभिद्यते ।
अभ्यन्तरे स्यात्स्त्रीबृन्दं बाह्ये स्त्रीमर्त्यमिश्रितम् ।।
९२ ज्येष्ठमध्यकनिष्ठादिभेदाद्वृन्दं त्रिधाभवेत् ।
९३ अङ्गैरुपाङ्गैः प्रत्यङ्गैर्गीतमात्रानुगामिभिः ।।
पदार्थाभिनयो नृत्यं डोम्बीश्रीगदितादिषु ।

(गुण्डली नृत्त)

८६ वही (लास्य) बिना किन्ही नियमो के देश मे रुचि से प्रवृत्त किया जाता है तो 'गुण्डली नृत्त' कहलाता है। वह (गुण्डली-नृत्त) देशो मे अनेक प्रकार का होता है। यह देशी ताल, वाद्य तथा गीतो से कल्पित होता है। यह चौसठ अगो से युक्त और गति, लय तथा रीति वाला होता है।

८७ यह 'गुण्डली-नृत्त' तीन प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) चित्र, तथा (३) मिश्र।

८८ कभी कन्दुक-क्रीडा से, कभी वर्णमान से, उस-उस देश के गुणो से उत्पन्न लीलाओ से यह नृत्त कल्पित किया जाता है।

(वृन्द)

८९ नाट्य, नृत्य तथा नृत्त वृन्द के बिना सुशोभित नही होते, अत वृन्द की कल्पना करनी चाहिए—ऐसा भरतादि आचार्यों ने कहा है।

९० नट, नर्तक, गायक तथा वादक आदि जिस प्रयोग मे मिलते हैं, वहाँ वह 'वृन्द' कहलाता है।

९१ वही (वृन्द) दो प्रकार का होता है—(१) अभ्यन्तर, तथा (२) बाह्य। अभ्यन्तर मे स्त्री-वृन्द होता है तथा बाह्य मे स्त्री और पुरुष—दोनो का मिश्रित वृन्द होता है।

९२ ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ आदि भेद से वृन्द तीन प्रकार का होता है।[1]

९३ गीत तथा मात्रा के अनुसार अग, उपाग तथा प्रत्यगो से प्रस्तुत किया गया पदार्थाभिनय रूप नृत्य डोम्बी, श्रीगदित आदि (उपरूपको) मे प्रयुक्त होता है।

९४ अङ्गविक्षेपमात्रं यल्लयतालसमन्वितम् ॥
तन्नृत्तं नाटकाद्येषु रूपकेषु प्रयुज्यते ।
९५ अङ्गप्रत्यङ्गविक्षेपशून्यो योऽभिनयेन च ॥
तन्नृत्तं तत्र नृत्यन्तु यथोक्ताभिनयान्वितम् ।
९६ ताण्डवं तत्त्रिधा चण्डप्रचण्डोच्चण्डभेदतः ॥
तत्र ह्यारभटी वृत्तिस्तथैव परिकल्प्यते ।
९७ विलम्बितो लयो यत्र नृ(ग्र)हश्चातीतकल्पितः ॥
तद्वदारभटी यत्र तत् ख्यातं चण्डताण्डवम् ।
९८ समग्रहो मध्यलयस्तथैवारभटीयुतः ॥
प्रचण्डताण्डवं तत्स्यादिति तत्र प्रयोजितम् ।
९९ अनागतो ग्रहो यत्र लयो यत्र द्रुतो भवेत् ॥
तादृश्यारभटी यत्र तत्स्यादुच्चण्डताण्डवम् ।
१०० एतत्त्रयं भवेत्त्रेधा गीतवाद्योभयान्वयात् ॥
१०१ करणाद्यङ्गहाराश्च गीतवाद्यल(द्योभ)यान्विताः ।
यत्रोद्धतं प्रयुज्यन्ते क्रमात्तत्ताण्डवत्रयम् ॥

---

९४ ताल तथा लय से युक्त अग-विक्षेप मात्र जो नृत्त होता है, वह (नृत्त) नाटि-कादि रूपको मे प्रयुक्त होता है।

९५ अग, प्रत्यग के विक्षेप से शून्य एव अभिनय रूप जो नृत्य होता है, वह 'नृत्त' कहलाता है। वहाँ नृत्य यथोक्त अभिनय से युक्त होता है।

(ताण्डव के भेद)

९६ चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड भेद से ताण्डव (नृत्य) तीन प्रकार का होता है। वहाँ आरभटी-वृत्ति की वैसी ही कल्पना की जाती है।

९७ जहाँ विलम्बित लय तथा अतीत-ग्रह[७] की कल्पना की जाती है, उसके समान जहाँ आरभटी-वृत्ति का प्रयोग होता है, वह 'चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

९८ जहाँ सम-ग्रह[८] तथा मध्य-लय होती है, वैसी ही आरभटी-वृत्ति से युक्त वह 'प्रचण्ड' ताण्डव होता है—इस प्रकार वहाँ प्रयोग होता है।

९९ जहाँ अनागत-ग्रह[९] तथा द्रुत-लय होती है, वैसी आरभटी वृत्ति का जहाँ प्रयोग होता है, वह 'उच्चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०० ये तीनो (चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड) ताण्डव (नृत्य) गीत, वाद्य तथा उभ-यान्वित (गीत-वाद्य से युक्त) भेद से तीन प्रकार के होते है।

१०१ जहाँ गीत, वाद्य तथा गीत-वाद्य (उभय-रूप) से युक्त करणादि अगहारों का उद्धत रूप से प्रयोग किया जाता है। वे क्रमश. तीनो (चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड) ताण्डव होते है।

१०२ चण्डाख्यं ताण्डवं वीररौद्रमिश्ररसे भवेत् ।
प्रचण्डताण्डवं ख्यातं रौद्रबीभत्समिश्रणे ॥
उच्चण्डं रौद्रबीभत्सभयानकसमुच्चये ।
१०३ करणैरङ्गहारैश्च द्रुतं त्रिगुणवेगतः ॥
आकाशचारीभ्रमरीयुतमुच्चण्डताण्डवम् ।
१०४ प्लुतलङ्घितभूयिष्ठकरणं भ्रमरीयुतम् ॥
प्रचण्डताण्डवं भौमचारीयुग्द्रुतमानतः ।
१०५ नृत्ताङ्गैः करणैरङ्गहारैर्युक्चण्डताण्डवम् ॥
१०६ हास्यशृङ्गारसंसर्गे लास्यनृत्तं प्रशस्यते ।
शृङ्गारे चाद्भुते चापि तद्भिदा विनियुज्यते ॥
१०७ उद्धतप्रायकरणं रुच्या यद्देश्यकल्पितम् ।
करणं वक्तृगं चेति तद्देशीताण्डवं विदुः ॥
१०८ देशीताललयोपेतं देशभाषाविमिश्रितम् ।
तद्वीराद्भुतशृङ्गारहास्येषु विनियुज्यते ॥
१०९ नृत्यभेदे क्वचित्कैश्चित्प्रायो देश्युपयुज्यते ।
न कदाचन सर्वत्र रूपकेषूपयुज्यते ॥

---

१०२ चण्ड नामक ताण्डव वीर तथा रौद्र रस के मिश्रण मे प्रयुक्त होता है। प्रचण्ड ताण्डव रौद्र तथा वीभत्स रस के मिश्रण मे प्रयुक्त होता है। उच्चण्ड (ताण्डव) रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रस के मिश्रण मे प्रयुक्त होता है।

१०३ करण तथा अगहारो से सम्पन्न, तीन गुने वेग से द्रुत (लय) वाला, भ्रमरी[10] नामक आकाशचारी से युक्त 'उच्चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०४ प्लुत से लघित अनेक करणो वाला, भ्रमरी (आकाशचारी) से युक्त, भौमचारी[11] से युक्त, द्रुत (लय) वाला होने से 'प्रचण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०५ नृत्त के अग, करण तथा अगहारो से युक्त 'चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०६ हास्य तथा शृगार रस के मिश्रण मे लास्य-नृत्त श्रेष्ठ होता है। शृगार तथा अद्‌भुत रस मे भी उसके भेद प्रयुक्त किये जाते है।

१०७ जो उद्धत-प्राय करण देश की रुचि से कल्पित किया जाता है तथा वक्तृ-गत करण होता है, वह 'देशी' ताण्डव जाना जाता है।

१०८ देशी ताल तथा लय से युक्त तथा देश की भाषा से मिश्रित वह (देशी-ताण्डव) अद्‌भुत, शृगार तथा हास्य रस में प्रयुक्त होता है।

१०९ नृत्य के भेदो में कही किन्ही के द्वारा प्राय देशी (नृत्य) का उपयोग कहा जाता है। लेकिन सर्वत्र रूपको में उसका उपयोग कभी नहीं होता।

११० ईदृक्ताण्डवलास्यादिभेदाङ्गेषूपयोगिनाम् ।
समाजं शृङ्ग(वृन्द)मित्याहुः तत्त्रिधा पञ्चधाऽपि वा ॥

१११ उत्तमोत्तममाद्यं स्यादुत्तमाख्यमतः परम् ।
मध्यमोत्तममध्यं च कनिष्ठं चेति पञ्चधा ॥
शृङ्ग(वृन्द)मेतत्समुद्दिष्टं कोलाहलमतः परम् ।

११२ मुख्या द्वादश गातारो द्वादशैव तु गायिकाः ॥
अष्टाविहालका(?)श्चापि ततः षाड्वश(ड्वांशि)का अपि ।
ओताकाराश्च पञ्च स्युः ततः पाटहिकास्त्रयः ॥
यत्र मार्दङ्गिकाः षट् स्युर्वृन्दं स्यादुत्तमोत्तमम् ।

११३ षड्गातारोऽष्ट गायिन्यः पञ्च षड्वा विहालकाः ॥
चत्वारो वांशिकाश्चापि चोताकारचतुष्टयम् ।
मार्दङ्गिकाश्च चत्वारः ततः पाटहिकद्वयम् ॥
इदमुत्तममाख्यातं वृन्दं वृन्दविशारदैः ।

११४ पञ्च स्युर्मुख्यगातारः पञ्चापि समगायिनः ॥
गायिकावांशिकीनां च यत्र स्युः षट् च पञ्चकम् ।
ओताकारत्रयं चापि तथा पाटहिकत्रयम् ॥
मार्दङ्गिकत्रयं यत्र वृन्दं स्यान्मध्यमोत्तमम् ।

---

११० इस प्रकार के ताण्डव, लास्य आदि भेदागो मे उपयोगी (व्यक्तियो के) समाज को 'वृन्द' कहा जाता है। वह (वृन्द) तीन या पाँच प्रकार का होता है ।

१११ उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यमोत्तम, मध्य तथा कनिष्ठ—इस प्रकार पाँच भेद होते है। यह वृन्द परम कोलाहल से युक्त कहा गया है ।

(उत्तमोत्तम)

११२ जिसमे बारह मुख्य गायक, बारह गायिकायें, आठ विहालक, छै वाशिक, पाँच ओताकार, तीन पाटहिक तथा छै मार्दङ्गिक होते हैं, 'उत्तमोत्तम' वृन्द कहते है ।

(उत्तम)

११३ जिसमे छै गायक, आठ गायिकाये, पाँच या छै विहालक, चार वाशिक, चार ओताकार, चार मार्दङ्गिक तथा दो पाटहिक होते है, उसे वृन्दविशारद 'उत्तम' वृन्द कहते है ।

(मध्यमोत्तम)

११४ जिसमे पाँच मुख्य गायक, पाँच समगायक, छै गायिकाये, पाँच वाशिकी, तीन ओताकार, तीन पाटहिक तथा तीन मार्दङ्गिक होते है, वह 'मध्यमोत्तम' वृन्द होता है ।

११५ द्वौ गायकौ च गायिन्यौ तिस्रः स्युस्समगायिकाः ॥
त्रयो विहालका वंश्याः तिस्रश्चापि विहालिकाः ।
ओताकारत्रयं यत्र मार्दङ्गिकचतुष्टयम् ॥
यत्र पाटहिकद्वन्द्वं बृन्दमेतत्तु मध्यमम् ।
११६ एको मुख्यो भवेद्गाता द्वौ स्याता समगायकौ ॥
गायकौ वांशिकौ द्वौ द्वावोताकारद्व(त्र)यं तथा ।
एकः पाटहिको यत्र मार्दङ्गिकयुगं तथा ॥
एको विहालको यत्र कनिष्ठं बृन्दमुच्यते ।
११७ द्विपञ्चाशच्चतुर्स्त्रिशत्त्रिशत्षड्विंशतिस्तथा ॥
चतुर्दशाष्टादश वा सङ्ख्या बृन्देषु पञ्चसु ।
११८ मुख्यगाता समं गाता गायिनी वांशिकस्तथा ॥
ओताकारः पाटहिको यत्र मार्दङ्गिकद्वयम् ।
हुडुक्किकाकोहलिकौ यत्र जर्झरिकाद्वयम् ॥
वैणिकौ यत्र सुसमौ बृन्दं तत्स्यात्कनिष्ठकम् ।
११९ मुख्यानुवृत्तिचातुर्य तत्प्रयोगप्रगल्भता ॥
तालानुवर्तनन्यूनपदपूरणनैपुणम् ।

(मध्यम)

११५ जिसमे दो गायक, दो गायिकाये, तीन समगायिकाये, तीन विहालक, तीन वाशिक (वश्य), तीन विहालकाये, तीन ओताकार, चार मार्दङ्गिक तथा दो पाटहिक होते है, वह 'मध्यम' वृन्द कहलाता है।

(कनिष्ठ)

११६ जिसमे एक मुख्य गायक, दो समगायक, दो गायक, दो वाशिक, तीन ओताकार, एक पाटहिक, दो मार्दङ्गिक तथा एक विहालक होता है, उसे 'कनिष्ठ' वृन्द कहा जाता है।

११७ इन पाँचो वृन्दो मे (व्यक्तियो की) सख्या क्रमश बावन, चौतीस, तीस, छब्बीस तथा चौदह या अठारह होती है।

(कनिष्ठ)

११८ जिसमे एक मुख्य गायक, एक समगायक, एक गायिका, एक वाशिक, एक ओताकार, एक पाटहिक, दो मार्दङ्गिक, दो हुडुक्कीक, दो कोहलिक, दो जर्झरिक (घर्घरिक), दो वैणिक तथा दो सुसम होते हैं, वह 'कनिष्ठ' वृन्द कहलाता है।

(वृन्द-गुण)

११९ मुख्यानुवृत्ति की चतुरता, उसके प्रयोग मे प्रगल्भता, तालानुवर्तन की निपुणता, न्यून पद को पूरण करने की निपुणता, लय तथा ताल की एकाग्रता, एक जैसी

लयतालावधानं च साहृश्यैक्यविभावना ॥
भिन्नरागज्ञता स्थानत्रितयप्राप्तिशक्तता ।
एते बृन्दगुणाः प्रोक्ता बृन्दकोलाहलं विना ॥

१२० एतन्मार्गस्य देश्याश्च सामान्यमभिधीयते ।
नाट्याभिधाननिष्पत्तेरेतद्द्वितयमीरितम् ॥

१२१ नृत्तनृत्यविभागेन द्विधा मार्ग उदाहृतः ।
नृत्तं तु ताण्डवं नृत्यं लास्यमित्यभिधीयते ॥

१२२ अङ्गविक्षेपमात्रं यत्तालमानलयैर्युतम् ।
नृत्तं तदुद्धतैरङ्गहाराद्यैस्ताण्डवं भवेत् ॥

१२३ प्रेरणं प्रापणं देशीताण्डवं स्यादनुद्धतैः ।

१२४ लास्यं लताभेद्यकादि लास्याङ्गसहितं विदुः ॥
तदेव भूमिचारीभिर्मृद्वीभिर्ललितालयैः ।
देशीलास्याङ्गसंयुक्तं देशीलास्यमितीरितम् ॥
प्रायेण तत्कुण्डलीति देशरीत्यैव कल्प्यते ।
भाणादिनृत्यभेदेषु प्रायो लास्यं प्रयुज्यते ॥
ताण्डवं पूर्वरङ्गे स्याद्रूपकेषु रसानुगम् ।

१२५ यत्र ध्रुवाः प्रयुज्यन्ते चतस्रो गीतयोऽपि च ॥
तालमार्गाश्च सलयाः स मार्ग इति कथ्यते ।

भावना, भिन्न-भिन्न रागो का ज्ञान तथा तिगुने स्थान-प्राप्ति की क्षमता—वृन्द के कोलाहल के बिना ये सभी वृन्द के गुण कहे जाते है।

१२० इस (वृन्द) के मार्ग तथा देशी भेदो की समता (सामान्य) कही जाती है। नाट्य तथा अभिधान की निष्पत्ति से यह दुगुना कहा जाता है।

१२१ नृत्त तथा नृत्य भेद से मार्ग दो प्रकार का कहा जाता है। नृत्त को ताण्डव कहते हैं तथा नृत्य को लास्य कहा जाता है।

१२२ ताल, मान तथा लय से युक्त अग-विक्षेप मात्र जो नृत्त होता है, वह उद्धत अग-हारादि से 'ताण्डव' कहलाता है।

१२३ अनुद्धत (अगहारादि) से आगे बढाना (प्रेरण) बढ जाना (प्रापण) 'देशी' ताण्डव कहलाता है।

१२४ लास्यागो सहित लता, भेद्यक, आदि (नृत्य) 'लास्य' जाना जाता है। वही (लास्य) मृदुल-भूमिचारी, ललित-लय तथा देशी लास्यागो से युक्त 'देशी' लास्य कहा जाता है। प्राय वह 'कुण्डली' कहा जाता है और देश की रीति से ही कल्पित किया जाता है। भाणादि नृत्य के भेदो मे प्राय 'लास्य' का प्रयोग किया जाता है। ताण्डव पूर्वरग मे प्रयुक्त होता है और रूपको मे रस के अनुसार नृत्य का प्रयोग होता है।

(मार्ग में ध्रुवा का उपयोग)

१२५ जिसमे ध्रुवा,[१२] चार प्रकार की गीति[१३] तालमार्ग तथा लयो[१४] का प्रयोग किया जाता है, वह 'मार्ग' कहलाता है।

१२६ ध्रुवाः पञ्च प्रयोक्तव्या रसाभिनयसिद्धये ॥
प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽऽक्षेपिकी स्मृता ।
प्रासादिकी तृतीया तु चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा ॥
नैष्कामिकी पञ्चमीति ज्ञेयाः क्वापि क्वचिद्ध्रुवाः ।

१२७ नानार्थरससंयुक्ता पात्राणां नाट्यकर्मणि ॥
प्रवेशसूचनी गाथा या सा प्रावेशिकी स्मृता ।

१२८ उल्लङ्घितक्रमो यस्यामन्य आक्षिप्यते लयः ॥
ध्रुवा साऽऽक्षेपिकी नाम विज्ञेया नृत्तवेदिभिः ।

१२९ आक्षेपवशतो यासामन्तर समुपागता ॥
रङ्गं प्रसादयति या सैव प्रासादिका ध्रुवा ।

१३० सर्वासामन्तरा वस्तुरसादिवशकल्पिता ॥
आन्तरा सा ध्रुवा ज्ञेया नाट्याभिनयरञ्जनी ।

१३१ प्रस्तुतार्थस्य निर्योगे सर्वस्याङ्कान्तनिष्क्रमे ॥
या निष्कामगुणोपेता सैव नैष्कामिकी ध्रुवा ।

---

१२६ रस तथा अभिनय की सिद्धि के लिए पाँच प्रकार की ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए—(१) प्रावेशिकी, (२) आक्षेपिकी, (३) प्रासादिकी, (४) आन्तरा, तथा (५) नैष्कामिकी—इस प्रकार कही-कही ध्रुवाएँ जानी जाती है ।

(प्रावेशिकी)

१२७ नाट्य-कर्म मे पात्रो के प्रवेश की सूचना देने वाली विभिन्न अर्थों और रसो से युक्त जो गाथा (गीत) होती है, वह 'प्रावेशिकी' ध्रुवा कहलाती है ।

(आक्षेपिकी)

१२८ जिसमे क्रम का उल्लघन कर अन्य लय का आक्षेप किया जाता है, वह नृत्त-वेत्ताओ द्वारा 'आक्षेपिकी' ध्रुवा जानी जाती है ।

(प्रासादिकी)

१२९ जिसमे आक्षेपवश कुछ अन्तर आ जाता है और जो रगमच को प्रसन्न करती है, वह 'प्रासादिकी' ध्रुवा कहलाती है ।

(आन्तरा)

१३० वस्तु रस आदि के कारण जिस समस्त (ध्रुवा) मे अन्तर की कल्पना की जाती है, वह नाट्य के अभिनय को रग देने वाली 'आन्तरा' ध्रुवा जानी जाती है ।

(नैष्कामिकी)

१३१ प्रस्तुत अर्थ का विच्छेद होने पर अक के अन्त मे समस्त पात्रो के निष्क्रमण के समय जो निष्काम के गुणो से युक्त होती है, 'नैष्कामिकी' ध्रुवा कहलाती है ।

१३२ अलङ्कारा लया वर्णा गीतयो यतिपाणयः ।।
अपरस्परसम्बन्धा यस्मात्तस्माद्ध्रुवा स्मृता ।
१३३ जातिः स्थानं प्रमाणं च प्रकारो नामकल्पना ।।
ज्ञेया ध्रुवाणां नाट्यज्ञैर्विकल्पाः पञ्चहेतुकाः ।
१३४ वृत्ताक्षरप्रमाणं यत्सा जातिरिति संज्ञिता ।।
१३५ प्रवेशक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ।
इति पञ्चविधं गा(स्था)नं केचिदाहुर्मनीषिणः ।।
१३६ षट्कलाऽष्टकला चेति प्रमाणमिति कथ्यते ।
१३७ प्रकारः स प्रयोगो यः समार्धविषमादिकः ।।
१३८ ध्रुवाविधाने कथितं नाम ज्ञेयं ध्रुवागतम् ।
स्वेच्छानामानि कतिचिद्विद्यावृत्तविशेषतः ।।
१३९ गीतरोदनसम्भ्रान्तिप्रेषणोत्पातविस्मयाः ।
यत्र यत्र ध्रुवास्तत्र न योज्या नाट्ययोक्तृभिः ।।

(ध्रुवा)

१३२ जिसमे अलकार, लय, वर्ण, गीति, यति तथा पाणि अविचल रूप से सम्बद्ध रहते है, उसे 'ध्रुवा' कहा जाता है। [१५]

(ध्रुवा के विकल्प-हेतु)

१३३ जाति, स्थान, प्रमाण, प्रकार तथा नामकल्पना—इन पाँचो कारणो से नाटज्ञो द्वारा ध्रुवाओ के अनेक भेद जाने जाते है। [१६]

(जाति)

१३४ जो वृत्ताकार-प्रमाण होता है, वह 'जाति' नाम से जाना जाता है। [१७]

(स्थान)

१३५ कोई विद्वान प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम, प्रासादिक तथा आन्तर–इन पाँच प्रकारो को 'स्थान' कहते है। [१८]

(प्रमाण)

१३६ षट्कला और अष्टकला—यह 'प्रमाण' कहा जाता है।

(प्रकार)

१३७ सम, अर्द्धसम, विषम इत्यादि जो प्रयोग है, वह 'प्रकार' कहलाता है।

(नाम)

१३८ ध्रुवा के विधान मे ध्रुवागत कहा गया 'नाम' जाना जाता है। विद्या-वृत्त की विशेषता से कुछ अपनी इच्छा के नाम होते हैं। [१९]

१३९ जहाँ-जहाँ गीत, रोदन, सम्भ्रान्ति, प्रेषण, उत्पात तथा विस्मय हो, वहाँ नाट्य-प्रयोक्ताओ को ध्रुवाओ का प्रयोग नही करना चाहिए।

१४० यानि गीतकलाङ्गानि नानातोद्यानि तान्यथ ।
विज्ञेयानि ध्रुवासुष्ठुवृत्तैश्छन्दोगतैरिह ।।

१४१ नास्ति किञ्चिदवृत्तं यद्वाद्यमानकृताश्रयम् ।
गानं यद्वृत्ततो वाद्यं तद्वृत्तेन प्रयोजयेत् ।।
छन्दोवृत्तानि सर्वाणि विज्ञेयानि ध्रुवास्विह ।

१४२ यद्वृत्तप्रभवं वाद्यमङ्गवाद्यसमं तथा ।।
पूर्वरङ्गान्ततो वाद्यं ततो नृत्तं प्रयोजयेत् ।

१४३ गीतवाद्याङ्गसंयोगः प्रयोग इति कथ्यते ।

१४४ भाषा च शौरसेनीति ध्रुवाणामभिधीयते ।
दिव्यानां सप्रमाणं च ज्ञेयं संस्कृतभाषया ।।
गानं मर्त्यस्य कथितमर्धसंस्कृतभाषया ।
छन्दःप्रमाणसंयुक्तं स्तुत्याशीर्वादसंयुतम् ।।
देवद्विजमहीपानां संस्कृतं गानमिष्यते ।
वैश्यानां तु भवेद्गानमर्धप्राकृतसंस्कृतैः ।।
पैशाच्या भाषया गानं शूद्राणां मागधी तु वा ।
इतरेषामपभ्रंशभाषया गानमिष्यते ।।
अपभ्रष्टा विभाषा वा शकारादेरुदीर्यते ।

---

१४० जो गीत-कला के अग तथा विभिन्न आतोद्य हैं, उन्हे यहाँ सुष्ठु-वृत्त तथा छन्दोगत होने से ध्रुवा समझना चाहिए ।

१४१ जो वाद्यमान (आतोद्य) के आश्रित होता है, वह बिना वृत्त के किञ्चित नही होता । जिस वृत्त से गान का प्रयोग होता है, उसी वृत्त से वाद्य का प्रयोग करना चाहिए । यहाँ ध्रुवाओ मे सभी छन्द और वृत्तो को जानना चाहिए ।

१४२ जिस वृत्त से उत्पन्न वाद्य तथा समान अग-वाद्य होता है, पूर्वरग के पश्चात् वाद्य, तदनन्तर नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ।

१४३ गीत तथा वाद्य के अग-सयोग को 'प्रयोग' कहा जाता है ।

१४४ ध्रुवाओ की शौरसेनी भाषा कही जाती है । दिव्यो (देवताओ) का प्रमाण-सहित गान सस्कृत भाषा मे जाना जाता है । मनुष्य का गान अर्द्ध-सस्कृत भाषा मे कहा जाता है । देव, ब्राह्मण (द्विज) तथा राजाओ का छन्द तथा प्रमाण से युक्त और स्तुति तथा आशीर्वाद से युक्त गान सस्कृत भाषा मे कहा जाता है । वैश्यो का गान अर्द्धप्राकृत तथा अर्द्धसस्कृत भाषा मे होता है । शूद्रो का गान पैशाची या मागधी भाषा मे होता है । अन्यो का गान अपभ्र श-भाषा मे कहा जाता है । शकारादि की अपभ्रष्टा या विभाषा की जाती है ।

१४५ उपमेयगुणा ये स्युः नेत्रादीनां गुणाश्रयाः ।।
उत्तमाधममध्यानां स्त्रीणामपि च तत्त्वतः ।
यथावदवगम्यैते प्रयोज्या नाटचकोविदैः ।।

१४६ नेत्रादेर्देवतौपम्ये सूर्याग्निपवनाः स्मृताः ।
रक्षोदैत्योद्धतानां च मेघपर्वतसागराः ।।
सिद्धगन्धर्वयक्षादेः कुञ्जरर्षभशाखिनः ।
राजहंसर्षभगजशार्दूलाः पृथिवीभुजाम् ।।
एत एव प्रयोज्याः स्युरुदात्तोत्तमयोरपि ।
नागशार्दूलवृषभान्न दिव्येषु प्रयोजयेत् ।।
क्रव्यादा महिषर्क्षाश्च विप्राणां रुरवः स्मृताः ।

१४७ सारसाः शिखिनः क्रौञ्चाश्चक्राह्वाः कुमुदाकराः ।।
मध्यमैरुपमेयाः स्युः प्रयोज्या नाटचकर्मणि ।

१४८ कोकिलाः षट्पदाः काका बकाश्चाषाश्च कौशिकाः ।।
अधमैरुपमेयाः स्युस्तत्तदर्थानुकूलतः ।

१४९ शर्वरी वसुधा ज्योत्स्ना पद्मिनी द्यौः करेणुका ।।
नायिकानामुदात्तानामुपमेयगुणाः स्मृताः ।

---

१४५ जो 'उपमेयगुण तत्त्वत' नेता आदि पात्रो के तथा उत्तम, मध्यम और अधम स्त्रियो के गुणो के आश्रित होते है, उन्हे यथावत् (भलीभाँति) समझकर नाट्-यज्ञो को प्रयोग करना चाहिए।

१४६ देवता-नेता आदि की उपमा मे सूर्य, अग्नि तथा पवन उपमेय कहे जाते है। राक्षस, दैत्य तथा उद्धत प्रकृति वालो के मेघ, पर्वत तथा सागर उपमेय कहे जाते हैं। सिंह, गन्धर्व तथा यक्ष आदि के कुञ्जर (हाथी), ऋषम (बैल) तथा शाखी (वृक्ष) उपमेय होते है। राजाओ के राजहस, ऋषभ, गज तथा शार्दूल उपमेय कहे जाते है। उदात्त तथा उत्तम (नायको) के लिए भी इन्ही (उपमेयो) का प्रयोग करना चाहिए। दिव्य प्रकृति के नायको के लिए नाग, शार्दूल तथा वृषभ (उपमेयो) का प्रयोग नही करना चाहिए। ब्राह्मणो के क्रव्याद (कच्चा मास खाने वाला), महिष (भैसा), रीछ तथा रुरु (मृग) उप-मेय कहे जाते हैं।

१४७ नाट्य-कर्म मे मध्यम (नायको) के लिए सारस, मोर, क्रौच, चकवा तथा कुमुदाकर (कमलो से भरा हुआ सरोवर) उपमेयो का प्रयोग करना चाहिए।

१४८ अधम (नायको) के उस-उस अर्थ की अनुकूलता से कोयल, भ्रमर, काक (कौआ), बक (बगुला), आष तथा उल्लू उपमेय होते हैं।

१४९ उदात्त प्रकृति की नायिकाओ के शवरी, वसुधा (पृथ्वी), ज्योत्स्ना (चाँदनी), पद्मिनी, द्यौ (स्वर्ग) तथा करेणुका उपमेय-गुण कहे जाते हैं।

१५० दीर्घिका कलिका मल्ली सारसी शिखिनी मृगी ।।
नायिकानां मध्यमानामुपमेयाः स्युरर्थतः ।
१५१ भ्रमरी कुररी काकी परपुष्टा च मालिका ।।
वेश्यानामधमानां स्युरुपमेयगुणा अमी ।
१५२ यद्वस्तु सुभगं हृद्यम्मतं दैवतमानुषैः ।।
उपमेयं भवेत्तच्च गीतवृत्तिषु गायनैः ।
१५३ एवं विभाव्य भरतैर्यथाभावं यथारसम् ।।
यथार्थमेतन्नाटचं च प्रयोज्योऽभिनयः सदा ।
१५४ वृक्षत्वशिंशुपात्वादेर्यथा तादात्म्यमुच्यते ।।
तथा भवेत्काव्यबन्धे तादात्म्यं रसभावयोः ।
१५५ वागङ्गसत्त्वाभिनया भावाः स्युर्नाटचकोविदैः ।।
रसोऽभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यसमुच्चयात् ।
उभौ पदार्थवाक्यार्थवाच्यौ भवितुमर्हतः ।।
१५६ स्थायी वा सात्त्विको वापि सञ्चारी वा क्वचित्क्वचित् ।
भावो वाक्यार्थतामेति तत्तद्भावविशेषतः ।।
केवलं न रसः काव्ये वाक्यार्थत्वमुपैष्यति ।

---

१५० मध्यम नायिकाओ के अर्थत दीर्घिका (बावडी), कलिका (कली), मल्ली (माल्लिका), सारसी, मोरनी तथा मृगी उपमेय होते है ।

१५१ अधम वेश्याओ के भ्रमरी, कुररी, काकी (कौओ), परपुष्टा (कोयल) तथा मालिका—ये उपमेय गुण होते है ।

१५२ जो वस्तु देवता तथा मनुष्यो के द्वारा सुभग (सुन्दर) तथा हृदयाकर्षक कही जाती है, वह गीत तथा वृत्तियो मे गायको द्वारा उपमेय कही जाती है।

१५३ इस प्रकार समझकर भरतो को सदा यथाभाव, यथारस तथा यथार्थत इस नाट्य का प्रयोग और अभिनय करना चाहिए ।

१५४ वृक्षत्व, शिंशुपात्व आदि का जैसे तादात्म्य कहा जाता है, उसी प्रकार काव्य-बन्ध मे रस और भाव का तादात्म्य होना चाहिए ।

१५५ नाट्यज्ञो द्वारा वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय भाव कहलाते है । वाचिक, आगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय के समुच्चय से रस का अभिनय होना चाहिए । दोनो (रस तथा भाव) क्रमश पदार्थ तथा वाक्यार्थ—वाच्य होने के योग्य हैं ।

१५६ स्थायी-भाव, सात्त्विक-भाव या सचारी-भाव कही-कही उस-उस भाव की विशेषता से वाक्यार्थता को प्राप्त होता है। काव्य मे केवल रस ही वाक्यार्थता को प्राप्त नही होता । अलकार वाक्यार्थ होता है और गुण भी

अलङ्कारोऽपि वाक्यार्थः स्याद्गुणोऽपि च वाक्यतः ।।
वाक्यवाक्यार्थवशतो ध्वन्यन्ते तेऽपि कुत्रचित् ।
भावा रसाश्च योज्यास्स्युर्नृत्यनृत्तात्मना नटैः ।।

१५७ उदाहरणमेतेषां दिङ्मात्रमभिधीयते ।

१५८ तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान् ।।

यथा—

'प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी
निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया ।।
समादधे नांशुकमाहितं वृथा
विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ।।'

वाचं यच्छतः प्रियस्यावलोकनायोन्मुख्या निबद्धदृष्टित्वश्लथकेशपाशत्वपुष्पस्पर्शानभिज्ञत्वविभाव्यमानस्तम्भसम्भ्रमाङ्गसादादिभावैः सम्भोगशृङ्गारः प्रकाश्यत इति तादात्म्यम् ।।

१५९ वाक्यार्थता स्थायिनोऽपि कालिदासेन दर्शिता ।।

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।

वाक्य से होता है। वाक्य तथा वाक्यार्थ से वे कही ध्वनि हो जाते है। नटो को भाव तथा रसो की नृत्य तथा नृत्त के रूप मे योजना करनी चाहिए।

१५७ इन सभी के दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है

१५८ (१) भाव तथा रस का तादात्म्य भारवि ने स्पष्ट कहा है। जैसे—किराताजुंनीय मे किसी अप्सरा का प्रेमो के साथ होने वाली अवस्था का वर्णन—
"कोई दूसरी अर्थात् एक अप्सरा अपने प्रिय के वार्तालाप मे तन्मनस्क होकर एकटक देखने लगी और उसकी ओर मुँह किये हुए खडी हो गयी। उसकी नीवी खिसक गयी। वह उसे सम्हालना भूल गयी। 'फूलो की तरह पल्लव के सदृश उसका हाथ ठीक नही पड रहा था'—यह भी उसे न मालूम हो सका अर्थात् इतना वह उसके प्रेमालाप मे आसक्त थी कि अपने शरीर की तथा कार्य की भी सुधि उसे न रही।"
यहाँ वार्तालाप करते हुए प्रिय के अवलोकन के लिए प्रियोन्मुखी नायिका मे तथा निबद्ध-दृष्टि (एकटक देखना), शिथिल केश-पाश (केश-पाश का शिथिल होना) तथा पुष्प-स्पर्श की अनभिज्ञता से विभाव्यमान स्तम्भ, सम्भ्रम तथा अगसाद आदि भावो से 'सम्भोग-शृगार' प्रकट होता है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण मे भाव तथा रस का तादात्म्य स्पष्ट हुआ है।

१५९ (२) स्थायी-भाव की वाक्यार्थता महाकवि कालिदास ने स्पष्ट की है। जैसे—कुमार-सम्भव मे पार्वती की अवस्था का वर्णन—
"जब शकर पार्वती को पुकारते थे तो वह उत्तर ही नही देती थी, जब शकर उसके आँचल को पकड लेते थे, तो वह उठकर जाना चाहती थी और एक शय्या पर सोते समय वह दूसरी ओर मुँह करके सोती थी। इस तरह यद्यपि वह शकर का रतिक्रीडा मे विरोध ही करती थी, किन्तु फिर भी इन क्रियाओ के द्वारा शकर मे रति को उत्पन्न करती थी।"

सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥'
एभिर्भावविशेषैरेषा रतयेऽभूदिति स्थायिनो वाक्यार्थता ।

१६० सात्त्विकभावस्य वाक्यार्थता यथा—
'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानी'ति भारविर्दर्शिता ।
बाष्पाकुललोचनत्वं सात्त्विको भावः ।

१६१ बृहद्बकुलवीथ्यां सञ्चारिणा वाक्यार्थता यथा—'गमनमलसं शून्या दृष्टि'रित्यादि अत्र सञ्चारिण एव वाक्यार्थः । 'पाणिपीडनविधेरनन्तर'मित्यत्र कामदौहृदसुखमन्वभूदिति सम्भोगशृङ्गारो वाक्यार्थः । 'गगनं गगनाकारं सागरः

प्रस्तुत उदाहरण मे रतिक्रीडा मे विरोधी इस प्रकार के विशेष भावो से भी रति ही उत्पन्न हुई है, अत यहाँ स्थायी-भाव की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।

१६० (३) सात्त्विक-भाव की वाक्यार्थता, जैसे—
"एक अप्सरा, जिस समय उसका प्रेमी गन्धर्व-भ्रम से उसकी सपत्नी के नाम से उसे तारस्वर से सम्बोधित कर पुष्पो का गुच्छा प्रदान कर रहा था, मानकर कुछ भी नही बोली और आँखो मे आँसू भरकर केवल पैर से भूमि खोदने लगी ।"[२०]
प्रस्तुत उदाहरण मे भारवि ने सात्त्विक-भाव की वाक्यार्थता स्पष्ट की है । यहाँ 'आँखो मे आँसू भर जाना' सात्त्विक-भाव है ।

१६१ (४) विशाल बकुल-वृक्षो की पक्ति के समान बहुसख्यक सचारी-भावो की वाक्यार्थता, जैसे—
"गमन आलस्य युक्त, दृष्टिशून्य, शरीर प्रसाधन के सौन्दर्य से रहित और श्वास अधिक रूप से चल रहा है । यह क्या है ? अथवा इससे भिन्न क्या होगा ? लोक मे कामदेव की आज्ञा विचरण कर रही है और यौवन विकारपूर्ण है । सुन्दर और प्रिय वे वे चन्द्र आदि प्रसिद्ध पदार्थ धैर्य को हटा रहे है ।"[२१]
प्रस्तुत उदाहरण मे आलस्य, शून्यता आदि सचारी-भाव ही वाक्यार्थ है ।
(५) "पाणिग्रहण सस्कार के पश्चात् पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती का शरीर शकर के प्रति उनके सहज प्रेम-भाव तथा साथ ही उत्पन्न होने वाले सकोच के कारण अतीव मनोहर हो उठा ।"[२२]
प्रस्तुत उदाहरण मे पार्वती को कामवश दोहद-सुख का अनुभव हुआ है अत यहाँ 'सम्भोग-शृगार' की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।
(६) "आकाश आकाश के समान (विशाल) है, समुद्र समुद्र के समान (गम्भीर) है, राम और रावण का युद्ध राम और रावण के ही युद्ध के समान (भीषण) है ।"[२३]
यहाँ उपमा अलंकार ही वाक्यार्थ है ।
(७) "अधर किसलय तुल्य वर्ण का है । दोनो बाहुएँ कोमल शाखाओ की

सागरोपमः' इत्यत्र उपमाऽलङ्कार एव वाक्यार्थः। 'अधरः-किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणा'वित्यत्र रूपकालङ्कार एव वाक्यार्थः। एवमुभयालङ्कारा ऊह्याः ॥

१६२ शब्दो गुणीभवेत्स्वस्ववाच्यार्थगुणगौरवात् ।

यथा—'तन्वी श्यामा शिखरिदशने'त्यत्रालम्बनगतविशिष्ट-गुणाभिधायकतया प्रसादाख्यः शाब्दो गुणविशेषो वाक्यार्थ इत्यवगम्यते ।

१६३ यथाक्रममथैतेषां ध्वनिवाक्यार्थतोच्यते ॥

'यान्त्या मुहुर्बलितकन्धरमाननं त'दित्यत्र 'हृदये गाढ निहितः कटाक्ष' इत्यत्र च वाक्यार्थं उभयोरपि स्थायिनी रतिर्वाक्यार्थतया व्यज्यते ।

अनुकारिणी है। पुष्प के समान चित्ताकर्षक यौवन इसके समस्त अगो मे व्याप्त है।"[२४]

यहाँ रूपक-अलकार ही वाक्यार्थ है।

इसी प्रकार दोनो प्रकार (शब्दालकार तथा अर्थालकार) के अलकारो को समझना चाहिए।

१६२ (८) स्व-स्व-वाच्यार्थ-गुण के गौरव से शब्द गुणी होता है। जैसे—मेघदूत मे यक्ष मेघ से अपनी पत्नी के चिह्नो को कहते हुए कहता है—

"दुबली-पतली, युवावस्था को प्राप्त, तीखे दाँत, पके हुए बिम्ब के समान निचले होठ, पतली कमर, भयभीत हरिणी के समान नयन, गहरी नाभि एव नितम्ब-भार से मन्द-मन्द गति वाली, स्तनो से कुछ झुकी सी तथा युवतियो मे ब्रह्मा की प्रथम रचना सी जो (स्त्री) वहाँ (घर मे) हो उसे मेरी पत्नी समझना।"[२५]

प्रस्तुत उदाहरण मे आलम्बनगत विशिष्ट गुणो के कथन से प्रसाद नामक विशेष शब्द गुण वाक्यार्थ जाना जाता है।

१६३ (९) अब क्रमश इन सभी की ध्वनि-वाक्यार्थता कही जाती है—

"बारम्बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृत्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड नेत्र लोमो से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय मे दृढता से जैसे प्रवेशित कर दिया है।"[२६]

प्रस्तुत उदाहरण मे 'हृदय मे दृढतापूर्वक निहित कटाक्ष'—यह वाक्यार्थ दोनो की (माधव और मालती की) स्थायी-रति रूप वाक्यार्थता को व्यजित (ध्वनित) करता है।

१६४ जाओ सोवि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुपगूढो ।
पढमोसरिअस्स णिअसणस्स गण्ठि विमग्गन्तो ॥
अत्र सोऽपि विलक्षो जात इति वाक्यार्थादङ्गसादवैवर्ण्यादि सात्त्विकविशेषो व्यज्यते ।

१६५ निशि निशि विरहे तव प्रियाया
भवति विलोचनमिन्दुकान्तलीलम् ।
भवति च वदनं सरोजमस्या
बिसतनुसूत्रसमा तनुश्च तन्वी ॥
अत्र लोचनमिन्दुकान्तं भवति वदनं सरोजं भवति बिससूत्रसमा तनुरिति वाक्यैः बाष्पजाड्यकार्श्यपाण्डिमोद्भाव्यव्याध्यादयो भावा व्यज्यन्ते इति सञ्चारिणां ध्वनितास्थितिः प्रदर्श्यते ॥

१६६ अहअं लज्जालुइणी तस्सअ उम्मच्छराइ पेम्माइ ।
सहिआअणो वि णिउणो हलाओ किं पाअराएण ॥
अत्र सख्यः कि पादरागेणेति निषेधरूपाद्वाक्यादुभयोरपि सम्भोगसम्पद्व्यज्यत । इति रसध्वनिः ।

---

१६४ (१०) कोई सखी अपने और प्रिय के परस्पर-अनुराग से उत्पन्न निज सौभाग्य को प्रकट करती हुई किसी सखी से कहती है—
"हे सखी ! प्रिय के दर्शन मात्र से ही जब मेरे अधोवस्त्र की ग्रन्थि खुल गई तो वह लज्जित हो गये और मैने हँसकर उनका गाढालिंगन कर लिया ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे 'वह लज्जित हो गये' इस वाक्यार्थ से अगसाद, वैवर्ण्य आदि विशेष सात्त्विक-भाव व्यजित होते हैं ।

१६५ (११) "प्रतिरात्रि तेरे विरह मे प्रिया के नेत्र इन्दु-कान्ति के समान शुभ्र वर्ण वाले हो जाते है, उसका मुख कमल की आभा के समान सुशोभित होता है तथा वह तन्वी विसतन्तुओ के समान कृश शरीर वाली हो जाती है।"
प्रस्तुत उदाहरण मे 'लोचनमिन्दुकान्त भवति', 'बदन सरोज भवति' तथा 'विससूत्र-समातनु'—इन वाक्यो से वाष्प, जडता, कृशता, पाण्डुता, ओद्भाव्य तथा व्याधि आदि भाव व्यजित होते है । इस प्रकार सचारी-भावो की ध्वनि-स्थिति प्रकट की जाती है ।

१६६ (१२) कोई स्वाधीन-भर्तृका (नायिका) अपने प्रिय के गाढानुराग की तथा अपने सौभाग्य की सूचना देती हुई पैरो मे महावर लगाती हुई प्रसाधिका से 'कहती है—
'अरी ! पादराग से क्या लाभ ? रहने दे । सखियाँ बडी चतुर है, किंचित चिह्न मात्र से वह सब रहस्य समझ जाती है । मै लज्जालु हूँ और उनके उत्कट प्रेम है ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे नायिका का यह कहना है कि 'किं पादरागेण'—इस निषेधात्मक वाक्य से दोनो (नायक और नायिका) का सम्भोग व्यजित होता है। यह रस-ध्वनि है ।

१६७ 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥'

अत्रोपमानभूतोत्पलशशिद्विरदकुम्भकदलकाण्डमृणालदण्डैरुपमेया नेत्रवक्त्रस्तनोरुबाहा व्यज्यन्त इति कदाचिदलङ्कारोऽपि ध्वनिर्भवति ॥

१६८ 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ॥'

एतैरुपमानैः सर्वसत्त्वाश्रययोग्यत्वस्थिरप्रतिज्ञत्वविपत्प्रतीकारसामर्थ्यसर्वाभिगम्यत्वादयो व्यज्यन्त इत्यलङ्कारोऽपि व्यञ्जकः ।

१६९ 'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥'

अत्रार्थगुणनाम्ना शब्दविशेषेण स्वस्ववाच्यगुणा-

---

१६७ (१३) नदी के किनारे स्नानार्थ आयी हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिकजन की यह उक्ति है । इसमे युवती का स्वय नदी रूप मे वर्णन है— "यहाँ यह नयी कौन सी लावण्य की नदी आ गयी है, जिसमे चन्द्रमा के साथ कमल तैरते है, जिसमे हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीकाण्ड तथा मृणालदण्ड दिखायी देते है ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे उपमानभूत उत्पल, शशि, द्विरदकुम्भ, कदल-काण्ड तथा मृणालदण्ड से क्रमश नेत्र, मुख, स्तन, ऊरु तथा भुजा रूप उपमेय व्यजित होते है । इस प्रकार कभी अलकार भी ध्वनि होता है ।

१६८ (१४) "(वह) गम्भीरता मे समुद्र के समान, धैर्य मे हिमालय के समान, पराक्रम मे विष्णु के समान तथा दर्शन मे चन्द्रमा के समान प्रिय है ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे समुद्र, हिमालय, विष्णु तथा चन्द्रमा आदि उपमानो से क्रमश सभी प्राणियो को आश्रय प्रदान करने की योग्यता, स्थिर प्रतिज्ञा, विपत्तियो का प्रतीकार करने की सामर्थ्य तथा सभी की सेवा करने की योग्यता आदि उपमेय व्यजित होते है । अत अलकार भी व्यजक होता है ।

१६९ (१५) "धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहकार वाला तथा दृढव्रत होता है ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे अर्थगुण नामक शब्द विशेष से अपने-अपने वाच्य-गुण के आश्रयभूत समवायि महाबलत्व, दुखगाहत्व, अपराधसहनशीलता, सत्यवादिता,

श्रयभूतसमवायिमहाबलत्वदुरवगाहत्वापराधसहत्वसत्यवादित्वान-तिलङ्घनीयत्वसर्वस्वदानक्षमत्वाभेद्यत्वादयोऽर्था व्यज्यन्ते। अत्र गुणगुणिनोस्तादात्म्याद्गुणा अपि व्यज्यन्त इत्यर्थः।

ईदृगर्थाश्च दृश्यन्ते प्रबन्धेषु महाकवेः ॥

१७० नृत्तनृत्यविभागोऽयं विज्ञेयो नाट्यकोविदैः ॥
नृत्तनृत्यविभागात्मा नाट्ये योऽभिनयो भवेत्।
स मार्गसंज्ञां लभते सर्वातोद्यसमन्वितः।

१७१ सुकुमारप्रयोज्य यत्तन्नृत्यमिति कथ्यते ॥
प्रयोज्यमुद्धतं यत्तु तन्नृत्तमिति कथ्यते।
नृत्यप्राधान्यतो नाट्यप्रयोगो रूपकादिषु ॥
प्रयोगस्तोटकादीनां नृत्यप्राधान्यतो भवेत्।
उभयत्र प्रयोक्तव्यं देशरीतियुतं नटैः ॥
विशेषतस्तोटकादि देशरीतिमदुच्यते।
देशभाषाक्रियायुक्तं गीते वाद्ये च नर्तने ॥
तोटकादि प्रयोक्तव्यं नटैर्नाट्यविशारदैः।
देशान्पृथग्विजानीयान्नटस्तद्रीतिवित्तये ॥

१७२ देशो भारतवर्षाख्यो नवसाहस्रयोजनः।
आसेतोराहिमगिरेरायामः परिकीर्तितः ॥

अनतिलङ्नीयता, सर्वस्वदान की क्षमता, आभेद्यत्व आदि व्यजित होते है। यहाँ गुण-गुणी के तादात्म्य-गुण भी व्यजित होते है। इस प्रकार के अर्थ महा-कवि के प्रबन्धो मे देखे जाते है।

१७० नाट्यवेत्ताओ को नृत्त तथा नृत्य का यह विभाग जानना चाहिए। नाट्य मे नृत्त तथा नृत्य का विभाग रूप जो अभिनय होता है, वह सभी आतोद्य से युक्त 'मार्ग' नाम से जाना जाता है।

१७१ जो सुकुमार प्रयोग होता है, वह 'नृत्य' कहा जाता है। जो उद्धत प्रयोग होता है, वह 'नृत्त' कहा जाता है। रूपक आदि मे नृत्य की प्रधानता से नाट्य का प्रयोग होता है। तोटक आदि का प्रयोग नृत्य की प्रधानता से होता है। नटो को दोनो स्थानो पर देश की रीति से युक्त प्रयोग करना चाहिए। विशेषत तोटक आदि देश की रीति से युक्त कहे जाते है। गीत, वाद्य तथा नर्तन मे नट तथा नाट्यविशारदो को देश की भाषा तथा क्रिया से युक्त तोट-कादि का प्रयोग करना चाहिए। उन (देशो) के रीति-ज्ञान के लिए नट को देशो का पृथक्-पृथक् ज्ञान करना चाहिए।

१७२ भारतवर्ष नामक देश की हिमालय से लेकर सेतुबन्ध तक नौ हजार योजन लम्बाई कही जाती है तथा पूर्व से पश्चिम तक सात हजार योजन चौडाई कही

तारः पूर्वापराद्यन्तः सप्तसाहस्रयोजनः ।
वसन्ति मर्त्याः सर्वत्र प्राप्ते कृतयुगे सुखम् ॥
त्रेतायुगे द्वापरे च हिमाक्रान्तिभयाज्जनाः ।
पादं पादं विसृज्यैते श्रयन्ते दक्षिणापथम् ॥
योजनानां सहस्रे द्वे सपञ्चाशच्छतद्वयम् ।
प्राप्ते कलियुगे मर्त्याश्चरन्ति वसुधातले ॥
यक्षा विद्याधराः सिद्धा गन्धर्वाश्च महर्षयः ।
क्रीडन्ति स्त्रीगणैः सार्धमुत्तरापथभूमिषु ॥
अस्य भारतवर्षस्य चतुर्थो दक्षिणापथः ।
चतुष्षष्टिभिदाभिन्नो नानाजनपदाश्रयः ॥
पाण्ड्याः सकेरलाश्चोलाः सिन्धुसिंहलपामराः ।
कलिङ्गयवनम्लेच्छपारसीकशकाह्वयाः ॥
गौडलाटविदर्भाश्च कामरूपान्ध्रकोङ्कणाः ।
कर्णाटसुह्मकाम्भोजहूणकारूशगुर्जराः ॥
ससौराष्ट्रमहाराष्ट्रहिम्मीरावन्त्यनूपजाः ।
अङ्गा वङ्गाश्च बङ्गालाः काशीकोसलमैथिलाः ॥
किरातवर्ध्रकारट्टकुरुपाञ्चालकेकयाः ।
औढ्रमागधसौवीरदशार्णमगधाह्वयाः ॥
नेपालजैनबाह्लीकपल्लवक्रथकैशिकाः ।
सुशूरसेनकाजानकारूशयवनादयः ॥
यदवश्चक्रकुरवपार्वतीयाः सहैमनाः ।

जाती है। सतयुग आने पर मनुष्य सर्वत्र सुखपूर्वक वास करते है। त्रेता और द्वापर के आने पर मनुष्य हिम-आक्रान्ति के भय से चोटी-चोटी को छोडकर दो हजार दो सौ पचास योजन तक फैले हुए दक्षिणापथ का आश्रय लेते है। कलियुग आने पर मनुष्य पृथ्वी पर विचरण करते है। उत्तर-दिशा की भूमि पर यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व तथा महर्षिजन स्त्रियो के साथ क्रीडा करते है। इस भारतवर्ष के चतुर्थाशदक्षिणापथ पर चौसठ प्रकार का जनसमूह निवास करता है—पाण्ड्य, केरल, चोल, सिन्धु, सिंहल, पामर, कलिंग, यवन, म्लेच्छ, पारसी, कशक, गौड, लाट, विदर्भ, कामरूप, आन्ध्र, कोकण, कर्णाट, सुह्म, काम्भोज, हूण, कारुश, गुर्जर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, हिम्मीर, आवन्ती, अनूपज, अग, बग, बगाल, काशी, कोसल, मैथिल, किरात, वर्ध्रकारट्ट, कुरु, पाञ्चाल, कैकय, औद्र, मागध, सौवीर, दशार्ण, मगध, नेपाल, जैन, बाह्लीक, पल्लव,

काश्मीरमरुकेङ्काणनग्नाश्च सहमङ्कणाः ।।
महेन्द्रदुहितुस्सेतोरेते मध्यमुपाश्रिताः ।
एतेऽष्टादशभिर्भाषाभेदैर्व्यवहरन्ति च ।।
ता भाषास्तेषु केषाञ्चिद्देशानां नामभिः कृताः ।
१७३ द्रमिडाः कन्नडान्ध्राश्च हूणहिम्मीरसिंहलाः ।।
पल्लवा यवना जैनाः पार्वतीयाः सपामराः ।
कषवर्ध्रककाम्भोजशकनग्नाः सवाकटाः ।।
एतेऽष्टादशभाषाणामाश्रयाः सहकोङ्कणाः ।
एता भाषाश्च सर्वत्र म्लेच्छभाषेत्युदाहृताः ।।
१७४ तत्तद्देशेषु सङ्गीतं तत्तद्भाषाभिरन्वितम् ।
देशीति देशिकमपि कथयन्ति मनीषिणः ।।
१७५ भाषा नाटचोपयोगिन्यः स्युः षट्पञ्चाथ सप्त वा ।
संस्कृतप्राकृताख्या च पैशाची मागधी तथा ।।
शौरसेनीति पञ्च स्युरपभ्रंशयुताश्च षट् ।
अपभ्रंशाह्वयां भाषां सप्तमीमपरे विदुः ।।
१७६ एता नागरकग्राम्योपनागरकभेदतः ।
त्रिधा भवेयुरेतासां व्यवहारो विशेषतः ।।

क्रथ, कैशिक, शूरसेन, काजान, कारुश, यवन, यदव, चक्र, कुरव, पार्वतीय, हैमन, काश्मीर, मरु, केंकाण, नग्न तथा हमकण—ये सभी महेन्द्र-सुता के सेतु के मध्य मे वास करते हैं और अठारह प्रकार की भाषाओ से परस्पर व्यवहार करते है। वे भाषाएँ उन (देशो) मे से कुछ देशो के नामो से जानी जाती है।

१७३ द्रमिड, कन्नड, आन्ध्र, हूण, हिम्मीर, सिंहल, पल्लव, यवन, जैन, पार्वतीय, पामर, कष, वर्ध्रक, काम्भोज, शक, नग्न, वाकट तथा कोकण—ये सभी अठारह भाषाओ के आश्रय कहे जाते है। ये भाषाएँ सर्वत्र म्लेच्छ-भाषा कहलाती हैं।

१७४ विद्वान उन-उन देशो मे उन-उन भाषाओ से युक्त सगीत को 'देशी' या 'देशिक' कहते है।

१७५ पाँच, छै या सात भाषाएँ नाट्य के लिए उपयोगी होती है। सस्कृत, प्राकृत, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी—ये पाँच भाषाएँ होती हैं, छठी अपभ्र श कह-लाती हैं। कोई दूसरे जन अपभ्र श को सातवी भाषा स्वीकार करते है।

१७६ नागरक, ग्राम्य तथा उपनागरक भेद से इन भाषाओ का व्यवहार विशेषत तीन प्रकार का होता है।

१७७ एवं देशविभागांश्च देशभाषा दशाष्ट च ।
देश्योपचारान्देश्यांश्च तालान्सङ्गीतकानि च ॥
सङ्ख्याश्च परिवर्तानां गीते मात्राः कलाकृताः ।
विश्रामानपि तत्सङ्ख्यान् गीते वाद्ये कलावशात् ॥
गीते धातुषु सर्वत्र समार्धविषमादिषु ।
प्रवेशांश्च विदारीणां कालसङ्ख्याः समात्रिकाः ॥
वितालमनुतालांश्च भग्नतालक्रमानपि ।
यथावदभिगम्यैतान्प्रयुञ्जयान्नाट्यकोविदः ॥

१७८ पौरजानपदानाञ्च देशे देशे महीभृताम् ।
आचारश्चोपचारश्च व्यवहारा अलङ्क्रियाः ॥
आकाराश्चैव वेषाश्च विहाराश्च पृथक्पृथक् ।
तांस्तान्विशेषान् जानीयात्तत्तद्देशानुरूपतः ॥
तां तां प्रकृतिमास्थाय नाट्येनाभिनयेन्नटः ।

१७९ वैभाषिकाद्विभाषाश्च यथावत्परिकल्पयेत् ॥
शकाराभीरचण्डालपुलिन्दाश्शबरास्तथा ।
हालिका भैरवाश्चेति सप्त वैभाषिकाः स्मृताः ॥
विश्रामे गीतपाठ्यादेः सदस्यानां नटादिभिः ।
परिहासाय योक्तव्या देशभाषाभिरन्विताः ॥

---

१७७ इस प्रकार देश-विभाग, आठ-दस देश-भाषाएँ, देशोपचार, देशी-ताल और सगीतक, परिवर्तो की सख्या, गीत मे मात्रा तथा कला, गीत तथा वाद्य मे कलावश विश्राम तथा उनकी सख्या, गीत तथा सम, अर्धसम, विषम आदि सर्वत्र धातुओ मे प्रवेश, विदारिओ की मात्रा तथा कालसख्या, विताल, अनुताल तथा भग्नतालक्रम—इन सभी को यथावद् समझकर नाट्यविद को प्रयोग करना चाहिए ।

१७८ देश-देश मे पौरवासियो तथा राजाओ के आचार, उपचार, व्यवहार, अलकार, आकार, वेष तथा विहार—उन-उन विशेषो को उस-उस देश की अनुरूपता से अलग-अलग समझना चाहिए और उस-उस प्रकृति का आश्रय लेकर नट को नाट्य से अभिनय करना चाहिए ।

१७९ वैभाषिक (विभाषा बोलने वाला) से विभाषाओ की यथावत् कल्पना करनी चाहिए । शकार, आभीर, चण्डाल, पुलिन्द, शबर, हालिक तथा भैरव—ये सात 'वैभाषिक' कहे जाते है । नट आदि को गीत, पाठ्य आदि के विश्राम मे सदस्यो के परिहास (मनोरजन) के लिए देश की भाषाओ से युक्त इन (वैभाषिको) का प्रयोग करना चाहिए ।

१८० शकारा गिरिकुञ्जेषु शकारप्रायभाषिणः ।
रक्ताक्षाः कृष्णकेशाश्च तुन्दिला दन्तुरास्तथा ॥
कार्पासकर्परप्रायवसनाः सहयोषितः ।
१८१ आभीराः काननस्रोतस्विनीतीरनिवासिनः ॥
सगोकुला हास्यवेषाः सहपुत्रकलत्रिणः ।
भाषां चषभषप्रायां व्याहरन्ति यतस्ततः ॥
१८२ ग्रामोपान्तवने वासः क्रूरवेषा गवाशनाः ।
ह्रस्वकालाङ्गतेजाश्च(?) श्वपचप्रायभाषिणः ॥
कदन्नभोजिनो वन्याश्चण्डाला इत्युदीरिताः ।
१८३ गिरिकाननवेश्मानः मधुमैरेयपायिनः ॥
बकुलप्रायवसनाः सस्त्रीका गीतसादराः ।
पुलिन्दाः स्युः सरमरप्राया भाषामुपाश्रिताः ॥
१८४ पर्वतप्रायवसनाः पल्लीपर्वतवासिनः ।
शार्दूलमृगयाक्रीडाः फलाहाराः फलप्रियाः ॥
शबराश्चर्मरप्रायकेशा लेलेतिभाषिणः ।

(शकार)

१८० पर्वत और कुजो मे निवास करने वाले, प्राय शकार भाषा बोलने वाले, लाल आँखो वाले, काले केश वाले, तुन्दिल (तौदू), दन्तुर (भयकर दाँतो वाले), प्राय कपास के टुकडो से बने वस्त्रो को धारण करने वाले तथा स्त्रियो के साथ रहने वाले पुरुष 'शकार' कहलाते है ।

(आभीर)

१८१ जगलो मे तथा नदी-किनारे निवास करने वाले, गौओ के झुण्ड के साथ रहने वाले, हास्यास्पद वेशभूषा धारण करने वाले, स्त्री-पुत्रो के साथ रहने वाले, प्राय चाहे जहाँ चष-भष भाषा का जो प्रयोग करते है, वे 'आभीर' कहलाते है ।

(चण्डाल)

१८२ गॉव के समीप वाले वन मे जो वास करते है, जो कूर वेश-भूषा धारण करते हैं, जो गौ-मास का भक्षण करते है, जो थोडे-थोडे काले अग वाले होते है (?), प्राय' जो श्वपच भाषा का प्रयोग करते है, जो खराब भोजन करते है तथा जो जगली है, वे 'चण्डाल' कहे जाते है ।

(पुलिन्द)

१८३ पर्वत और जगलो मे निवास करने वाले, मधु तथा मदिरा का पान करने वाले, बकुल की छाल के वस्त्र पहनने वाले, स्त्रियो के साथ रहने वाले. आदर के साथ गीत गाने वाले तथा प्राय सरमर भाषा का प्रयोग करने वाले 'पुलिन्द' कहलाते है ।

(शबर)

१८४ जिनकी प्राय पर्वतीय वेशभूषा होती है, जो पर्वत तथा नदी-किनारे वास करने वाले हैं, जो सिह के साथ आखेट-क्रीडा करते हैं, जो फल-प्रिय होते है तथा फल जिनका आहार होता है, प्राय चर्म से रगे जिनके केश होते है तथा 'लेला' —इस प्रकार की भाषा का जो प्रयोग करते हैं, वे 'शबर' कहलाते है ।

१८५ शैलारण्यतटीवासाः श्यामाकाहारशीलिनः ॥
साजगोमहिषास्सर्वे कार्पासादितुषप्रियाः ।
हलहल्लेतिभाषन्तो हालिकाः सकुटुम्बिनः ॥

१८६ पुरे जनपदेऽरण्ये वसन्तः स्वैरचारिणः ।
मांसाशिनो मधुरता मतमांसबलिक्रियाः ॥
विदूरलोकयात्राश्च रुरुशार्दूलमेखलाः ।
अविस्पष्टपदालापा भैरवा इत्युदीरिताः ॥
एते विशेषतः कार्या हासहेतोः सभासदाम् ।

१८७ नातीव संस्कृताद्या वा भाषा नातीव देशजा ॥
कथाप्रवर्तिनी गोष्ठ्यां भाषा स्यादुभयात्मिका ।
शब्दरूपा यत्र भावास्तिष्ठन्ति च दुहन्ति च ॥
अभीष्टमर्थिनां लोके सा गोष्ठीति निगद्यते ।

१८८ सभ्याः सभापतिसखाः श्रुतशीलकुलोन्नताः ॥
यत्रासते प्रीयमाणास्तां गोष्ठीं प्रविशेत्सुधीः ।

१८९ या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ॥
परहिंसात्मिका या च न तत्रावतरेद्बुधः ।

(हालिक)

१८५ पर्वत जगल तथा नदी-किनारे वास करने वाले, सवा (चावल) का आहार करने वाले, बकरी, गौ तथा भैंस—सभी को पालने वाले, कार्पास आदि तथा अनाज की भूसी के प्रिय, 'हलहल्ला'—इस प्रकार की भाषा बोलने वाले तथा कुटुम्बियो के साथ रहने वाले 'हालिक' कहलाते है ।

(भैरव)

१८६ नगर, कस्बा तथा जगल मे निवास करते हुए स्वेच्छानुसार विचरण करने वाले, मास का भक्षण करने वाले, मधु-पान करने वाले, मास-बलि-क्रिया मे विश्वास रखने वाले, दूर-दूर की लोक-यात्रा करने वाले, रुरु (मृग) तथा शार्दूल (शेर) जैसी मेखला वाले तथा अस्पष्ट बोलने वाले 'भैरव' कहलाते है । इन सभी का विशेषत सभासदो के परिहास के लिए प्रयोग करना चाहिए ।

(गोष्ठी)

१८७ गोष्ठी मे न अत्यन्त सस्कृत-भाषा, न अत्यन्त देशगत भाषा का प्रयोग करना चाहिए, अपितु कथा को प्रवृत्त करने वाली उभय रूप भाषा का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् सस्कृत तथा देशगत—दोनो भाषाओ का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ शब्द-रूप भाव रहते है और दुहे जाते है । लोक मे अभीष्ट-अर्थ चाहने वालो की वह 'गोष्ठी' कही जाती है ।

१८८ जिसमे सभ्य, सभापति, मित्र, श्रुतिशील, कुलीन, उन्नत तथा प्रेमीजन उठते-बैठते है, उस गोष्ठी मे सुधीजनो (सज्जनो) को प्रवेश करना चाहिए ।

१८९ जो गोष्ठी लोक से द्वेष रखने वाली है अर्थात् लोक द्वेषी है, जो स्वेच्छाचारिणी है तथा जो परहिंसात्मिका है, उसमे सज्जनो को नही जाना चाहिए ।

१९० त्रिवर्गसाधनी या च या लोकैरपि सत्कृता ॥
तस्यां गोष्ठ्यां प्रकथयन्कथां बहुमतो भवेत् ।
१९१ यस्मात्सर्वान्न पश्यन्ति सर्वे गोष्ठ्यां सभासदः ॥
तस्मात्तां सर्वतो भावैः प्रीणयेन्नाट्यवित्तमः ।
१९२ इत्थमुक्तक्रमोपेतं नाट्यं सर्वरसाश्रयम् ॥
प्रेक्षकस्य प्रयोक्तुश्च कवेः स्याद्भुक्तिमुक्तिदम् ।
१९३ ग्रन्थेऽस्मिन्नविभिन्नोऽपि योऽर्थो बहुश ईरितः ॥
न तस्य पुनरुक्तत्वं मतान्तरसमर्थनात् ।
सन्ति चैकशतं शिष्या भरतस्य महामुनेः ॥
तेषां मतैरभिन्नोऽपि भिन्नवत्प्रतिभाति सः ।
न स्वातन्त्र्यान्न मौढ्याच्च कोऽप्यर्थो निहितः क्वचित् ॥
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादप्रोक्तेन वर्त्मना ।
१९४ अयं प्रबन्धः कथितः शारदायाः प्रसादतः ॥
यः कश्चिदवगन्ता चेत्प्रबन्धस्यास्य तत्त्वतः ।
स माननीयो भवति राजभिर्भावकोविदैः ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नाट्यप्रयोगभेदप्रकारविशेषनिर्णयो
नाम दशमोऽधिकारः ।

---

१९० जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) की साधन-रूपा है तथा जो लोक मे सम्मान को प्राप्त है, उस गोष्ठी मे कथा को कहते हुए आदर प्राप्त करना चाहिए ।

१९१ गोष्ठी मे सभासद जिस सबके कारण सभी को नही देखते है, उस सबको नाट्यविद् सर्वत भावो से प्रेम करे ।

१९२ इस प्रकार उक्त क्रम से युक्त तथा सभी रसो के आश्रित नाट्य प्रेक्षक, प्रयोक्ता तथा कवि को भुक्ति तथा मुक्ति प्रदान करने वाला होता है ।

१९३ इस ग्रन्थ मे जो अविभिन्न-अर्थ बहुल बार कहा गया है, उसको मत-मतान्तर के समर्थन के कारण पुनरुक्ति नही समझना चाहिए । महामुनि भरत के सौ शिष्य हैं, उनके मतो मे अभिन्न-अर्थ भी भिन्न जैसा प्रतीत होता है । कोई भी अर्थ कही न स्वतन्त्रता से निश्चित किया गया है न अज्ञानता से अपितु भट्ट-अभिनवगुप्ताचार्यपाद के कहे गये मार्ग से निश्चित किया गया है ।

१९४ यह प्रबन्ध शारदा की प्रसन्नता से कहा गया है । जो कोई इस प्रबन्ध को तत्वत समझेगा, वह राजाओ और भावज्ञो द्वारा मानवीय होगा अर्थात् सम्मान को प्राप्त करेगा ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे नाट्यप्रयोग-भेदप्रकारविशेष-
निर्णय नामक दशम अधिकार समाप्त हुआ ।

टिप्पणी

प्रथम अधिकार

[१] ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए विघ्नविध्वसकारी मगलाचरण प्रयोजनीय है, अत ग्रन्थकार ने मगल करने की इच्छा से अपने इष्ट देवता विघ्न-विनायक गणेश का स्मरण किया है, साथ ही उन्होने इसी मगल श्लोक से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय की ओर भी सकेत किया है। ग्रन्थकार ने यहाँ गीत, वाद्य और नृत्य का उल्लेख किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने गीत, वाद्य और नृत्य से 'नाट्य' को सम्पन्न माना है। (द्रष्टव्य—**अभिनव-भारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ १३)। अमरकोशकार का कथन है कि गीत, वाद्य और नृत्य—इन तीनो के समुदाय का नाम ही 'नाट्य' है। (**अमरकोश**—१, ७, १०)। अत स्पष्ट है कि प्रस्तुत मगल-श्लोक से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय—'नाट्य'—की ओर भी सकेत किया गया है।

(1) **गीत**—गृहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसनिवेशविशेषो राग ।
तै स्वरै पदैस्तालैर्मार्गैरेव चतुर्भिरगैरुपेत ध्रुवादिसज्ञक गीतम् ।
—सगीतरत्नाकर की **कल्लिनाथकृत टीका**, अड्यार-सस्करण, खण्ड २, रागविवेकाध्याय, पृष्ठ ३३

दशाश-लक्षण-लक्षित स्वर-सनिवेश (राग या जाति), पद, ताल एव मार्ग इन चार अगो से युक्त गान 'गीत' कहलाता है।

(ii) **वाद्य**—तत वीणादिक वाद्यमानद्ध मुरजादिकम् ।
वश्यादिक तु शुषिर कास्यतालादिक धनम् ।
चतुर्विधमिद वाद्यवादित्रातोद्यनामकम् ।
—**अमरकोश**, नाट्य-वर्ग, १, ७, ४-५

तत, आनद्ध, सुषिर और घन—ये चार 'वाद्य' है।

(iii) **नृत्य**—'भावाश्रय नृत्यम्' (**दशरूपक** १, ९) 'नृत्य' भावो पर आश्रित होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जिस अभिनय द्वारा किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति से सहृदय सामाजिक के भावो को अभिव्यजित किया जाता है, उसे 'नृत्य' कहते हैं। अभिनयदर्पण मे ऐसे अभिनय को 'नृत्य' कहा गया है, जिसमे रस, भाव और व्यजना का प्रदर्शन हो
'रसभावव्यजनादियुक्त नृत्यमितीर्यते ।'
—**अभिनय-दर्पण**, इलाहाबाद, १९६७, कारिका–१९

[२] **हेला**—प्रत्येक व्यक्ति का भाव जो शृगार-रस से उत्पन्न होता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति ललित अभिनय द्वारा होती है, उसे 'हेला' कहते है।

यो वै हाव स एवैषा शृगाररससभवा ।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ॥
—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, १९६७, २४, ११

विश्वनाथ मनोविकारो के अत्यधिक स्फुट रूप से प्रकट होने को 'हेला' कहते हैं।

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकार' स्यात्स एव तु।

—**साहित्य-दर्पण**, निर्णय सागर, १६२२, ३, ६५

[३] **नट**—अभिनेता या अभिनय करने वाले व्यक्ति को 'नट' कहते है। गुण और रूप मे वह सूत्रधार के अनुरूप होता है और रगमच के निर्माण तथा नाट्यशाला के अभिनय-कार्य मे वह सूत्रधार की सहायता करता है। वह सब प्रकार के रूप धारण करने वाला होता है। भरत, भारत, चारण, कुशीलव, शैलूष और नर्तक आदि उसके अनेक नाम है। साहित्य-दर्पण (६, २६) के अनुसार पूर्वरग विधान के बाद जब सूत्रधार रगमच पर उतर आता है, तब नट रगमच पर आकर नाटक-प्रयोग की आस्थापना करता है। इस दृष्टि से उसे स्थापक भी कहा जाता है।

[४] भावित का अर्थ है परिव्याप्त। लोक मे कहा जाता है 'अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति' (**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस , पृष्ठ ३४४-३४५)—अरे इस गन्ध या रस से यह सब कुछ भावित हो गया है। इसका आशय हुआ कि वह गन्ध या रस, जिससे (भोज्य आदि) पदार्थ भावित किया गया है, उसमे वह सर्वत्र परिव्याप्त है। इस परिव्याप्ति का उदाहरण देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि कस्तूरी की गन्ध से वस्त्र उसकी गन्ध नही हो जाता बल्कि उसके गुण से सक्रान्त हो जाता है और न उसके समान अन्य गुण की (वस्त्र मे) उत्पत्ति हो जाती है। पदार्थ जिस प्रकार गन्ध आदि से भावित होते है अर्थात् उनमे गन्ध आदि की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार वस्त्र मे कस्तूरी की परिव्याप्ति होती है।

[५] **भाव**—सुखदु खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

—**दशरूपक**, ४,४

काव्य या अभिनय मे उपनिबद्ध आश्रय राम आदि के सुख-दु ख आदि भावो के द्वारा सामाजिक के हृदय के अन्तर्वर्ती तद्-तद् भावो के भावन को ही 'भाव' कहते है।

[६] **सामाजिक**—नाटक मे सामाजिक का अर्थ दर्शक है। जिसे रस या नाटक का आनन्द प्राप्त हो, उसे सामाजिक कहते है।

[७] **षड्ज स्वर**—नासा कण्ठमुरस्तालु जिह्वा दन्ताश्चसस्पृशन्।

षड्भ्य सजायते यस्मातस्मात्षड्ज इति स्मृत ॥

—**अमरकोश**, रामाश्रमी—टीका, १, ७, १

जो स्वर नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दाँतो का स्पर्श करता हुआ इन्ही छै स्थानो से उत्पन्न होता है, उसे 'षड्ज' कहते हैं।

[८] (i) गोविन्द शब्द का अर्थ है जो उपनिषद्वाक्यो को प्रमाण-रूप मे प्राप्त करता है। (द्रष्टव्य—**श्री रासपञ्चाध्यायी**—सास्कृतिक अध्ययन, श्री रसिक बिहारी जोशी, दिल्ली, १६६१, पृष्ठ ७२)।

(ii) ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थकार ने अपने इष्ट देवता भगवान गोविन्द की वन्दना की है।

[९] ग्रन्थकार के अनुसार नाट्यवेद के आदिकर्त्ता (द्रष्टव्य—**भावप्रकाशन**, जी ओ एस , पृष्ठ २८४-२८६) होने के कारण भगवान शकर की वन्दना की गयी है ।

[१०] समस्त शास्त्रो की अधिष्ठात्री होने के कारण भगवती शारदा का आराधन ग्रन्थ के आरम्भ मे उचित है—ऐसा सोचकर भगवती शारदा की वन्दना की गयी है ।

[११] भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भरत का नाट्यशास्त्र नाट्यवेद के नाम से सम्मानित रहा है । नाट्य-शास्त्र के अनुसार वह चार वेदो के अतिरिक्त पचम तथा सार्ववर्णिक वेद है (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, १, १२, १९ तथा २५) ।

[१२] **नाट्यशाला**—नाट्यवेश्म, नाट्यमण्डप, चतुरस्रशाला, पथ्यशाला, रगशाला, रगमण्डप, पेक्षागार, प्रेक्षागृह, दरीगृह और शिलावेश्म आदि अनेक नाम नाट्यशाला के लिए प्रयुक्त हुए है (भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनय-दर्पण, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १०६७, भूमिका, पृष्ठ ६५) ।

[१३] तुलना—**दशरूपक** ४।४ ।

[१४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**—सप्तम अध्याय, जी ओ एस , पृष्ठ ३४२ ।

[१५] **अभिनव-भारती**, सप्तम अध्याय, (जी ओ एस), पृष्ठ ३४३ ।

[१६] **विभाव**—भरत के अनुसार विभाव शब्द का अर्थ है विज्ञान अर्थात विशेष ज्ञान । क्योकि इसके द्वारा वाचिक तथा आगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं अर्थात् विशेष रूप से जाने जाते हैं, अत इसको विभाव नाम से कहा जाता है ।

'विभावो विज्ञानार्थ । । यथा विभावित विज्ञातमित्यनर्थान्तरम् ।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागगाभिनयाश्रया ।
अनेन यस्मात्तेनाय विभाव इति सज्ञित ॥

—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस., ७।४

हेमचन्द्र ने स्थायी एव व्यभिचारी चित्तवृत्तियो को विशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण ही इसे विभाव कहा है ।

'वागाद्यभिनयसहिता स्थायिव्यभिचारिलक्षणा चित्तवृत्तयो विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते—यैं ते विभावा ।'

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ५६, निर्णयसागर, १९०१

यही शिगभूपाल का मत है—

तत्र ज्ञेयो विभावस्तु रसज्ञापनकारणम् ।

—**रसार्णवसुधाकर**, १।५९, सागरिका, अष्टम वर्ष, वि० २०२६

रस का विशेष रूप से ज्ञापन कराने वाला कारण 'विभाव' जाना जाता है ।

[१७] **अनुभाव**—भरत के अनुसार अनुभावो के द्वारा वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं अर्थात् अनुभूति-योग्य बनाये जाते है अत अनुभाव कहलाते हैं ।

अनुभाव्यतेऽनेन वागगसत्त्वकृतोऽभिनय इति—
वागगभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखागोपागसयुक्तस्त्वनुभावस्तत स्मृत ॥

—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस ७।५

[१८] तुलना—**सरस्वती-कण्ठाभरण**, ५।२९, स ए बरुआ, पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी-३, १९६९ ।

[१९] **व्यभिचारी-भाव**—भरत ने व्यभिचारी पद की निष्पत्ति करते हुए बताया है कि 'वि' एव 'अभि' उपसर्गो से गति तथा सचालन अर्थ मे चर धातु से व्यभिचारी पद निष्पन्न होता है । जो रसो मे, नाना रूप से वितरण करते है, और रसो को पुष्ट कर आस्वादन योग्य बनाते है, उन्हे 'व्यभिचारी-भाव' कहा जाता है ।

वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर इति गत्यर्थो धातु । विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण । वागगसत्त्वोपेता प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिण ।

—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस , पृष्ठ ३५५

दशरूपककार, शिगभूपाल तथा विश्वनाथ ने भरत की उक्ति को ही ग्रहण कर लिया है । (**दशरूपक** ४।७, **रसार्णवसुधाकर** २।३, **साहित्य-दर्पण** ३।१४०) ।

[२०] **सात्त्विक भाव**—भरत का कथन है कि समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है (इह हि सत्त्व नाम मन प्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्यते—नाट्यशास्त्र, जी ओ एस , पृष्ठ ३७४-३७५) । मन के समाहित हुए बिना रोमाच आदि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न नही हो सकते । दशरूपक, प्रताप-रुद्रीय तथा रसरत्नप्रदीपिका मे भरत के इस मत का समर्थन किया गया है

परगतदु खहर्षादि भावनायामत्यन्तानुकूलान्त करणत्व सत्त्व ।

—**दशरूपक**, चौखम्बा प्रकाशन, १९६२, पृष्ठ २८८

परगतसुखादिभावनया भावितान्त करणत्व सत्त्व ।

—**प्रतापरुद्रीय**, मद्रास, १९१४, पृष्ठ १५९

सत्त्व परगतदु खादिभावनाया अत्यन्तानुकूलान्त करणत्व मन प्रभव ।

—**रसरत्नप्रदीपिका** (भा वि भवन), पृष्ठ १०

भोजराज ने सत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है—
रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन. सत्त्वमिहोच्यते ।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।२०

रज और तम से रहित मन ही 'सत्त्व' कहलाता है ।

साख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व-गुण लघु है तथा प्रकाश है (सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज) ।

—**साख्य-कारिका**, १३, स टी जी मयड्कर, पूना, (१९६४)

साख्यदर्शन के सत्त्वगुण के लक्षण का अनुसरण करते हुए सागरनन्दी ने कहा है कि सत्त्व का अर्थ है वह गुण जिसमे प्रकाश हो '

सत्त्व नाम प्रकाशको गुण ।

—**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, चौखम्बा प्रकाशन, १९७२, पृष्ठ २०३

इस प्रकार इस सत्त्व से युक्त रहने वाले भावो को 'सात्त्विक' भाव कहा जाता है ।

[२१] **उद्दीपन**—जो रस को उद्दीप्त करते है, उन्हे उद्दीपन विभाव कहते है, प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् उद्दीपन विभाव होते है ।

यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपन विभाव ।

—**रस-तरगिणी**, भानुदत्त, द्वितीय तरग, पृष्ठ २६४, वाराणसी, स २०२५

[२२] नृत्य करती हुई मालविका को देखकर अग्निमित्र कह रहा है—

दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निबिडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघन पादावरालागुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनस स्पष्ट तथाऽस्या वपु ॥

—**मालविकाग्निमित्र**, अक २, श्लोक ३

वाह ! यह तो सिर पैर तक एकदम सुन्दर है क्योकि इसकी बडी-बडी आँखे, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा के समान मुख, कन्धो पर झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनो से जकडा हुआ वक्षःस्थल, पुछे हुए से पार्श्व-प्रदेश, मुठ्ठी भर की कमर, मोटी-मोटी जघाएँ और थोडी झुकी हुई दोनो पैरो की अगुलियाँ—बस ऐसी जान पडती है मानो इसका शरीर इसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप बनाया गया हो ।

[२३] पण्डितो की सभा मे वस्त्रादिको का आडम्बर रचकर निशक आते हुए किसी मूर्ख को देखकर किसी परिहासप्रिय पुरुष का वचन है

गुरोर्गिर पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रय च ।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागता कुक्कुटमिश्रपादा ॥

—**साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ १८४

आगे से हट जाओ ! कुक्कुटमिश्र जी पधार रहे है !! आपने प्रभाकर गुरु की समस्त विधाएँ (मीमासा) पाँच दिन मे ही चूस (पढ) ली है और तीन दिन मे सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्र को साफ कर दिया है एव आपने न्याय के समग्र तर्कवाद भी सूँघ रखे हैं ।

[२४] परशुराम के लिए राम कहते हैं

"त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि" इति ।

—**दशरूपक**, पृष्ठ २८३

सातो समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का निष्कारण—बिना किसी दृष्ट फल की इच्छा के—दान कर देना आपके त्याग का परिचायक है ।

[२५] बलि वामन को देखकर कह रहा है—

चित्र महानेष वतावतार क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भगि ।
लोकोत्तर धैर्यमहो प्रभाव काऽप्याकृतिर्नूतन एप सर्ग ॥

—**काव्य-प्रकाश**, वामनाचार्य झलकीकर, पूना, १९६५, पृष्ठ ११०

अहो ! यह महान् अवतार तो अद्‌भुत (चित्र) है। यह कान्ति और कहाँ है ? (लोकोत्तर है)। इसकी भगिमा (गमन-उपवेशनादि) विलक्षण या अपूर्व ही है ! धैर्य अलौकिक है। अहो ! इसका प्रभाव, यह आकृति कोई विलक्षण ही है, कोई यह नवीन सृष्टि है।

[२६] राम-वनवास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की गयी देवनिन्दा है—

विपिने क्व जटानिबन्धन तव चेद क्व मनोहर वपु ।
अनयोर्घटना विधे स्फुट तनु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ॥

—**साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ १८५

कहाँ जगल मे जाकर जटाओ का बाँधना, और कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार मनोहर शरीर ! विधाता का इन दोनो का जोडना वैसा ही है जैसा तलवार से शिरीष के कोमल फूल का काटना।

[२७] अपने पिता द्रोणाचार्य के अपमानपूर्वक सिर काटे जाने से क्रुद्ध होकर अश्वत्थामा कह रहा है—

कृतमनुमत दृष्ट वा यैरिद गुरुपातक
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्‌भिरुदायुधै
नरकरिपुणा सार्ध तेषा सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमासै करोमि दिशा बलिम् ॥

—**वेणीसहार**, अक ३, श्लोक २४

जिन नरपशुओ ने मर्यादा की सीमा का विच्छेद करके इस ब्रह्महत्यारूप महापातक को स्वय सम्पादित किया है, अथवा उसके लिए अनुमति प्रदान की है, अथवा शस्त्र-सम्पन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष अवलोकन किया है, वासुदेव, भीम और अर्जुन के साथ-साथ उनके मास, मज्जा और रुधिरादिक से मै दिक्पालो को बलि-वितरण कर दूंगा।

[२८] उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति प्रथममथ पृथूच्छोथभूयासि मासा—
न्यसस्फिक्पृष्टपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त पर्यस्तनेत्र प्रकटितदशन प्रेतरक करका—
दकस्थादस्थिसस्थ स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

—**मालतीमाधव**, अक ५, श्लोक १६

देखो तो सही, यह दरिद्र प्रेत अपने अक मे रखे हुए इस मुर्दे के देह की चमड़ी उधेड-उधेड कर पहले तो कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवो के मोटे-मोटे सूजे हुए, अतएव सुलभ, दुर्गन्धयुक्त सडे मास को खा चुका और उसके खाने पर भी भूख से व्याकुल आँखें फाडे, दाँत निकाले, अब हड्डियो मे चिपके और जोडो मे घुसे मास को भी बिना किसी व्यग्रता के बड़े चाव से चबा रहा है।

[२९] स्वगेहात्पन्थान तत उपचित काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ॥
तदन्वगान्यगैरभिनिविशमानो न गणय—
त्यराति क्वालीये तव विजययात्राचकितधी ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ २९०

तुम्हारी विजययात्रा से चकित बुद्धिवाला शत्रु राजा डरकर घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जगल मे, वहाँ से भी घने पेडो से घिरे पर्वत पर तथा पर्वत से गुफा मे जाकर छिप गया है। वहाँ भी जाकर वह अपने अगो को अगो मे समेट लेने पर भी यह नही गिन पाता, यह नही सोच पाता कि तुम्हारे डर से कहाँ छिपे।

[३०] **आलम्बन**—जिसका अवलम्ब या सहारा लेकर रस उत्पन्न होता है उसे आलम्बन विभाव कहते है। प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् आलम्बन होते है।

यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बन विभाव ।

—**रसतरंगिणी**, द्वितीय तरग, पृष्ठ २५८

[३१] तुलना—**भोज का शृगार-प्रकाश**, १७वाँ प्रकाश, मैसूर १९६९, पृष्ठ ६७९। शिंगभूपाल ने मन-आरम्भानुभाव के स्थान पर चित्तारम्भानुभाव नाम देने के अतिरिक्त शेष सभी नामो को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया है।

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३०

[३२] (क) तुलना—**दशरूपक** २।३३ ।

(ख) हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।

—**कुमारसम्भव**, ३, ६७

चन्द्रोदय के आरम्भ मे समुद्र की तरह अधीर होकर शिव ने बिम्बाफल के समान अधर और ओष्ठ वाली पार्वती के मुख की ओर अपने नेत्रो को लगा दिया अर्थात् एकटक होकर मुख को देखने लगे।

[३३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।१० तथा **दशरूपक** २।३४ ।

(ख) "ज किं पि पेच्छमाण भणमाण रे जहातहच्चे अ ।
णिज्झाअ णेहमुद्ध व अस्स मुद्ध णिअच्छेह ।

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२३

हे मित्र, वह नायिका जैसी ही कुछ विचित्र प्रकार से देखती है वैसी ही उसका बोलना भी कुछ विचित्रता लिए रहता है। मेरी बातो पर ध्यान देकर स्नेहमुग्धा भोली नायिका की ओर थोडा दृष्टिपात तो करो। यहाँ नायिका के दृष्टिपात मे 'हाव' है।

[३४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।११, **दशरूपक** २।३४ तथा **रसार्णवसुधाकर** १।१९४ ।

(ख) 'तह झत्तिसे पअत्ता सत्वग विब्भमा थणु ब्भेए ।
ससहअवालभावा होइ चिर जह सहीण पि ।

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२४

नायिका के शरीर मे स्तनो की उद्भिन्नता के साथ-साथ इतना शीघ्र विभ्रम, विलास, आदि भावो का सचार हुआ कि उसकी सखियाँ बहुत देर तक उसके बाल-भाव के विषय मे सशकित रही।

[३५] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३५ ।

(ख) अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै—
रनाविद्ध रत्न मधु नवमनास्वादितरसम् ।

अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ,
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, १०

उसका अनिन्द्य सौन्दर्य, न सूँघे हुए पुष्प, नखो से न काटे हुए पल्लव, बिना छिदे रत्न, जिसके रस का स्वाद नही लिया गया ऐसे नूतन मधु तथा बिना भोगे हुए अक्षय पुण्य-फल के समान है। न जाने विधाता इसका उपभोक्ता किसे बनायेगा ?

[३६] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३५ ।

(ख) निम्न पद्य मे नायिका मे मन्मथ का अवतरण होने से उसकी मनोहारिता और सघन हो गयी है। यहाँ तक कि उसकी कान्ति को देखकर मानव तो क्या अन्धकार भी उसके अगो के स्पर्श-सुख को प्राप्त करना चाहता है। लेकिन नायिका उसे अपने पास तक नही आने देती ।

उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्द्रे समुत्सारित
भिन्न पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्या कलविङ्ककण्ठकदलीकल्प मिलत्कौतुका—
दप्राप्ताङ्गसुख रुषेव सहसा केशेषु लग्न तम ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ १२५

नायिका के अगो के स्पर्श सुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहाँ से उसे नायिका के प्रफुल्लित मुखरूपी चन्द्रमा की प्रकाश-किरणो ने दूर भगा दिया, उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचो के पास तथा हाथो के पास गया तो वहाँ पर भी उसके पीनपयोधर की कान्ति ने उसे फोड दिया और हाथ की कान्ति ने खूब पीटा। इस प्रकार हर जगह से तिरस्कृत कलावक पक्षी के कण्ठ के समान काला वह अन्धकार ऐसा लगता है मानो प्रकुपित हो कौतुक के साथ एकदम उस नायिका के बालो मे ही जाकर चिपक गया हो।

[३७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२६ तथा **रसार्णवसुधाकर**, १।१९६ ।

(ख) तारुण्यस्य विलास समधिकलावण्यसपदो हास ।
धरणितलस्याभरण युवजनमनसो वशीकरणम् ॥

—**चन्द्रकला-नाटिका**, १, ६

वह चन्द्रकला यौवन का विलास है, अत्यधिक बढी हुई लावण्य-सम्पत्ति का मधुर हास है, पृथ्वी का भूषण है और युवको के मन का वशीकरण-मन्त्र है।

[३८] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२७ तथा **रसार्णवसुधाकर** १।१९७ ।

(ख) राजा दुष्यन्त ने वल्कल पहिने हुए तपस्विनी के वेष मे शकुन्तला को देखकर यह कहा है कि—

सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति ।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम् ॥
—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २०

सिवार से आच्छादित भी कमल मनोरम ही होता है। मलिन कलक भी मयक की शोभा मे अभिवृद्धि करता है। यह तन्वगी वल्कल धारण करने पर भी बहुत मनोहर है। क्या वस्तु स्वभाव-सुन्दर-आकृति का आभूपण नहीं बन जाती है।

[३९] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३६।
(ख) तथा व्रीडा विधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्चवार्यक गता ॥
—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२६

वह सुन्दरी देखने मे तो बडी लजीली और भोली मालूम पडती है लेकिन सभा के अन्दर कला के प्रयोगो के चातुर्य मे तो उसने आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया है।

[४०] ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकल शशी
दहतु मदन किवा मृत्यो परेण विधास्यति।
मम तु दयित श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिन न त्वेवाय जनो न च जीवितम् ॥
—**मालतीमाधव**, २, २

हर रात आकाश मे सम्पूर्ण चन्द्रमा प्रदीप्त होता रहे और कामदेव भी जलाता रहे। मृत्यु से अधिक और क्या कर लेगा ? मुझे तो अपना प्रिय, अपने पिता, पवित्र वश मे उत्पन्न अपनी माता तथा अपना निर्मल कुल अभीष्ट है, यह जन तथा यह अपना जीवन प्रिय नही है।

[४१] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२९।
(ख) दिअह खु दुक्खिआए सअल काऊणगेहवावारम्।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥
—**गाथासप्तशती**, ३, २६

दिन भर गृह-कार्य करके थकी हुई, नायिका के भारी क्रोध व दु ख प्रिय के चरणपतित होने पर शान्त हो गये।

[४२] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१४ तथा **दशरूपक** २, २६।
(ख) मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी।
परानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥
—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३१

कमलनाल का सर्प बनाकर उसे ककण के स्थान पर धारण किये हुए और वेणी का जटाजूट बनाये हुए लीला से शकर का अनुकरण करने वाली पार्वती जगत की रक्षा करे।

[४३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१५ तथा **दशरूपक** २, ३७।
(ख) अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत।
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्या'।

तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यक विजयि मान्मथमाविरासीत् ।।

—**मालतीमाधव**, १, २७

इस अवसर मे उस सुन्दरी का अनिर्वचनीय, वचन सम्पत्ति को लघन करने वाले वैचित्र्य से सम्पन्न, शृगार चेष्टा विशेष से उद्भासित, स्तम्भ, स्वेद आदि प्रचुर सात्त्विक विकारो से युक्त, धैर्य को दूर करने वाला और विजयशील प्रसिद्ध कामदेव का आचार्यभाव आविर्भूत हो गया ।

[४४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१६ ।

(ख) कर्णार्पितो लोध्रकषायरुक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्या' कपोले परभागलाभाद्बन्ध चक्षूँषि यवप्ररोह ॥

—**कुमारसम्भव**, ७, १७

पार्वती के कानो पर लटकते हुए जौ के अकुर और लोध से पुते तथा गोरोचन लगे हुए गोरे उसके कपोल इतने सुन्दर लगने लगे कि सभी की आँखें बरवस उसकी ओर खिच जाती थी ।

[४५] श्रुत्वाऽऽयात बहि कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जन दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक कृत ॥ —**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२९

प्रिय नायक को बाहर आया हुआ सुनकर, शृगार करती हुई नायिका ने, जिसका शृगार-कार्य समाप्त नही हुआ था, अञ्जन तो माथे पर लगा लिया और लाक्षारस (महावर) आँखो मे आजली एव तिलक कपोल पर लगा लिया ।

[४६] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ३९ तथा **रसार्णवसुधाकर**, १, २०४ ।

(ख) पाणिरोधमविरोधितवाञ्छ भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भा ।
कामिन स्म कुरुते करभोरुर्हारि शुष्करुदित च सुखेऽपि ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३३

जिसमे प्रियतम की इच्छा का विघात न हो इस ढग से सुन्दरी उसका हाथ रोकती है । मधुर-मधुर मुस्कराहट के साथ झिडकती है और सुख होने पर भी मनोहर शुष्करोदन करती है ।

[४७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१९ तथा **दशरूपक** २, ४० ।

(ख) सुभग, त्वत्कथारम्भे कर्णकडूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाभोजा भिनत्यगानि साऽगना ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३४

हे सुभग ! तुम्हारी बात प्रारम्भ होते ही वह कामिनी कान खुजलाने लगती है, जभाई लेने लगती है तथा उसके अग अगडाई लेने लगते हैं ।

[४८] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।२० ।

(ख) पल्लवोपमितिसाम्यसपक्ष दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३४

पल्लव के समान होठ को जब प्रिय ने खण्डित किया तो युवती ने ककण सहित हाथ से झनझनाहट उत्पन्न कर कष्ट को सूचित किया ।

[४९] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।२१ ।
(ख) कृताञ्जलि कातरदृङ्निपात प्राणेश्वर पार्श्वमुपाजगाम ।
सखीमुखे कुण्डलरत्नरेखामेषा पुन प्रेक्षितुमाचकाङ्क्ष ।।
—**रसतरगिणी**, पृष्ठ ४४१

इधर भय से चकित आँखो वाला प्रेमी हाथ जोडे पास आ पहुँचा उधर वह नायिका फिर अपनी सखी के मुख पर कुण्डल के रत्न की रेखा देखने को घूम गयी ।

[५०] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ४२ ।
(ख) कलक्वणितमेखल चपलचारुनेत्राञ्चल
प्रसन्नमुखमण्डल श्रवणसञ्चरत्कुण्डलम् ।
स्फुटत्पुलकबन्धुर लपितशोभमानाधर
विहस्य रतिमन्दिरे व्रजति कस्य शातोदरी ।।
—**रसतरगिणी**, पृष्ठ ४४२

मधुर-ध्वनि से युक्त मेखलावाली, चचल रसीली चितवनवाली, प्रसन्न वदनवाली, कानो पर झूमते हुए कुण्डलवाली, प्रकाशमान पुलको से भरी ऊँची-नीची नाभिवाली, मधुर भाषण से युक्त होठोवाली वह कृशोदरी नायिका हँसती हुई किसके रतिमन्दिर की ओर बढी चली जा रही है ।

[५१] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ४२ ।
(ख) लज्जा से युक्त विहृत का उदाहरण यह है
आनन्दभाजो यदुनन्दनस्य कराऽवरोध न करेण कुर्य्याः ।
सखी लयन्तीमिति सञ्जघान चकोरनेत्रा चुलकोदकेन ॥
—**रसतरगिणी**, पृष्ठ ४४३

जब सखी ने नायिका से कहा कि आनन्दकन्द यदुनन्दन श्रीकृष्ण का हाथ अपने हाथ से मत रोकना, तब चकोर के समान नेत्रो वाली नायिका ने उस पर चुल्लू का पानी फेंक मारा ।

[५२] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३२ ।
(ख) भूपति शोभते वेषै क्लीवपक्षोऽयमुञ्झताम् ।
प्रतापस्तु जगद्व्यापी शोभा पूष्ण इवातप ॥
—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १४०

राजा वेशभूषा से शोभित होते है, इस क्लीब पक्ष को छोड दीजिए, क्योकि जैसे सूर्य की शोभा अपने प्रकाश से होती है वैसे ही राजा की शोभा अपने जगद्व्यापी प्रताप से ही होती है ।

[५३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३३ ।
(ख) महर्षि वाल्मीकि के आश्रम मे कुश को देखकर राम की उक्ति है
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वमारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुता दधानो
वीरो रस किमयमेत्युत दर्प एव ।।
—**उत्तररामचरित**, ६, १९

इसकी दृष्टि ऐसी (दर्पयुक्त) है कि मानो वह तीनो लोको के बल को तिनके के समान (तुच्छ) समझती है और इसकी चाल ऐसी धीर एव उद्धत है कि पृथ्वी को झुका सी दे रही है। कौमार-अवस्था मे ही पर्वत के समान गुरुता (गौरव) को धारण किये हुए यह क्या वीर रस जा रहा है या साक्षात् मूर्तिधारी दर्प ही है।

[५४] (क) तुलना—**रसार्णवसुधाकर**, १।२१८।

(ख) ऋजुता नयत स्मरामि ते शरमुत्सगनिषण्णधन्वन ।
मधुना सह सस्मिता कथा नयनोपान्तविलोकित च तत् ॥

—**कुमारसम्भव**, ४, २३

तुम्हारा यह गोद मे धनुष रखकर बाण सीधा करना, बसन्त के साथ हँस-हँसकर बाते करना और बीच-बीच मे मेरी ओर तिरछी चितवन से देखना मुझे भूलता नही है।

[५५] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३५।

(ख) सम्पत्स्वापत्सु तुल्यात्मा रामो धैर्य्यकुलाचल ।
विकारै कैश्च नाक्षिप्तो वेदार्थ इव हेतुभि ॥

—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १४१

राम धैर्य के कुल पर्वत है जो सम्पत्ति एव आपत्ति मे समान रूप से स्थिर रहते है। इन पर विकारो का कोई भी प्रभाव नही पडता जैसे वेदो का अर्थ दुष्ट हेतुओ से आक्षिप्त नही होता।

[५६] आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ९६

राज्याभिषेक के लिए बुलाने के समय और वनवास के लिए प्रवासित करने के समय मैने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी विकार नही देखा।

[५७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३७।

(ख) लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषम विदधीत तापम् ॥

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ९७

हे सखि! स्वाभाविक सुकुमारता तथा मनोहर लावण्य आदि तथा मन को आन्दोलित करने वाले अपने विलासो के द्वारा जो (कामदेव) मुझे उपदेश दिया करता है वह क्या मेरे ही समान मेरे प्रियतम को भी विषम तापो से तापित नही करता होगा ?

[५८] शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।
तृप्ति न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्व विरतो गरुत्मन् ॥

—**नागानन्द**, ५, १५

हे गरुड ! अभी भी मेरी नसो के किनारे से खून टपक रहा है, अभी

भी मेरे शरीर मे मास बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नही हुए हो, ऐसा मेरा अनुमान है। फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो।

[५९] (क) तुलना—**दशरूपक**, २,१३।

(ख) ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलाना के भवन्त्यमी।
अगुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विन ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ९७

बताओ तो सही कितने लोग ऐसे है, जो नवीन कुम्हडे के फलो की तरह है। मनस्वी लोग दूसरे लोगो के अगुली-दर्शन आदि इशारो से नही जीते है।

[६०] तव सुचरितमङ्गुलीय नून
प्रतनु ममैव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्या
श्च्युतमसि लब्धपद यदगुलीषु ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल** ६, ११

हे अगूठी ! तेरा पुण्य मेरी तरह ही अवश्य न्यून है, यह तेरे द्वारा अनुभूत फल से ज्ञात होता है, जो कि तू लाल नाखूनो से मनोहर उस (शकुन्तला) की अगुलियो मे स्थान पाकर गिर पडी थी।

[६१] मातर्मातर्दलति हृदय, ध्वसते देहबन्ध,
शून्य मन्ये जगदविकलज्वालमन्तर्ज्वलामि ॥
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ्मोह स्थगयति, कथ मन्दभाग्य करोमि ॥

—**मालतीमाधव**, ९, २०

माता जी ! माताजी ! मेरा हृदय फटा जा रहा है ! देह के बन्धन ढीले पड रहे है। मै ससार को शून्य समझ रहा हूँ। मै भीतर ही भीतर जला जा रहा हूँ। मेरी व्याकुल अन्तरात्मा निबिड अन्धकार मे धँसी जा रही है। मुझे मोह चारो ओर से घेर रहा है। हा ! मै भाग्यहीन क्या करूँ ?

[६२] आर्यामरण्ये विजने विमोक्तु श्रोतु च तस्या परिदेवतानि।
सुखेन लकासमरेमृत मामजीवयन्मारुतिरात्तवैर ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३७

निर्जन वन मे आर्या (सीता) को छोडने के लिए और उसके दुखो को सुनने के लिए, लका-युद्ध मे सुखपूर्वक मरे हुए मुझको जीवन देते हुए हनुमान ने मेरे साथ वैर किया है।

[६३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५३।

(ख) तमस्तमो नहि नहि मेचका कचा शशी शशी नहि नहि दृक्सुख मुखम्।
लते लते नहि नहि सुन्दरौ करौ नभो नभो नहि नहि चारु मध्यमम् ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

अन्धकार है अन्धकार, नही नही काले केश है, चन्द्रमा है चन्द्रमा, नही नही नेत्रो को सुख देने वाला मुख है, लता है लता, नही नही सुन्दर हाथ हैं, आकाश है आकाश, नही नही सुन्दर कटि है।

[६४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५४।

(ख) भिक्षा प्रदेहि ललितोत्पलपत्रनेत्रे !
पुष्पिण्यहं खलु सुरासुरवन्दनीय !
बाले ! तथा यदि फलं त्वयि विद्यते मे
वाक्यैरलं फलभुगीश ! परोऽस्ति याहि ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३७-३८

सुन्दर कमल-पत्र-नेत्र वाली ! भिक्षा दो।
सुरासुरवन्दनीय ! मैं पुष्पिणी (रजस्वला) हूँ।
बाले ! यदि तुम्हारे पास फल हो तो मुझे दो।
फलभुगीश ! बातें मत करो, आगे जाओ।

[६५] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५४।

(ख) त्वं रुक्मिणी त्वं खलु सत्यभामा किमत्रगोत्रस्खलनं ममेति।
प्रसादयन् व्याजपदेन राधां पुनातु देवः पुरुषोत्तमो वः ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

तुम रुक्मिणी हो, तुम सत्यभामा हो, क्या यहाँ मेरा गोत्रस्खलन है—इस प्रकार बहाने से राधा को प्रसन्न करते हुए देव पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) तुम्हें पवित्र करें।

[६६] एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने ! मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, ५५

हे कृष्णनयने ! पूर्वोक्त अभिज्ञान देने से मुझे कुशलयुक्त जानकर लोकाऽपवाद के कारण मेरे विषय में अविश्वास मत करो। लोग स्नेहों को वियोग होने पर किसी भी कारण से नष्ट होने वाले कहते हैं, परन्तु वे उपभोग न होने से अभीष्ट पदार्थ में अभिलाषा बढ़ने के कारण प्रेम के राशिरूप हो जाते हैं।

[६७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र** २४।५५।

(ख) तनयां तव याचते हरिर्गदात्मा पुरुषोत्तमः स्वयम्।
गिरिगह्वरशब्दसन्निभा गिरमस्माकमवेहि वारिधे ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

हे वारिधि ! पुरुषोत्तम भगवान गदाधर (विष्णु) स्वयं तेरी पुत्री की याचना करते हैं, गिरि-गुहा के शब्द के समान हमारी वाणी को तुम जानो।

[६८] एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥

—**रसावर्णसुधाकर**, पृ० ३९

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह लड़की, हम सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति विरक्त हैं, जिस किसी से तुम्हारा कार्य हो, वह कहो।

[६९] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५७।

(ख) शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीप गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ४, १७

पुत्री ! तू यहाँ से पतिगृह को पहुँचकर—अपने गुरुजनो की सेवा करना, अपनी सपत्नियो से प्रिय सखी का सा व्यवहार करना, तिरस्कृत होने पर भी क्रोध के आवेश मे आकर पति के प्रतिकूल कार्य मत करना, अपने आश्रितो पर अत्यन्त उदार रहना, अपने ऐश्वर्य का अभिमान मत करना, इस प्रकार आचरण करने वाली युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती है और इसके विपरीत चलने वाली कुल के लिए अभिशाप होती हैं।

[७०] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५७।

(ख) कोशद्वन्द्वमिय दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षत
धत्ते चूतलता नव किसलय पुंस्कोकिलास्वादितम् ।
इत्याकर्ण्य मिथ सखीजनवच सा दीर्घिकायास्तटे
चेलान्तेन तिरोदधे स्तनतट बिम्बाधर पाणिना ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३९

हे सखि ! यह कमलिनी कलहस के चञ्चु से क्षत दो कलिकाओ को धारण कर रही है, यह आम्रलता कोकिल द्वारा आस्वादित नवीन किसलय को धारण कर रही है—इस प्रकार बावडी के किनारे परस्पर कहे जाते हुए सखियो के वचनो को सुनकर उस (नायिका) ने अपने वस्त्र के छोर से पयोधरो को और हाथ से बिम्ब फल के समान लाल अधर को ढँक लिया।

[७१] अहिणवमहुलोलुवो तुम तह परिचुम्बिअ चूअमजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर ! विम्हरिओ सि ण कह ? ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ५ १

हे भ्रमर ! नवीन मधु के लोभी तुम आम की मजरी का उस प्रकार चुम्बन करके, कमल मे रहने मात्र से तृप्त होकर इसे कैसे भूल गए ?

[७२] तुलना—**काव्यमीमासा**, जी ओ एस, १९१६, पृष्ठ ९।

[७३] **वृत्ति**—'विलासविन्यासक्रमोवृत्ति'—**काव्यमीमांसा**, पृष्ठ ९।

[७४] **भारती**—भरतमुनि के अनुसार पुरुषो द्वारा प्रयुक्त सस्कृत-वाणी को 'भारती' वृत्ति कहते है। इस वृत्ति मे स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इसका प्रयोग भरतो द्वारा होता है अत उसका नाम 'भारती' है।

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता सस्कृतवाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतै प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्ति ॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।२५

[७५] **सात्त्वती**—भरतमुनि के अनुसार जो सत्त्वगुण से युक्त तथा न्याय-सम्पन्न वृत्त

से युक्त होती है। जो हर्ष से उत्कट एव शोक रहित है । उसे 'सात्वती' वृत्ति कहते हैं।

> या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता,
> न्यायेन वृत्तेन समन्विता च ।
> हर्षोत्कटा सहृतशोकभावा,
> सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्ति ।

—**नाट्यशास्त्र**, २२।३८

[७६] **कैशिकी**—भरतमुनि के अनुसार जो मनोरजक नेपथ्य से विशेप चमत्कारिणी हो, स्त्रीगण से व्याप्त तथा गीत, नृत्य से परिपूर्ण हो एव जिसका उपचार कामसुखभोग का उत्पादक हो, वह 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है।

> या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा,
> स्त्रीसयुक्ता या बहुनृत्तगीता ।
> कामोपभोगप्रभवोपचारा,
> ता कैशिकी वृत्तिमुदाहरन्ति ॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।४७

[७७] **आरभटी**—भरतमुनि के अनुसार जिसमे पुस्तकार्य, अवपात, प्लुत्ति, लघन आदि चेष्टाएँ माया, इन्द्रजाल तथा युद्ध-वैचित्र्य प्रदर्शित किया जाता है, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते है।

> पुस्तावपातप्लुतलघितानि
> चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम् ।
> चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्य
> ता तादृशीमारभटी वदन्ति ॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।५६

[७८] यहाँ शारदातनय ने भोज के मत को निर्दशित किया है। भोज ने पाँच प्रकार की वृत्तियाँ स्वीकार की है—भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती तथा विमिश्रा।

मुखादिसन्धिषु च व्याप्रियमाणाना नायकोपनायकदीना मनोवाक्काय-कर्मनिबन्धना पञ्च वृत्तयो भवन्ति, भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्वती, विमिश्रा चेति ।

—**शृगार-प्रकाश**, १२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४८५

अत यहाँ 'अर्थवृत्तेरभावात्तु वि (मि) श्रा ता पञ्चमी परे ।' पाठ ठीक रहेगा।

(द्रष्टव्य—*Bhoja's Srngara Prakasa* by Dr V Raghavan, Madras, 1963, pp 195-196)

[७९] जब भगवान विष्णु क्षीरसागर मे शेष शय्या पर योगनिद्रा मे सो रहे थे, तभी मधु-कैटभ नामक असुरो ने उन्हे युद्ध के लिए ललकारा । ब्रह्मा द्वारा जगाये जाने पर विष्णु ने अपने अद्भुत पराक्रम से दोनो का बध किया। इस युद्ध के अवसर पर विष्णु द्वारा प्रदर्शित चेष्टाओ से ही वृत्तियो की उत्पत्ति कही गयी है।

युद्ध के समय विष्णु द्वारा जोर से पैर रखने पर पृथ्वी के ऊपर अत्यधिक भार पडा और इसी भार के कारण 'भारती' वृत्ति का उदय हुआ। धनुषधारी विष्णु की तीव्र दीप्तिकर, बलयुक्त एव भयरहित वीरतापूर्ण चेष्टाओ से 'सात्त्वती' वृत्ति का जन्म हुआ तथा विचित्र, ललित तथा लीलायुक्त आगिक अभिनयो के द्वारा विष्णु के शिखाबधन से 'कैशिकी' वृत्ति निर्मित हुई। सरभ एव आवेगपूर्ण चारी बाँधकर विचित्र-युद्ध करके विष्णु ने 'आरभटी' वृत्ति को उत्पन्न किया। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, २२।२-२८)।

[८०] **प्रवृत्ति**—'वेषविन्यासक्रम प्रवृत्ति'

—**काव्यमीमासा**, पृष्ठ ९

[८१] तुलना—**दशरूपक**, २।६३।

[८२] तुलना—**दशरूपक**, ४।३।

[८३] तुलना—**दशरूपक**, ४।२।

[८४] तुलना—**दशरूपक**, ४।४।

[८५] तुलना—**अवलोक सहित दशरूपक** ४।४-५।

[८६] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ७।९५-१०६।

(ख) उदाहरण के लिए एक ही उदाहरण मे सभी सात्त्विक-भावो का उल्लेख प्राप्त है—

'वेवइ सेअदवदनी रोमाञ्चिअ गत्तिए ववइ।
विललुल्लुतु वलअ लहु वाहो अल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्धेण।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण साविण धिज्जइ ॥

हे युवक! तेरे प्रेम के कारण वह (नायिका) बिल्कुल धैर्य धारण नही करती। उसके मुँह पर पसीना आ जाता है, उसके शरीर पर रोमाच हो आता है, तथा वह काँपने लगती है। उसका चचल वलय बाहुरूपी लता मे मन्द-मन्द शब्द करता है। उसका मुँह काला पड जाता है तथा क्षण भर के लिए वह मूर्छित हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता थोडा भी धैर्य नही रखती।

[८७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस, खण्ड १, पृष्ठ ३५६-३७४।

[८८] तुलना—**दशरूपक**, ४।७।

[८९] तुलना—**दशरूपक**, ४।३४।

[९०] तुलना—**दशरूपक**, ४।३५-३६।

द्वितीय अधिकार

[१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, सप्तम अध्याय, जी ओ एस, पृष्ठ ३७७–३७९।

[२] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।१३८।

[३] (1) **'नैसर्गिकी-रति'**—

इय महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरुपहाय मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥

—**कुमारसम्भव**, ५, ५३

महेन्द्र आदि बडे-बडे चारो दिग्पालो को छोडकर यह मानिनी (पार्वती) उन शिव को पति के रूप मे प्राप्त करना चाहती है जो अब कामदेव के नष्ट हो जाने पर केवल रूप दिखाकर नही रिझाये जा सकते ।

(ii) **'नैसर्गिकी'-प्रीति**—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—
रव्यक्तवर्णरमणीयवच प्रवृत्तीन् ।
अकश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदगरजसा मलिनी भवन्ति ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ७, १७

बिना कारण हँसने से दिखायी पडने वाली नवोदित दन्तपक्ति वाले, अव्यक्त शब्दो से रमणीय वाणी वाले और गोद मे बैठने को उत्सुक पुत्रो को गोद मे बिठाकर जो उनकी अगधूलि से मलिन हो जाते हैं, वे धन्य हैं ।

[४] (i) **'सार्सगिकी'-रति**—

भित्वा सद्य किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणा
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ता ।
आलिग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाता
पूर्वं स्पृष्ट यदि किल भवेदगमेभिस्तवेति ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, ४४

हे गुणवती ! देवदारुवृक्षो के पल्लवो को तत्क्षण विकसित कर उनके बहने वाले दूध से सुगन्धित जो हिमालय पर्वत के वायु दक्षिण मार्ग से बहते है, उन वायुओ का मै यही समझकर आलिगन करता हूँ कि इन्होने पहले तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श किया होगा ।

(ii) **'सार्सगिकी-प्रीति**—

विश्वभरा भगवतो भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनक. पिता ते ।
तेषा वधूस्त्वमसि नन्दिनि ! पार्थिवाना
येषा कुलेषु सविता च गुरुर्वय च ॥

—**उत्तररामचरित**, १, ६

हे आनन्दमयी सीते ! विश्व का भरण-पोषण करने वाली भगवती वसुन्धरा ने तुमको उत्पन्न किया है, ब्रह्मा के समान राजा जनक तुम्हारे पिता हैं, तथा तुम उन राजाओ की कुलवधू हो, जिनके कुल मे भगवान भास्कर तथा हम (वसिष्ठ) गुरु है ।

[५] (i) **'औपमानकी'-रति**—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायक मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यै प्रियाया
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेश ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, ३

जिस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढी है तथा बाण भी चढा है, ऐसे धनुष को

उन मृगो पर चलाने मे असमर्थ हूँ, जिन्होने सहवास जन्य मैत्री प्राप्त करके शकुन्तला को स्वभावसुन्दर अवलोकन का उपदेश-सा दिया है।

(ii) **'औपमानिकी'-प्रीति—**

अतिशयितसुरासुरप्रभाव, शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम्।
कुशिकसुतमखद्विषा प्रमाथे, धृतधनुष रघुनन्दन स्मरामि॥

—उत्तररामचरित, ५, ४

सुर और असुरो मे भी अधिक प्रभावशाली इस बालक (लव) को वैसे ही (रामचन्द्र के तुल्य ही) रूप मे देखकर मैं विश्वामित्र—यज्ञ के शत्रुओ (राक्षसो) का विनाश करने के लिए धनुषधारी रामचन्द्र का स्मरण कर रहा हूँ।

[६] (i) **'आभियोगिकी'-रति—**

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष॥

—मालती-माधव, १, ३०

बार-बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृन्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड नेत्रलोमो से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय मे दृढता से जैसे प्रवेशित कर दिया है।

(ii) **'आभियोगिकी'-प्रीति—**

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थ
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा॥

—अभिज्ञानशाकुन्तल, ७, २

पास मे खडे हुए, मन ही मन माला की इच्छा करने वाले अपने पुत्र जयन्त की ओर देखकर मुस्कराते हुए इन्द्र ने अपने वक्ष स्थल पर लगे हुए हरिचन्दन से चिह्नित मन्दार-माला मुझे पहना दी।

[७] (i) **'आध्यात्मिकी'-रति—**

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्येतपोधनाना किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥

—अभिज्ञानशाकुन्तल, ५, १३

पीले-पत्तो के मध्य नवीन किसलय के समान तपस्वियो के बीच यह घूँघट वाली, अतएव जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक नही प्रकट हो रहा है ऐसी महिला कौन है?

(ii) **'आध्यात्मिकी'-प्रीति—**

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुख ममैवम्।

का निर्वृत्ति चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्कात् कृतिन प्ररुढ ।।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ७, १९

किसी भी कुल के अकुर स्वरूप इस बालक का स्पर्श कर मेरे अगो को ऐसा सुख मिल रहा है तो जिस पुण्यात्मा की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके हृदय मे कैसा अपूर्व आनन्द करता होगा ?

[८] (1) **'आभिमानिकी'-रति—**

अद्वैत सुखदु खयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु य—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रस ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसरि स्थित,
भद्र तस्य सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्रार्थ्यते ।।

—**उत्तररामचरित**, १, ३९

(सच्चा प्रेम) सुख-दु ख और सम्पूर्ण दशाओ (सम्पत्ति-विपत्ति) मे एकसा रहता है । हृदय जिसमे अपूर्व विश्राम प्राप्त करता है, वृद्धावस्था मे भी जिसमे अनुराग की कमी नही होती, और जो समय बीत जाने पर (अथवा—विवाह से लेकर मरणपर्यन्त) सकोच-विकोच आदि आवरणो के हट जाने से प्रगाढ एव उत्कृष्ट प्रेम मे स्थित रहता है—ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-स्नेह की प्राप्ति सौभाग्य से ही किसी-किसी को होती है ।

(ii) **'आभिमानिकी'-प्रीति—**

मया नाम जित यस्य त्वयाय समुदीर्यते ।
जयशब्द सहस्राक्षादगत पुरुषान्तरम् ।।

—**विक्रमोर्वशीय**, २, १६

सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँख वाले इन्द्र को छोडकर आज तक किसी दूसरे पुरुष के लिए नही कहा था, वह आज तुमने मेरे लिए कह दिया, इसलिए आज सचमुच मुझे जय मिल गयी ।

[९] (1) **'वैषयिकी'-रति—**

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशै किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुख किंपुरुषश्चुचुम्ब ।।

—**कुमारसम्भव**, ३ ३८

किन्नर लोग गीतो के बीच मे ही अपनी प्रियाओ के वे मुख चूमने लगे जिन पर थकावट के कारण पसीना छा गया था, जिन पर की गयी चित्रकारी धुल गयी थी और जिनके नेत्र पुष्पो की मदिरा से मतवाले होने के कारण बडे लुभावने लग रहे थे ।

(ii) **'वैषयिकी'-प्रीति—**

अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव बद्धपुलक करोति माम् ।
नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ।।

—**उत्तररामचरित**, ६, ७

यह इन्द्र नीलमणि के समान श्याम-वर्ण बालक कौन है ? इसकी गम्भीर

वाणी सुनकर मेरा समस्त शरीर ठीक वैसे ही रोमाचित हो रहा है जैसे कि नये नीले बादलो के गम्भीर गर्जन से कदम्ब-मुकुल ।

[१०] **साम्प्रयोगिकी—**

किमपि-किमपि मन्द मन्दमासक्तियोगा—
दविरलितकपोल जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत् ॥

—**उत्तररामचरित**, १-२७

सुन्दरी ! जहाँ पास-पास कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक-दूसरे की भुजाओ के दृढ आलिंगन मे बँधकर धीरे-धीरे इधर-उधर की बाते करते हुए बिना पता चले हम दोनो की रात ही बीत जाया करती थी । (क्या वह समय याद है ?) ।

[११] **आभ्यासिकी—**

मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु,
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले,
मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग्विनोद कुत ? ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २-५

शरीर चर्बी छँटने मे कृश उदर वाला अतएव हल्का एव उद्योग-योग्य हो जाता है, भय तथा क्रोध मे वन्य-जन्तुओ का विकारयुक्त चित्त परिलक्षित होता है और यह धनुर्धारियो के लिए उत्कर्ष की बात है कि उनके बाण चल-लक्ष्य पर भी सधते हैं । व्यर्थ ही लोग मृगया को व्यसन कहते है, ऐसा विनोद अन्यत्र कहाँ ?

[१२] यहाँ शारदातनय ने कुछ परिवर्तन के साथ भोज का अनुमरण किया है । भोज ने रति को आठ प्रकार का कहा है—नैसर्गिकी, सासर्गिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, साप्रयोगिकी और आभिमानिकी । तथा प्रीति को साम्प्रयोगिकी रहित व आभ्यासिकी सहित और रति के समान अन्य भेदो से युक्त आठ प्रकार का कहा है—नैसर्गिकी, मासर्गिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, आभिमानिकी और आभ्यासिकी । (द्रष्टव्य—**शृगार-प्रकाश**, तेरहवाँ प्रकाश, पृष्ठ ५५०-५६५ तथा **सरस्वती-कण्ठाभरण** ५।१६५-१६६) । शारदातनय ने इन्ही भेदो को दूसरे ढग से प्रस्तुत किया है—उन्होने रति और प्रीति के साधारण भेद—जो सात (नैसर्गिकी, सासर्गिकी, औपमानिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, आभिमानकी तथा वैषयिकी) हैं, उन्हे एक साथ गिनाया है । पुन साम्प्रयोगिकी और आभ्यासिकी भेदो को क्रमश रति और प्रीति से सम्बद्ध कहा है । वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे रति और प्रीति को पर्यायवाची कहा है (**कामसूत्र**, निर्णयसागर, १८६१, पृष्ठ ८८) । उन्होने 'रति' को साम्प्रयोगिकी (**कामसूत्र**, पृष्ठ ८८) तथा 'प्रीति' को आभ्यासिकी कहा है, तथा प्रीति के चार भेद

बताये है—(१) आभ्यासिकी, (२) आभिमानिकी, (३) सम्प्रत्ययात्मिका, और (४) विषयात्मिका (**कामसूत्र**, पृष्ठ ९२)।

[१३] तुलना—भोज के अनुसार व्यग क्रीडा आदि से होने वाला चित्त का विकास 'हास' कहलाता है—

व्यगक्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।१३९ (क)

हेमचन्द्र ने चित्त के विकास को 'हास' कहा है—

चेतसो विकासो हास ।

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ८४

रामचन्द्र-गुणचन्द्र मन की प्रसन्नता और उन्माद आदि से उत्पन्न चित्त के विकास को 'हास' कहते है

रञ्जनोन्मादानुविद्धश्चित्तस्य विकासो हास ।

—**नाट्य-दर्पण**, दिल्ली, १९६१, पृष्ठ ३३०

विश्वनाथ के अनुसार वाणी आदि के विकारो को देखकर चित्त का विकसित होना 'हास' कहा जाता है—

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते।

—**साहित्य-दर्पण**, ३।१७६

[१४] स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित।

—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ५३

[१५] तुलना—**दशरूपक** ४।१।

[१६] नाट्यशास्त्र की आधी कारिका की समानता लिए है। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ३५)।

[१७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस, खण्ड १, पृष्ठ २८८-२८९।

[१८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ३७।

[१९] **द्रव्य**—'द्रव्यत्व' जातिमान और गुणवान 'द्रव्य' कहलाता है—

'द्रव्यत्वजातिमत्त्व गुणवत्त्व वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्'।

—**तर्कसंग्रह**, स बोडास और ऐथले, पूना, १९६३, पृष्ठ ४

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव ही द्रव्य है।

[२०] **सामान्य**—जो नित्य और एक होने पर भी नाना पदार्थो मे रहे वह 'सामान्य' है।

नित्यमेकमनेकानुगत सामान्यम्। —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६०

सामान्य दो तरह के है—परसामान्य और अपरसामान्य।

[२१] **विशेष**—जो नित्य द्रव्यो मे रहते हुए दूसरो को व्यावृत्त करे, वे 'विशेष' है।

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषा। —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६१

विशेष केवल नित्य-द्रव्य में रहता है और वह अनन्त है। (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु, तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये सब नित्य द्रव्य है।)

[२२] **गुण**—'गुणत्व' जातिमान या द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए भी सामान्य-वान 'गुण' कहलाता है—

'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति मामान्यवान् गुण , गुणत्वजातिमान्वा ।'

—**तर्कसग्रह**, पृष्ठ ५

गुण चौबीस प्रकार के होते है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार।

[२३] **कर्म**—चलने-फिरने आदि क्रिया का नाम 'कर्म' है। सयोग से भिन्न होते हुए भी सयोग का असमवायिकारण 'कर्म' है या 'कर्मत्व' जातिमान 'कर्म' है।

चलनात्मक कर्म । —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६०

सयोगभिन्नत्वे सति सयोगासमवायिकारण कर्म ।

—**तर्कसग्रह**, पृष्ठ ५

कर्म पाँच प्रकार के होते है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

[२४] **समवाय**—नित्य सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है। समवाय एक ही है।

नित्यसम्बन्ध समवाय । —**तर्कसग्रह**, पृष्ठ ६१

[२५] **पदार्थ**—नामवाली वस्तु को 'पदार्थ' कहते हैं।

अभिधेयत्व पदार्थसामान्यलक्षणम् । —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ २

पदार्थ छै (६) है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और सामान्य।

[२६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस , ७, २ ।

[२७] तुलना—**वही**, ७, १ ।

[२८] तुलना—**वही**, पृष्ठ ३४६ ।

[२९] तुलना—**वही**, ७, ४ ।

[३०] तुलना—**वही**, ७, ५ ।

[३१] तुलना—सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विका ।

तथाप्यमीषा सत्त्वैकमूलत्वाद् सात्त्विकाप्रथा ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, १, ३१०-३११ ।

[३२] तुलना—**शृगारप्रकाश**, एकादश प्रकाश, पृष्ठ ४२९-४३१ तथा **सरस्वती-कण्ठाभरण**, ५।१ ।

[३३] यहाँ साख्यदर्शन के प्रकृति-विकृतिवाद का अनुसरण किया गया है (दृष्टव्य—**मूलप्रकृति**—विकृति . . । इत्यादि, **सांख्यकारिका**, ३ तथा त्रिगुणमविवेकि । इत्यादि, **साख्यकारिका** ११ ।)

[३४] **बुद्धि**—निश्चयात्मक तत्त्व 'बुद्धि' है (अध्यवसायो बुद्धि ।—**साख्यकारिका**, २३)। ससार मे व्यवहार करने वाले सभी लोग पहले ज्ञानेन्द्रियो से पदार्थो का प्रत्यक्ष करने के बाद 'यह ऐसा है ऐसा नही है'—इस प्रकार मन मे सकल्प कर 'मै इस काम का अधिकारी हूँ'—ऐसा अभिमान करने के बाद 'मुझे यह अवश्य करना है'—ऐसा निश्चय कर बाद मे उस कार्य मे प्रवृत्त होते हैं। इन चारो प्रकार के व्यापारो मे से जो यह अन्तिम कर्तव्यता-निश्चय है यही बुद्धितत्त्व का विशेष धर्म है।

[३५] **मन**—सकल्प करने वाला 'मन' है (सकल्पकम् मन —**साख्यकारिका**, २७)। सकल्प से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय के 'यह वस्तु' इस प्रकार अस्पष्ट रूप से ज्ञात होने पर मन के द्वारा 'यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नही'—इस प्रकार से उनका सकल्प अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से विवेचन या स्पष्ट ज्ञान होता है।

[३६] **आलोचन**—ज्ञानेन्द्रियो द्वारा अविविक्त वस्तु अस्पष्ट या निर्विकल्प प्रत्यक्ष-ज्ञान 'आलोचन' कहा गया है। (बुद्धीन्द्रियाणा सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचन-मुक्तम्—**तत्त्वकौमुदी**, स गगानाथ झा, पूना, १९६५, पृष्ठ १०३)।

[३७] **अहकार**—अभिमान को 'अहकार' कहते है। (अभिमानोऽहकार —**साख्यकारिका**, २४)। 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमे से ही अधिकृत हूँ, मै ही इसे करने मे समर्थ हूँ, ये विषय मेरे ही लिए है, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमे अधिकृत नही है, अत मै ही अधिकृत हूँ—इस प्रकार का यह अभिमान 'अहकार' का असाधारण धर्म है।

[३८] तुलना—सात्त्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्।
भूतादेस्तन्मात्र स तामस तैजसादुभयम्॥
—**साख्यकारिका**, २५

एक अहकार के सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन भेद है जिनमे मे सात्त्विक अहकार से एकादश इन्द्रियाँ तथा तामस अहकार से पञ्च तन्मात्राये उत्पन्न होती है। यद्यपि राजस अहकार का कोई दूसरा कार्य नही है, तो भी सत्त्व तथा तमोगुण के स्वय क्रिया रहित होने से सामर्थ्य होने पर भी वे अपने-अपने कार्यो को नही कर सकते इसलिए जब रजोगुण चचल होने से सत्त्व तथा तमोगुण को चलाता है तब वे अपने-अपने कार्यो को करते है, अत सत्त्व तथा तमोगुण मे क्रिया को पैदा करने के कारण राजस अहकार भी उक्त दोनो कार्यो की उत्पत्ति मे कारण है।

[३९] यह कोई नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ प्रतीत होता है, लेकिन इसके विपय मे अधिक विवरण ज्ञात नही है।

[४०] **करण**—नृत्य मे हस्त तथा पादो के मिलकर हलन-चलन करने को 'करण' कहते हैं—हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्। —**नाट्यशास्त्र**, ४।३०
करण एक सौ आठ है।

[४१] **अगहार**—छ, सात, आठ तथा नौ करणो से सयुक्त 'अगहार' कहे गये है—
षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा।
करणैरिह सयुक्ता अगहारा प्रकीर्तिता॥
—**नाट्यशास्त्र**, ४।३३

अगहार ३२ होते है।

[४२] **ताण्डव**—भगवान शकर ने अगहार, रेचक और पिण्डीबन्धो के सयोग से जिस नृत्य की सृष्टि की, उसे विधि-विधान पूर्वक, तण्डु मुनि को सिखाया। तण्डु मुनि ने उस नृत्त मे गान तथा वाद्य-यन्त्रो का सयोग कर उसे 'ताण्डव' नृत्त के नाम से प्रचलित किया अर्थात् तण्डु मुनि द्वारा उद्भावित होने के कारण उसकी प्रसिद्धि 'ताण्डव' नाम से हुई।

सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ॥
+ + +
नृत्तप्रयोग सृष्टो य स ताण्डव इति स्मृत ॥

—**नाट्यशास्त्र**, ४।२६०-२६१

[४३] **लय**—तालक्रिया के अनन्तर किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है ।

[४४] **चारी**—पद, जघा, ऊरू तथा कटि-भाग का एक साथ चेष्टा करना 'चारी' कहलाता है ।

एव पादस्य जघाया ऊरो कट्यास्तथैव च ।
समानकरणाच्चेष्टा चारीति पारिकीर्तिता ॥

—**नाट्यशास्त्र**, ११।१

[४५] **गीति**—स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णों से अलकृत पद एव लय से युक्त गान क्रिया 'गीति' कहलाती है—

वर्णाद्यलकृता गानक्रिया परलयान्विता ।
गीतिरित्युच्यते ॥

—**संगीत-रत्नाकर**, खण्ड १, स्वरगताध्याय, पृष्ठ २८० ।

[४६] 'सूड' प्रबन्ध दो प्रकार का होता है—शुद्ध और छायालग । ऐलादि गीत 'शुद्ध' है तथा ध्रुवादि गीत 'सालग' है । 'सालग' छायालग शब्द का ही अपभ्र श है । (द्रष्टव्य—**संगीतरत्नाकर**, प्रबन्धाध्याय, खण्ड २, पृष्ठ ३३४) ।

[४७] तुलना—**नाटयशास्त्र**, ४।२६०-२६१ ।

[४८] तुलना—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ २७२-२७६ तथा **काव्यप्रकाश**, झलकीकर, पूना, पृष्ठ ८८-९० ।

[४९] तुलना—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ २७६-२७७ तथा **काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ९० ।

[५०] **राग**—जीव के नित्यतृप्तित्व गुण के सकोच का कर्ता 'राग' तत्त्व कहलाता है, जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, सम्पादक, श्री कान्तिचन्द्रपाण्डे, इलाहाबाद, १९५० पृष्ठ २३७-२३८ तथा *Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study*, by K C Pandey, Varanasi, 1963, pp 374) ।

[५१] **विद्या**—जीव की सर्वज्ञता का सकोच करने वाला तत्त्व 'विद्या' है, जिसके कारण जीव किञ्चितज्ञ होता है । **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, पृष्ठ २३७ तथा *Abhinavagupta*, pp 374) ।

[५२] **मल**—काश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार जीव के तीन प्रकार के मल होते है—आणव, माया और कार्म । जीव के ज्ञातृ-कर्तृरूप को छिपाने वाला 'आणव' कहलाता है । जीव के आणवमल से सकुचित रूप रहने पर वस्तु से भिन्न अवस्तु का ज्ञान 'माया' है । वस्तुत तीनो मलो का कारण 'माया' है । कर्तृ-शरीर मे आत्म-तत्त्व से भिन्न बाह्य-जगत् का ज्ञान रहने पर धर्म-अधर्म रूप कर्म का ज्ञान—कि कर्म ही जन्म और भोग को प्रदान करने वाला है—'कार्म' मल है । (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका**, ३, २, ४-५ तथा *Abhinavagupta*, pp 307-311) ।

[५३] **कला**—जीव के सर्वकर्तृत्व शक्ति को सकुंचित करने वाला तत्त्व 'कला' है, जिसके कारण जीव किंचित्कर्तृत्व शक्ति युक्त बन जाता है। (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी**, पृष्ठ २३७ तथा *Abhinavagupta*, pp 372-374)।

[५४] काश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार आत्म-तत्त्व मे ३१ तत्त्व अन्तर्भूत हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, प्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल तथा पृथ्वी (*Abhinavagupta*, pp 370-381)।

[५५] काश्मीरी शैवदर्शन के अनुसार जीवात्मा माया से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वो से निर्मित जगत् का—जो कि दुखो से परिपूर्ण है, राग, विद्या और कला नामक तीन तत्त्वो से आनन्द लेता है। ठीक इसी प्रकार प्रेक्षक नाट्य मे प्रदर्शित अनेक भावो का—जो कि रस-रूप हैं, राग, विद्या, और कला से आनन्द लेता है।

तृतीय अधिकार

[१] परमात्मा के द्वारा साम, ऋक्, अथर्व तथा यजु—वेदो से क्रमश शृगार, वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसो की उत्पत्ति—यह शारदातनय की नवीन विचारणा है। अन्यत्र यह ज्ञात नही होती।

[२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ४०।४१।

[३] 'त्रिपुरदाह' नामक डिम मे शिव नायक है। इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र मे (४।१०) मे मिलता है तथा इसमे 'त्रिपुरदाह' के प्रदर्शन का उल्लेख भी मिलता है जो सम्भवतः प्राचीन तथा प्रथम नाट्य-रचना थी (विशेष द्रष्टव्य—भूमिका)।

[४] शृगारादि रसो की उत्पत्ति के विषय मे ग्रन्थकार की यह एकमात्र नवीन कल्पना है। यह गाथा अन्यत्र प्राप्त नही होती।

[५] नाट्यशास्त्र के अनुसार—जब व्यक्ति स्वय हँसता है, तो आत्मस्थ हास्य और दूसरे को हँसाता है, तो परस्थ हास्य कहलाता है।

'यदा स्वय हसति तदाऽऽत्मस्थ । यदा तु पर हासयति तदा परस्थ ।'

—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड १, जी ओ एस, पृष्ठ ३१३

आचार्य अभिनवगुप्त ने उन विचारको का विरोध किया है जो आत्मस्थ और परस्थ भेदो का अर्थ यह समझते है कि आत्मस्थ मे विकृत वेषादि विभावो के कारण विदूषक स्वय हँसता है और परस्थ मे दूसरो को हँसाता है। उनके अनुसार इस प्रकार आत्मस्थ तथा परस्थ रूप विभावो के दो भेद माने गये हैं, हास्य के नही। वह एक दूसरा तर्क देते है कि स्वामी का शोक परिजनो मे भी शोक उत्पन्न करता है तो इस प्रकार शोक के प्रसग मे भी परस्थता मानी जानी चाहिए। अन्यत्र देवी आदि किसी अन्य मे व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाये, तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी मे सेवको के अनुभावो से उत्पन्न होने वाला क्रोध (रौद्र रस) भी परस्थ माना जायेगा।

अत आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है तथा स्वय जिसमे विभाव हो वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमे विभाव हो परस्थ होता है, यह व्याख्या भी ठीक नही है। क्योकि दूसरे का हास्य भी आत्मस्थ हास्य मे विभाव होता है। इस आधार पर हास्य के भेद करने पर तो रति आदि सभी के ये भेद किये जा सकते है। अत इन दो विभावो का अभिप्राय है कि विभावो को स्वत न देखकर दूसरो को हँसते हुए देखकर लोग हँसने लगते है, ऐसा लोक व्यवहार मे देखा जाता है और गम्भीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नही हँसते वे भी दूसरो को हँसाता देखकर थोडा मुस-करा ही देते है, क्योकि मनुष्यो का ऐसा स्वभाव देखा जाता है। उदाहरण के लिए खट्टे अनार आदि का स्वभाव ऐसा सक्रमणशील होता है कि उनको देखकर भी लोगो के मुँह मे पानी आ जाता है। इसी प्रकार हास भी सक्र-मणशील है और लकडी मे अग्नि के समान फैल जाता है। अत स्वगत रूप हास्य आत्मस्थ और सक्रमणशील हास्य परस्थ माना जाना चाहिए। (द्रष्टव्य —**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी ओ एस, पृष्ठ ३१३-३१५)।

रसगगाधरकार ने आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए कहा है कि हास्य-विषय को देखने से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ और दूसरो को हँसता हुआ देखकर हँसने से परस्थ हास्य की सिद्धि होती है (द्रष्टव्य—**रसगंगाधर**, काव्यमाला सीरीज, १९४७, पृष्ठ ५४)।

[६] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृति-भेद से होने वाले हास्य के इन छै (६) भेदो मे से स्मित, विहसित, अपहसित की आत्मस्थ सज्ञा दी गयी है और हसित, उपहसित, अतिहसित की परस्थ की सज्ञा दी गयी है (द्रष्टव्य— **अभिनवभारती**, पृष्ठ ३१६)।

[७] (क) आक्रमण करके शत्रु-सैन्य को पराजित कर देना 'पराक्रम' है।
(ख) शत्रु को सन्तप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है।
(ग) इन्द्रियो का विजय 'विनय' है।
(घ) नीति मे सन्धि आदि छ गुणो का उचित प्रयोग 'नय' कहलाता है।
(ङ) युद्ध आदि का सामर्थ्य 'शक्ति' है।
(च) राम जैसे नायको मे इन विभावो की पूर्ण स्थिति स्वीकार की जा सकती है।
(छ) अविचल रहना 'स्थैर्य' है।
(ज) युद्ध आदि की क्रिया 'शौर्य' है।
(झ) गम्भीरता के साथ मनोभावो को छिपाना 'धैर्य' है।
(ञ) शत्रु के प्रति अन्यथा आरोप करना 'आक्षेप' है।
(ट) दान देना 'त्याग' है।

—**अभिनवभारती**, जी. ओ एस, खण्ड १, पृष्ठ ३२४-२५।

[८] (क) जिसकी प्राप्ति सम्भव हो, वह 'ईप्सित' कहलाता है।
(ख) जिसकी प्राप्ति असम्भव हो, वह 'मनोरथ' कहलाता है।
(ग) दिव्य-जन का अर्थ है—गन्धर्व आदि।

(घ) विमान का अर्थ दिव्य रथ है ।
(ङ) एक विशेष प्रकार से निर्मित मण्डप या ग्रह को 'सभा' कहते है ।
—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ ३२९-३३०

[९] (क) जिन मनुष्यो मे हिंसा भाव प्रधान होता है, उन्हे 'उद्धत' कहा गया है ।
(ख) झूठ बात को कहना 'अनृत-वाक्य' है ।
(ग) वाणी की कठोरता या मारने की धमकी देना 'परुषोक्ति' पद का अर्थ है ।
(घ) गुणो मे दोष-दर्शन 'मत्सर' है ।
—**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी ओ एस , पृष्ठ ३१९-३२४

[१०] (क) 'व्यसन' का अर्थ है मृगया या जूआ आदि अनर्थजनक कार्य के साथ सम्बन्ध हो जाना ।
(ख) 'निश्वास' पद से शोक के बाद होने वाले ऊर्ध्वश्वास रूप उच्छ्वास को लक्षित किया गया है ।
(ग) 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ तथा प्रलय का ग्रहण होता है ।
—**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी ओ एस , पृष्ठ ३१७-३१९ ।

[११] यहाँ सभी रसो के लक्षणो के लिए नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया गया है । (दृष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस , पृष्ठ अध्याय, षष्ठ ३००), लेकिन उन लक्षणो के अन्तर्गत यथायोग्य सात्त्विक भावो का सन्निवेश ग्रन्थकार ने किया है ।

[१२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ७७ (क) ।

[१३] भरत ने हास्य के अग, नेपथ्य और वाक्य के अनुसार तीनो भेदो का उल्लेख किया है । (दृष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ७७ (ख)) ।

[१४] भरत ने युद्ध, दान तथा धर्मवीर नामक तीन भेदो का वर्णन किया है (**नाट्यशास्त्र**, ६, ७९) भोज तथा शारदातनय ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का वर्णन किया है । (दृष्टव्य—**सरस्वती कण्ठाभरण**, गोहाटी, १९६९, पृष्ठ २७१) । विश्वनाथ ने इस सख्या मे धर्मवीर को भी मिलाकर वीर-रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर नामक चार भेद मान लिये है । (**साहित्य-दर्पण**—तृतीय परिच्छेद, कारिका २३४) ।

[१५] भरतमुनि ने अद्भुत को दिव्य तथा आनन्दज—केवल दो प्रकार का बताया है । (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ८२) ।

[१६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ७७ (ख) ।

[१७] भरतमुनि ने करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव, शोककृत नामक तीन भेदो का नाम लिया है । (**नाट्यशास्त्र**, ६, ७८) ।

[१८] भरत तथा धनजय ने वीभत्स के क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी नाम से तीन भेद किये है (**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ८, १ तथा **दशरूपक**, चतुर्थ-प्रकाश, कारिका ७३) । शारदातनय ने शुद्ध को त्याग कर केवल दो भेदो का उल्लेख किया है ।

[१९] भरत मुनि के अनुसार भयानक रस व्याज (कृत्रिम, प्रदर्शन), अपराध तथा त्रास द्वारा उत्पन्न होकर तीन प्रकार का होता है (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, ६, ८१) ।

[२०] (i) अभिनव ने यहाँ विष्णु का अर्थ कामदेव लिया है (**अभिनवभारती**, जी ओ एस, पृष्ठ २९८)।

(ii) वैष्णव धर्म के अनुसार भगवान विष्णु चतुर्व्यूहात्मक है—(१) वासुदेव, (२) सकर्षण, (३) प्रद्युम्न और (४) अनिरुद्ध—ये चार व्यूह के अग है। परमात्मा श्रीकृष्ण ही वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, अमितविक्रम है, वैसे ही कामदेव, कामपाल और कामी है, ऐसा विष्णु-सहस्र नाम से सिद्ध होता है। यथा—'अनिरुद्धोऽप्रतिरथ प्रद्युम्नोऽमितविक्रम' (श्लोक ८२), 'कामदेव कामपाल कामी' (८४)।

[२१] **तुलना—नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस, षष्ठ अध्याय, कारिका ४४-४५।

[२२] तुलना—**अभिनवभारती**, जी ओ एस, खण्ड १, पृष्ठ २९८-२९९।

[२३] शृगार-रस का वर्ण श्याम और हास्य का श्वेत कहा गया है, वीर-रस का वर्ण गौर और अद्भुत का पीत माना गया है। रौद्र-रस का वर्ण रक्त और करुण-रस का कपोत जाना जाता है तथा वीभत्स रस का नीलवर्ण और भयानक रस का कृष्ण कहा गया है। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ४२-४३)।

[२४] भरत मुनि ने क्रोध के रिपुज, गुरुज, प्रणयी-प्रभव, भृत्यज तथा कृत्रिम—पाँच भेदो का वर्णन किया है (**नाट्यशास्त्र**, सप्तम अध्याय, कारिका १५)। शारदातनय ने कृत्रिम के स्थान पर मित्रज क्रोध का वर्णन किया है। भोज ने क्रोध के ललित, अललित तथा ललितालिलत—तीन भेदो का उल्लेख किया है। (द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ २७२)।

[२५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, सप्तम अध्याय, कारिका १६-२०।

[२६] तुलना—**रसावर्णवसुधाकर**, १, १८०।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, अध्याय २३, कारिका १२-१३।

[२८] मल्लिनाथ के अनुसार यह सौन्दर्य अन्यूनातिरिक्त है (द्रष्टव्य—**कुमारसम्भव**, सञ्जीवनी टीका, १, ३२) यह एक स्वरूपात्मक पूर्णता है, जो कि सौन्दर्य का गुण तथा उसकी विशेषता है। यह न तो बहुत अधिक है, और न बहुत कम। यह विभिन्न अगो की एकता या पूर्णता है। (द्रष्टव्य—**कुमारसम्भव** १, ४९। "सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेश विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्व-सृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥")।

[२९] तुलना—**रसार्णवसुधाकर**, १, १८२।

[३०] **नाट्यशास्त्र** (८, १२) और **अभिनयदर्पण** (कारिका ४२) दोनो मे ६ अग बताये गये है जिनकी नामावली समान है और जिनके नाम इस प्रकार है १ सिर, २ दोनो हाथ, ३ वक्षस्थल, ४ दोनो पार्श्व, ५ दोनो कटिभाग, और ६ दोनो पैर। कुछ आचार्यों के मत मे इन छ अगो के अतिरिक्त ग्रीवा को भी अगो मे परिगणित किया गया है।

[३१] आचार्य नन्दिकेश्वर ने प्रत्यग के अन्तर्गत १ दोनो हाथ, २ दोनो बाहे, ३ पीठ, ४ उदर, ५ दोनो उरु, और ६ दोनो जघाओ को परिगणित किया है। इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने दोनो कलाइयाँ, दोनो कुहनियाँ, दोनो घुटने

और ग्रीवा को भी प्रत्यगो के अन्तर्गत माना है। (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण**, कारिका ४३-४४)।

[३२] कुछ आचार्यो ने केवल स्कन्ध-भाग को ही उपाग माना है। भरत ने उपागो का उल्लेख किया है १ सिर, २ हस्त, ३ उर, ४ पार्श्व, ५ कटि और ६ पैर (**नाट्यशास्त्र**, ८, १३)। आचार्य नन्दिकेश्वर ने उनकी सख्या बारह बतायी है १ नेत्र, २ भवैं, ३ आँखो की पुतलियाँ, ४ दोनो कपोल, ५ नासिका, ६ दोनो कुहनियाँ, ७ अधर, ८ दाँत, ९ जिह्वा, १० ठोडी, ११ मुख, और १२ सिर। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने दोनो घुटने, उँगलियाँ और हाथ-पैरो के तलवे भी उपागो मे माने है (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण**, कारिका ४५-४६)।

[३३] तुलना—**रसार्णवसुधाकर**, १, १८४ (ख)—१८६।

[३४] तुलना—**रसार्णवसुधाकर**, १, १८४ (क)।

[३५] भरत मुनि ने मुखराग के स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त तथा श्याम—चार भेदो का उल्लेख किया है (**नाट्यशास्त्र**, ८, १५८ (क))।

[३६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, अष्टम अध्याय, कारिका १५८-१६०।

चतुर्थ अधिकार

[१] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।१३८ (क)।

[२] **स्पृहा**—

आत्मोपभोगकरण स्पृशतीन्द्रियवर्त्मना।
या जहातीतरान् भोगान् सा स्पृहेत्यमिधीयते॥

—**भावप्रकाशन**, जी ओ एस, पृष्ठ २९।

[३] तुलना—**प्रतापरुद्रीय**, पृष्ठ १६३।

[४] तुलना—**दशरूपक**, ४।४८।

[५] तुलना—अहेतोर्मेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।४८।

मुहु कृतो मेति-मेति (नेति) प्रतिषेधार्थवीप्सया।
ईप्सितालिङ्गनादीना निरोधो मान उच्यते॥

—**रसार्णवसुधाकर**, २।२०२।

[६] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।६९।

[७] Bhoja's *Srngara Prakasa* by V Raghavan pp 639-640।

[८] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।८०।

[९] तुलना—"रञ्जरागे" इत्यस्मात् राजृदीप्तौ इत्येतस्माद्वा भावकरणयोर्घञि राग इति रूप भवति।

—**शृंगारप्रकाश**, १४वाँ प्रकाश, पृष्ठ ८५७।

राजते रञ्जतेर्वापि राग करणभावयो।
घञान्यत्कारके भावे नलोपेन नियम्यते॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।६८

[१०] तुलना—(क) **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १७४ ।
(ख) **नीलीराग** । जैसे—सीता और राम का ।
कुसुम्भराग । जैसे—आजकल अनेक दम्पत्तियो का ।
मञ्जिष्ठाराग । जैसे—राधा और कृष्ण का ।

[११] तुलना—ततश्चानुगतोऽनुरूपो वा राग अनुराग इति । अनु पश्चात् सह वा राग अनुराग इति ।

—**शृंगारप्रकाश**, १४वाँ प्रकाश, पृष्ठ ८५७ ।

रागोऽनु सह पश्चाद्वानुरूपोऽनुगतोऽपि वा ।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।६७ ।

[१२] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४।४७-४८ ।
(ख) (i) **देश विभाव**—

स्मरसि सुतनु ! तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन,
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ?
स्मरसि सरसनीरा तत्र गोदावरी वा ?
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ?

—**उत्तररामचरित**, १, २६ ।

सुन्दरी ! तुम उस 'प्रस्रवण' पर्वत मे लक्ष्मण के द्वारा की गयी सेवा से प्रसन्न हम दोनो के उन सुखमय दिनो का, निर्मल जलवाली गोदावरी नदी का और उसके किनारे पर हमारे विहार का स्मरण करती हो ? (या नही) ।

(ii) **कला विभाव**—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना,
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाय लय ।
गोपुच्छाप्रमुखा क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सपादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधय सम्यक्त्रयो दर्शिता ।

—**नागानन्द**, १, १४

सगीतशास्त्र मे प्रसिद्ध दस प्रकार के व्यञ्जन धातुओ पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उद्भृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, बिन्दु तथा अपमृष्ट के द्वारा वीणावादन के समय भाव की व्यञ्जना करायी गयी है। द्रुत, मध्य और लम्बित, ये तीनो प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनायी पड रहे है। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियो का भी सुन्दर सम्पादन किया है । इसी प्रकार वाद्य के विषय मे तत्त्व, ओघ तथा अनुगत—ये तीनो प्रकार के तत्त्व भी अच्छी तरह से दिखाये गये हैं ।

(iii) **काल-विभाव**—

मधु द्विरेफ कुसुमैकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान ।
शृगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसार ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३६

भौरा अपनी प्यारी भौरी के साथ एक ही फूल की कटोरी मे मकरन्द पीने लगा । काला हरिण अपनी उस हरिणी को सीग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी ।

(iv) **वेष-विभाव**—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवार वसन्तपुष्पाभरण वहन्ती ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ५३

उस समय पार्वती के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तो के, सोने की चमक को घटाने वाली कर्णिकार के फूलो के और मोतियो की माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलो के आभूषण सजे हुए थे।

(v) **उपभोग-विभाव**—

चक्षुर्लुप्तमषीकण कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे,
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युति ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमे—
भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेत स्थली वर्धित ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ २६५।

हे तरुणि ! तेरी आँख का काजल साफ हो गया है, अधर भाग मे लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गयी है, कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पडे हैं और तुम्हारे शरीर की कान्ति ओझल हो गयी है। इन सारे चिह्नो से ऐसा प्रतीत होता है कि हे मानिनि ! तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायो द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बढा हुआ मान का बडा वृक्ष तोड डाला है ।

(vi) **आनन्दस्वरूप (प्रमोदात्मा) रति**—

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादय
प्रकृतिमधुरा सन्त्येतान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदिय याता लोके विलोचनचन्द्रिका,
नयनविषय जन्मन्येक स एव महोत्सव ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३७

लोक मे अतिशय प्रसिद्ध नवीन चन्द्रकला आदि पदार्थ जयशील हैं। स्वभाव से सुन्दर और भी पदार्थ है ही जोकि मन को प्रसन्न करते है। परन्तु जो यह नेत्र-चन्द्रिका (मालती) लोक मे मेरे नेत्र-विषय को प्राप्त हो गई है, जन्मशाली पदार्थ मे एक वही सौख्य का कारण है।

(vii) **युवतिविभाव**—

दीर्घाक्षि शरदिन्दुकान्तिवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निबिडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघन पादावरालागुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनस स्पष्ट तथाऽस्या वपु ॥

—**मालविकाग्निमित्र**, २, ३

वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है क्योकि इसकी बडी-बडी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा के समान मुख, कन्धो पर झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनो से जकडा हुआ वक्ष-स्थल, पुछे हुए से पार्श्व-

प्रदेश, मुट्ठी भर की कमर, मोटी-मोटी जघाएँ और थोडी-थोडी झुकी हुई दोनो पैरो औ अगुलियाँ—बस ऐसी जान पडती है मानो इसका शरीर इसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप बनाया गया हो ।

(viii) **युवक-युवति विभाव**—

भूयो भूय सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्त
दृष्ट्वा-दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्काम नवमिव रतिर्मालती माधव य-
द्गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

—**मालतीमाधव**, १, १६

निकट की नगरी की गली से बार-बार घूमते हुए, साक्षात् अभिनव काम के समान सुन्दर माधव को भवन की छत के ऊँचे झरोखे से बार-बार देखकर रति के समान सुन्दर मालती अत्यधिक उत्कठित होकर अपने कोमल तथा सुन्दर अगो से पीडित रहती है ।

(ix) **युवक-युवती का परस्पर अनुराग**—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त—
दावृत्तवृतशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३०

बार-बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृत्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड नेत्र-लोमो मे युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय मे दृढता से जैसे प्रवेशित कर दिया है ।

(x) **अगों की मधुर चेष्टाएँ**—

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलताना
मसृणमुकुलिताना प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किंचिदाकुञ्चिताना
विविधमहमभूव पात्रमालोकितानाम् ॥

—**मालतीमाधव**, १, २८

मै निश्चल और विकसित, ऊपर चलने वाली भ्रूलताओ से युक्त, अनुराग से सुन्दर और अनिर्वाच्य सुखानुभूति से मुकुलित, अपाग देश मे विस्तार से सम्पन्न और मेरे नेत्रो के सगम होने पर लज्जा से सकुचित मालती के अवलोकनो का अनेक प्रकार से आश्रय हो गया ।

[१३] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५० ।

[१४] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५५-५६ ।

[१५] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ५८ ।

(ख) पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चकलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥

—**गाथा-सप्तशती**, १, २७

दोनो (युवक-युवती) ही प्रणय से कुपित है, दोनो ही मिथ्या प्रसुप्त है और धीरे-धीरे रोक के लिए परस्पर के नि श्वासो पर दोनो ही कान लगाये पडे है, देखे इन दोनो मे कौन बहादुर है ।

[१६] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ५६ ।

(ख) केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअव अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहास जाआ सच्च वि अ परुण्णा ।।

—**दशरूपक**, पृष्ठ २७५

अरे दुष्ट ! कुटिलता से अनभिज्ञ मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास मे किसी अन्य नायिका का गुण कथन कर दिया, फिर क्या था, वह भोली-भाली तेरे कथन को सत्य मानकर रो रही है ।

[१७] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५६-६० ।

[१८] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६१ ।

[१९] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) इन्दीवरेण नयन मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधर नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलै स विधाय वेधा
कान्ते कथ रचितवानुपलेन चेत ।। —**दशरूपक**, पृष्ठ २७६

हे प्रिय ! ब्रह्मा ने तेरे नेत्रो को नील कमल से, मुख को लाल कमल से, तेरे दाँतो को कुन्द-कली से, अधर को नई लाल कोपल से तथा अवशिष्ट अगो को चम्पक के पुष्पो से बनाया है, पर पता नही तेरे हृदय (चित्त) को पत्थर से कैसे बनाया ?

[२०] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृता स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुष सुभ्रुबहुश ।
प्रकोप कोऽप्यन्य पुनरयमसीमाद्य गुणितो,
वृथा यत्र स्निग्धा प्रियसहचरीणामपि गिर ।।

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २७७

हे सुभ्रू ! आज्ञा का भग कर देने पर भी मैंने किसी तरह तुम्हे कई बार प्रणाम किया था और तब तुम हँसकर गुस्से को हाथो-हाथ छोड देती थी । ऐसा अनेक बार हुआ । पर इस बार तो पता नही, तुम्हारा यह गुस्सा दूसरे ही ढग का है, यह अत्यधिक बढा-चढा तथा नि सीम दिखायी पड रहा है, जिस क्रोध मे प्रिय सखियो के मधुर स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो गये हैं ।

[२१] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) मुहुरुपहसितामिवालिनादै—-
वितरसि न कलिका किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्या
शठ कलिरेव महास्त्वयाऽद्य दत्त. ।।

—**शिशुपालबध**, ७, ५५

हे शठ ! बार-बार भ्रमरो से उपहसित इस मजरी को हमे क्यो दे रहे

हो ? अरे दुष्ट ! तूने तो आज रात को उसके पास जाकर हमे बहुत बडी मजरी प्रदान कर ही दी है ।

[२२] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) णेउरकोडिविलग्ग चिहुर दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअ माणपउत्थ उम्मोअ त्ति च्चिअ कहेइ ॥

—**गाथासप्तशती**, २, ८८

प्रिया के पैरो पर गिरे हुए, प्रिय के केश, जो प्रिया के नूपुरो मे उलझ गये है, इस बात की सूचना दे रहे है कि नायिका के मानी हृदय को अब मान से छुटकारा मिल गया है ।

[२३] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६३ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०३ ।

(ख) नायक मानिनि नायिका को अनेक उपायो से मनाकर नाराज हो चला जाता है । उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चाताप कर रही है । सखी से कहती है—

किं गतेन नहि युक्तमुपैतु नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेय ॥

अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ ? पर हे सखि, वहाँ न जाना भी ठीक नही है क्योकि समर्थवान से कठोरता का व्यवहार भी ठीक नही होता, तो तुम उनके पास जाकर अनुनय विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ । अथवा रहने दो, उसको बुलाने की आवश्यकता नही है । जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नही है ।

[२४] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४-६३ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०३ ।

(ख) अभिव्यक्तालीक सकलविफलोपायविभव-
श्चिर ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसरम्भनिपुणम् ।
इत पृष्ठे-पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा,
कृताश्लेषा धूर्त स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २७८

अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायो का सहारा लिया, पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत सोचने पर एक उपाय की सूझ उसके मन मे आई । वह यह कि इसको भयभीत किया जाए । वह—"यह पीछे क्या है, यह इधर पीछे क्या है ?" इस तरह नायिका को एकदम डरा देता है । इससे डरकर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आलिंगन करती हुई नायिका का आलिंगन करता है ।

[२५] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६४-६६ ।

[२६] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६७ ।

[२७] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।८४-८८ ।

[२८] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।५३-५४ ।

[२९] **नाट्यशास्त्र** (२४,१६६-१७१), **दशरूपक** (पृष्ठ २६६) तथा **साहित्य-दर्पण**

(पृष्ठ १७१) मे इच्छा तथा उत्कण्ठा के अतिरिक्त अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुण-स्तुति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता तथा मरण नामक दश काम-अवस्थाओ का उल्लेख मिलता है। शारदातनय ने इन दश अवस्थाओ के पूर्व इच्छा तथा उत्कण्ठा को जोड दिया है। इसके अतिरिक्त **कामसूत्र** (पृष्ठ २५६), **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** (जी ओ एस न ८०, १६५८, तृतीय खण्ड, ३०, १७-२०), **सरस्वतीकण्ठाभरण** (५, ६६-१००) तथा **प्रतापरुद्रीय** (पृष्ठ १६४) मे इन नामो के स्थान पर चक्षुप्रीति, मन सङ्ग, निद्राभग, तनुता, व्यावृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण नाम रखकर नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। प्रतापरुद्रीय मे प्रलाप तथा सज्वर को जोडकर ये अवस्थाएँ बाहर कर दी गयी है।

[३०] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, १६६-१६० ।

[३१] तुलना—**दशरूपक**, २, ४-५ ।

[३२] तुलना—**दशरूपक**, २, ८ ।

[३३] यहाँ 'धर्म' पाठ शुद्ध रहेगा।

[३४] **काव्यालंकार**,, १२, १६-५५, दिल्ली, १६६५ ।

[३५] **काव्यानुशासन**, पृष्ठ ३०८ ।

[३६] **काव्यालकार**, १२, ३६ ।

[३७] तुलना—**दशरूपक**, २, १६ ।

[३८] **खण्डिता**—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभित केयूरमुद्रा गले
वस्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागो घन ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिद प्रातश्चिर प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृश श्वासा समाप्ति गता ॥

—रूपगोस्वामी प्रणीत **पद्यावली**, पद्य-सख्या २१६, वृन्दावन, १६५६

ललाटपटल के चारो ओर लाक्षा के चिह्न, गले मे कङ्कण की छाप, मुख पर कज्जल की कालिमा, दोनो नयनो मे गाढ ताम्बूल-राग, प्रात काल कोपोत्पन्न करने वाले प्रियतम के ऐसे पूर्वोक्त विचित्र अभूषणो को देखकर, मृगाक्षी के सारे श्वास लीलाकमल मे ही समाप्त हो गये।

[३६] **विप्रलब्धा**—

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायात ।
याऽत परमपि जीवेज्जीवित नाथो भवेत्तस्या ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ११७

हे दूति ! उठ, यहाँ से चलें। एक पहर बीत गया, फिर भी वह नही आये। जो इसके बाद भी जीयेगी उसके वह प्राणनाथ होगे।

[४०] **वासकसज्जा**—

तल्प कल्पय दूति ! पल्लवकुलैरन्तर्लतामण्डपे
निर्बन्ध मम पुष्पमण्डनविधौ नाद्यापि किं मुचसि ?
पश्य क्रीडदमन्दमन्धतमस वृन्दाटवी तस्तरे
तद्गोपेन्द्रकुमारमत्र मिलितप्राय मन शङ्कते ॥

—**पद्यावली**, २१२

हे दूति ! इस लतामण्डप मे पल्लवो के द्वारा शय्या की रचना करो, एव पुष्पो के द्वारा मेरा शृगार करने के प्रकार मे अपना आग्रह अब भी क्यो नही त्यागती है ? देख, खेल सा करते हुए गाढ अन्धकार ने सारे वृन्दावन को आच्छादित कर दिया। अत गोपेन्द्रकुमार प्राय यहाँ समीप मे ही आ गये है, मेरा मन ऐसी आशका करता है।

[४१] **स्वाधीनभर्तृका**—

अस्माक सखि वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयक नोज्ज्वल,
नो वक्रा गतिरुद्धत न हसित, नैवास्ति कश्चिन्मद ।
किंत्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्या प्रियो नान्यतो
दृष्टि निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दु स्थितम् ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ६६

हे सखि, न तो तेरे वस्त्र ही रमणीय है और न गले का भूषण उज्ज्वल है। न वक्र गति है और उद्धत हँसी ही है—तात्पर्य यह है कि प्रियतम को रिझाने वाली कोई बात नही है किन्तु और लोग भी यही कहते है (मै तो जानती ही हूँ) कि "सुन्दर होने पर भी इसका प्रियतम दूसरी स्त्रियो की ओर दृष्टि भी नही डालता" बस, मै तो इसी से ससार भर को दु ख मे समझती हूँ।

[४२] **कलहान्तरिता**—

अनालोच्य प्रेम्ण परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वयाकाण्डे मान किमिति सरले ! प्रेयसि कृत ?
समाकृष्टा ह्येते विरहदहनोद्भासुरशिखा,
स्वहस्तेनाङ्गारास्तदलमधुनारण्यरुदितै ॥

—**अमरुशतक**, ८०

हे सरले ! तुमने प्रेम के परिणाम की आलोचना न करके एव सुहृदो का अनादर करके, असमय मे ही अपने प्यारे के विषय मे मान क्यो धारण कर लिया ? हाय हाय ! तूने तो अपने हाथो से ही विरह रूप अग्नि से देदीप्य मान शिखा वाले इन मानरूप अगारो को आकृष्ट कर लिया। अत अब अरण्यरोदन से क्या प्रयोजन ?

[४३] **प्रोषितभर्तृका**—

ता जानीथा परिमितकथा जीवत मे द्वितीय,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम ।
गाढोत्कण्ठा गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनी वान्यरूपाम् ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, २०

हे प्रियमित्र पयोद ! मुझ सहचर के दूरवर्ती होने पर चकवी की तरह अल्पभाषिणी और अकेली उसको तुम मेरा दूसरा जीवन जान लो। गाढी उत्कण्ठावाली वह युवती विरह के कारण दीर्घ इन दिनो के बीतने पर पाले से पीडित कमलिनी की भाँति दूसरे ही रूप को प्राप्त हो गयी होगी मैं ऐसा समझता हूँ।

[४४] **विरहोत्कण्ठिता**—

सखि ! स विजितो वीणावाद्यै कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्या तत्र क्षपाललित ध्रुवम्।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ?

—**पद्यावली**, २१३

हे सखि ! मुझे तो अनुमान होता है कि हमारे प्रिय आज किसी अन्य स्त्री से वीणा के वाद्य मे पराजित हो गये है, और उन दोनो के द्वारा यह बाजी लग गयी होगी कि जो हार जायेगा उसको आज की रात्रि का मगलमय महोत्सव मनाना होगा। यह मेरा निश्चित सिद्धान्त है। अन्यथा शेफाली (हारसिंगार) के सारे पुष्प झड जाने पर और चन्द्रमा के आकाश के मध्य मे पदार्पण करने पर भी हमारे प्रिय क्यो विलम्ब करते ?

[४५] **अभिसारिका**—

उत्क्षिप्त करकङ्कणद्वयमिद बद्धा दृढ मेखला
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि क्रीडाभिसारोत्सवे
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेप विधत्ते विधु ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १२०

हाथ के कङ्कण ऊपर को चढाये। ढीली कर्धनी कसके बाँधी। मुखर-मञ्जीरो का बजना जैसे तैसे रुका। हे प्रियसखि, इतना कहके ज्योही मैने क्रीडा के लिए अभिसरण प्रारम्भ किया है, त्योही देखो, यह चण्डाल चन्द्रमा अन्धकार रूप परदे को हटा रहा है।

[४६] **नाट्यशास्त्र**, २४, २१०-२३१।

पंचम अधिकार

[१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, ४३-५२ तथा
नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ २२५-२२७।

[२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, ४-७।

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, १।

[४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, २९७-३१४।

[५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, ९९-१४५।

[६] **स्वस्तिकहस्त**—

खटकास्यौ पताकौ वा यद्वारालौ करौ यदा।
मणिबन्धस्थितौ स्यातामितरेतरपार्श्वगौ ॥
उत्तानौ वामभागस्थौ यद्वा हृदयसस्थितौ।
तदा कर स्वस्तिकाख्योऽशोकमल्लेन कीर्तित ॥

—**नृत्याध्याय**, अशोकमल्ल, इलाहाबाद, १९६९, २४३-२४४

यदि दोनो खटकामुख हस्तो या पताक हस्तो अथवा अराल हस्तो को

एक-दूसरे की बगल मे करके उनकी कलाइयो को बॉध कर उत्तान करके बायी ओर या हृदय पर रख दिया जाय, तो उस मुद्रा को अशोकमल्ल ने 'स्वस्तिक-हस्त' के नाम से कहा है ।

[७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, १५२-१६७ ।

[८] **साचि**—

तत् साचि यत् तिरश्चीन पक्ष्मप्राप्तकनीनिकम् । —**नृत्याध्याय**, ५०२

यदि बरौनियो की ओर तारो को घुमाकर तिरछी चितवन से देखा जाय तो उसे 'साचि' कहते है ।

[९] **सम**—

मध्यस्थतारक सौम्य दर्शन सममीरितम् । —**नृत्याध्याय**, ५०१

यदि तारो को बीच मे अवस्थित करके सौम्य दृष्टि से देखा जाय तो उसे 'सम' कहते है ।

[१०] **चलन**—

कम्पन चलन ज्ञेयम् । —**नृत्याध्याय**, ४६५

तारो का काँपना 'चलन' कहलाता है ।

[११] **आलोकित**—

यदीक्षण स्वभावस्थमुक्तमालोकित हि तत् । —**नृत्याध्याय** ५०६

स्वाभाविक स्थिति मे रहकर दृष्टिपात करना 'आलोकित' कहलाता है।

[१२] **उन्मीलन व मीलन**—

यदि दोनो पलको को खोल दिया जाय तो 'उन्मीलन' और बन्द कर दिया जाय तो 'मीलन' कहलाता है । —**नृत्याध्याय**, ४८६

[१३] **अवलोकित**—

अधस्ताद्दर्शन यत् स्यादवलोकितमीरितम् । —**नृत्याध्याय**, ५०४

नीचे पृथ्वी की ओर तारना 'अवलोकित' कहलाता है ।

[१४] **लुठन**—

पलको के भीतर तारो को मण्डलाकार मे घुमाना 'लुठन' कहलाता है।

—**नृत्याध्याय**, ४६४

[१५] **भ्रुकुटी**—

द्वितीयया सहामूलोत्क्षिप्ता भ्रूकुटिना ? (भ्रभ्रुकुटी) रुषि ।

—**नृत्याध्याय**, ४८१

यदि एक भौ दूसरी भौ के साथ जड के ऊपर उठा दी जाय अर्थात् खूब तान दी जाय तो उसे 'भ्रुकुटी' कहते हैं । क्रोध के अभिनय मे उसका विनियोग होता है ।

[१६] **पतिता**—

पतिता भ्रूरध प्राप्ता सद्वितीया क्रमेण वा । —**नृत्याध्याय**, ४७६

यदि दोनो भौ एक साथ या क्रमश एक-एक करके नीचे झुकादी जाये तो उन्हे 'पतिता' कहा जाता है ।

[१७] **विलोकित**—

तद् विलोकितमाख्यात पृष्ठतो यन्निरीक्षणम् । —**नृत्याध्याय**, ५०५

तारो को घुमाकर पीछे देखना 'विलोकित' कहलाता है ।

[१८] **निष्क्राम**—

निष्क्रामो निर्गम प्रोक्त —**नत्याध्याय**, ४९६

तारो का बाहर निकलना 'निष्क्राम' कर्म कहलाता है।

[१९] **कुञ्चित**—

अन्वर्थौ कुञ्चितौ स्यातामनिष्टे प्रेक्षणे रसे।
गन्धे स्पर्शे तथा प्रोक्तौ वीरसिंहसुसूनुना ॥

—**नृत्याध्याय**, ४८६

सिकुडी हुई पलके 'कुञ्चित' कहलाती है। अनिष्ट, निरीक्षण, रस, गन्ध तथा स्पर्श के अभिनय मे उनका विनियोग होता है।

[२०] **समुद्वृत्त**—

समुद्वृत्त समुन्नतम्। —**नृत्याध्याय**, ४९६

तारो को ऊपर की ओर घुमाना या उन्नत करना 'समुद्वृत्त' कहलाता है।

[२१] **सम**—

पुरौ साहजिकौ स्याता समौ सहजगोचरौ। —**नृत्याध्याय**, ४८३

स्वाभाविक स्थिति मे विद्यमान पलकें 'सम' कही जाती है। स्वाभाविक स्थिति के प्रदर्शन मे उनका विनियोग होता है।

[२२] **पात**—

पातोऽधोगमनम्। —**नृत्याध्याय**, ४९५

तारो को नीचे गिराना 'पात' कहलाता है।

[२३] **प्रवेशन**—

—अथ तत् स्यात् प्रवेशनम्।
पुटान्तरे प्रवेशो य ॥ —**नृत्याध्याय**, ४९५-९६

तारो का पलको के भीतर प्रवेश करना 'प्रवेशन' कहलाता है।

[२४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ८, ३८-१२०।

षष्ठ अधिकार

[१] (क) तुलना—अङ्गेनाङ्गी रस स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासता व्रजेत् ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, २, २६३

अग-रस को स्वेच्छापूर्वक अगी रस से अधिक प्रतिष्ठा देना ही 'रसाभास' है, जैसे अमात्य का स्वामी के समान आचरण करना अनुचित समझा जाता है।

(ख) **रसाभास**—

'अनौचित्यादृते नान्याद् रसभङ्गस्य कारणम्।'

—**ध्वन्यालोक**, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, स० २०१९, पृष्ठ १९०

अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भग का और कोई कारण नही है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी-भाव का आस्वाद ही 'रसाभास' है—

'औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसौ व्यभिचारिण्या भाव, अनौचित्येन तदाभास ।"

—**ध्वन्यालोक**, स० कुप्पुस्वामी, मद्रास, १६४४, पृष्ठ १४४

मम्मट के अनुसार रस का अनुचित प्रवर्तन ही 'रसभास' है—

'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता ।' —**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ १२१

रुय्यक ने अनौचित्य को 'रसाभास' कहा है—

'तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । आभासत्वमविषयप्रवृत्यानौचित्यम् ।

—**अलकारसर्वस्व**, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, १६७१, पृष्ठ ६६२

विश्वनाथ कहते है कि रस का अनुचित रूप से वर्णन 'रसाभास' कहलाता है ।

'अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयो ।'

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १६६

पण्डितराज जगन्नाथ जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ उसे 'रसाभास' कहते है—

'अनुचितविभावालम्बनत्व रसाभासत्वम् ।

—**रसगगाधर**, पृष्ठ ११६

[२] (क) तुलना—**श्रृगारप्रकाश**, तेरहवाँ प्रकाश, पृष्ठ ११४२ तथा **सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५, ७७-८२ ।

(ख) सम्भोग चार प्रकार का होता है—प्रथमानुरागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर । 'सम्भोग' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'भुज' धातु से भाव अर्थ मे घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है । 'सम्' उपसर्ग के चार अर्थ होते है—

(i) सक्षेप अर्थ मे—सम्प्रीयते कथा गायकेन, गायक के द्वारा कथा अच्छी तरह प्रसन्न की जाती है ।

(ii) सकर अर्थ मे—ससृज्यते सूपो लवणेन, सूप नमक से अच्छी तरह बनाया जाता है ।

(iii) सम्पूर्ण अर्थ मे—सह्लियते याग उपकरणौ, यज्ञ सामग्री से पूर्ण किया जाता है ।

(iv) सम्यक् अर्थ मे—संप्रयुज्यते दयित कान्तया—प्रिय कान्ता के द्वारा भलीभाँति प्रयोग किया जाता है ।

'भुज्' धातु चार अर्थो मे प्रयुक्त होती है—

(i) पालन अर्थ मे—पृथ्वी भुनक्ति राजा, राजा पृथ्वी का पालन करता है ।

(ii) कौटिल्य अर्थ मे—मूलानि विभुजति रथ, रथ मूल को मोडता है ।

(iii) अभ्यवहार अर्थ मे— ओदनं भुङ्क्ते माणवक, माणवक भात खाता है ।

(iv) अनुभव अर्थ मे—सुखमुपभुङ्क्ते नागरिक, नागरिक सुख का उपभोग करता है ।

इस प्रकार सम्भोग के निम्न-रूप होते है

	सम्भोग के भेद	प्रकृत्यर्थ	उपसर्गार्थ
१	प्रथमानुरागानन्तर	पालन	सक्षेप
२	मानानन्तर	कौटिल्य	सकर
३	प्रवासानन्तर	अभ्यवहार	सम्पूर्ण
४	करुणानन्तर	अनुभव	सम्यक्

(१) नवीन अनुराग मे युवक-युवती के बीच उपचार सक्षिप्त होता है और सम्भोग इस अवस्था मे पाल्य होता है। जैसे—

मधुद्विरेफ कुसुमैकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान ।
शृगेण सस्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसार ॥

—**कुमारसम्भव** ३, ३६

भौरा अपनी प्यारी भौरी के साथ एक ही फूल की कटोरी मे मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणी को सीग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी।

(२) प्रेम की गति स्वत कुटिल होती है, मान के बाद तो प्रेम और कुटिल हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सकीर्णता आ जाती है। जैसे—

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजल करेणु ।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जाया सभावयामास—रथाङ्गनामा ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३७

हथिनी बडे प्रेम से कमल के पराग मे बसा हुआ सुगन्धित-जल अपनी सूँड से निकालकर अपने हाथी को पिलाने लगी और चकवा भी आधी कुतरी हुई कमल की नाल लेकर चकवी को भेट करने लगा।

(३) जब प्रिय प्रवास (यात्रा) पर जाता है, तो प्रिय-प्रियतमा—दोनो व्रत की तरह दूरी का अनुभव करते हैं, और जब दोनो एक दीर्घ अवधि के बाद मिलते है तो व्रत-पारणा (वृत्तान्तभोजन) का सा अनुभव करते है। इस प्रकार यहाँ सम्पूर्णता रहती है। जैसे—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशै किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुख किम्पुरुषश्चुचुम्ब ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३८

किन्नर लोग गीतो के बीच मे ही अपनी प्रियतमाओ के वे मुख चूमने लगे जिन पर थकावट के कारण पसीना छा गया था, जिन पर चीती हुई चितकारी लिप गयी थी और जिनके नेत्र फूलो की मदिरा से मतवाले होने के कारण बडे लुभावने लग रहे थे।

(४) जब मृतप्राय प्रिय पुनरुज्जीवन प्राप्त करता है, और दोनो—प्रिय एव प्रियतमा परस्पर मिलते है, तब वे दोनो भलीभाँति आनन्द का अनुभव करते है। जैसे—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्य स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्य ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ।

—**कुमारसम्भव** ३, ३९

वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियो को फैला-फैलाकर उन लताओ से

लिपटने लगे जिनके बडे-बडे फूलो के गुच्छो के रूप मे स्तन लटक रहे थे और पत्तो के रूप मे जिनके सुन्दर ओठ हिल रहे थे ।

(द्रष्टव्य—Bhoja's *Srngara Prakasa*, by V Raghavan pp 643-645)

[३] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५, ८४-८७ ।

[४] **उत्क्षिप्ता**—

अन्वर्थलक्षणोत्क्षिप्ता क्रमाद्वाथान्यया सह ।
कोपे स्त्रीणा वितर्के च श्रवणे दर्शने निजे ॥
लीलादावपि हेलाया नियोज्यैषा मनीषिभि ॥ —**नृत्याध्याय,** ४७७

यदि भौहो को क्रमश अथवा एक के साथ दूसरी को (अर्थात् एक साथ) ऊपर उठाया जाय तो उसे 'उत्क्षिप्ता' कहा जाता है । स्त्रियो के कोप, तर्क-वितर्क, श्रवण, आत्मदर्शन, लीला और अवज्ञा के भावो के अभिव्यजन मे मनीषियो ने उसका प्रयोग बताया है ।

[५] **त्रिपताक हस्त**—

अनामिका पताकस्य यदा वक्रा प्रजायते ।
त्रिपताकस्तदा प्रोक्तोऽशोकमल्लेन भूभुजा ॥ —**नृत्याध्याय,** १०७

यदि पताक हस्त मुद्रा मे अनामिका उँगली (के अगले दो पोरो) को झुका दिया जाय तो नृपति अशोकमल्ल के अनुसार उसे 'त्रिपताक हस्त' कहा जाता है ।

[६] **आकेकरा**—

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥

—**भाव-प्रकाशन** जी ओ एस पृष्ठ १२६

[७] तुलना—**दशरूपक,** ४, ३४ ।

[८] तुलना—**दशरूपक,** ४, ३६ ।

[९] तुलना—**दशरूपक,** ४, ३७ ।

[१०] तुलना—तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोष-हानगुणोपादानालङ्काररसावियोगरूपा शब्दार्थयोर्द्वादश समर्था साहित्य-मित्युच्यते ।

—**शृंगारप्रकाश,** सातवाँ प्रकाश, पृष्ठ २२३

[११] गत स कालो यत्रासीन्मुक्ताना जन्म वल्लिषु ।
वर्तन्ते साम्प्रत्त तासा हेतव· शुक्तिसम्पुटा ॥

—**शृगारप्रकाश,** सातवाँ प्रकाश, पृष्ठ २४०

वह समय बीत गया जब मोतियो का जन्म लताओ मे होता था अब तो उनका जन्म सीपियों के सम्पुट मे होता है ।

[१२] युष्मच्छासनलङ्घनाभसि मया मग्नेन नाम स्थित,
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमता मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दत कौरवा-
नद्यैक दिवस ममासि न गुरु नाह विधेयस्तव ॥ —**वेणीसंहार,** १, १२

हे युधिष्ठिर ! आज तक मे आपकी आज्ञा को पार करने रूप जल मे डूबा रहा और आपकी आज्ञा मे स्थित छोटे भाइयो द्वारा भी तिरस्कृत होता रहा किन्तु क्रोध से उल्लसित रक्त से लाल रग की गदा वाले तथा कौरवो का नाश करने वाले मेरे आप आज दिन न तो गुरू रहे और न मै आज्ञाकारी ।

[१३] मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपा–
दुश्शासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्त ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,
सन्धि करोतु भवता नृपति पणेन ॥ —**वेणीसहार**, १, १५

क्या मै युद्ध मे क्रोध से सौ कौरवो का मर्दन न कर डालूंगा ? हृदय प्रदेश से क्या दु शासन का रक्तपान न करूँगा ? क्या मे गदा से दुर्योधन की जाँघ का चूर्ण न बना डालूंगा ? आप लोगो के राजा (युधिष्ठिर) शर्त के साथ सन्धि करे (अर्थात् मैं तो सन्धि नही करता) ।

[१४] लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा ॥
—**वेणीसंहार**, १, ७

अरे ! पापी दुष्ट ! व्यर्थ मगलपाठकारी ! नशे मे नीच जिन धृतराष्ट्र के पुत्रो ने लाखनिर्मित महल, विषमिश्रित आहार तथा द्युतक्रीडार्थ सभागृह-प्रवेशो के द्वारा हम लोगो के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा करके द्रोपदी के वस्त्र और केशो को खीचा है वे मेरे जीते रहते हुए स्वस्थ हो ? कदापि नही ।

[१५] नवजलधर सन्नद्धोऽय न दृप्तनिशाचर,
सुरधनुरिद दूराकृष्ट न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटु धारासारो न बाणपरम्परा,
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ —**विक्रमोर्वशीय**, ४, ७

उद्यत यह नवीन बादल क्या उत्तेजित राक्षस तो नही ? यह इन्द्र-धनुष क्या दूर तक खीचा हुआ धनुष तो नही ? क्या यह मेघ-वृष्टि है ? या वाण-वृष्टि तो नही ? क्या यह स्वर्ण-कसौटी के समान स्निग्ध विद्युत है ? क्या यह मेरी प्रिया उर्वशी नही ।

[१६] सहभृत्यगण सबान्धव सहमित्र ससुत सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति सयुगे न चिरात्पाण्डुसुत सुयोधनम् ॥ —**वेणीसहार**, २, ५

पाण्डुनन्दन अपने पराक्रम से भाई, बन्धु, पुत्र तथा नौकरचाकर के साथ सुयोधन का शीघ्र वध करेगा ।

[१७] त्व जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीय
त्व कौमुदी नयनयोरमृत त्वमगे ।
इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा
तामेव शान्तमथवा किमत परेण ॥ —**उत्तररामचरित**, ३

'तुम मेरी प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रो के लिए कौमुदी हो और तुम मेरे अगो मे अमृत हो ।'—इत्यादि सैकडो चापलूसी भरे वाक्यो से उस भोली-भाली को बहकाकर आपने उसी को अथवा रहने दो इससे आगे कहने से क्या लाभ ?

[१८] दिङ्मातगघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा साऽपि वदन्त एव हि वय रोमाचिता पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपर रामाय तस्मै नमो,
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिद यत्रैव चास्त गतम् ।।

—**भट्टप्रभाकरस्य, औचि—चर्चा**

जिसकी चार सीमाएँ चारो दिग्गजो तक पहुँची हुई है वह सम्पूर्ण पृथ्वी जीती जाती है !! और वह सब जीती हुई—देखो कहते-कहते हमारे रोमाच हो रहे है—ब्राह्मण को दे दी जाती है !!! यह अद्भुत कथा जिससे उत्पन्न हुई और जिसके साथ ही अस्त हो गई—और क्या कहे—उस अद्वितीय परशुराम को नमस्कार है ।

[१९] प्रत्यग्रारिकृताभिमन्युनिधनप्रोद्भूततीव्रक्रुध
पार्थस्याकृतशात्रवप्रतिकृतेरन्त शुचा मुह्यत ।
कीर्णा वाष्पकणै पतन्ति धनुषि व्रीडाजडा दृष्टयो
हा वत्सेति गिर स्फुरन्ति न पुनर्निर्यान्ति कण्ठाद्बहि ।।

—**शा प निशानारायणस्य**

[२०] एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहि अच्छिवत्तेहि ।
एद्दहमेत्तावस्था एद्दहमेत्तेहि दिअएहि ।। —**काव्य-प्रकाश**, पृष्ठ, ६७

इतने बडे स्तनो वाली, इतनी बडी आँखो (से उपलक्षित वह तरुणी) इतने दिनो मे ऐसी हो गयी ।

[२१] तुलना—**ध्वन्यालोक**, १, १३ ।

[२२] शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम जगता पत्युर्यदीया लिपि
क्वापि क्वापि गणा पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम् ।
विश्व स्रक्ष्यति वक्ष्यति क्षितिमपामीशिष्यते शिष्यते,
नागैरागिषु रस्यतेऽत्स्यति जगन्निर्वेक्ष्यति द्यामिति ।।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ २३०

[२३] भम धम्मिअ वीसत्थो सौ सुणऔ अज्ज भारिओतेण ।
गोलाअडविअडकुडगवासिणा दरिअसीहेण ।। —**गाथासप्तशती**, २, ७५

पण्डित जी ! गोदावरी के किनारे कुञ्ज मे रहने वाले मदमत्तसिह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये ।

[२४] लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र,
यत्रोत्पलानि शशिना सह सप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र,
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डा ।।

—वामन रचित **काव्यालकार**, ४, ३-४, वाराणसी, १९७१

यहाँ यह नयी कौनसी लावण्य की नदी आ गयी है, जिसमे चन्द्रमा के

साथ कमल तैरते है, जिसमे हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीकाण्ड तथा मृणालदण्ड दिखाई देते है।

[२५] भक्तिप्रह्वाय दातु मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीना,
लक्ष्मीमाक्रष्टुकामा इव कमलवनोद्घाटन कुर्वते ये।
कालाकारान्धकारानन पतितजगत्साध्वसध्वसकल्या।
कल्याण व क्रियासु किसलयरुचयस्ते करा भास्करस्य ॥—**सूर्यशतक**, ३

भक्ति मे नम्रजनो को प्रदान करने के लिए मानो मुकुल-पुट-कुटी के अन्दर सश्लिष्ट लक्ष्मी को अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा से ही कमल-समूहो का उद्घाटन करने वाली, काल तुल्य आकार वाले तम के मुख मे पतित भुवन-भय को नष्ट करने मे समर्थ एव नवपल्लव के समान कान्ति-वाली भगवान सूर्य की किरणे आपका कल्याण करे।

[२६] दत्तानन्दा प्रजाना समुचितसमयाकृष्टसृष्टै पयोभि
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि सहारभाज।
दीप्ताशोर्दीर्घदु खप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो व पावनाना परमपरिमिता प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥ —**सूर्यशतक**, ९

समुचित समय मे आकृष्ट तथा पुन प्रदत्त जल के द्वारा प्रजाओ को आनन्द प्रदान करने वाली, दिन के पूर्वार्ध मे प्रत्येक दिशा मे फैलकर दिवसा-वसान के समय सहृत होने वाली एव अत्यधिक दु ख के उत्पत्ति-स्थान ससार से भयरूपी समुद्र के लिए नौका बनने वाली, आदित्य की रश्मियाँ आप समस्त पवित्र-जनो को अपरिमित प्रीति प्रदान करे।

[२७] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २४१।

[२८] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २५०।

[२९] तुलना—**शृगारप्रकाश**, सातवाँ प्रकाश—ग्यारहवाँ प्रकाश, पृष्ठ २२३-४७०।

[३०] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ३८-३९।

(ख) शब्दार्थ-सम्बन्ध की भेदोपभेद तालिका निम्नवत् होगी

(१)
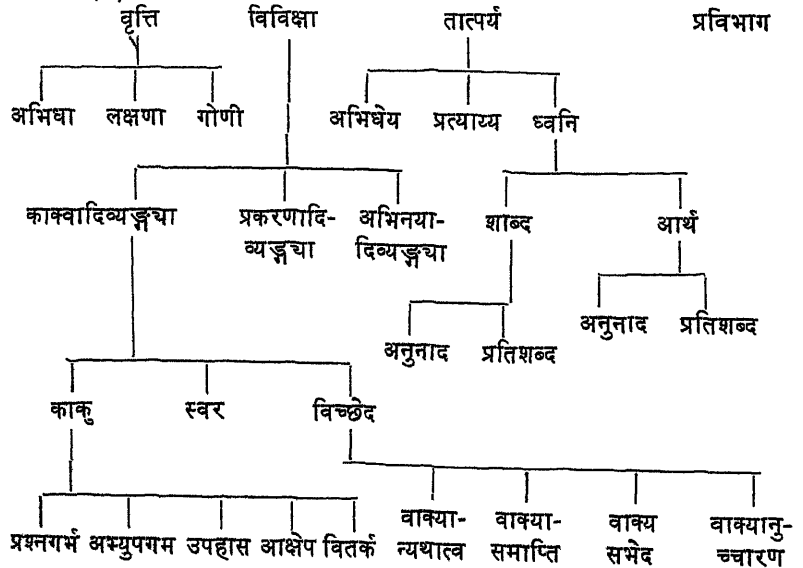
(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थभावना।

(३) दोषहान, गुणोपादान (गुणदान), अलंकार-योग तथा रसा-वियोग।

[३१] शब्दार्थ-सम्बन्ध का भेद-वृक्ष इस प्रकार का होगा—

(१) **शब्द**—(i) वाचक, (ii) लक्षक, (iii) व्यजक, (iv) गमक, (v) प्रत्यायक, (vi) द्योतक।

(२) **अर्थ**—(i) वाक्य, (ii) लक्ष्य, (iii) व्यग्य, (iv) गम्य, (v) प्रत्याय्य, (vi) द्योत्य।

(३) **वृत्ति**—(i) अभिधा, (ii) लक्षणा, (iii) व्यक्ति, (iv) गति (v) प्रतीति, (vi) द्युति।

[३२] महाभाष्यकार के समर्थक केवल जाति शब्दवादियो को उत्तर देते हुए कहते है कि गुण-शब्द, क्रिया-शब्द आदि का ग्रहण जाति शब्द के रूप मे नही किया जा सकता। क्योकि पय, शख, बलाका आदि शुक्ल गुण परमार्थत भिन्न-भिन्न नही है। उनमे भिन्नता आश्रय-भेद से जान पडती है जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, मुकुर आदि आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पडती है। वस्तुत शुक्ल एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दो मे घट ही नही सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पडती है वस्तुत वह भी एक ही है। इसलिए केवल जाति शब्द न मानकर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए (गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति नोपपद्यते। अत्राभिधीयते गुण-क्रिया-शब्द-सज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनि-बन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्, न तु जातेरिति भगवतो महा-भाष्यकारस्यात्राभिमतम्—अभिधावृत्त-मातृका, व्या डा रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, १९७३, पृष्ठ ९-१०)।

[३३] नैयायिको के मत मे न केवल जाति मे शक्ति-ग्रह स्वीकार किया जा सकता है और न केवल व्यक्तियो मे। केवल व्यक्ति मे सकेत-ग्रह स्वीकार करने से आनन्त्य, व्यभिचार तथा एकाधिक शब्दो की निरर्थकता दोष आते है तो केवल जाति मे सकेत-ग्रह स्वीकार करने पर शब्द से केवल जाति की उप-स्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नही हो सकता। जाति मे शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से स्वीकार किया जाय तो उसका शाब्द-बोध मे अन्वय नही हो सकेगा। क्योकि 'शाब्दी हि आकाक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द-शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्द-बोध मे अन्वय हो सकता है। आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोध मे अन्वित नही हो सकता है। अत नैयायिको के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक मे शक्तिग्रह नही स्वीकार किया जा सकता, बल्कि जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है। यह नैयायिक-सिद्धान्त है। (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ—**न्यायसूत्र** २-२-६८, वाराणसी, १९६९)।

[३४] दस घट व्यक्तियो मे घट घट इस प्रकार की एकाकार प्रतीति का कारण

नैयायिक आदि 'घटत्व-सामान्य' स्वीकार करते है। उनका 'सामान्य' या 'जाति' नित्य पदार्थ है क्योकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' यह जाति का लक्षण है, परन्तु बौद्ध दर्शन का प्रथम सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। बौद्धो के मत मे सब कुछ क्षणिक है। ससार मे कोई भी नित्य पदार्थ नही है। इसलिए वे 'सामान्य' या 'जाति' को नित्य पदार्थ स्वीकार नही करते। उनके स्थान पर अनुगत-प्रतीति का कारण, वे 'अपोह' को स्वीकार करते है। 'अपोह' शब्द का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् 'तदभिन्नभिन्नत्व' है। तत् शब्द से घट आदि का ग्रहण करना चाहिए। 'अतद्' का अर्थ 'अघट' अर्थात् घट भिन्न सम्पूर्ण जगत् उससे भिन्न फिर घट ही होगा। इसलिए प्रत्येक 'घट' अतद्व्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है। इसी कारण घट कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक घट मे 'अतदव्यावृत्ति' या 'तदभिन्नभिन्नत्व' जिसे 'अपोह' भी कहते है, होने के कारण ही एकाकार प्रतीति होती है इसलिए बौद्धो के मत मे 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है, उसी मे सकेत-ग्रह स्वीकार करना चाहिए।

—**काव्यप्रकाश**, बालबोधिनी, पृष्ठ ३८।

[३५] **मुख्यार्थ-बाध**

'मुख्यार्थ' शब्द मे प्रयुक्त 'मुख्य' शब्द के दो अर्थ होते है—(अ) मुख= आरम्भ मे प्रतीत होने वाला, 'मुखमिव मुख्य' इस विग्रह से 'शाखादिभ्यो य' सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर 'मुख्य' शब्द सिद्ध होता है। (ब) मुख=प्रधान अर्थात् परम प्रतिपाद्य। किन्तु यहाँ 'मुख्य' का प्रयोग (प्रथम अर्थ) आरम्भ मे प्रतीत होने के कारण किया जाता है, जैसे—शरीर के सारे अवयवो मे मुख सबसे पहले दिखाई देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य सभी अर्थों मे वाच्यार्थ सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है, इसलिए मुख के समान होने से उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है, (द्वितीय-अर्थ) परम प्रतिपाद्य अर्थ मे नही, जैसा कि मुकुलभट्ट द्वारा प्रयुक्त 'मुख्य' शब्द परमप्रतिपाद्यतारूपी अर्थ भी निकलता है। मम्मट ने 'मुख्यार्थ' को वाच्यार्थ भी कहा, जिसका पर्याय है अभिधेयार्थ अर्थात् अभिधा द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ, क्योकि यह ऐसा शब्द है जिससे अर्थ की परमप्रतिपाद्यतारूपी प्रमुखता की ओर बुद्धि नही जा पाती (यत्र सोऽर्थं पूर्वमुपलभ्यमानत्वात्, न तु विश्रान्तिधामत्वात् मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थं।—**शब्द-व्यापारविचार**, व्या डा रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा-प्रकाशन, १९७४, पृष्ठ १)।

मुख्यार्थ क्या है? साक्षात् सकेतित अर्थ 'मुख्यार्थ' कहलाता है ('स इति साक्षात् सकेतित'—**काव्यप्रकाश**, द्वितीयोल्लास, कारिका ८ की वृत्ति तथा 'स साक्षात् सकेतित एवार्थो मुख्य'—**बालबोधिनी**, पृष्ठ ३९)। जिस शब्द से सकेत ग्रहीत नही रहता उससे अर्थ की प्रतीति नही होती अत यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि शब्द सकेत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति कराता है, इसी कारण 'मुख्यार्थ' या 'वाच्यार्थ' को 'समित-ध्वनि' या 'सकेतित-ध्वनि' कहा है—समित=सम्+इ+त=समय=सकेत से युक्त है ध्वनि=शब्द जिसमे, सकेतित—सकेत+इ+त=समय=सकेत से युक्त है ध्वनि=शब्द जिसमे (जाति क्रिया गुण सज्ञा वाच्योऽर्थ. समितध्वनि। अग्रहीतसकेतस्य

शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सकेतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति । तेन समित सकेतितो ध्वनि शब्दो । —**शब्द व्यापार-विचार**, पृष्ठ १ ।

मुख्यार्थ-बाध क्या है ? मुख्यार्थ-बाध से सम्बन्धित दो मत है। १—जहाँ 'अन्वयानुपपत्ति' होती है अर्थात् जहाँ कही मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदो के अर्थो के साथ अन्वय होने मे बाधा होती है, वही मुख्यार्थ-बाध कहा जाता है । २—जहाॅ 'तात्पर्यानुपपत्ति' होती है अर्थात् जहाॅ कही मुख्यार्थ से तात्पर्य की उपपत्ति नही होती है वही मुख्यार्थ बाध कहा जाता है । प्रथम मत के अनुयायी काव्य-प्रकाश के अधिकाश टीकाकार तथा प्राचीन नैयायिक है, और द्वितीय मत के अनुयायी नव्य नैयायिक तथा वैयाकरण नागेश भट्ट है ।

उपर्युक्त दोनो मतो मे 'लक्षणा' की बीज-रूपा 'अन्वयानुपपत्ति' की अपेक्षा 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही अधिक उपयुक्त है । क्यो ? इसके निम्न कारण है

यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना जायेगा तो 'यष्टी प्रवेशय' इस प्रयोग मे लक्षण नही हो सकेगी । कोई आदेश देता है कि 'लाठियो को बुलाओ' इसका अभिप्राय यह नही कि लाठियो को ही बुलाओ बल्कि लाठीधारियो (यष्टिधरा) को बुलाओ । यह वक्ता का अभिप्राय है । यह अभिप्राय 'यष्टीः' पद की 'यष्टिधराः' अर्थ मे लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नही । परन्तु 'यष्टी प्रवेशय' इस प्रयोग मे अन्वयानुपपत्ति' नही है । सब पदो का अन्वय बन जाता है। इसलिए 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानने पर तो यहाॅ लक्षणा का अवसर ही नही रहेगा । अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानना ठीक है ।

पुन 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग मे 'तात्पर्यानुपपत्ति' है । कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा छोडकर किसी कार्यवश कही जा रहा है, वह चलते समय अपने साथी से कहता है कि 'जरा कौओ से दही को बचाना' । इसका अभिप्राय केवल कौओ से बचाना ही नही है अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दही को बिगाडने या खाने का प्रयत्न करे, उन सबसे दही की रक्षा करना, यह वक्ता का अभिप्राय है । यह अभिप्राय 'काक' पद की 'दध्युपघातक' अर्थ मे लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नही । परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग मे 'अन्वयानुपपत्ति' नही है, सब पदो का अन्वय बन जाता है, इसलिए यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को ही लक्षणा की बीज माने तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नही रह जाता । अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही लक्षणा की बीज है ।

इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' अर्थात् 'छतरी वाले जा रहे है' इसका अभिप्राय यह नही है कि सभी छतरी वाले लोग जा रहे हैं, बल्कि लक्षणा से 'छत्रिण ' शब्द से यह अर्थ भी होता है कि 'छतरी वाले तथा बिना छतरी वाले' लोग जा रहे है, क्योकि वक्ता का यही अभिप्राय है। यहाॅ भी 'तात्पर्यानुपपत्ति' है ।

पुनः 'विष भुङ्क्ष्व' इस प्रयोग मे पिता पुत्र से कहता है कि 'विष खाओ' । इसका अभिप्राय यह नही कि 'विष खाओ और मर जाओ' अपितु

अभिप्राय यह है कि 'शत्रु के घर भोजन करने से तो विष खाओ' अर्थात् शत्रु के घर भोजन नही करना चाहिए। यह अभिप्राय लक्षणा से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नही। परन्तु इस प्रयोग मे 'अन्वयानुपपत्ति' नही है। सब पदो का अन्वय हो जाता है इसलिए यदि 'अन्वयानुपपत्ति' ही लक्षणा का बीज माने तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नही आता, अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही लक्षणा का बीज है।

इन सभी उदाहरणो मे 'अन्वयानुपपत्ति' न होने पर भी लक्षणा प्राप्त है, तो लक्षणा का बीज 'अन्वयानुपपत्ति' को ही मानने पर अव्याप्त-दोष आ जाता है, अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना अधिक उपयुक्त है (तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्)।

इससे अधिक, जिन वाक्यो मे 'अन्वयानुपपत्ति' है वहाँ 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी दिखायी जा सकती है, जैसे—'गङ्गाया घोषः', प्रायः इस प्रयोग मे आलङ्कारिक कहते है कि 'गङ्गा' पद के 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ मे घोष आदि का आधारत्व न होने से 'अन्वयानुपपत्ति' होने पर लक्षणा से 'गङ्गातटे घोषः' समझना चाहिए, परन्तु इस प्रयोग मे जैसे अन्वयानुपपत्ति है उससे कही अधिक 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी है। यदि हम गङ्गा से मुख्यार्थ ग्रहण करते है तो 'तात्पर्यानुपपत्ति' के कारण लक्षणा से 'गङ्गा' पद से 'गङ्गातटे' ग्रहण करते है। लाघव प्रेम से 'अन्वयानुपपत्ति' की अपेक्षा लक्षणा की बीजरूप 'तात्पर्या-नुपपत्ति' ही श्रेयस्कर है। वक्तृतात्पर्य को सिद्ध करने के बहुत से कारण है। इस प्रकार 'गङ्गायाघोष' मे वक्तृतात्पर्य को सिद्ध करने का एक कारण स्वरूप 'अन्वयानुपपत्ति' सहायक है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' मे प्रयोजना सिद्धि सहायक है। 'सैन्धवमानय' आदि मे प्रकरण, काल, देश सहायक है।

यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाये तो एक और दोष उत्पन्न होता है। जैसे—'गगाया घोष' इस प्रयोग मे वक्तृ-तात्पर्य होता है कि 'गगा' पद से 'तीर' अर्थ समझना चाहिए और हम वस्तुत 'गगा' पद से 'तीर' लक्ष्यार्थ समझते है। अब यदि वक्तृ-तात्पर्य होता है कि 'घोष' शब्द से 'मकर' समझना चाहिए तो घोष से लक्ष्यार्थ 'मकर' होगा। यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जायेगा तो वक्तृतात्पर्य समझने के लिए इस नियम का उल्लघन हो जायेगा। अत जब 'गगा' पद से 'तीर' तथा घोष पद से 'मकर' लक्ष्यार्थ होना चाहिए, तब उसके निश्चय के लिए कोई लक्षण नही होगा। इसके लिए 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना आवश्यक है।

—**काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी**, पृष्ठ ४०-४२

[३६] **मुख्यार्थ-सम्बन्ध**—

मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध आचार्य भर्तृहरि ने पाच प्रकार का बताया है इसे क्रमश अभिधेय, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग कहते है।

अभिधेयसम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

इनके जो स्थल मुकुलभट्ट ने बतलाए हैं, वे निम्नवत् है

(१) सम्बन्ध सामीप्य=जैसे 'गगाया घोष', यहाँ 'गगा' का अर्थ है 'गगातट' क्योकि वह गगा के समीप है। यहाँ सम्बन्ध सामीप्य ही है।

(२) सादृश्य='गौर्वाहीक', जिसमे जडता को लेकर सादृश्य के आधार पर बिलूची को बैल कहा गया है।

(३) समवाय='छत्रिण यान्ति', छतरी है केवल एक हाथ मे, परन्तु कहा जा रहा है पूरे समुदाय को छत्रयुक्त। समुदाय के साथ एक व्यक्ति का सम्बन्ध समवाय ही हुआ करता है।

(४) वैपरीत्य='भद्रमुख', बन-ठन कर तैयार बदशकल के लिए प्रयुक्त यह शब्द उलटकर बदशकल रूपी व्यक्ति का बोध होता है। अभद्रमुख और भद्रमुख का सम्बन्ध वैपरीत्य ही हो सकता है।

(५) क्रियायोग='महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमिति' यहाँ वीर व्यक्ति पर दशरथ के चतुर्थ पुत्र का आरोप हो रहा है क्योकि उस पुत्र का वह शत्रु-हनन रूपी कार्य प्रस्तुत वीर पुरुष मे भी है, जिसके कारण उसे शत्रुघ्न कहा गया है (शत्रून् हन्तीति शत्रुघ्न)—(अभिधावृत्तमातृका, पृष्ठ ५०-५७ तथा शब्द-व्यापार-विचार, पृष्ठ ३०)।

[३७] **रूढि या प्रयोजन**—

जैसे 'कर्मणि कुशल' का अर्थ है कार्य मे दक्ष। 'कुशल' पद का व्युत्पत्ति-गत अर्थ इससे भिन्न होता है 'कुशान् लाति आदत्ते वा इति कुशल' अर्थात् जो कुशा ले आये वह कुशल होगा, कुशल के ले आने मे भी किसी न किसी प्रकार की दक्षता रहती ही है। उसी दक्षता को ध्यान मे रखकर 'कुशल' का अर्थ उपचार द्वारा 'दक्ष' माना जाने लगा है और 'कुशल' पद इस 'दक्ष' अर्थ मे रूढ या प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार यहाँ रूढि या प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ से भिन्न जो एक अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसकी प्रतीति मे शब्द का लाक्षणिक व्यापार ही माना जायेगा।

यदि रूढि नही होगा तो शब्द का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए, जैसे 'गगाया घोष' वाक्य मे 'गगा' पद से 'गगा का प्रवाह' अर्थ होगा, परन्तु गगा के प्रवाह मे आधारत्व की क्षमता नही है अत मुख्यार्थ-बाध होगा और इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। इससे समीप्यादि, शैत्यपावनत्वादि का बोध माना जायेगा। यदि 'गगाया' के स्थान पर 'गगातटे' का प्रयोग करें तो प्रथम 'गगा' के जलप्रवाह मे जो शैत्यपावनत्वादि धर्म है, उनका बोध नही हो पाता है और वक्ता के प्रयोजन, शैत्यादि के प्रति हम अपरिचित रह जाते है। दूसरी बात यह है कि 'गगातटे' कहने से 'गगा' के एक सुदूरवर्त्तीप्रदेश का भी अर्थ ज्ञात होता है जहाँ पर जल की शीतलता का कोई प्रभाव नही हो सकता है अत सिद्ध हुआ कि शैत्य-पावनत्व रूप विशेष प्रयोजन का बोध कराने के लिए ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है (**काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी,** पृष्ठ ४२-४३)।

[३८] यहाँ मम्मट 'लक्षणा' के लक्षण के विषय मे आचार्य मुकुलभट्ट से पूर्णत प्रभा-वित दिखाई पडते हैं। क्योकि मम्मट ने मुकुलभट्ट के 'मुख्यार्थासम्भव' तथा

'मुख्यार्थासत्ति' को 'मुख्यार्थ-बाध' तथा 'मुख्यार्थ-योग' रूप मे स्वीकार कर लिया है। रूढि और प्रयोजन का उल्लेख ज्यो का त्यो कर दिया है मिलाइये

मुख्यार्थासभवात् सेय मुख्यार्थासत्तिहेतुका ।
रूढे प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते ।।

—**अभिधावृत्तमातृका**, कारिका ६

[३६] यहाँ मम्मट द्वारा लक्षणा को शब्द पर आरोपित और 'सान्तरार्थ-निष्ठ' जो कहा गया है उसका मूल मुकुलभट्ट की मातृका ही प्रतीत होती है। मिलाइए—

एवमय मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविध प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषय सान्तरार्थनिष्ठश्च ।

—**अभिधावृत्तमातृका**, पृष्ठ ३

[४०] **लक्षणा के भेद—**

लक्षणा के भेदो का विषय सस्कृत-समीक्षा मे एक प्रमुख मतभेद का विषय बना रहा है। न्याय, वेदान्त तथा साहित्यशास्त्र, सभी मे 'लक्षणा' के अनेक प्रकार के भेद-उपभेद कहे गये है। न्याय तथा वेदान्त मे लक्षणा के तीन भेद (जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा) माने गये है। साहित्यशास्त्र मे उसके भेद के सम्बन्ध मे मतैक्य नही है।

मुकुलभट्ट के अनुसार सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद—शुद्धा एव उपचार-मिश्रा, पुन शुद्धा के दो भेद-उपादाना तथा लक्षण-लक्षणा एव उपचारमिश्रा के शुद्धोपचार तथा गौणोपचार दो वर्ग बनाते हुए सारोपा तथा साध्यवसाना रूप मे चार भेद, इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद होते है।

मम्मट लक्षणा के ६ भेद स्वीकार करते है। किन्तु किस प्रकार तथा किस रूप मे यह कहना कठिन है। क्योकि इन्होने कुछ अस्पष्ट पदावली का प्रयोग किया है, जिसके कारण 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकारो ने भी भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये है। वह अस्पष्टता क्या है ?

'स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ।।
'कुन्ता प्रवेशय' · ··· इत्यादौ उपादानेनेय लक्षणा ।
गङ्गायाघोष इत्यादौ · लक्षणेनैषा लक्षणा ।

उभयरुपाचेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात् साध्यवसानिका ।।
भेदाविमौ च सादृश्यात्सबन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,

इमावारोपाध्यवसानमूलौ सादृश्यहेतू 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र, 'गौरयमित्यत्र च'। 'आयुर्घृतम्' आयुरेवेदमित्यादौ सादृश्यादन्य कार्यकारणभावादि पर सम्बन्ध । एवमादौ कार्यकारणभावादिपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

'क्वचित् तादर्थ्यादुपचार.'। यथा 'इन्द्रार्थास्थूणा इन्द्र'। 'क्वचित्

स्वस्वामिभावात्' यथा 'राजकीय पुरुषो राजा'। क्वचित् अवयवावयविभावात् यथा 'अग्रहस्त' इत्यग्रमात्रावयवे हस्त । क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा 'अतक्षा तक्षा'।

'लक्षणा तेन षड्विधा'

"आद्यभेदाभ्या सह।" (**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ४३-५४ तथा **शब्दव्यापार-विचार**, पृष्ठ ८-१४)।

उपर्युक्त शब्दावली के अनुसार मम्मट ने लक्षणा को सर्वप्रथम दो भागो मे विभाजित किया है—उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा, जो कि 'शुद्धा-लक्षणा' के ही भेद कहे गये हैं। पुन वह शुद्धा लक्षणा के शुद्धत्व का हेतु देते हैं **'उभयरुपाचेय शुद्धा'। 'उपचारेणामिश्रित्वात्'** अर्थात् ये दोनो प्रकार की लक्षणा (उपादान एव लक्षण लक्षणा) **उपचार** से मिश्रित न होने के कारण 'शुद्धा' है। उपचार का लक्षण '**उपचारो** हि नाम अत्यन्त विशकलितयो पदार्थयो सादृश्यातिशय महिम्ना भेदप्रतीतिस्थगमनमात्रम्' (**बाल-बोधिनी**, पृष्ठ ४६) यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थो मे अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे—किसी बालक या पुरुष मे शौर्य-क्रौर्य आदि के सादृश्याति-शय के कारण 'सिंहो माणवक' यह बच्चा शेर है आदि प्रयोग उपचार मूलक होते है।

तत्पश्चात् सारोपा तथा साध्यवसानिका—दो प्रकार की लक्षणा कही गयी है जो कि सादृश्य सम्बन्ध के होने पर 'गौणी' तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से 'शुद्धा' कहलाती है। ये चारो प्रकार की लक्षणा उपचार-मिश्रा है, यद्यपि मम्मट ने ऐसा कही स्पष्ट नही किया है, तथापि उपचार के आधार पर लक्षणा के शुद्धत्व तथा शुद्धभिन्न का निर्णय अवश्य किया है।

परन्तु मुकुलभट्ट 'उपचार' को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार नही करते हैं। उनके मत मे उपचार का मिश्रण शुद्धा मे भी होता है और गौणी मे भी। इसलिए उन्होने उपचार के शुद्धोपचार तथा गौणोपचार रूप से दो भेद किये है। उनके मत मे उपचार का अर्थ अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है। जहाँ अन्य के लिए अन्य वाचक शब्द का प्रयोग सादृश्य के कारण होता है वहाँ 'गौण-उपचार' होता है और जहाँ सादृश्येतर सम्बन्ध कार्यकारण-भाव आदि के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ 'शुद्धोपचार' होता है। इस प्रकार उपचार के भी शुद्ध और गौण रूप होने से उपचार को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार नही किया जा सकता है। इसलिए मुकुलभट्ट ने उपचार के स्थान पर 'ताटस्थ्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ के भेद को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार किया है। उनके मतानुसार गौणी लक्षणा मे सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक का अभेद प्रतीत होता है। परन्तु शुद्धा लक्षणा मे अर्थात् उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा मे लक्ष्य तथा लक्षक मे अभेद नही अपितु 'भेद' या 'ताटस्थ्य' होता है (**अभिधावृत्तमातृका**, पृष्ठ २०)।

परन्तु मम्मट इससे सहमत नही हैं, वह कहते है कि शुद्धा-लक्षणा के

उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दोनो भेदो मे लक्ष्य-लक्षक मे भेद-प्रतीति रूप 'ताटस्थ्य' नही माना जा सकता है। क्योकि जैसे—'गगाया घोष' मे गङ्गा के मुख्यार्थ 'प्रवाह' और लक्ष्यार्थ 'तट' मे भेद (ताटस्थ्य) की प्रतीति नही होती अपितु गङ्गा का तट से अभेद प्रतीत होता है अर्थात् तट की गङ्गात्व (तत्त्व) के रूप मे प्रतीति होती है और तभी शीतत्व, पावनत्वादि की तट मे प्रतीति होती है। शीतलता आदि का बोध कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। यदि यहाँ गगा और तट मे अभेद प्रतीति न होती और तट (लक्ष्यार्थ) का प्रवाह (मुख्यार्थ) से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो 'गगाया घोष' का वही अर्थ होता जो 'गङ्गातटे घोष' का है। तब इस लक्षणा के प्रयोग मे कोई विशेषता न होती। अतएव मुकुलभट्ट का यह मत कि जहाँ अभेद प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा और जहाँ भेद-प्रतीति हो वहाँ शुद्ध लक्षणा होती है, उचित नही है (**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ४६)।

फिर भी यहाँ मम्मट उपचार के विषय मे मुकुलभट्ट (**अभिधावृत्त-मातृका**, पृष्ठ १५-१६) से प्रभावित प्रतीत होते है। पुन मम्मट उपचार का प्रयोग सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध के लिए करते है, जैसा कि **'क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः—'** इत्यादि उसके शब्दो से स्पष्ट है।

इस प्रकार लक्षणा के ६ भेद हो जाते है।

इस प्रकार हम देखते है कि मम्मट एक ओर तो 'उभयरूपा चेय शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्' कहकर, वह 'शुद्धा-लक्षणा' को उपचार से अमिश्रित कहते है, और दूसरी ओर 'उपचार' का प्रयोग सादृश्य सम्बन्ध से रहने वाली गौणी लक्षणा के लिए तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से रहने वाली 'शुद्धा-लक्षणा' के लिए भी करते है, जैसा कि 'क्वचित् तादर्थ्यादुपचार ' इत्यादि इनके शब्दो से स्पष्ट है। यहाँ यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि 'आयुघृतम्' जैसे उदाहरणो का स्पष्टीकरण कैसे किया जाय ? यदि उन्हे सादृश्येतर सम्बन्ध के कारण 'शुद्ध' कहा जाय तो उनमे दूसरी ओर उपचार भी है जबकि मम्मट स्वय कहते है कि 'उभयरूपा चेय शुद्धा'। 'उपचारेणामिश्रितत्वात्' और यदि उन्हे 'उपचार-मिश्रा' कहा जाय तो उसमे सादृश्येतर सम्बन्ध से 'शुद्धत्व' भी है। यही कठिनाई अस्पष्टता की द्योतक है। इसी अस्पष्टता के कारण मम्मट के द्वारा कहे गये लक्षणा के षड्भेदो के सम्बन्ध मे काव्यप्रकाश के टीकाकारो मे मतभेद है।

माणिक्यचन्द्र तथा जयन्त मम्मट के द्वारा कहे गये लक्षणा के षड्भेद को निम्नवत् प्रस्तुत करते हैं
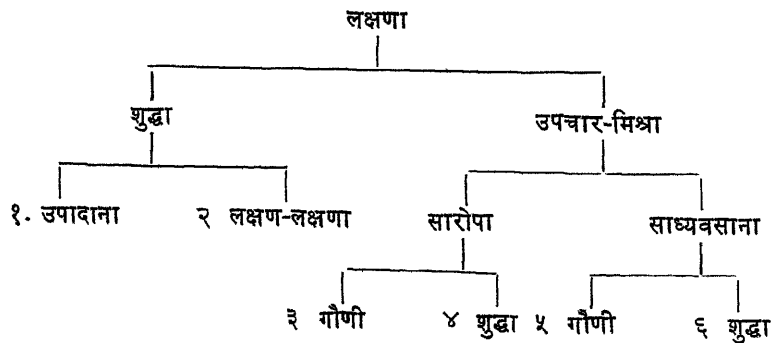
यहाँ माणिक्यचन्द्र मम्मट को मुकुलभट्ट का अनुयायी स्वीकार करते है (सक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारकृत । विस्तरेण तु मुकुलादिरचितमातृकादि ग्रन्थेभ्यो ज्ञेय । **काव्य-प्रकाश**, सकेत, पृष्ठ १८) । इस वर्गीकरण का समर्थन आधुनिक विद्वान डा हरदत्त शर्मा, चन्दोरकर तथा आचार्य विश्वेश्वर आदि ने किया है ।

लेकिन डा वेलङ्कर (Velankar's notes on *Kavya Prakasa*, I, 2, pp 19-81) का आक्षेप है कि काव्य-प्रकाश की पदावली से स्पष्ट है कि मम्मट ने वही पर भी 'उपचार-मिश्रा' लक्षणा का सकेत नही किया है, अपितु स्पष्टत गौणी तथा शुद्धा लक्षणा का अलग-अलग उल्लेख किया है। ऐसी दशा मे इसका अर्थ गौणोपचार तथा शुद्धोपचार लेना उचित नही कहा जा सकता । इसलिए मम्मट को मुकुलभट्ट का अनुयायी मानना ही अनुचित है । मम्मट के लक्षणा के षड्भेद को डॉ वेलङ्कर निम्नवत् प्रस्तुत करते है
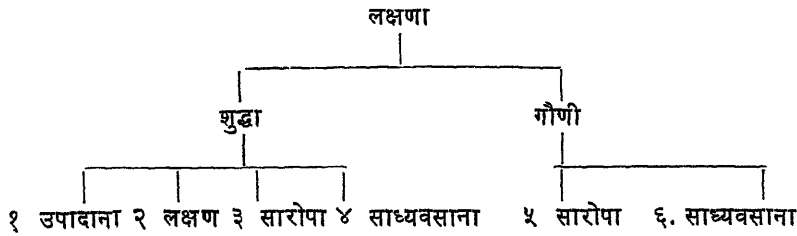
डा वेलङ्कर का लक्षणा का उपर्युक्त वर्गीकरण युक्तियुक्त प्रतीत नही होता है क्योकि 'आयुर्घृतम्' एव 'आयुरेवेदम्' उदाहरणो मे उपचार मौजूद है जबकि मम्मट शुद्धा लक्षणा के शुद्धत्व का हेतु 'उपचार-हीनता' देते है ।

गोविन्द ठक्कुर (**काव्य-प्रकाश**—द्वितीयोल्लास, पृष्ठ ६३, Ed by H D Sharma, Poona) के अनुसार मम्मट के भेद इस प्रकार होगे
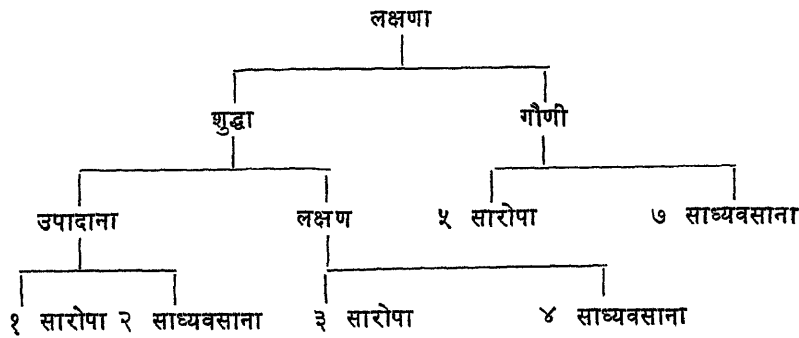
इस प्रकार हम देखते है कि मम्मट की अस्पष्ट पदावली के कारण यह निश्चय होना कठिन हो गया है कि मम्मट की षड्विधा-लक्षणा किस प्रकार तथा किस रूप मे है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मम्मट प्रयोजनवती-लक्षणा के ६ भेद स्वीकार करते है ।

साहित्यदर्पणकार 'तेन षोडश भेदिता' (**साहित्यदर्पण**, द्वितीय परिच्छेद, कारिका १०) लिखकर लक्षणा के ६ भेदो के स्थान पर सोलह भेद स्वीकार करते हैं।

[४१] **ज्ञातता**—

घटादि विषयो का ग्रहण तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से हो जाता है, लेकिन ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है इसी के समाधान मे मीमासको का कहना है कि 'अय घट' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घट' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति मे घट मे रहने वाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है। यह धर्म 'अय घट' इस ज्ञान के होने से पहले नही था इस ज्ञान के बाद उत्पन्न हुआ है इसलिए ज्ञान उसका कारण है। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नही होता इसलिए ज्ञान के बिना 'ज्ञातता' धर्म भी घट मे उत्पन्न नही हो सकता था। लेकिन ज्ञातता धर्म घट मे उत्पन्न हुआ है, इस धर्म की प्रतीति 'ज्ञातो मया घट' इस ज्ञान मे हो रही है इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार 'ज्ञातता' की अन्यथा-अनुपपत्ति होने के कारण 'ज्ञातता' से ज्ञान का ग्रहण होता है (**तर्क-भाषा**, व्या आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९६३, पृष्ठ १३७-१३८)।

[४२] **अनुव्यवसाय**

नैयायिको के मत मे पहले 'अय घट' यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का विषय घट होता है। इस प्रथम ज्ञान को 'व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते है। इसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमह जानामि' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट नही अपितु 'घटज्ञान' होता है। इस ज्ञान विषयक ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते है। इसी अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है (**तर्क-भाषा**, पृष्ठ १४१)।

[४३] तथाभूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनया
वने व्याधै साक सुषिरमुषित वल्कलधरै।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृत
गुरु खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।
—**वेणीसहार**, १, ११

[४४] तुलना—**काव्य-प्रकाश**, प्रथम उल्लास से पचम उल्लास तक।

सप्तम अधिकार

[१] तुलना—**दशरूपक**, १, ७।
[२] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ४।
[३] तुलना—**दशरूपक**, १, ७।
[४] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ४।
[५] तुलना—**दशरूपक**, १, ९।
[६] **तत्त्व**—

स्वकीय कार्य में, धर्मसमुदाय मे या स्वसमान गुणवाले वस्तु मे, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते है।

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावत ॥
तत् तत्त्व क्रमश पृथिवी प्रधान पुशिवादय ।

—**तन्त्रालोक**, ६।४-५

[७] **शिव-तत्त्व**—

परमेश्वर के हृदय मे विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते है—शिव-रूप और शक्ति-रूप। शिव प्रकाश रूप है। प्रभा के दो रूप होते है—अहमश और इदमश। अहमश ग्राहक शिव है तथा इदमश ग्राह्य शक्ति है। —*Abhınavagupta*, pp 362-364

[८] **शक्ति-तत्त्व**—

शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्श का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अह की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल मे विश्वाकार स्थिति मे विश्व-प्रकाश तथा सहारकाल मे विश्वसहरण रूप से होती है। इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि अनेक सज्ञाएँ है। विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति मे विमर्श की कल्पना न्याय्य है। —*Abhınavagupta*, pp 364

[९] **सदाशिव**—

शिवशक्ति के आन्तर निमेष को 'सदाशिव' तथा बाह्य उन्मेष को 'ईश्वर' कहते है।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्त सदाशिव ।

—**ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका**, ३,१,३

सदाशिव अचल रूप परमेश्वर मे किंचित् चलनात्मक रूप स्फुरण होता है। प्रभा का अहमश इदमश को अच्छादित कर विद्यमान रहता है। अत जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है ('अहन्ताच्छादितमस्फुटेदन्तामय यादृश परावर-रूप विश्व ग्राह्यम्' ।—**प्रत्यभिज्ञाहृदय**, दिल्ली, १९६६, पृष्ठ ७८)।

'सत्ता' का आरम्भ यही से होता है। इसी से इसका नाम 'सदाख्य' तत्त्व है ('सदाख्यायाा भव 'सादाख्य' यत प्रभृति सदिति प्रख्या—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी**, पृष्ठ २१७-२१८ तथा *Abhınavagupta* pp 364 365।

[१०] **ईश्वर**—

ईश्वरतत्त्व सदाशिव का बाह्य-रूप है। यहाँ 'अह' इद स्पष्ट से किन्तु एक आत्मा के अशरूप मे आत्मा के अभिन्न रूप मे अनुभव करता है।

—*Abhınavagupta*, pp 365-366

[११] **शुद्ध-विद्या**—

ज्ञान की इस दशा मे 'अह' तथा 'इद' का पूर्ण समानाधिकरण्य रहता है। समानाधिकरण्य च सद्विद्याऽहमिदधियो ।

—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, कारिका**, ३, १, ३ तथा
Abhınavagupta, pp 366-368

[१२] **माया**—

माया शक्ति वह है जो 'अह' और 'इद' को पृथक्-पृथक् कर देती है। अहमश पुरुष हो जाता है और इदमश प्रकृति हो जाती है। शिव को पुरुष रूप मे आने के लिए यह (माया) पाँच उपाधियो—कला, विद्या, राग, काल, नियति—की सृष्टि करती है। —*Abhinavagupta*, pp 370-372

[१३] **काल**—

नित्यत्व को सकुचित करने वाला तत्त्व 'काल' कहलाता है जिसके कारण देहादिको से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। —*Abhinavagupta*, pp 375

[१४] **नियति**—

जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति का तिरस्कार करने वाला तत्त्व 'नियति' कहलाता है जिसके कारण वह (जीव) नियमित कार्यो के करने मे प्रवृत्त होता है। —*Abhinavagupta*, pp 375

[१५] **पुरुष**—

मायाजनित कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप के आवरण करने के कारण 'कञ्चुक' कहते है। इन्ही कञ्चुको के द्वारा आवृत्त-शक्ति जीव 'पुरुष' कहलाता है। —*Abhinavagupta*, pp 375-377

[१६] यहाँ 'अन्नप्रवेशकृत' अर्थात् 'अन्न का प्रवेश करना'—पाठ ठीक रहेगा (द्रष्टव्य—वाग्भट रचित **अष्टागहृदय**, स० शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९२९, सूत्रस्थान, १२, ५)।

[१७] यहाँ 'हृदिस्थ' अर्थात् 'हृदय मे स्थित'—पाठ ठीक रहेगा (द्रष्टव्य—**अष्टाग-हृदय**, सूत्रस्थान, १२, ६)।

[१८] तुलना—**अष्टांगहृदय**, सूत्रस्थान, १२, ४-९।

[१९] तुलना—**अष्टांगहृदय**, शारीरस्थान, ३, १३।

[२०] **ओज**—

रसादीना शुक्रान्ताना धातूना यत्पर तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते ॥

—**सुश्रुत-संहिता**, सूत्रस्थान, १५-१९, बम्बई, १९३८।

रस से शुक्रपर्यन्त सात धातुओ मे, दूध मे घी के समान उनमे व्याप्त तथा उनके परम सारभूत स्नेहो को औज कहते हैं। यह बल का परम कारण होने से इसे 'बल' भी कहा जाता है।

[२१] तुलना—**अष्टांगहृदय**, शारीरस्थान, ३, १८-२१।

[२२] **नाद**—

'न' कार प्राण कहलाता है और 'द' कार अग्नि। इस प्रकार प्राण और अग्नि के सयोग से उत्पन्न 'नाद' कहलाता है।

नकार प्राणनामान दकारमनल विदु।
जात. प्राणाग्निसयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥

—**सगीत-रत्नाकर**, स्वरगताध्याय, ३, ६

[२३] **कला**—

आवाप आदि क्रिया से जो काल परिमित किया जाता है, उसे 'कला'

कहते है ('काल परिच्छिद्यते आवापादिक्रियया सा कला'—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड ४, पृष्ठ १५१) ।

[२४] **वर्ण**—

गान-क्रिया को 'वर्ण' कहते है ('गानक्रियोच्यते वर्ण '—**सगीतरत्नाकर**, स्वरगताध्याय, ६, १) ।

[२५] **श्रुति**—

श्रवण-योग्य होने से 'श्रुति' कहलाती है ('श्रवणात् श्रुतयो मता '—**संगीतरत्नाकर**, १,३,८) । यदि श्रुति तथा स्वर दोनो मे श्रवण-योग्यत्व का गुण है, तो इन दोनो मे भिन्नत्व क्या हुआ ? इसका उत्तर कल्लिनाथ ने यह दिया है कि प्रथमघात-रूप क्षणिक-ध्वनि का नाम 'श्रुति' है, उसके पश्चात् पैदा होने वाली अनुरणनात्मक (गूँजने वाली) दीर्घ ध्वनि स्वर कहलाती है, यही दोनो की भिन्नता है। (**सगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, पृष्ठ ६७) ।

[२६] **स्वर**—

श्रुति के पश्चात् पैदा होने वाली स्निग्ध तथा अनुरणनात्मक (गूँजने वाली) जो दीर्घ ध्वनि स्वत श्रोता के चित्त को अनुरक्त करती है, उसे 'स्वर' कहते है ।

श्रुत्यन्तरभावी य स्निग्धोऽनुरणनात्मक ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृ-चित्त स स्वर उच्यते ॥

—**सगीतरत्नाकर**, १,३, २४-२५

[२७] **षड्ज**—

नासा कण्ठ उरस्तालु जिह्वा दन्तास्तथैव च ।
षड्भि सजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृत ॥

—**संगीतरत्नाकर की सुधाकरी टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ८४

जो स्वर नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दाँत—इन छै स्थानो से उत्पन्न होता है, उसे 'षड्ज' कहते है ।

[२८] **ऋषभ**—

नाभे समुत्थितो वायु कण्ठशीर्षसमाहत ।
नदत्यृषभवद्यस्मात्तस्मादृषभ ईरित ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी वायु कण्ठ और शीर्ष से आहत हो ऋषभ (साड) की भाँति ध्वनि करती है तो उसे 'ऋषभ' कहते हैं ।

[२९] **गान्धार**—

नाभे समुत्थितो वायु कण्ठशीर्षसमाहत ।
गन्धर्वसुखहेतु' स्याद्गाधारस्तेन हेतुना ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु कण्ठ और शीर्ष से आहत हो गन्धर्वो के सुख का हेतु होती है तो उसे 'गान्धार' कहते है ।

[३०] **मध्यम**—

वायु समुत्थितो नाभेर्हृदये च समाहत ।
मध्यस्थानोद्भवत्वात्तु मध्यमत्वेन कीर्तित ॥

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु हृदय मे आहत हो मध्य स्थान मे उत्पन्न हो तो उसे 'मध्यम' कहते है।

[३१] **पञ्चम**—

वायु समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठशिरोहृदि।
पञ्चस्थानसमुद्भूत पञ्चमस्तेन कीर्तित ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु उर, ओष्ठ, कण्ठ, शिर तथा हृदय—इन पाँच स्थानो से उत्पन्न होती है, उसे 'पचम' कहते है।

[३२] **धैवत**—

नाभे समुत्थितो वायु कण्ठतालुशिरोहृदि।
तत्तत्स्थानधृतो यस्मात्ततोऽसौ धैवतो मत ।

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु कण्ठ, ताल, शिर तथा हृदय—उस उस स्थान को धारणा करती है, उसे 'धैवत' कहते है।

[३३] **निषाद**—

नाभे समुत्थिते वायौ कण्ठतालुशिरोहते।
निषीदन्ति स्वरा सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ॥

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु के कण्ठ, तालु और शिर से आहत होने पर सभी स्वर बैठ जाते है, तो उसे 'निषाद' कहते है।

[३४] सप्त-धातुओ से स्वरो की उत्पत्ति के विषय मे ग्रन्थकार की यह एकमात्र नवीन कल्पना है। यह अन्यत्र प्राप्त नही होती।

[३५] **सात धातु**—

रसासृङ्मासमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातव ।

—**अष्टांगहृदय**, सूत्रस्थान, १, १३

रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात को धातु कहते है।

[३६] **सात अग्नि**—

धातु सात है। प्रत्येक का अपना-अपना अग्नि होता है। इस प्रकार धातुगत अग्नि कुल सात है—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मासाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्याग्नि, मज्जाग्नि और पुरुषो मे शुक्राग्नि तथा स्त्रियो मे आर्तवाग्नि (द्रष्टव्य—**अष्टांग-हृदय,** सूत्रस्थान, ११, ३४)।

[३७] यहाँ शारदातनय ने रस के स्थान पर त्वचा को धातु स्वीकार किया है। जबकि आयुर्वेदशास्त्र मे 'त्वचा' उपधातु स्वीकार की गयी है। स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वचा और स्नायु—ये सात उपधातु है। रसादि से शरीर का धारण तथा अन्य धातुओ का पोषण, उभय कार्य होते है, अत उन्हे धातु कहा जाता है। उपधातु शरीर का धारण तो करते है, परन्तु अन्य धातु का पोषण नही करते। धातुओ के साथ इस आशिक समता के कारण इन्हे उपधातु कहते हैं (द्रष्टव्य—**चरकसंहिता,** चिकित्सास्थान, १५, १७, बम्बई, १९३५)।

[३८] तुलना—**सगीतरत्नाकर,** खण्ड १, पृष्ठ ४५।

[३९] यहाँ प्रकरण विशेष मे 'नाभि' शब्द से हृदय का ग्रहण करना चाहिए। नाभि का स्वरूप चारो ओर निकलती धमनियो के कारण अरो से आवृत्त रथ के पहिये की नाभि के सदृश बताया गया है। हृदय और उससे निकलने वाली धमनियो को सामने, नीचे या ऊपर किसी भी ओर से देखे तो अनायास चक्र (पहिये) का स्वरूप दिखाई पडता है। जिसमे हृदय नाभि है और उसके चतुर्दिक् स्थित धमनियाँ अरे।

[४०] तुलना—**अष्टागहृदय,** शारीरस्थान, ३, ३९।

[४१] (क) यहाँ 'अस्त्योजो' पाठ ठीक रहेगा।

(ख) ओज भी आठवाँ धातु है—उसके द्वारा भी शरीर धारण किया जाता है, जैसे—'तत्र रसादीना शुक्रान्ताना धातूना यत् पर तेजस्तत् खलु ओज, तदेव बलमित्युच्यते—स्वशास्त्रसिद्धान्तात्।' (सुश्रुतसहिता, सूत्रस्थान, १५, १९) एव 'पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमासमेदोस्थिमज्जशुक्रोजासि'। (**चरक-संहिता,** सूत्रस्थान, २८, ४) शरीर का धारक होने पर भी उसको जो धातु नही कहा उसका मुख्य कारण यही है कि उसके नष्ट होने से शरीर की इतिश्री हो जाती है, जैसे—

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धरक्तमीषत्सपीतकम्।
ओज शरीरे सख्यात तन्नाशान्ना विनश्यति ॥'

—**चरक-सहिता,** सूत्रस्थान, १७, ७४

इसलिए इसको यहाँ नही गिना। साथ ही इससे आगे कुछ उत्पन्न नही होता है, यह तो अन्तिम धातु है, इसीलिए सुश्रुत ने इसको 'बल' शब्द से कहा है, जैसे—'तत्र बलेन स्थिरोपचितमासता सर्व चेष्टास्वप्रतिघात, स्वरवर्णप्रसादो, बाह्यानामाभ्यन्तराणा च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।' (सुश्रुतसहिता, सूत्रस्थान, १५, २०)। दूसरी बात यह है कि रसादि सातो धातु दृश्य है, परन्तु ओज अदृश्य वस्तु है, उसका क्षय, विस्र स और व्यापत् होता है, परन्तु मल और रसादि की तरह क्षय या वृद्धि नही होती। ओज के क्षय का अर्थ ही मृत्यु है। जैसे—'मूर्च्छा मासक्षयो मोह प्रलापो मरणमिति च क्षये। मूर्च्छा मासक्षयो मोह प्रलापोऽज्ञानमेव च। पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरण च बलक्षये ॥ (**सुश्रुत-सहिता,** सूत्रस्थान, १५, २१)। इस दृष्टि से शरीर का धारक होने पर भी ओज को यहाँ आठवाँ धातु नही माना।

'ओज' हृदय मे रहता है, उसका तीन प्रकार का स्वरूप होता है—शुक्ल, पीत तथा रक्त ('हृदि तिष्ठति यच्छुद्धरक्तमीषत्सपीतकम्'—**चरक-सहिता,** सूत्रस्थान, १७, ७४)।

[४२] **उदात्त—**

तालु आदि स्थानो के ऊर्ध्व भाग से उच्चारित जो 'अच्' वह 'उदात्त' कहलाता है। —**उच्चैरुदात्तः** (अष्टा० १, २, २९)।

[४३] **अनुदात्त—**

तालु आदि स्थानो के अधो भाग से उच्चारित जो 'अच्' वह 'अनुदात्त' कहलाता है। —**नीचैरनुदात्त** (अष्टा० १, २, ३०)।

[४४] **स्वरित—**

उदात्त और अनुदात्त जिस स्वर मे सम्मिलित हो उसे 'स्वरित' कहते है। —**समाहार. स्वरितः** (अष्टा० १, २, ३१)।

[४५] **प्रचय—**

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—इन तीनो स्वरो के अतिरिक्त 'प्रचय' नामक एक चौथा स्वर होता है, जिसे 'एक-श्रुति' भी कहा जाता है।

साहित्यिक सस्कृत मे इन स्वरो का प्रयोग नही होता है। वैदिक-साहित्य मे इन स्वरो का प्रयोग होता है। उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नही लगाया जाता है, अनुदात्त स्वर पर नीचे पडी हुई लकीर दी जाती है और स्वरित स्वर पर ऊपर खडी लकीर लगायी जाती है। स्वरित के बाद आने वाला अचिह्नित वर्ण, चाहे एक हो या अनेक हो, 'प्रचय' होता है।

[४६] **ग्राम—**

ग्राम शब्द समूहवाची है, जिस प्रकार कुटुम्ब मे लोग मिलजुल कर मर्यादा की रक्षा करते हुए इकट्ठे रहते है, उसी प्रकार सवादी स्वरो का वह समूह ग्राम है, जिसमे श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप मे विद्यमान हो और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलकार आदि का आश्रय हो ('समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसयुतौ। यथा कुटुम्बिन सर्वे एकीभूय वसन्ति हि। सर्वलोकेषु सु ग्रामो यत्र नित्य व्यवस्थित । षड्जमध्यमसज्ञौ तु द्वौ ग्रामो विश्रुतौ किल'—**भरतकोष**, पृष्ठ १८६, तिरुपति सस्करण)।

[४७] **राग—**

रञ्जन के कारण ही राग की सज्ञा 'राग' है, यही राग की व्युत्पत्ति है ('रञ्जनाञ्जायते रागे व्युत्पत्ति समुदाहृता'—**सुधाकरी**, खण्ड २, राग-विवेकाध्याय, पृष्ठ ३)। वह ध्वनि विशेष जो स्वर, वर्ण से विभूषित हो और जब चित्त को अनुरक्त करे उसे 'राग' कहते है। (योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित । रञ्जको जनचित्ताना स राग कथितो बुधै'—**सुधाकरी**, पृष्ठ ३)। 'राग' शब्द 'अश्वकर्ण, जैसे शब्दो के समान रूढ, 'मन्थ' इत्यादि शब्दो के समान यौगिक अथवा 'पकज' शब्द के समान योगरूढ है ('अश्वकर्णा-दिवद्रूढो यौगिको वापि मन्थवत्। योगरूढोऽथवा रागो ज्ञेय पङ्कजशब्दवत्॥ —**कलानिधि**, खण्ड २, पृष्ठ २)।

[४८] **मूर्च्छना—**

क्रमयुक्त होने पर सात स्वर मूर्च्छना कहे जाते है ('क्रमयुक्ता स्वरा सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसज्ञिता।'—**नाट्यशास्त्र**, जी ओ एस., खण्ड ६, पृष्ठ २५)। 'मूर्च्छना' शब्द 'मूर्च्छ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मोह' और 'समुच्छ्राय' (उत्सेध, उभार, चमकना, व्यक्त होना) है (मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मूर्च्छधातुस्ततो ल्युटि। करणार्थे मूर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये॥'—**भरतकोश**, पृष्ठ ५०१)। आचार्य शाङ्गदेव सात स्वरो के क्रमपूर्वक आरोह और अवरोह को 'मूर्च्छना' मानते है (क्रमात्स्वराणा सप्तानामारोहश्चावरोहणम्। मूर्च्छने-त्युच्यते . . ॥

—**सगीतरत्नाकर**, खण्ड १, स्वरगताध्याय, पृष्ठ १०३-१०४।

[४६] **तान**—

षाडव, औडव, सम्पूर्ण—इन मूर्च्छनाओ के सयोग को ही 'तान' कहते है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये सप्त स्वर जब परस्पर विस्तार को प्राप्त होते है तो उसे 'तान' कहते है। 'तान' शब्द 'तनु' धातु से बना है, जिसका अर्थ विस्तार है।

'षाडवौडव—पूर्णाना सयोगश्चैव कथ्यते।
षड्जर्षम-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादा ॥
परस्परेण तन्यन्त इति तान-सज्ञा लभन्ते।
तनु विस्तार इत्यस्माद्धातो कर्मणि तत्र तान-सिद्धि ॥

—**नान्यूभूपालप्रणीत भरतभाष्य**, प्रथम खण्ड, खेरागढ, १९६१, अध्याय ४, ६४-६६।

भरतादि के वचनो से स्पष्ट होता है कि षाडव-औडव मूर्च्छनाओ का ही दूसरा नाम 'तान' था। निम्नोद्धृत ग्रन्थ-वचन इसके प्रमाण है—

'तत्र मूर्च्छना-सश्रितास्तानाश्चतुरशीति।
प्रयोक्तृश्रोतु सुखार्थ तान-मूर्च्छना-तत्त्वम्।
मूर्च्छना-प्रयोजनमपि स्थान-प्राप्तयर्थम्।'

—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २७

'ताना स्यूर्मूर्च्छना शुद्धा षाडवौडुवितीकृता।'

—**संगीतरत्नाकर**, खण्ड १, १ ४ २७

'प्रसङ्गात्क्रमानुक्त्वा मूर्च्छनैक-देश-रूपत्वेन मूर्च्छनाऽनन्तरमुद्दिष्टाशुद्ध-तानाल्लँक्षयति'। —**सगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ११५।

मूर्च्छना और तान मे वस्तुत कोई अन्तर नही है, इस प्रकार का नारद-भरत-पूर्व ग्रन्थकार विशाखिल का मत मतग ने उद्धृत किया है—

'ननु मूर्च्छना-तानयो को भेद ? उच्यते मूर्च्छना-तानयोर्नार्थान्तरत्वमिति विशाखिल।'

—**संगीतरत्नाकर की सुधाकरी टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ११४।

लेकिन मतग ने विशाखिल के मत का खण्डन किया है कि 'मूर्च्छना' आरोह एव अवरोह के क्रम से युक्त होती है, तो 'तान' अवरोह-क्रम से होती है, यही दोनो का भेद है ("एतन्न सगतम्, सग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादित्वात्। ननु कथ मूर्च्छनातानयोर्भेद ? ब्रूम —आरोहावरोहक्रमयुक्त स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्यते, तानस्त्वारोहणक्रमेण भवतीति भेद इति।"

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ११४

[५०] **शुद्ध राग**—

जो राग अन्य जातियो की अपेक्षा न करके अपनी जाति का अनुवर्तन करते है और उसी के उद्योतक होते है, वे 'शुद्ध' कहलाते है।

अनपेक्ष्यान्यजातीर्ये स्वजातिमनुवर्तका।
स्वजात्युद्योतकाश्चैव ते शुद्धा परिकीर्तिता ॥

—**संगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, पृष्ठ २५

[५१] **गौड राग**—

जिन रागो मे गाढ गमको और ओहाटीललित स्वरो के कारण गीति अखण्डित रूप से त्रिस्थानव्यापिनी रहती है, वे 'गौड' कहलाते है ।

गाढैस्त्रिस्थानगमकै रोहाटीललितै स्वरै ।
अखिण्डतस्थिति स्थानत्रये गौडी मता सताम् ॥

—**सगीतरत्नाकर**, रागविवेकाध्याय, १, ४

[५२] **वेसर राग**—

जिन रागो मे स्वरो का वेगपूर्वक सञ्चार होता है, वे 'वेसर' कहलाते है ।

'स्वरा सरन्ति यद्वेगात्तस्माद् वेसरका स्मृता ।'

—**कलानिधि**, पृष्ठ २५

[५३] **भिन्न राग**—

श्रुतिभिन्न, जातिभिन्न, शुद्धभिन्न तथा स्वरभिन्न—इन चार भेदो से 'भिन्न' राग कहा जाता है ।

श्रुतिभिन्नो जातिभिन्न शुद्धभिन्न स्वरस्तथा ।
चतुर्भिर्भिद्यते यस्मात्तस्माद् भिन्नक उच्यते ॥

—**कलानिधि**, पृष्ठ २५

[५४] **साधारण राग**—

जिन रागो मे शुद्ध, भिन्न, गौड तथा वेसर—चारो प्रकार के रागो की विशेषताएँ समन्वित हो, वे 'साधारण' कहलाते है ।

शुद्धा भिन्नाश्च गौडाश्च तथा वेगस्वरा परे ।
कलित यत्र तान् वक्ष्ये सप्त साधारणास्तत ॥

—**कलानिधि**, पृष्ठ २६

[५५] **जाति**—

रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' कहे जाते है । दस लक्षणो से युक्त विशिष्ट-स्वर-सन्निवेश 'जाति' कहलाता है ('तत्र केय जातिर्नाम ? उच्यते-स्वरा एव विशिष्ट-सन्निवेशमाजो रक्तिमदृष्टाम्युदय च जनयन्तो जाति-रित्युक्ता । कोऽसौ सन्निवेश इति चेत्, जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेश ') ।

—**अभिनवभारती**, खण्ड ४, जी ओ एस , पृष्ठ ४३

[५६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २८, ६६ ।

[५७] तुलना—**सगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २६ ।

[५८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ५, ६-७ ।

[५९] तुलना—**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ११२ ।

[६०] **बहिर्गीत**—

जिनमे सार्थक शब्दो के स्थान पर निरर्थक 'शुष्काक्षरो' या 'स्तोभाक्षरो' का प्रयोग हो, वे 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' कहलाते हैं ।

निर्गीत गीयते यस्मादपद वर्णयोजनात् ।

—**नाट्यशास्त्र**, ५, ४३

वर्णा झण्टुमादय स्थाय्यादयश्च ।

—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ २२३

'निर्गीत' का अर्थ निरर्थक गीत है। इस निर्गीत के आविष्कारक नारद है।

नारदाद्यैस्तु गन्धर्वै सभाया देवदानवा ।
निर्गीत श्राविता सम्यग्लयतालसमन्वितम् ।।

—**नाट्यशास्त्र**, ५, ३२

इसको विशेषत असुरो ने अपनाया अत देवताओ ने इसे 'बहिर्गीत' कहना आरम्भ कर दिया।

एव निर्गीतमेतत्तु दैत्याना स्पर्धया द्विजा ।
देवाना बहुमानेन बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।।

—**नाट्यशास्त्र**, पृ ४१

[६१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ५, ९-३० ।
[६२] तुलना—**दशरूपक**, ३, २-३ ।
[६३] तुलना—**दशरूपक**, १, ११ ।
[६४] तुलना—**दशरूपक**, १, १३ ।
[६५] यह 'उदात्तराघव' नामक नाटक का द्वितीय अक है।
[६६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २२, ३० ।
[६७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ३१-३४ ।
[६८] उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुच प्रारेब्धजृम्भा क्षणा-
दायास श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मन ।
आद्योद्यानलतामिमा समदना गौरीमिवान्या ध्रुव
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुख देव्या करिष्याम्यहम् ।।

—**रत्नावली**, २, ४

कलिकाओ से लदी, श्वेत कान्ति वाली, जिसकी कलियाँ खिलने लगी है ऐसी तथा वायु के झौको से कष्ट का अनुभव करने वाली तथा मदनवृक्ष से लिपटी इस उद्यानलता को देखता हुआ मै आज वासवदत्ता के मुख को कोप से आरक्त बना दूँगा जैसे मै किसी उत्कण्ठा वाली, पाण्डुवर्ण, अगडाइयाँ लेती हुई, विश्वास से खेद प्रकट करने वाली तथा सकामललना को देखता होऊँ।

[६९] तुलना—**दशरूपक**, १, १५ ।
[७०] तुलना—**दशरूपक**, १, १६ ।
[७१] सत्पक्षा मधुरगिर प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भा ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्रा कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ।।

—**वेणीसहार**, १, ६

सुन्दरपक्ष सम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी राजहस दिशाओ को सुशोभित करते हुए समय पाकर भूतल पर उतर रहे है अथवा अच्छे-अच्छे प्रभावशाली राजाओ की सहायता से सम्पन्न, वाणीमात्र से मधुर-भाषी, सभी दिशाओ पर अधिकार जमाने वाले तथा पागल की भाँति कार्य

करने वाले अर्थात् उच्छृ खल स्वभाव के धृतराष्ट्र-पुत्र (कौरव) मृत्यु के वश होकर पृथ्वी पर गिर रहे है ।

[७२] लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै·
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

—**वेणीसहार**, १, ८

[७३] हा वत्साः खरदूषणप्रभृतयो वध्या· स्थ पापस्य मे
हा हा वत्स विभीषण त्वमपि मे कार्येण हेयः स्थित ।
हा मद्वत्सल वत्स रावण महत्पश्यापि ते सङ्कट
वत्से केकसि हा हताऽसि न चिरात्रीन् पुत्रकान् द्रक्ष्यसि ॥

—**महावीरचरित**, ४, ११

हा वत्स खरदूषण आदि ! मै पापी तुम्हारे मरण की ही बात सोचा करता हूँ, हा वत्स विभीषण ! कार्यवश तुम्हे भी छोड देना पड रहा है। हा मेरे स्नेही रावण ! तुम्हारे ऊपर बहुत बडा सकट देख रहा हूँ । हा बेटी केकसि ! तुम थोडे ही दिनो मे अपने तीन पुत्रो से हाथ धो बैठोगी ।

[७४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ६-१४।

[७५] असशय क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मन ।
सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, १६

यह (शकुन्तला) नि सन्देह क्षत्रिय के ग्रहण के योग्य है, क्योकि मेरा साधु मन इसमे साभिलाष है। किसी सन्दिग्ध वस्तु के प्रति सज्जनो के अन्त करण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती है । तो भी मै इसे यथार्थतया जान ही लूँगा ।

[७६] यन्मा विधेयविषये स भवान्नियुङ्क्ते
स्नेहस्य तत्फलमसौ प्रणयस्य सार ।
प्राणैस्तपोभिरथवाऽभिमत मदीयै
कृत्य घटेत सुहृदो यदि तत्कृत स्यात् ॥

—**मालतीमाधव**, १, १०

भूरिवसु मुझे मालती और माधव के विवाहरूप कर्तव्य कार्य मे जो नियुक्त करते है, वह स्नेह का फल है और प्रणय का सार है । मेरे प्राणो से अथवा तपस्याओ से मित्र का अभीष्ट कार्य सम्पन्न हो तो यह श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न होगा ।

[७७] प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या-
न्वव्रेऽन्यतो यदभय स भवानहयु ।
तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य
हा वत्स शान्तमथवा दशकन्धरोऽसि ॥

—**अनर्घराघव**, ४, ६

ब्रह्मा के प्रसन्न होने पर मर्त्यों के प्रति आस्था नही रखने वाले उस

अहकारी रावण ने जो मर्त्येतर जन से अभय याचना की वह बात आज हमारे हृदय मे चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बात को, तुम रावण हो।

[७८] भव हृदय साभिलाषं सप्रति सन्देहनिर्णयो जात ।
आशकसे यदग्नि तदिद स्पर्शक्षम रत्नम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २४

हे हृदय ! तुम साभिलाष बनो, अब सन्देह का भी निर्णय हो गया है जिसे तू अग्नि समझता था, वह तो स्पर्श करने योग्य रत्न है।

[७९] तुलना—**दशरूपक**, १, २२-२३।

[८०] तुलना—**दशरूपक**, १, २३।

[८१] अहो अअ सौ राआ उदअणौणाम जस्स अह तादेण दिण्णा। (दीर्घनिश्वस्य) ता परप्पेसणदूसिद वि मै सरीर दाणि बहुमद सवुत्तम् ॥ (**रत्नावली**, प्रथम अक)

तो क्या ये वे ही उदयन है जिनके लिए मै पिताजी द्वारा दी गई (लम्बी सास लेकर) यद्यपि मे इस समय दासी हूँ, दूसरे का आदेश मानते रहने से हमारा जीवन दूषित हो रहा है, फिर भी इनके दर्शन हो जाने से मुझे उस जीवन का लोभ हो आया है।

[८२] तुलना—**दशरूपक**, १, २५-२६।

[८३] तुलना—**दशरूपक**, १, ३०-३५।

[८४] शरीर क्षाम स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे,
भवेत्सास्र चक्षु क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहित
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परिताप व्रजसि किम् ॥

—**मालविकाग्निमित्र**, ३, १

प्रिया का आलिंगन न करने से मेरे शरीर का सूखना भी ठीक है और उसे क्षणभर भी देख न पाने की चिन्ता मे आँखो का डबडबाये रहना भी ठीक है, पर मेरे हृदय ! यह तो बताओ कि उस मृगनयनी और मेरा जी ठण्डा करने वाली प्रिया के सदा पास रहते हुए भी तुम क्यो इस प्रकार गले जा रहे हो।

[८५] तुलना—**दशरूपक**, १, ३६-४२।

[८६] तीर्णे भीष्ममहार्णवे कथमपि द्रोणानले निर्वृते,
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम्
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशिष्टे जये,
सर्वे जीवितसशय वयममी वाचा समारोपिता ॥

—**वेणीसहार** ६, १

भीष्म-पितामह रूपी समुद्र पार कर गए। द्रोणाचार्य रूपी आग बुझ गई। कर्णरूपी उल्वणविषयुक्त महासर्प शान्त हो चुका। शल्य भी स्वर्लोक का अतिथि बन गया। अतएव विजय लाभ अत्यन्त सन्निकट रह गया है (तो भी) साहस-प्रेमी भीमसेन ने प्रतिज्ञा से हम सब लोगो के जीवन को सकटापन्न कर दिया है।

[८७] तुलना—**दशरूपक**, १, ४३-४८।

[८८] तुलना—**दशरूपक**, १, ४८-५४ ।

[८९] चौसठ सन्ध्यङ्ग ।

सन्धि-नाम		अग नाम					
१ मुख	१	उपक्षेप	२	परिकर	३	परिन्यास	
	४	विलोभन	५	युक्ति	६	प्राप्ति	
	७	समाधान	८	विधान	९	परिभावन	
	१०	उद्भेद	११	करण	१२	भेद	=१२
२ प्रतिमुख	१३	विलास	१४	परिसर्प	१५	विधूत	
	१६	शम	१७	नर्म	१८	नर्मद्युति	
	१९	प्रगमन	२०	निरोध	२१	पर्युपासन	
	२२	पुष्प	२३	वज्र	२४	उपन्यास	
	२५	वर्णसहार					=१३
३ गर्भ	२६	अभूताहरण	२७	मार्ग	२८	रूप	
	२९	उदाहरण	३०	क्रम	३१	सग्रह	
	३२	अनुमान	३३	तोटक	३४	अधिबल	
	३५	उद्वेग	३६	सभ्रम	३७	आक्षेप	=१२
४ अवमर्श	३८	अपवाद	३९	सफेट	४०	विद्रव	
	४१	द्रव	४२	शक्ति	४३	द्युति	
	४४	प्रसग	४५	छलन	४६	व्यवसाय	
	४७	विरोधन	४८	प्ररोचना	४९	विचलन	
	५०	आदान					=१३
५ निर्वहण	५१	सन्धि	५२	विबोध	५३	ग्रथन	
	५४	निर्णय	५५	परिभाषण	५६	प्रसाद	
	५७	आनन्द	५८	समय	५९	कृति	
	६०	भाषा	६१	उपगूहन	६२	पूर्वभाग	
	६३	उपसहार	६४	प्रशस्ति			=१४
						महायोग	=६४

[९०] तुलना—**दशरूपक**, १, ५४ ।

[९१] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, १२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ५०४ तथा **नाट्यशास्त्र**, २२, ५२-५७ ।

[९२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ४८-५१ ।

[९३] तुलना—**दशरूपक**, १, ५६-५७ ।

[९४] तुलना—**दशरूपक**, १, ५७-५८ ।

[९५] तुलना—**दशरूपक**, १, ५९ ।

[९६] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६३ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, ३७ ।

[९७] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ३८ ।

[९८] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, २८, ३०, ३२ ।

[९९] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, ३३ ।

[१००] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, २७, ३४ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ ।
[१०१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ३५, ३४ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ ।
[१०२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, २०, ३८ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ ।
[१०३] यहाँ 'सिन्धुराजस्य' पाठ ठीक रहेगा ।
[१०४] तुलना—अन्तर्जवनिकासस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना । —**दशरूपक**, १, ६१
[१०५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, १०६ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४३ ।
[१०६] एकैकानि शिरासि राक्षसचमूचक्रस्य हुत्वा निजे
तेजोऽग्नौ दशकण्ठमूर्धभिरथो निर्माय पूर्णाहुतिम् ।
अद्य स्वस्त्ययन समाप्य जगतो लङ्केन्द्रबन्दीवृता
मीतामप्यवलोक्य शोकरभसव्रीडाजडो राघव ॥

—**अनर्घराघव**, ७, २

राम ने राक्षसो की सेना के मस्तको द्वारा एक-एक करके प्रतापाग्नि मे होम किया, जिसमे रावण के दशमस्तको की पूर्णाहुति पडी, आज उसका स्वस्त्ययन समाप्त हुआ, जिससे जगत् का कल्याण होगा, राम ने इस प्रकार सभी कार्य सम्पन्न करके रावण द्वारा बन्दी बनाई गई सीता को भी देखा, इस ममय उनके हृदय मे शोक, आनन्द और लज्जा की भावना से जडता सी पैदा हो रही है ।

[१०७] तुलना—अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

—**दशरूपक**, १, ६२

[१०८] **अवलोकिता**—भअवदि, सा दाणि सौदामिनी समासादिअअच्चरि-अमन्तसिद्धिप्पहवा सिरिपव्वदे कावालिअव्वद धरिदि ।
कामन्दकी—कुत पुनरिय वार्ता ?
अवलोकिता—'अत्थि एत्थ णअरीए महामसाणप्पदेसे कराला नाम चामुण्डा ।' इत्यादि । —**मालतीमाधव**, प्रथम अक
अवलोकिता—भगवति ! इस समय आश्चर्यजनक मन्त्रसिद्धि के प्रभाव को प्राप्त करने वाली वे सौदामिनी श्रीपर्वत मे कापालिक व्रत का अवलम्बन कर रही है ।
कामन्दकी—कहाँ से यह खबर मिली है ?
अवलोकिता—इस शहर मे महाश्मशान के स्थान मे कराला नाम की चामुण्डा (देवी) है ।' इत्यादि ।
[१०९] तुलना—**दशरूपक**, १, ६२ ।
[११०] तुलना—**दशरूपक**, १, ६३ ।
[१११] तुलना—**शृगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६३ ।
[११२] तुलना—**दशरूपक**, १, ६४-६८ ।

अष्टम अधिकार

[१] तुलना—**दशरूपक**, ३, १ ।
[२] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १८१ ।

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १, ११६, २१, ११८ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४ ।

[४] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४ ।

[५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १२ ।

[६] यहाँ 'वञ्चनात्' पाठ ठीक रहेगा ।

[७] भोज ने श्रृंगार-प्रकाश मे लक्षणो की दो तालिकाएँ प्रस्तुत की है तथा इनकी चौसठ (६४) कुल सख्या बताई है जिनमे नाट्यालकार भी विद्यमान है (**श्रृगार-प्रकाश**, पृष्ठ ५३०-५४६, २२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ७८१)। वस्तुस्थिति यह है कि शारदातनय ने भी भोज का अनुकरण किया है और नाट्यालकारो मे लक्षणो का समावेश किया है तथा इनकी चौसठ (६४) कुल सख्या बतलाई है, लेकिन उन्होने इन (६४) मे से केवल ५४ का नामोल्लेख किया है साथ ही ५४ के ही लक्षण प्रस्तुत किए है अत बात अस्पष्ट ही रहती है। सागरनन्दी ने तैंतीस नाट्यालकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किए है (**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १७२-१८१)। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी तैंतीस नाट्यालकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किए है (**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३४४-३५२)।

[८] विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूत् ध्रुवम् ।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदु स्थित ॥

—**रत्नावली**, २, १०

विधाता इस नायिका के अद्भुत पूर्ण चन्द्ररूप मुख का निर्माण करके निश्चित रूप से अपने आश्रयभूत कमल के सकुचित हो जाने से उलझन मे पड गये होगे ।

[९] शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीप गम ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधय ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ४, १७

गुरुजनो की सेवा करना, पति द्वारा उपेक्षित होने पर भी क्रोध से उसके विपरीत कार्य न करना, अपनी सौतो के साथ प्रिय सखी के समान व्यवहार करना, अपने सौभाग्य के समय गर्वित न होना, परिचारिका-वर्ग के प्रति अत्यन्त उदार रहना इस प्रकार की युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती है, और इसके विपरीत प्रकार की युवतियाँ अपने कुल के व्यक्तियो के लिए मान-सिक पीड़ा उत्पन्न करने वाली होती है ।

[१०] साधु अङ्गराज, साधु । कथमन्यथा—
दत्त्वाऽभय सोऽतिरथो वध्यमान किरीटिना ।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैव चैत्कथमन्यथा ॥ —**वेणीसंहार**, ३, २८

'द्रोण अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते है'—ऐसा कहते हुए कर्ण के प्रति दुर्योधन की उक्ति है कि साधुअङ्गराज ! साधु अन्यथा कैसे हो सकता है—अतिरथ उन्होने अर्जुन के द्वारा वध किए जाते हुए जयद्रथ को अभयदान देकर उपेक्षा की । यदि यह बात न होती तो फिर ऐसा क्यो किया ?

[११] **वासवदत्ता**—कचनमाले त तहा चलणपडिदमय्यउत्तमवधीरिअ आअच्छतीए मए अदिणिठ्ठुर एन्नमए किद इति ।' —**रत्नावली**, तृतीय अक

वासवदत्ता—कचनमाले, मै पैरो पर पडे हुए आर्यपुत्र की अवज्ञा करके चली आई, यह मेरी बडी निर्दयता हुई ।

[१२] उत्पत्तिर्जमदग्नित स भगवान्देव पिनाकी गुरु
वीर्य यत्तु न तद्गिरा पथि ननु व्यक्त हि तत्कर्मभि ।
त्यागस्सप्त समुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि—
र्ब्रह्मक्षत्रतपोनिधेर्भगवत कि वा न लोकोत्तरम् ।।

—**महावीरचरित** २, ३६

जमदग्नि आपके जन्मदाता है, महादेव गुरु है, आपका जो पराक्रम है वह वचनो से नही कहा जा सकता है, सप्त-समुद्र-वेष्टित इस पृथ्वी का निर्व्याज दान आपका त्याग है, क्षात्र और ब्रह्म तेज के निधानभूत आपका सब कुछ लोकोत्तर ही है ।

[१३] **पक्ष**—

जिसमे साध्य का सन्देह हो वह 'पक्ष' है ('सन्दिग्धसाध्यवान पक्ष' —**तर्क-सग्रह**, पृष्ठ ४३) । जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर्वत मे साध्य का सन्देह हुआ अत 'पर्वत' पक्ष है । जिसका सन्देह हो वह साध्य कहलाता है, इसलिए 'वह्नि' साध्य है । जिससे साध्य का निश्चय किया जाय वह 'हेतु' कहलाता है । इसलिए 'धूम' हेतु है ।

[१४] **चेटी**—अइ जण्णसेणि पञ्च गामा पथीअन्ति त्ति सुणीअदि कीस दाणी वि दे कैसाणसजभीअन्ति' ।

—**वेणीसहार**, प्रथम अक

चेटी—अये महारानी द्रौपदी, सुना जाता है पाँच गाँव लेकर सन्धि की बातचीत की गई है, अब भी आपने अपने केशपाशो का सयमन नही किया है ।

[१५] **वसुभूति**—(सागरिका निर्वर्ण्य) सुसदृशीय राजपुत्र्या ।
बाभ्रव्य—'ममाप्येतदेव मनसि वर्तते ।' —**रत्नावली**, चतुर्थ अक
वसुभूति—(सागरिका को देखकर) यह राजकुमारी सी दीखती है ।
बाभ्रव्य—मै भी ऐसा ही समझता हूँ ।

[१६] वृद्धास्ते न विचारणीय चरितास्तिष्ठन्तु हुँ वर्तते,
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने,
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जन ।।

—**उत्तररामचरित**, ५, ३४

वे वयोवृद्ध है, अत उनके चरित्र पर टीका-टिप्पणी करना उचित नही । 'सुन्द' की स्त्री (ताडका) को मारने पर भी उनका यश कुण्ठित नही हुआ, वे आज भी महान् ही हैं । 'खर' के साथ युद्ध करते समय वे जो तीन पग पीछे हटे थे अथवा इन्द्र-पुत्र (वाली) को मारने मे उन्होने जो कौशल किया था, उससे भी ससार परिचित है ।

[१७] **कञ्चुकी**—(साक्रन्दम्) हा देव पाण्डो, तव सुतानामजातशत्रुभीमार्जुननकुलसहदेवानामय दारुण परिणाम । हा देवि कुन्ति भोजराजभवनपताके ।

—**वेणीसंहार,** षष्ठ अक

कञ्चुकी—(रोकर) हाय महाराज पाण्डु ! आपके पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव की यह दयनीय दशा । हाय महारानी कुन्ती भोजराज के महल की ध्वजा ।

[१८] प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया ।
ध्यान रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ सयमो,
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिस्तपस्यन्त्यमी ।।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** ७, १२

कल्पवृक्ष-वन मे रहते हुए भी ऋषि उतनी ही वायु का सेवन करते है जितनी जीवन-धारण के लिए पर्याप्त है । सुनहरे कमल के पराग से कुछ-कुछ पीत जल मे धर्म की दृष्टि से आवश्यक स्नान करते है (जलक्रीडा नही) । रत्नशिलाओ पर बैठकर समाधि लगा रहे है, अप्सराओ के सामीप्य मे इन्द्रियनिगृह का अभ्यास कर रहे है । अन्य मुनिजन जिसे तपस्या से प्राप्त करना चाहते है, उनके बीच मे रहकर ये तपस्या करते हैं ।

[१९] **सुसगता**—सहि ! जस्स किदे तुम आगदा सो अअ ते पुरदो चिट्ठादि ।
सागरिका—(सासूयम्) सुसगदे कस्स किदे अह एत्थ आगदा ।
सुसंगता—(विहस्य) अइ अण्णसङ्किदेण चित्तफल अस्स । ता गेण्ह एदम् ।'

—**रत्नावली,** द्वितीय अक

सुसगता—सखि, जिसके लिए तू आयी थी वह तो तुम्हारे सामने ही है ।
सागरिका—(भौंहे टेढी करके) सुसगता, मैं किसके लिए यहाँ आयी थी ?
सुसगता—(हँसकर) तुम्हे तो सब जगह दूसरी ही शका रहती है । चित्रफलक के लिए आई थी, ले लो वह ।

[२०] विधाता भद्र नो वितरतु मनोज्ञाय विधये,
विधेयासुर्देवा परमरमणीया परिणतिम् ।
कृतार्था भूयास प्रियसुहृदपत्योपनयत
प्रयत्न कृत्स्नोऽय फलतु, शिवतातिश्च भवतु ।।

—**मालतीमाधव,** ६, ७

ब्रह्मा मनोहर विधान के लिए हम लोगो को कल्याण वितरण करे । देवतागण अतिशय सुन्दर परिणाम को प्रकट करे । प्रिय मित्रो की सन्तानो के विवाह से मै कृतकृत्य हो जाऊँ । यह सम्पूर्ण प्रयत्न फलित और कल्याणकारी हो ।

[२१] कुवलयदलस्निग्धश्याम शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषद पुण्यश्रीक श्रियैव सभाजयन् ।
पुनरपि शिशुर्भूतो वत्स स मे रघुनन्दनो,
झटिति कुरुते दृष्ट कोऽय दृशोरमृताञ्जनम् ?

—**उत्तररामचरित,** ४, १९

नीलकमल-दल के समान मसृण और श्याम, काक पक्षो से सुशोभित, अलौकिक शोभा से सम्पन्न शरीर की क्रान्ति से ही ब्रह्मचारियो की मण्डली को अलकृत करने वाला यह कौन है ? जो कि देखने पर फिर से शिशु-रूप-धारी राम की भाँति मेरी आँखो मे अमृतमय अञ्जन को लेप सा कर रहा है ?

[२२] **दुष्यन्त**—सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम ।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, प्रथम अक

दुष्यन्त—सूत ! तपोवन विनीत वेश से प्रवेश करने योग्य होते हैं ।

[२३] (प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

तापसी—(सव्वदमण ! सउदलावण्ण पेक्ख । (सर्वदमन, शकुन्तलावण्य प्रेक्षस्व)

बाल—(सदृष्टिक्षेपम्) कहि वामे अञ्जू ?

उभे—णाम सारिस्सेण वचिदो माऽवच्छलो ।

राजा—(आत्मगतम्) किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या ।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, सप्तम अक

(हाथ मे मिट्टी का खिलौना लिए आकर)

तापसी—सर्वदमन । शकुन्तल-लावण्य (पक्षी का सौन्दर्य) तो देखो ।

बालक—(इधर-उधर देखते हुए) मेरी माता कहाँ है ?

दोनो—माँ का लाडला नाम के सादृश्य से ठगा गया ।

राजा—क्या शकुन्तला इसकी माता का नाम है ।

[२४] **राजा**—(अञ्जलिबध्वा) प्रिय वासवदत्ते प्रसीदप्रसीद ।

वासवदत्ता—अञ्जउत्त मा एव्व भण । अण्णगदाइ इमाइ अक्खराइ ।

विदूषक—भोदि महाणुभावा क्खु तुमम् । ताक्खमी अदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स ।

वासवदत्ता—अज्ज वसन्तअण बढमसगमे विग्ध करन्तीए मए एव्व सदस्य अपरद्धम् ।'

—**रत्नावली**, तृतीय अक

राजा—(हाथ जोडकर) प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो, यह अक्षर किसी और के लिए है ।

विदूषक—देवि, आप बडी उदार हृदया है, मेरे मित्र का यह पहला अपराध क्षमा करे ।

वासवदत्ता—आर्य वसन्तक, अपराध तो मैने ही किया कि इनके प्रथम सगम मे विघ्न डाल दिया ।

[२५] अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै—

रत्नाविद्ध रत्न मधुनवमनास्वादितरसम् ।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, १०

उसका अनिन्द्य सौन्दर्य, न सूँघे हुए पुष्प, नखो से न काटे हुए पल्लव, बिना छिदे रत्न, जिसके रस का स्वाद नही लिया गया ऐसे नूतन मधु तथा

बिना भोगे हुए अक्षय पुण्य-फल के समान है। न जाने विधाता इसका उप-भोक्ता किसे बनायेगा ?

[२६] **लव**—(स्वगतम्) ईदृशो मा प्रत्यभीषामकारणस्नेह । मया पुनरेभ्य एवाभि-द्रोग्धुमज्ञेनायुधपरिग्रह कृत्त । (प्रकाशम्) मृष्यन्ता त्विदानी लवस्य बालिशता तातपादा ।

रामः—किमपराद्ध वत्सेन ?

चन्द्रकेतुः—अश्वानुयात्रिकेभ्यस्तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन ।

रामः—नन्वयमलकार क्षत्रियस्य। —**उत्तररामचरित,** षष्ठ अक

लव—(स्वय ही) इनका मुझ पर ऐसा अहेतुक स्नेह है। परन्तु मन्दमति मैने इनसे ही द्रोह करने के लिए शस्त्र-ग्रहण कर लिया था। (प्रकाश मे) श्रद्धेय पिताजी ! अब आप लव की मूर्खता को क्षमा कर दीजिए।

राम—वत्स ने (तुमने) क्या अपराध कर दिया ?

चन्द्रकेतु—'अश्व' के पीछे चलने वाले रक्षको से आपके प्रताप की महिमा सुनकर इन्होने वीरो के योग्य आचरण किया है।

राम—अरे ! यह तो क्षत्रिय का आभूषण है।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ५०-५३ ।

[२८] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ६३-६८ ।

[२९] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ५८-६१, ५५ ।

[३०] तुलना—**दशरूपक,** ३, ३ ।

[३१] प्रीतिर्नाम सदस्याना प्रिया रङ्गोपजीविन ।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् ॥

—**अनर्घराघव,** १, ३

[३२] मत्पक्षा मधुरगिर प्रसाधिताशा मदोद्धतारभा ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्रा कालवशान्मेदिनी पृष्ठे ॥ —**वेणीसहार,** १, ६

[३३] द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥

—**रत्नावली,** १, ६

[३४] तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** १, ५

[३५] तुलना—**दशरूपक,** ३, ४ ।

[३६] तुलना—**दशरूपक,** ३, ५ ।

[३७] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २२, २५ ।

[३८] तुलना—उन्मुखीकरण तत्र प्रशसात प्ररोचना। —**दशरूपक,** ३, ६

[३९] श्रीहर्षो निपुण कवि परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरित नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते. पद किं पुन—
मद्भाग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणाना गण. ॥

—**रत्नावली,** १, ५

श्री हर्ष एक निपुण कवि है, यह सभा भी गुणज्ञ है, उदयन का चरित्र हृदयग्राही है, और हम लोग अभिनय के पारदर्शी हैं। इस तरह इसमे एक भी गुण का होना अभीष्ट सिद्धि का कारण हो सकता है, किन्तु हमारे भाग्य से तो यहाँ समस्त गुण एकत्र रूप मे प्राप्त हो रहे है।

[४०] मद्वर्ग्या रसपाठगीतिगतिपु प्रत्येकमुत्कर्षिणौ
मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरा व्यूतयः।
वीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपति काव्यार्थबीज मुनि—
र्वाल्मीकि फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिर ॥

—**अनर्घराघव**, १, ८

मेरे सहकर्मी रससृष्टि, पदपाठ, गीति-कला, सभी नाट्यागो मे एक से एक बढकर सिद्धहस्त है, मौद्गल्य कवि मुरारि की कविता गम्भीर मधुर उद्गारशालिनी है, वाक्य के नायक वीर तथा उदात्तगुण-मण्डित राम ही हैं, जिनके चरित्र की प्रशसा मे वाल्मीकि ने दिव्य वाणी का प्रयोग सफल किया है।

[४१] तुलना—**दशरूपक** ३, ७-८।

[४२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २२, २८ २९ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ११९।

[४३] तुलना—**दशरूपक** ३, ९।

[४४] क्रूरग्रह सकेतुश्चन्द्र सपूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्
(नेपथ्ये)
आ क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति ?
रक्षत्येन तु बुधयोग ॥ —**मुद्राराक्षस**, १, ६

[४५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ११।

[४६] तवस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत।
एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरहसा ॥ —**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, ५

तुम्हारे मनोहारी गीतराग ने मेरा मन बलपूर्वक वैसे ही हरण कर लिया है, जैसे राजा दुष्यन्त को यह अति तीव्रगामी हरिण दूर ले आया है।

[४७] तुलना—**दशरूपक**, ३, १३-१४।

[४८] **विदूषकः**—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुम पि दूभिज्जसे किं पुरीसो आदु इत्थिअत्ति।
राजा—सखे!
मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते।
स्नेहस्य ललितो मार्ग काम इत्यमिधीयते ॥
विदूषकः—एव पि ण जाणे।
राजा—वयस्य इच्छाप्रभव स।
विदूषकः—किं जो ज इच्छदि सो त कामेदित्ति।
राजा—अथ किम्।

—**विक्रमोर्वशीय** (?) द्रष्टव्य—**दशरूपक**, ३, १४

[४९] तुलना—**दशरूपक**, ३, १४-१५।

[५०] कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावना ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यध,
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम् ।।
—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ६, १७

[५१] तुलना—**दशरूपक**, ३, १५ ।
[५२] तुलना—**दशरूपक**, ३, १६ ।
[५३] तुलना—**दशरूपक**, ३, १७ ।
[५४] तुलना—**दशरूपक**, ३, १७ ।
[५५] त्व जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीय
त्व कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे ।
इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा
तामेव शान्तमथवा किमत परेण ॥
—**उत्तररामचरित**, ३, ३६

[५६] तुलना—**दशरूपक**, ३, १८ ।
[५७] तुलना—**दशरूपक**, ३, १८ ।
[५८] तुलना—रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या तत्रावस्यन्दित हि तत् ।
—**दशरूपक**, ३, १९

[५९] तुलना—**दशरूपक**, ३, १९ ।
[६०] **चरः**—हहो ब्राह्मण, मा कुप्प । किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि कि पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति ।
शिष्यः—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि ।
चरः—यदि दे उवज्झाओ सव्व जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति ।
शिष्यः—किमनेन ज्ञातेन भवति ।
+ + +
चाणक्य—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाज्जनाभि ।
—**मुद्राराक्षस**, प्रथम अक

[६१] तुलना—असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तर । —**दशरूपक**, ३, २०
[६२] तुलना—**दशरूपक**, ३, २० ।
[६३] (मालविका निर्गन्तुमिच्छति)
विदूषकः—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि ।
गणदासः—(विदूषक प्रति) आर्य उच्यता यस्त्वया क्रमभेदो लक्षित ।
विदूषकः—पठय पच्चूसे ब्रह्मणस्स पूआ भोदि साइए लङ्घिदा ।
(मालविका स्मयते)
—**मालविकाग्निमित्र**, द्वितीय अक

[६४] तुलना—**दशरूपक**, ३, २१ ।
[६५] कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूर पीठदीर्घालया
देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किचिदाचक्ष्महे ।

यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिद विद्यागृह यच्चते,
नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेतत्किमाचार्यकम् ।।

—**अनर्घराघव**, ७, ४३

[६६] मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग्विनोद कुत ?

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, ५

[६७] तुलना—**दशरूपक**, ३, २१-२५ ।
[६८] तुलना—**दशरूपक** , ३, २८-३० ।
[६९] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३०-३१ ।
[७०] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १८ ।
[७१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १४ ।
[७२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १६ ।
[७३] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३१-३२ ।
[७४] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३२-३३ ।
[७५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३४-३६ ।
[७६] तुलना—पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।

—**दशरूपक**, ३, ३७

[७७] तुलना—नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ ३ ।
[७८] (क) यह नखकुट्ट का मत प्रतीत होता है ।
(ख) तुलना—नखकुट्टस्त्वाह—
'दिव्यमानुषसयोगस्तोटक नाटकार्थम् इति ।

—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २६२

[७९] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३९-४० ।
[८०] तुलना—**दशरूपक**, ५, ४१-४२ ।
[८१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ४८ ।
[८२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ५३ ।
[८३] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६३ ।
[८४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ५२ ।
[८५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ४३ ।
[८६] तुलना—**दशरूपक**, ३, ४९-५१ ।
[८७] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६५ ।
[८८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १४२ ।
[८९] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १७७ ।
[९०] तुलना—**दशरूपक**, ३, ६५ ।
[९१] भरत ने मुहूर्त्त के अर्द्धांश को एक 'नाडिका' कहा है ।
ज्ञेय तु नाडिकाख्यं मान कालस्य यन्मुहूर्तार्धम् ।

—**नाट्यशास्त्र**, २०, ६६

जबकि शारदातनय मुहूर्त के चतुर्थाश अर्थात् दो घडी को एक 'नाडिका' कहते है। एक नाडिका २४ मिनट की होती है।

[६२] तुलना—**दशरूपक**, ३, ६६।

[६३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ७०।

[६४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ७६।

[६५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ९७-९८।

[६६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ९८-१००।

[६७] तुलना—**दशरूपक**, ३, ७६।

नवम अधिकार

[१] तुलना—गोष्ठे यत्तु विहरतश्चेष्टितमिह कैटभद्विष किञ्चित्।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति॥
—**शृगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८

[२] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २८८।

[३] विश्वनाथ ने शारदातनय के द्वारा कहे गये 'डोम्बी' के लक्षण एव उदाहरण को 'भाणिका' नामक उपरूपक मे उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३७०)।

[४] विश्वनाथ ने 'श्रीगदित' के दो भेद किये है, जिनमे पहले भेद का लक्षण अन्यत्र कही नही प्राप्त होता अपितु दूसरे भेद का लक्षण शृगारप्रकाश मे मिलता है। तुलना—

तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन्कुलाँगनापत्यु।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्या॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये ता क्रमादुपलभन्ते।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनय॥
—**शृगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६६

शारदातनय ने एक ही भेद स्वीकार किया है और उसमे उपरोक्त दोनो भेदो के लक्षणो को समाविष्ट कर दिया है। (तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६८)।

[५] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६६-४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६६।

[६] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६६-६७।

[७] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७।

[८] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६७।

[९] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७-४६८।

[१०] तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २९८।

[११] छलिक—

छान्दोग्य उपनिषद् मे सामवेद की गायन विधि को 'छालिक्य' नाम

नाम से कहा गया है। **हरिवशपुराण** (२, ८६, ८३-८४) मे उल्लेख है कि छालिक्य का सर्वप्रथम प्रचलन देव, गन्धर्व तथा ऋषियो ने किया। श्रीकृष्ण तथा प्रद्युम्न ने इसे भूलोक मे प्रचलित किया। भूलोक मे छालिक्य के प्रति अगाध-रुचि देखकर नाटककारो ने इसे अपनी कृतियो का विषय बनाया।

कालिदास ने इसे 'छलिक' नाम से कहा है। मालविकाग्निमित्र मे इस 'छलिक' के विषय मे खूब चर्चा की गई है। बकुलकलिका कहती है—

'आणत्तम्हि देवीए धारणीए। अइरप्पउत्तोवदेस छलिअ णाम णट्ठअ अन्दरेण कीरिसी मालविअत्ति णट्टाअरिअ अज्जगणदास पुच्छिदु। ता दाव सगीत साल गच्छम्हि। —**मालविकाग्निमित्र**, प्रथम अक

'महारानी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदास से पूछो कि मालविका ने जो बहुत दिनो से 'छलिक' नाम का नाट्य सीखना आरम्भ किया था उसे वह कहाँ तक सीख पाई है तो अब सगीतशाला को चलूँ।'

इसी नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि 'छलिक' को शर्मिष्ठा ने बनाया था, जो चौपदी होता है और उसका अभिनय बहुत कठिन होता है—

'शर्मिष्ठाया कृति चतुष्पादोत्थ छलिक दुस्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।'

—**मालविकाग्निमित्र**, प्रथम अक

पुन कालिदास ने 'छलिक' के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है—

अगरन्तर्निहितवचनै सूचित सम्यगर्थ
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्व रसेषु।
शाखायोनिमृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भाव नुदति विषयाद्रागबध स एव॥

—**मालविकाग्निमित्र**, २, ८

परिव्राजिका कहती है कि मैने तो जो देखा उसमे कही दोष दिखाई ही नही दिया। क्योकि गीत की सब बातो का ठीक-ठाक अर्थ अगो के अभिनय से भलीभाँति दिखा दिया गया है। इनके पैर भी लय से साथ-साथ चल रहे थे। फिर गीत के रस मे भी ये तन्मय हो गई थी और इनके नृत्य ने भी हमे प्रेम मे मग्न कर दिया क्योकि ताल के साथ होने वाले अभिनय मे अनेक प्रकार से अग चलाकर जो भाव दिखाये जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नही पाता था।

इस प्रकार हरिवश का छालिक्य गान्धर्व सगीत-वाद्य-ताल प्रधान है और उसके उद्गाता स्वय श्रीकृष्ण हैं। जबकि कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्र नाटक का 'छलिक' विशुद्ध अभिनय प्रधान है इसकी अधिष्ठातृ शर्मिष्ठा है। इसमे ताल-लय-गीत का समावेश है तथा अग-सचालन द्वारा भाव की अभिव्यजना कही गई है (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण**, भूमिका, पृष्ठ १४०-१४१)।

[१२] (क) भोज ने 'प्रेक्षणक' के दो भेद किये है—प्रेक्षणक और नर्त्तनक।

यस्य पदार्थाभिनय ललितलय सदसि नर्तकी कुरुते।
तन्नर्तनक शम्यालास्यञ्छलिकद्विपद्यादि॥

रथ्यासमाजचत्वरसुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभि ।
पात्रविशेषैर्यत्तत्प्रेक्षणक कामदहनादि ॥

—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८

लेकिन शारदातनय के अनुसार ये दोनो एक ही है। इन्होने शीर्षक मे 'प्रेक्षणक' और लक्षण मे 'नर्तनक' शब्द का प्रयोग किया है।

(ख) तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ६१।

(ग) विश्वनाथ 'प्रेक्षणक' को 'प्रेखण' कहते है (द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६७)।

[१३] अन्य के मत मे जहाँ आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति मण्डल बनाकर 'पिण्डीबध' के अनुसार नृत्य करते है, उसे 'रासक' कहा जाता है।

अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायका ।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्त रासक स्मृतम् ॥

—(श्री रासपञ्चाध्यायी—**सांस्कृतिक अध्ययन**, श्री रसिकविहारी जोशी, भूमिका, पृष्ठ १)

जबकि शारदातनय रास मे सोलह, बारह या आठ नृत्यपरायण नायिकाये स्वीकार करते है।

[१४] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ६३।

[१५] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ६४।

[१६] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८-४६९।

[१७] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ५८।

[१८] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ६५।

[१९] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६६।

[२०] तुलना—मण्डलेन तु यत्स्त्रीणा नृत्त हल्लीसक तु तत् ।
तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणा यथा हरि ॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, २, १६०, **शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६८ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६०।

[२१] (क) **हल्लीसक**—

हरिवश-पुराण मे 'हल्लीसक' शब्द का प्रयोग रास के हेतु प्राप्त होता है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका मे हल्लीसक का अर्थ रास किया है।

'हल्लीसकक्रीडन एकस्यैव पुस बहुभि स्त्रीभि क्रीडन सैव रासक्रीडा।'

—**हरिवशपुराण** २, २०, ३५ नीलकण्ठ।

एक पुरुष की अनेक स्त्रियो के साथ क्रीडा ही रासक्रीडा कही जाती है।

भोज के अनुसार मण्डलाकार रूप मे जिस नृत्य का आयोजन होता है, उसे 'हल्लीसक' कहते हैं। उसमे एक नेता होता है, जैसे कि गोपिकाओ मे श्रीकृष्ण।

मण्डलेन तु यत्स्त्रीणा नृत्त हल्लीसक तु तत् ।
तत्र नेता भवेदेकोगोपस्त्रीणा यथा हरि ॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, २, १६०

(श्रीरामपञ्चाध्यायी—**सास्कृतिक अध्ययन**, श्रीरसिकविहारी जोशी, भूमिका, पृष्ठ १)।

शारदातनय ने भोज के 'हल्लीसक' के लक्षण को 'रासक' के लक्षण मे उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि शारदातनय 'हल्लीसक' और 'रास' मे प्राचीन परम्परा के अनुसार कोई अन्तर नही करते है। जो भी हो, यहाँ शारदातनय ने 'हल्लीसक' को 'रास' से भिन्न ही स्वीकार किया है।

(ख) तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३७० तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २९९।

[२२] (क) तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ३०३ तथा **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६९।

(ख) नाटकलक्षणरत्नकोश मे द्वितीय अक मे दो नाडिकाएँ मानी गई है। तीसरे-अक मे नाटकलक्षणरत्नकोश मे दस नाडिकाएँ तथा साहित्यदर्पण मे ६ नाडिकाएँ मानी गई है।

[२३] तुलना—**श्रृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६६ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ५७।

[२४] तुलना—**श्रृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६९।

[२५] तुलना—**श्रृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६९।

[२६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १८, ३१-६०।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १९, ३-२९।

[२८] सभूयेव सुखानि चेतसि पर भूमानमातन्वते
यत्रालोकपथावतारिणि रति प्रस्तौति नेत्रोत्सव।
यद्बालेन्दुकलोच्चयादुपचित सारैरिवोत्पादित
तत्पश्येमनङ्गमङ्गलगृह भूयोऽपि तस्या मुखम्॥

—**मालतीमाधव**, ५, ९

जिस दृष्टिमार्ग मे जाने पर समस्त आनन्द इकट्ठे होने के सदृश्य अतिशय बाहुल्य का विस्तार करते है, जिसके दर्शन से उत्पन्न नेत्रोत्सव प्रिया मे अभिलाषा रूप चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है, जो बालचन्द्र के कला-समूह से सग्रहीत स्थिर अशो से उत्पादित के सदृश है, कामदेव का मगलगृह-स्वरूप प्रिया का वह मुख फिर भी देखलूँ।

[२९] यत्पाणिर्न निवारितो निवसनग्रथि समुद्ग्रन्थयन्
भ्रूभेदो न कृतो मनागपि मुहुर्यत्खण्ड्यमानेऽधरे।
यन्नि शङ्कमिहार्पित वपुरहो पत्यु समालिङ्गने।
मानिन्या कथितोऽनुकूलविधिना तेनैव मन्युर्महान्॥

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ३०४

[३०] कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनाना किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ५, १३

पीले पत्तो के मध्य नवीन किसलय के समान तपस्वियो के बीच यह घूँघट वाली, अतएव जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक नही प्रकट हो रहा है, ऐसी महिला कौन है?

[३१] 'हा हतोऽस्मि हा दग्धोऽस्मि हा वञ्चितोऽस्मि हा किमिदमापतितम्।
इत्येतानि वान्यानि च विलपन्त कपिञ्जलमश्रौषम्॥'

—**कादम्बरी**, पूर्व भाग

'हाय मै मारा गया ! हाय, मैं जला दिया गया ! हाय, मै ठगा गया। हाय, यह क्या आपडा !—इस प्रकार तथा अन्य विलाप करते हुए कपिञ्जल को मैने सुना।'

[३२] स्रगिय यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृत क्वचिद्भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया ।।

—**रघुवश**, ८, ४६

[३३] परिमृदितमृणालीम्लानमङ्ग प्रवृत्ति
कथमपि परिवारप्रार्थनाभि क्रियासु ।
कलयति च हिमाशोनिष्कलङ्कस्य लक्ष्मी—
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्त कपोल ।।

—**मालतीमाधव**, १, २३

(उसके) हस्तपाद आदि अवयव परिमर्दित छोटी कमल की डडी के समान मलिन है। भोजन आदि क्रियाओ मे परिजनो की प्रार्थनाओ से कष्ट से उसकी प्रवृत्ति है और तत्क्षण काटे गए हाथी दाँत के समान उसका सुन्दर कपोल कलङ्क से रहित चन्द्रमा की शोभा को धारण करता है।

[३४] दोर्दण्डा क्व धृताङ्गदा क्व नु शिरानद्धौ भुजौ द्वाविमौ,
वक्त्राणि क्व नु कान्तिमन्ति वालिमत्क्वेद ममैक मुखम् ।
वाचस्ता क्व जितार्णवध्यनिधना क्वाय वच सयमो,
हेलाकम्पितभूधर क्व चरणन्यास क्व मन्दा गति ।।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ १२६

कहाँ तो बाजूबन्द धारण किए हुए वे भुजदण्ड और कहाँ उभरी हुई नसो से युक्त ये दोनो भुजाएँ, कहाँ वे कान्तिमान मुखमण्डल और कहाँ झुर्रियो से भरा हुआ मेरा यह एक मुख, कहाँ तो अपनी गर्जना से समुद्र की मन्द ध्वनियो को परास्त करने वाली शब्दावलियाँ और कहाँ यह वाक्-सयम्। कहाँ उनके कौतूहलवश रखने से पृथ्वी को कम्पित कर देने वाले पदनिक्षेप और कहाँ यह मन्द गति।

[३५] यन्मा विधेयविषये स भवान्नियुङ्क्ते
स्नेहस्य तत्फलमसौ प्रणयस्य सार ।
प्राणैस्तपोभिरथवाऽभिमत मदीयै ।
कृत्य घटेत सुहृदो यदि तत्कृत स्यात् ।।

—**मालतीमाधव**, १, १०

[३६] प्रीतिर्नाम सदस्याना प्रिया रङ्गोपजीविन ।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् ।।

—**अनर्घराघव**, १, ३

[३७] राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरी देवात्समसाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दत प्रेयसीम् ।
आतङ्काद्विकल द्रुत करुणया विक्षोभित विस्मया—
त्क्रोधेन ज्वलित मुद्रा विकसित चेत कथ वर्तताम् ।।

—**मालतीमाधव**, ५, २८

भाग्यवश इस श्मशान मे प्राप्त होकर राहु के मुख मे प्राप्त चन्द्रकला के समान प्रियतमा (मालती) को दस्यु इस कापालिक खड्ग-प्रहार के विषय से छीनने वाला मेरा चित्त तापशका से विह्वल, करुणा से विलीन, आश्चर्य मे विचलित, क्रोध से उद्दीपित और हर्ष से विकसित न जाने कैसे हो रहा है।

[३८] परिच्छेदातीत सकलवचनानामविषय
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथ यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वसादुपचितमहामोहगहनो
विकार कोऽप्यन्तर्जडयति च ताप च तनुते ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३२

[३९] रामोऽय भुवनेषु विक्रमगुणै प्राप्त प्रसिद्धि परा—
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि पर देवो न जानाति त्वम्।
वन्दीवैष यशासि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहृति—
श्रेणीभुतविशालतालविवरोद्गीर्णै स्वरै सप्तभि ॥

—**महानाटक**, ६, ४० (?)

[४०] अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिन नृप सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यत ।
क्षत्रकोपदहनार्चिष तत सन्दधे दृशमुदग्रतारकम् ॥

—**रघुवश**, ११, ६९

[४१] आन्त्रै कल्पितमगलप्रतिसरा स्त्रीहस्तरक्तोत्पल—
व्यक्तोत्तसभृत पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रज ।
एता शोणितपककुकुमजुष सभूय कान्तै पिब—
न्त्यस्थिस्नेहसुरा कपालचषकै प्रीता पिशाचागना ॥

—**मालतीमाधव**, ५, १८

[४२] उत्पत्तिदेवयजनाद्ब्रह्मवादी नृप पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्या स्नेह करोति मे ॥

—**अनर्घराघव**, १, २१

सुन्दरमूर्त्ति, ब्रह्मज्ञानी राजा पिता, यज्ञभूमि से उत्पत्ति, यह सब मुझे इस पर स्नेह करने को प्रेरित कर रहा है।

[४३] भव हृदय साभिलाष सप्रति सन्देहनिर्णयो जात ।
आशकसे यदग्नि तदिद स्पर्शक्षम रत्नम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २४

[४४] व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बिताशुका ।
सेवते स्म शयन पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिन ॥

—**कुमारसम्भव**, ८, २

पार्वती इतनी शर्माती थी कि शिव के कुछ पूछने पर बोलती नही थी, यदि वह उनका आचल पकड लेते तो वह उठकर चलने लगती थी और साथ सोते समय भी वह दूसरी ओर मुँह करके ही सोती थी।

[४५] धन्या केय स्थिरता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्या
नामैवास्या तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृत कस्य हेतो ।

नारी पृच्छामि नेन्दु कथयतु विजया न प्रमाण यदीन्दु—
देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरित शाठ्यमव्याद्विभोव ।।
—**मुद्राराक्षस**, १, १

[४६-४८] तुलना—**शृ गारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश पृष्ठ ४७० ।

दशम अधिकार

[१] नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी यह गाथा ग्रन्थकार की नवीन कल्पना है। यह अन्यत्र उपलब्ध नही होती ।

[२] **मागधी**—

प्रथम पादभाग (कला) मे विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर, दूसरे पादभाग मे कुछ और शब्दो को सम्मिलित करने के पश्चात, मध्यलय मे गाने के अनन्तर तीसरे पादभाग मे कुछ और शब्दो को सम्मिलित करके द्रुतलय मे जाना 'मागधी' गीति है ।

गीत्वा कलायामाद्याया विलबितलय पदम् ।
द्वितीयाया मध्यलय तत्पदान्तरसयुतम् ।।
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्या द्रुते लये ।
इति त्रिरावृत्तपदा मागधी जगदुर्बुधा ।।
—**सगीतरत्नाकर**, स्वराध्याय, पृष्ठ २८०, खण्ड १

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २, १४ ।

[४] भरत ने चित्र, वार्तिक, दक्षिण—ये तीन मार्ग बताये है ।
—**नाट्यशास्त्र**, ३१, ३-४

[५] **वृन्द**—

गायक तथा वादक के सिद्धान्त को 'वृन्द' कहते है ।
—**सगीतरत्नाकर**, प्रकीर्णाध्याय, खण्ड २, पृष्ठ १९८

[६] तुलना—**संगीतरत्नाकर**, प्रकीर्णाध्याय, पृष्ठ १९८ ।

[७] **अतीतग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य के पश्चात होने वाला ताल का आरम्भ 'अतीतग्रह' कहलाता है ('सोऽवपाणिरतीत स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तत्ते'—**सगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २८) ।

[८] **समग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य के साथ होने वाला ताल का आरम्भ 'समग्रह' कहलाता है ('गीतादिसमकालस्तु समपाणि समग्रह' —**सगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २७)।

[९] **अनागतग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य से पूर्व होने वाला ताल का आरम्भ 'अनागत-ग्रह' कहलाता है (अनागत प्राक् प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिक —**सगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २८) ।

[१०] **भ्रमरी-आकाशचारी**

अतिक्रान्ताङ्घ्रिमारच्य त्र्यस्र चेत्परिवर्त्तयेत् ।
ऊरुजानुत्रिकमधोऽपराङ्घ्रितलतस्तनु ।
भ्राम्यते सकला यत्र सा चारी भ्रमरी तदा ॥

—**नृत्याध्याय**, १००१

यदि अतिक्रान्ता चारी से युक्त चरण की रचना करके ऊरु, जानु और कटिदेश को त्र्यस्र स्थानक मे परिवर्तित कर दिया जाय, तत्पश्चात दूसरे पैर के तलबे से शरीर को घुमा लिया जाय तो उसे 'भ्रमरी' आकाशचारी कहते है ।

[११] भूमिचारी के सोलह भेद होते है समपादा, अड्डिता, बद्धा, स्पन्दिता, विच्यवा, जनिता, उत्सन्दिता, चाषगति, अध्यर्धिका, एलकाक्रीडिता, शकटास्या, ऊरुद्वृत्ता, स्थितावर्ता, अपस्पन्दिता, समोत्सरितमत्तल्ली तथा मत्तल्ली ।

[१२] **ध्रुवा**—

गीति का आधारभूत नियत पदसमूह 'ध्रुवा' कहलाता है (ध्रुवा गीत्याधारो नियत पदसमूह '—**अभिनवभारती**, जी ओ एस , खण्ड १, पृष्ठ २७०) । नारद इत्यादि द्विजो ने अनेक प्रकार से जिन गीताङ्गो का विनियोग किया है, उन सबकी सज्ञा 'ध्रुवा' है (ध्रुवासज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजै । गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकश ॥'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, जी ओ एस , पृष्ठ २८८) । जो ऋचाएँ, पाणिका एव गाथाएँ है, जो सप्त रूप के अग और प्रमाण हैं उन सबकी सज्ञा 'ध्रुवा' है (या ऋच पाणिका गाथास्सप्तरूपाङ्गमेव च । सप्तरूपप्रमाण च तद् ध्रुवेत्यभिसज्ञितम् ॥'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २८८) । वाक्य, वर्ण, यति, पाणि और लय के अविचल रूप से सम्बद्ध रहने के कारण 'ध्रुवा' कहा गया है (वाक्यवर्णा ह्यलकारा यतय पाणयो लया । ध्रुवमन्योन्यसबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवा स्मृता ।'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २९२) ।

[१३] गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला है ।

वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता ।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ॥
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ।
सम्भाविता च पृथुला ॥

—**सगीतरत्नाकर**, स्वराध्याय, पृष्ठ २८०

[१४] **लय**—

तालक्रिया के अनन्तर किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है । शीघ्रतम लय 'द्रुत', उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एव दक्षिण मार्ग मे विश्रान्ति काल के परिमाण मे भेद होने कारण, क्रमश लय मे क्षिप्रभाव, मध्यभाव और चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद हो जाते है ।

क्रियानतरविश्रान्तिर्लय स त्रिविधो मत ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत ॥

द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।
मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥

—**संगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २४

[१५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ८ ।
[१६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०७ ।
[१७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०८ ।
[१८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३१० ।
[१९] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०८-३०९ ।
[२०] प्रयच्छतोच्चै कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

—**किरातार्जुनीय**, ८, १४

[२१] गमनमलस शून्या दृष्टि शरीरमसौष्ठव
श्वसितमधिक किन्त्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवन
ललितमधुरास्ते ते भावा क्षिपन्ति च धीरताम् ॥

—**मालतीमाधव**, १, १८

[२२] पाणिपीडनविधेरनन्तर शैलराजतनया हर प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहर वपु ॥

—**कुमारसम्भव**, ८, १

[२३] गगन गगनाकार सागर सागरोपम ।
रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ॥

—**वाल्मीकि-रामायण**, युद्धकाण्ड, ५१६-२४

[२४] अधर किसलयराग कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, १८

[२५] तन्वी श्यामा शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभि ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्या
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातु ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, १५

[२६] यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या,
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष.।।

—**मालतीमाधव**, १, ३०

चित्र-सूची

[१०८ नृत्तकरणों की मुद्राएँ]

तलपुष्पपुट
वर्तित
वलितोरुक
अपविद्ध
समनख
लीन
स्वस्तिकरेचित
मण्डलस्वस्तिक
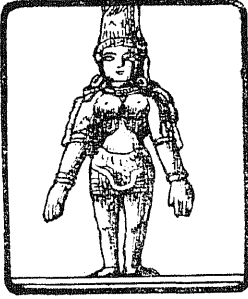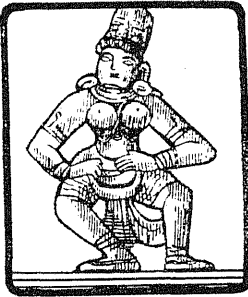
कटिच्छिन्न
अर्द्धरेचित
वक्ष:स्वस्तिक
उन्मत्तक
स्वस्तिक
पृष्ठस्वस्तिक
दिक्स्वस्तिक
अलातक

कटीसम
आक्षिप्तरेचित
विक्षिप्ताक्षिप्तक
अर्धस्वस्तिक
अञ्चित
भुजङ्गत्रासित
ऊर्ध्वजानु
निकुञ्चित

मत्तल्लि
अर्धमत्तल्लि
रेचितनिकुट्टित
पादापविद्धक
वलित
घूर्णित
ललित
दण्डपक्ष

भुजङ्गत्रस्तरेचित
नूपुर
वैशाखरेचित
भ्रमरक
चतुर
भुजंगाञ्चितक
दण्डकरेचित
वृश्चिककुट्टित

कटिभ्रान्त
लतावृश्चिक
छिन्न
वृश्चिकरेचित
वृश्चिक
व्यंसित
पार्श्वनिकुट्टक
ललाटतिलक
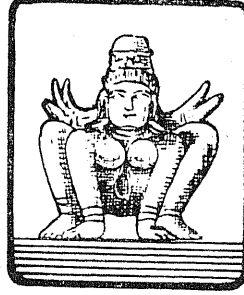
क्रान्तक
चक्रमण्डल
आक्षिप्त
तलविलासित
अर्गल
विक्षिप्त
आवर्त
दोलापाद
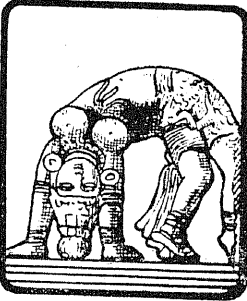
विवृत्त
पार्श्वक्रान्त
विद्युद्भ्रान्त
अतिक्रान्त
विवर्तितक
गजक्रीडितक
तलसंस्फोटित
गण्डसूची

पार्श्वजानु
गृध्रावलीनक
सन्नत
सूची
अर्धसूची
सूचीविद्ध
अपक्रान्त
मयूरललित

सर्पित
हरिणप्लुत
प्रेङ्खोलित
नितम्ब
करिहस्त
सिंहाकर्षितक
उद्वृत्त
उपसृतक

अवहित्थक
एलकाक्रीडित
ऊरूद्वृत्त
मदस्खलितक
विष्णुक्रान्त
विष्कम्भ
उद्घट्टित
वृषभक्रीडित

लोलित

नागापसर्पित

शकटास्य

गंगावतरण

निकुट्टक

अर्धनिकुट्टक

कुञ्चित

विनिवृत्त

निशुम्भित
उरोमण्डल
गरुडप्लुत
दण्डपाद
परिवृत्त
स्खलित
जनित
निवेश

तलसंघट्टित

संभ्रान्त

सिंहविक्रीडित

प्रसर्पित

सहायक ग्रन्थ-सूची

• अन्नभट्ट तर्कसग्रह, स बोडास और ऐथले, पूना, १९६३ ।

• अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, स डॉ कान्तिचन्द्र पाण्डे, इलाहाबाद, १९५० ।

• अमृतानन्दयोगिन् अलकारसग्रह, अड्यार लाइब्रेरी, १९४९ ।

• अशोकमल्ल नृत्याध्याय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न १४१, बडौदा, १९६३ ।

• आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक, लोचन, कौमुदी तथा उपलोचन टीका सहित, स एस कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९४४ ।

• ईश्वरकृष्ण साख्यकारिका, स टी जी मयङ्कर, पूना, १९६४ ।

• उत्पलाचार्य ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, स डॉ कान्तिचन्द्र पाण्डे इलाहाबाद, १९५० ।

• कालिदास . अभिज्ञानशाकुन्तलम्, स शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९७२ ।

• कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राघवभट्टकृत टीका सहित, स एम आर काले, दिल्ली, १९६९ ।

• कालिदास . कुमारसम्भव, सजीविनी टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१९ ।

• कालिदास मालविकाग्निमित्रम्, आग्लटीकयासमेतम्, कर्नाटक पब्लिशिग हाउस, बम्बई ।

• कालिदास मेघदूत, स शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९४६ ।

• कालिदास : रघुवश, सजीविनी टीका सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६१ ।

• कालिदास विक्रमोर्वशीयम्, रङ्गनाथकृत व्याख्या सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५ ।

• कुन्तक वक्रोक्ति-जीवित, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।

• क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय, स विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, १९६९ ।

• क्षेमेन्द्र सुवृत्ततिलक, काव्यमाला सस्कृत सीरीज न २, बम्बई ।

• चरकसहिता, स शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९३५ ।

• जोशी, रसिकविहारी श्री रासपञ्चाध्यायी—सास्कृतिक अध्ययन, दिल्ली, १९६१ ।

• जोशी, रसिकविहारी स्फोटसमाम्नायः, सागरिका, वर्ष १, अङ्क १, वि २०१९ ।

• Joshı, Rasık Vıharı *The Three Qualıtıes of Sankhya System,* Kavıraj Abhınandan Granth, Lucknow, 1967

• Dr S K *Hıstory of Sanskrıt Poetıcs,* Calcutta, 1960

• दिङ्नाग कुन्दमाला, सस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६४ ।

• धनजय दशरूपक, धनिक की अवलोक टीका व हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार डॉ भोलाशकर व्यास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२ ।

- नन्दिकेश्वर **अभिनयदर्पण**, स वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १९६७ ।
- Nandıkesvara *Abhınayadarpanam*, A Manual of Gesture and Postuie used ın Hındu Dance and Drama, Ed wıth Englısh translatıon by Man Mohan Ghosh Calcutta Sanskrıt Serıes No 5, Calcutta, 1934
- Nandıkesvara *Bharatarnavah*, wıth Englısh and Tamıl translatıons, Ed by K Vasudeva Sastrı, Tanjore Sarsvatı Mahal Lıbrary, 1957
- नान्यभूपाल **भरतभाष्य**, प्रथम खण्ड, खेरागढ, १९६१ ।
- नारद **सगीतमकरन्द**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा ।
- **न्यायकोश**, महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, पूना, १९२८ ।
- **न्यायसूत्र**, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
- पण्डितराज जगन्नाथ **रसगगाधर**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४७ ।
- Pandey, Dr K C *Abhınavagupta—An Hıstorıcal and Phılosophıcal Study*, Chowkhamba Sanskrıt Serıes Office, Varanasi, 1963
- पूर्णसरस्वती **विद्युल्लता**, मेघसन्देश की समालोचना, श्री वाणी-विलास सस्कृत सीरीज न १५, श्रीरङ्गम् ।
- भवभूति **उत्तररामचरितम्**, स विधुभूषण गोस्वामी, कलकत्ता, १९२२ ।
- भवभूति **महावीरचरितम्**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
- भवभूति **मालतीमाधव**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५४ ।
- भट्टनारायण **वेणीसंहार**, जगद्धरकृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ।
- भट्ट, बाण . **कादम्बरी**, स एम आर काले, दिल्ली, १९६८ ।
- भट्ट, मुकुल · **अभिधावृत्तमातृका**, स डॉ रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७३ ।
- **भरतकोष** : स रामकृष्ण कवि, पूना तथा तिरुपति सस्करण ।
- भरतमुनि : **नाट्यशास्त्र**, अभिनवभारती—टीका सहित, भाग १-४, गायकवाड ओरियण्टल सीरिज, बडौदा, १९३४-१९५४ ।
- Bharatamunı *Natyasastra*, Ed wıth Englısh translatıon by Man Mohan Ghosh, Vol I, Calcutta, 1967
- भानुदत्त . **रसतरगिणी**, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, वि २०२५ ।
- भारवि : **किरातार्जुनीय**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५ ।
- भास : **स्वप्नवासवदत्तम्**, स कुमुदरञ्जन रे, कलकत्ता, १९७१ ।
- भोज : **शृंगारप्रकाश**, जोश्यार सम्पादित, खण्ड १-४, मैसूर, १९५५-७३ ।
- भोज . **सरस्वतीकण्ठाभरण**, स ए बरुआ, पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी, १९६९ ।
- मम्मट : **काव्यप्रकाश**, बालबोधिनी टीका सहित, पूना, १९६५ ।
- मम्मट **काव्यप्रकाश**, सकेत, प्रदीप, काव्यादर्श टीका सहित ।
- Mammata *Kavyaprakasa*, wıth Englısh translatıon by Dr H D Sharma, Poona
- मम्मट · **काव्यप्रकाश**, भट्टगोपालकृत टीका सहित, प्रकाशन—त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरिज ।

• मम्मट **शब्दव्यापारविचार**, स डॉ रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ।
• मिश्र, केशव **तर्कभाषा**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६३ ।
• मिश्र, वाचस्पति **तत्त्वकौमुदी**, स गगानाथ झा, पूना, १९६५ ।
• माघ, **शिशुपालवध**, स पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, १८४७ ।
• मुरारि **अनर्घराघव**, रुचिपत्तुपाध्यायकृत टीका सहित, बम्बई ।
• Raghavan, Dr V *Bhoja's Srngara Prakasa*, Madras, 1963
• राजशेखर : **कर्पूरमजरी**, वासुदेवकृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०० ।
• राजशेखर **काव्यमीमासा**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न १, बडौदा, १९१६ ।
• राजशेखर **बालरामायण**, स जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४ ।
• रामचन्द्र गुणचन्द्र **नाट्यदर्पण**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, १९२९ ।
• रुद्रट **काव्यालकार**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार डॉ सत्यदेव चौधरी, दिल्ली, १९६५ ।
• रुय्यक : **अलकारसर्वस्व**, स डॉ रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ।
• वत्सराज **रूपकाष्टक**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न ८, बडौदा ।
• Vallabhadeva *Subhasitavali*, Ed by Petr Petrson, Poona, 1961
• वाग्भट **अष्टागहृदय**, स शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९२९ ।
• वामन **काव्यालकारसूत्र**, गोपेन्द्रतिथभूपालकृत कामधेनु टीका सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ।
• विद्यानाथ **प्रतापरुद्रीय**, कुमार स्वामी कृत रत्नायण टीका सहित, मद्रास, १९१४ ।
• विशाखदत्त **मुद्राराक्षसम्**, स शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९५६ ।
• विश्वनाथ कविराज **चन्द्रकला नाटिका**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।
• विश्वनाथ कविराज **साहित्यदर्पण**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२२ ।
• Sankaran, A *Some Aspcets of Literary Criticism in Sanskrit*, Delhi, 1973
• शारदातनय **भावप्रकाशन**, गायकवाड ओरियण्टल, सीरीज न० ४५, बडौदा, १९६८ ।
• शार्ङ्गदेव **सगीतरत्नाकर**, कल्लिनाथकृत कलानिधि तथा सिंहभूपालकृत सुधाकरी टीका सहित, खण्ड १-४, अड्यार सस्करण, १९४३-५३ ।
• शूद्रक **मृच्छकटिकम्**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
• सागरनन्दी **नाटकलक्षणरत्नकोश**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७२ ।
• सिंहभूपाल **रसार्णव सुधाकर**, स डॉ रेवाप्रसाद द्विवेदी, सागरिका, अष्टम वर्ष, वि २०२६ ।
• **सुश्रुत-सहिता** स शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९३८ ।
• सोमेश्वर **कीर्तिकौमुदी**, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६१ ।
• सोमेश्वर **मानसोल्लास**, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज न २८, बडौदा ।
• सोमेश्वर : **सुरथोत्सव**, काव्यमाला सस्कृत, सीरीज न ७३, बम्बई, १९०२ ।

• हर्ष : **नागानन्दम्**, स आशा तोरस्कर और एन ए देशपाण्डे, बम्बई, १९५३ ।
• हर्ष : **प्रियदर्शिका**, स आर वी कृष्णमाचारी, श्रीरङ्गम्, १९०६ ।
• हर्ष : **रत्नावली** (नाटिका), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
• हाल **गाथासप्तशती**, काव्यमाला सस्कृत सीरीज न २१, बम्बई, १८८९ ।
• हेमचन्द्र **काव्यानुशासन**, निर्णयसागर प्रेस, १९०१ ।

———

विशिष्टपदसूची

श्लोकानुक्रमणी

ई

उ

ऊ

ऋ

ए

द

श